प्राचीन भारत का इतिहास

[राजस्थान, अजमेर, उदयपुर एवं जोधपुर विश्वविद्यालय की प्रथम वर्ष कला हेतु
नवीन पाठ्यक्रमानुसार पाठ्य पुस्तक]

लेखक
स्वर्गीय डॉ. गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र
एसोशिएट प्रोफेसर
इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

जयपुर पब्लिशिंग हाउ
एस. एम. एस. हाइवे, जयपुर–302

प्रकाशक : रामचन्द्र अग्रवाल
जयपुर पब्लिशिंग हाउस,
चौड़ा रास्ता, जयपुर–302 003
दूरभाष : का. 319198, 319094
नि. 512152

संस्करण : 1996

मूल्य : 60=00 रु.

लेसर टाइप सैटिंग : कम्प्यू प्रिन्टस,
जयपुर-302 003
दूरभाष : 323496

मुद्रक : ग्राफिक ऑफसेट प्रिन्टर्स,
जयपुर

प्रस्तावना

इतिहास के अध्ययन का वास्तविक प्रयोजन आत्मज्ञान की प्राप्ति हैं। अतीत का सम्यक् बोध वर्तमान को ठीक-ठीक समझने में सहायक होता है जिसके आधार पर वर्तमान को संवारने तथा भविष्य-निर्माण की दिशाओं को ठीक प्रकार से निर्धारित करने का कार्य सरल हो जाता हैं। अतीत के सर्वथा तिरस्कार का आग्रह मूढ़ता का परिचायक है। किन्तु इसे भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि अतीत निरर्थक शव-वहन मात्र बनकर न रह जाएँ। अतीत में क्या त्याज्य है और क्या ग्राह्य इस पर निरपेक्ष दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। इतिहास-लेखन में यह निरपेक्ष दृष्टि आवश्यक है। इस पुस्तक में इस दृष्टि से प्राचीन भारत के इतिहास को इसके सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इतिहास के अध्ययन का विषय मनुष्य अथवा समाज है। इसके संगठन के विविध पक्ष होते हैं और इनमें अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारतीय मनुष्य और समाज के सभी पक्षों— राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक का समन्वित रूप में अध्ययन किया गया हैं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों को व्याख्यायित करने की चेष्टा की गई है। विद्यार्थियों में समालोचनात्मक दृष्टि उत्पन्न करने के उद्देश्य से विवरण को सदैव साक्ष्यों के साथ रखा गया है और यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि विविध विद्वानों ने अपने मतों के समर्थन में किस प्रकार उनका उपयोग किया हैं। आशा है कि विद्यार्थी इससे लाभान्वित होंगे। पुस्तक विशेषरूपेण स्नातक-स्तरीय विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। किन्तु स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थी भी इससे लाभ उठा सकेंगे और विविध प्रतियोगिता परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थी भी इसे उपयोगी पाएँगे।

पुस्तक के प्रणयन का श्रेय मित्र डॉ. चन्द्रकिशोर ओझा, प्रवक्ता, रसायन शास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर को है। डॉ. ओझा जयपुर पब्लिशिंग हाउस के अधिष्ठाता श्री रामचन्द्र अग्रवाल के पुराने परिचित रहे हैं और श्री अग्रवाल ने पुस्तक लिखने के लिए उन्हीं के माध्यम से मुझे सम्पर्क किया। पुस्तक के लेखन में जुटाने के लिए मैं डॉ. ओझा का आभार मानता हूँ। बीच में बीमार पड़ जाने से पुस्तक के कुछ पृष्ठों को बोल कर लिखना पड़ा। इस कार्य में अपने विद्यार्थियों कु. उमा शर्मा तथा श्री जगदीश प्रसाद गूजर एवं पुत्र चि. कार्तिकेय मिश्र से जो सहायता मिली उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक की भाषा को परिष्कृत करने तथा सुबोध बनाने में अपने ही विभाग की मित्र प्रवक्ता श्रीमती प्रतिभा जैन से जो सहयोग मिला उसके लिए आभारी हूँ। जयपुर पब्लिशिंग हाउस के अधिष्ठाता श्री रामचन्द्र अग्रवाल के निरन्तर आग्रह एवं उत्साह-वर्धन से ही पुस्तक पूरी हो सकी, पुस्तक की उत्तम छपाई एवं वर्तमान कलेवर श्री अग्रवाल के व्यक्तिगत श्रम एवं निष्ठापूर्ण देख-रेख का परिणाम हैं। मैं उनका हृदय से

आभारी हूं। अन्त में, मैं उन सभी लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शन करना कर्त्तव्य समझता हूं, जिनके लेखन से मैंने लाभ उठाया है।

स्व. गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र

सप्तम संस्करण की प्रस्तावना

अपने स्वर्गीय पिता डा. गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित पुस्तक 'प्राचीन भारत का इतिहास' को संशोधित एवं परिवर्द्धित करने का एक विनम्र प्रयास मेरे द्वारा पुस्तक के प्रस्तुत सप्तम् संस्करण में किया गया है। इस प्रयास में महाविद्यालयों के लिए निर्धारित नवीनतम पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखा गया है। संशोधित संस्करण में कुछ नये अध्याय यथा 'त्रिपक्षीय संघर्ष' एवं 'वृहत्तर भारत' जोड़े गए हैं; साथ ही अन्य अध्यायों में नवीन सामग्री का समावेश किया गया है। छात्रों के लिए विषय को स्पष्ट तथा अधिक उपयोग बनाने हेतु मानचित्रों की संख्या में वृद्धि की गई है।

इस कार्य के लिए मुझे अपने पिता के मित्र व सहयोगियों का असीम सहयोग प्राप्त हुआ। इन्होंने अपना अमूल्य समय प्रदान कर मेरा उचित मार्गदर्शन किया, जिससे मैं इस दुरूह कार्य को पूर्ण कर सकी। विशेष रूप से मैं प्रो. एस एन दुबे (भू. पू. विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, राज. विश्वविद्यालय), सुश्री डा. रेखा दासवानी (सह प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राज. विश्वविद्यालय) एवं श्रीमती अनुराधा राठौड़ (इतिहास व्याख्याता, कानोड़िया महाविद्यालय) का उल्लेख करना आवश्यक समझती हूँ। मैं इनके सहयोग के लिए सदैव आभारी रहूँगी। कार्य को पूरा करने में मेरी माता श्रीमती मनोरमा मिश्र की प्रेरणा व प्रोत्साहन के लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूँ। इनके अतिरिक्त मैं अपने पति श्री रजनीश दास की शुक्रगुजार हूँ जिन्होंने इस कार्य के लिए मुझे प्रोत्साहित तो किया ही, साथ ही हर सम्भव सहयोग दिया।

आशा है संशोधित संस्करण छात्रों की अपेक्षा के अनुरूप सिद्ध होगा।

श्रीमती अदिति दास

(सुपुत्री स्व. गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र)

विषय-सूची

यूनानी उपनिवेश; बैक्ट्रिया का स्वतन्त्र होना व डियोडोटस वंश, यूथिडेमस व उसका वंश, डेमेट्रियस, यूक्रेटाइडीज, मिनैण्डर, एन्टियालकिडस, हर्मियस् व इण्डो-ग्रीक राज्य का पतन, शक शासक : शकों का प्रारम्भिक इतिहास; भारतीय परम्परा व शकों का प्रथम आक्रमण; तक्षशिला के शक शासक; मथुरा के शक; पश्चिमी भारत में शकों का हरात वंश; उज्जयिनी तथा काठियावाड़ का शक शासन वंश, रुद्रदामन; रुद्रदामन् के उत्तराधिकारी व शक शक्ति का अन्त, पह्लव शासक, कुषाण वंश : कुषाणों का भारत में आगमन के पूर्व का इतिहास, कुजुल कदफिसेज, विम कदफिसेज, कनिष्क : कनिष्क की तिथि पर विचार; कनिष्क की विजयें व साम्राज्य विस्तार; कनिष्क व बौद्ध धर्म; शासन व्यवस्था; साहित्य व कला का संरक्षक; कनिष्क का अन्त; कनिष्क के उत्तराधिकारी; कुषाण साम्राज्य का पतन तथा इसके कारण, द्वितीय शताब्दी ई. पू. से तृतीय शताब्दी तक की भारतीय सभ्यता व संस्कृति में नवीन तत्वों का उत्कर्ष : विदेशियों का भारतीयकरण व उन पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव; भारतीय सभ्यता व संस्कृति पर यूनानी प्रभाव की समस्या; कुषाण काल की गन्धार कला शैली; कुषाण काल में महायान बौद्ध धर्म का उदय; वैष्णव धर्म व शैव धर्म का विकास : मनुस्मृति व हिन्दू समाज।

14. गुप्त साम्राज्य एवं गुप्तकालीन संस्कृति

गुप्तों के उदय के समय भारत की राजनैतिक स्थिति, गुप्त इतिहास के अध्ययन के साधन : साहित्यिक स्रोत, गुप्तों का वंश परिचय, गुप्तों का आदि राज्य, गुप्तों का उदय : श्रीगुप्त और घटोत्कच, चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त : पिता द्वारा उत्तराधिकारी चुना जाना; प्रारम्भिक विजयें; समुद्रगुप्त की दिग्विजय; अश्वमेध यज्ञ; समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व; मृत्यु-तिथि, रामगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' : शासन की प्रारम्भिक एवं अन्तिम तिथि; अन्य नाम तथा उपाधियाँ; वैवाहिक सम्बन्ध; शकों पर विजय; महरौली के लौह स्तम्भ में उल्लिखित 'चन्द्र' का समीकरण : चन्द्रगुप्त द्वितीय की अन्य विजयें; साम्राज्य-विस्तार; अश्वमेध; मेहरौली लेख की समस्या, फाह्यान का यात्रा विवरण, कुमारगुप्त प्रथम : विशाल साम्राज्य एवं समृद्धि का काल; अश्वमेध;

मानचित्र

राजस्थान विश्वविद्यालय

पाठ्यक्रम

बी. ए. प्रथम वर्ष

नोट :– इतिहास के दो प्रश्न-पत्र होंगे। प्रत्येक प्रश्न-पत्र के तीन खण्डों में प्रत्येक में तीन-तीन प्रश्न होंगे, इसके अतिरिक्त एक अनिवार्य वस्तुनिष्ठ प्रश्न होगा। परीक्षार्थी से प्रत्येक खण्ड में से कम से कम एक प्रश्न का चयन करते हुए तथा एक अनिवार्य वस्तुनिष्ठ प्रश्न को हल करते हुए पाँच प्रश्नों को हल करने की अपेक्षा की जायेगी। प्रत्येक प्रश्न 20 अंकों का होगा।

प्रथम प्रश्न पत्र : प्राचीन भारत का इतिहास (प्रारम्भ से 1200 ईस्वी तक)

खण्ड "क"

मुख्य स्रोत। सिन्धु सभ्यता। वैदिक युगीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था। महाजनपद काल। जैन एवं बौद्ध धर्म। मगध का उत्कर्ष। मौर्यों का राजनीतिक इतिहास। मौर्ययुगीन राज्य-व्यवस्था, समाज एवं कला। अशोक का धम्म।

खण्ड "ख"

इण्डो-ग्रीक, शक, कुषाण एवं सातवाहन। गुप्त साम्राज्य – राजनीतिक इतिहास, समाज, राज्य व्यवस्था, साहित्य, कला एवं विज्ञान।

खण्ड "ग"

वर्धन वंश। त्रिराज्य संघर्ष (पाल-प्रतिहार-राष्ट्रकूट)। राजपूत राज्य-व्यवस्था, समाज एवं संस्कृति की विशेषतायें। चालुक्य, पल्लव एवं चोलों का योगदान।

SYLLABUS
University of Ajmer
B. A. Part - I (HISTORY)

Note : Each paper will contain ten questions having two questions from each unit. The candidates are required to attempt Five questions in all, selecting at least one question from each unit.

PAPER - I - HISTORY OF INDIA FROM EARLIEST TIMES TO 1206 A.D.

UNIT – I :

Impact of Geography on Indian History and Culture Main sources of Ancient Indian History, Features of Indus Civilization, The Aryas Problem, Vedic polity and Economic life, The rise of Jannadas and republics.

UNIT - II :

Rise of Magadha upto the Nandas; Magadhan Imperialism and role of Chandragupta Maurya; Dhamma Chakravarti Ashoka – his policy and Dhamma; Mauryan Administration, Factors leading to disintegration of the Mauryan Empire.

UNIT - III :

Age of the Satavahansas and foreign powers : Contributions and Achievements of (i) Pushyamitra Sunga, (ii) Gautamiputra Shatkarni, (iii) Rudradaman-I, (iv) Kanishka-I Economic progress in the pre-Gupta period with special reference to trade and commerce.

UNIT - IV :

Early History of the Gupta Dynasty upto Chandra Gupta-I; Samudra Gupta; Chandra Gupta-II, Skanda Gupta; Features of Gupta administration.

UNIT - V :

India in the post-Gupta period : Formation and expansion of Vardhana Empire-Harsha Features of Chola-Chaulukya administration. Achievement of (i) Vigraharaja Chahamana; (ii) Kumarapala Chaulukya; and (iii) Bhoja Paramara-Factores leading to disintegration of Rajput States.

प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत

इतिहास – विषय तथा इतिहास में साक्ष्यों का महत्व :

इतिहास शब्द 'इति' 'ह' तथा 'आस' इन तीन शब्दों से मिलकर बना हुआ शब्द है जिसका अर्थ है 'ऐसा निश्चित रूप से हुआ'। यह स्पष्ट है कि इतिहास पूर्वजों का अध्ययन करता है। इस अध्ययन के अन्तर्गत वह उसके विविध प्रकार के कार्यकलापों, उसके द्वारा निर्मित विविध राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं तथा उसकी विविध मान्यताओं की चर्चा करता है। इतिहासकार को अतीत प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त नहीं होता, अपितु अतीत के विषय में उसे कुछ साक्ष्य प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर वह अतीत का निर्माण करता है। ये साक्ष्य जिनके आधार पर इतिहास लिखा गया या जाना गया, हमें सरलता से प्राप्त नहीं हुआ और इसीलिए कुछ समय पूर्व तक विदेशी विद्वानों की यह मान्यता थी कि भारतीयों का कोई इतिहास ही नहीं है। यह विचारधारा पाश्चात्य इतिहासकारों की शायद इसलिए है कि प्राचीन भारतीयों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक प्रधान था। वास्तव में यदि तिथि क्रम के प्रश्न को पृथक् कर दिया जाए तो यह निश्चित रुप से स्पष्ट हो जाएगा कि प्राचीन इतिहासकारों में इतिहास बुद्धि का अभाव था, अपितु यह प्रमाणित होगा कि भारत के प्राचीन ग्रन्थों में बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री निहित है जिसे विविध रूपों में प्राप्त किया जा सकता है। ये साक्ष्य विविध रूपों में होते हैं— यथा, साहित्यिक रचनायें अथवा दस्तावेज, स्मारक, सिक्के, लेख इत्यादि। इन खण्ड-खण्ड प्राप्त सामग्रियों को आधार बनाकर इतिहासकार अतीत में जो कुछ घटित हुआ उसको एक सरलता से ग्रहण करने योग्य रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। इतिहासकार साक्ष्यों को अत्यन्त पवित्र मानता है और अपने प्रत्येक मत एवं कथन के समर्थन में वह किसी न किसी साक्ष्य का हवाला देता है। इतिहासकार कभी भी केवल कल्पना के आधार पर कोई बात नहीं कहता। इस प्रकार इतिहास में साक्ष्यों का महत्त्व वैसा ही होता है जैसा कि अदालत में अपनी बात के समर्थन में वकील द्वारा दिए गए सबूतों का।

प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोतों का वर्गीकरण

जहां तक प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोतों का प्रश्न है, इन्हें मुख्य रूप से निम्न वर्गों के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है : पुरातात्विक, साहित्यिक, विदेशी विवरण।

1. पुरातात्विक– प्राचीन भारतीय इतिहास के ऐसे कई युग हैं जिनके विषय में हमें मुख्य रूप से पुरातात्विक उतखननों से प्राप्त सूचनाओं से जानकारी मिलती है। भारत के प्रागैतिहासिक काल के विषय में हमारी सम्पूर्ण जानकारी पुरातात्विक साक्ष्य के ऊपर ही आधारित है। भारतीय सभ्यता के प्रथम चरण सैन्धव सभ्यता के विषय में हम कुछ भी नहीं जान पाते, यदि इसके विषय में हमें पुरातात्विक साक्ष्य से सहायता नहीं मिलती।

ऐतिहासिक काल में भी कई स्थानों के पुरातात्विक उत्खननों से हमें ऐसी महत्त्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं जिनके विषय में अन्यथा हम कभी नहीं जान पाते। शिशुपालगढ़, राजगृह, अरिकामेडू इत्यादि ऐतिहासिक युग के स्थानों पर उत्खनन कार्यों से हमें तत्कालीन युग के विषय में बड़ी ही महत्त्वपूर्ण सूचनायें मिली हैं।

पुरातात्विक साक्ष्य कई रूपों में मिलते हैं जैसे– बर्तन, मूर्तियाँ, भवन, अभिलेख, हथियार और औजार आदि। इनसे सामान्य जन-जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। ये साक्ष्य इस दृष्टिकोण से साहित्यिक साक्ष्यों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं कि इनमें किसी प्रकार का अतिशयोक्ति वर्णन नहीं होता, जो कि साहित्यिक कृतियों की ऐतिहासिकता में विशेष बाधा के रूप में दिखाई पड़ता है। कभी-कभी इन साक्ष्यों से मनुष्यों की मान्यताओं और मूल्यों के विषय में भी अनुमान लगाया जा सकता है।

(क) **आभिलेखिक साक्ष्य**–इस साक्ष्य के अन्तर्गत वह सामग्री आती है जो हमें साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में लिखी हुई प्राप्त होती है। इस साक्ष्य के मोटे तौर पर ये उपभेद किए जा सकते हैं – (1) गुफा लेख, (2) शिलालेख, (3) स्तम्भ लेख तथा (4) ताम्र-पत्रों पर अंकित लेख। इन लेखों में कुछ राजशासन अथवा राजाज्ञायें हैं, कुछ दान लेख हैं तथा कुछ प्रशस्तियाँ हैं। इस प्रकार इन लेखों के विषयों में बड़ी विविधता मिलती है। इतिहास के साक्ष्य के रूप में इनका महत्त्व इसलिये और अधिक है क्योंकि ये उस समय के साक्ष्य होते हैं। प्राचीन भारत के कई लेखों से न केवल विविध राजनीतिक महत्त्व की समस्याओं पर प्रकाश पड़ता है अपितु तत्कालीन साहित्य, संस्कृति एवं जन-जीवन के अन्य पक्षों पर भी इनसे महत्त्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं। इन लेखों में शासकों के नाम, शासनवंश, तिथि और समसामयिक घटनाओं का विवरण मिलता है। कभी-कभी इन लेखों से साहित्यिक ग्रन्थों द्वारा पहले से वर्णित सूचनाओं का समर्थन होता है जिससे इतिहासकार उस विषय पर और भी अधिक निश्चित मत बना सकता है। उदाहरण के लिये, मौर्यकालीन प्रशासन अथवा जन-जीवन के विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मेगस्थनीज के इंडिका से जो जानकारी मिलती है, अशोक के लेखों से उनका प्रायः समर्थन होता है और इस प्रकार प्राप्त ऐतिहासिक सूचना और अधिक प्रामाणिक बन जाती है। हर्ष के विषय में बाण के हर्षचरित से जो सूचनायें मिलती हैं, हर्ष के लेखों से उनका समर्थन होता है। अशोक के व्यक्तिगत नाम के विषय में सबसे पहले उसके मास्की लेख से सूचना मिली। इसी प्रकार हेलियोडोर के बेसनगर अभिलेख (मध्य प्रदेश में आधुनिक विदिशा) से यह महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है कि इस लेख के समय तक भागवत् धर्म इतना लोकप्रिय हो चला था कि विदेशी लोग भी इसे स्वीकार करने लगे थे। अशोक के लेख संख्या में इतने अधिक हैं तथा उनमें मिलने वाली सूचनायें इतनी विशद और महत्त्व की हैं कि उन्हें स्वयं में एक साहित्य का नाम दिया जा सकता है। भारतीय इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण शासक तथा सामान्य रूप से मौर्य शासन वंश के विषय में इनसे जो महत्त्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं उनके बिना इस सम्बन्ध में हमारी जानकारी सर्वथा अधूरी रहती है। इसी प्रकार समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के बिना हम इस महत्त्वपूर्ण शासक के विषय में कुछ भी नहीं जान पाते। यही बात हम कलिंग के शासक खारवेल के विषय में कह सकते हैं जिसके विषय में हमारी सूचना का आधार हाथीगुम्फा अभिलेख है। कभी-कभी लेखों में लेख के जारी करने वाले शासक के नाम के अतिरिक्त उसकी वंशावली भी दी गई रहती है। उदाहरण के लिये रुद्रदामन् के लेख से यह ज्ञात होता है कि वह जयदामन का पुत्र और चष्टन का पौत्र था। वंशावली की यह परम्परा गुप्त लेखों

में अपनी चरम सीमा पर दिखाई पड़ती है। वंशावली की सहायता से इतिहासकारों को उत्तराधिकार क्रम समझने में बड़ी सहायता मिलती है। शासकों के नामों के आगे दी गई उपाधियों से यह जानने में सहायता मिलती है कि वे प्रभुतासम्पन्न और स्वतंत्र शासक थे अथवा किसी अन्य शक्तिशाली शासक के सामन्त अथवा अधीनस्थ के रूप में राज्य करते थे। इन लेखों से शासन-व्यवस्था के ऊपर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इन में पदाधिकारियों के नाम और उनके कार्य व्यापारों का विवरण भी प्राप्त होता है। साम्राज्य की विविध प्रशासनिक इकाइयों के सम्बन्ध में भी इनसे सूचना मिलती है। प्राचीन भारत के कुछ लेख साहित्यिक महत्त्व के भी मिलते हैं। रुद्रदामन् के जूनागढ़ के अभिलेख का उपयोग विद्वानों ने संस्कृत भाषा के विकास क्रम को समझने में किया है। धार तथा अजमेर के चट्टानों पर नाटक लिखे हुए मिले हैं। इसी संदर्भ में पुष्यमित्र शुंग का अयोध्या अभिलेख, दशरथ के नागार्जुनी गुहालेख, सातवाहनों के नासिक, नानाघाट और कार्ले के लेख तथा गुप्त नरेशों के गुहालेख उल्लेखनीय हैं। पर्वतीय अंचलों से प्राप्त गुहालेख दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालने के साथ शक-सातवाहन संघर्ष को भी दर्शाते हैं।

इसी प्रकार के अभिलेख दानपत्र, स्मारक-पत्र तथा मुद्राओं पर भी उपलब्ध हुए हैं। इतिहासकार फ्लीट ने इन अभिलेखों का महत्त्व बताते हुए लिखा है "प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास का ज्ञान हमें धैर्यपूर्वक इनके अध्ययन से प्राप्त होता है।" सांची भारहुत, अमरावती आदि स्तूपों पर अनेक लेख अंकित मिले हैं जो इतिहास की दृष्टि से बडे महत्त्वपूर्ण हैं। ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेख भी इतिहास निर्माण में सहायक सिद्ध हुए हैं।

कुछ विदेशी अभिलेख जैसेकि बोगजकोई, पर्सिपोलिस तथा नक्शे रुस्तम अति उल्लेखनीय अभिलेख भी प्राचीन भारतीय इतिहास की विवेचना करते हैं। वैदिक आर्यों का सम्बन्ध एशिया माइनर से प्राप्त बोगजकोई अभिलेख में वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं के उल्लेख से प्रकट एव प्रमाणित होता है। पुदुकोट्टा के अन्तर्गत कुडुमियामलै नामक स्थान से प्राप्त लेख में संगीत के नियम बताये गये हैं।

(ख) सिक्कों का साक्ष्य— प्राचीन भारतीय इतिहास के लेखन में सिक्कों से भी बड़ी सहायता मिलती है। भारतीय इतिहास की प्राचीनतम मुद्रायें (सिक्के) आहत मुद्रायें है जिन पर कोई लेख नहीं मिलता अपितु विविध प्रकार के चिन्ह बने हुए मिलते हैं। रैप्सन और स्मिथ आदि विद्वानों का विचार है कि ये चिन्ह व्यापारियों के निजी चिन्ह थे।

ऐतिहासिक महत्त्व की कुछ समय पश्चात् की मुद्राओं से हमें इतिहास लेखन में अधिक सहायता मिलने लगती है। द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व तथा तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारतीय इतिहास के विषय में हमारा ज्ञान मुख्य रूप से सिक्कों पर ही आधारित है।

बहुत से इन्डो-ग्रीक, बैक्ट्रियाई तथा शक शासकों के नाम हमें केवल सिक्कों के कारण ही ज्ञात हैं। सिक्कों पर अंकित तिथियां उनके ऐतिहासिक महत्त्व को और भी बढ़ा देती हैं। अन्यथा भी सिक्कों की बनावट तथा अन्य विचित्रताओं से इतिहासकार कभी-कभी बड़े महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालने में सफल होते हैं। सिक्कों पर शासक के नाम और उपाधियों के अतिरिक्त उसकी प्रतिकृति भी दी गई होती है जिससे कभी-कभी कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं मिलती हैं। शक शासकों की मुद्राओं पर शासक के साथ युवराज का नाम भी मिलता है जिससे उत्तराधिकार क्रम को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती।

सिक्कों की केवल प्राप्ति के आधार पर कभी-कभी इतिहासकार को यह निष्कर्ष निकालने में सहायता मिलती है कि जहां से सिक्कों की प्राप्ति हुई वह प्रदेश उस शासक के अधिकार क्षेत्र में रहा होगा। समुद्रगुप्त की कुछ मुद्राओं पर उसे वीणा बजाते हुए दिखाया गया है जिससे उसकी व्यक्तिगत रुचि का पता चलता है। साथ ही कुछ मुद्राओं पर अंकित अश्व एवं यूप एवं "अश्वमेध पराक्रमः" लेख शासक द्वारा अश्वमेध यज्ञ किये जाने का बोध कराते हैं। किसी भी राज्य की आर्थिक सम्पन्नता सिक्कों से आंकी जा सकती है। उदाहरणतः जहाँ एक ओर पूर्व गुप्त शासकों द्वारा चालित शुद्ध स्वर्ण सिक्के प्राप्त होते हैं वहीं स्कन्दगुप्त के स्वर्ण सिक्कों में मिलावट,राजनीतिक अशान्ति एवं बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति को दर्शाता है। इसी प्रकार गुप्त मुद्राओं के उस प्रकार से जिसे 'चन्द्रगुप्त कुमारदेवी प्रकार' कहा जाता है गुप्त शासक चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवि राजकन्या कुमारदेवी के महत्त्वपूर्ण वैवाहिक सम्बन्ध की सूचना मिलती है जिसके परिप्रेक्ष्य में समुद्रगुप्त द्वारा प्रयाग प्रशस्ति में स्वयं को 'लिच्छवि-दौहित्र' कहना अधिक स्पष्ट हो जाता है। सिक्कों का ऐतिहासिक महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि दो सौ-सौ ईस्वी पूर्व में लगभग सौ वर्षों तक पंजाब प्रदेश पर लगभग तीस बैट्रियाई शासकों ने शासन किया और इनके विषय में हमारी जानकारी केवल सिक्कों पर आधारित है।

यदा-कदा सिक्कों पर दो भिन्न कुलों के राजाओं के नाम अंकित मिलते हैं, जैसे जोगलथम्बी से प्राप्त शकराज नहपान के सिक्कों पर सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णी का नाम भी पाया जाता है जो सातवाहन शासकों की शकों पर विजय का सूचक है। प्रायः एक शासक के काल के बहुसंख्यक सिक्के उसके शासन की स्थिरता को सूचित करते हैं, तो दूसरी ओर किसी शासक के अल्पसंख्यक सिक्के उसके अल्पकालीन अथवा संकटपूर्ण शासन की जानकारी देते हैं।

धार्मिक इतिहास को समझने में भी ये सिक्के कभी-कभी बड़े सहायक होते हैं। उदाहरण के लिये, हम कुषाण शासकों के सिक्कों को ले सकते हैं। कुषाण शासक कुजुल कैडफिसेज को उसके सिक्कों पर 'सत्य-धर्म-स्थित' कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। विम कैडफिसेज के सिक्कों पर 'महेश्वर' लिखा हुआ मिलता है तथा साथ ही त्रिशूल, नन्दी और शिव की आकृति बनी हुई मिलती है। उसके शैव धर्म के अनुयायी होने में इस प्रकार कोई सन्देह नहीं रह जाता। कनिष्क की मुद्राओं पर पहली बार बुद्ध की आकृति मिलती है। विविध शासकों के सिक्कों पर लक्ष्मी के कई प्रकार मिलते हैं जिससे इस देवी के कई रूप एवं मुद्राओं (भावों) के दर्शन होते हैं।

(ग) स्मारक तथा खंडहर—स्मारक तथा खण्डहर पुरातात्विक साक्ष्य के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। इनसे वास्तुकला और शिल्पशास्त्र का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही सामान्य-जन-जीवन और लोगों के धार्मिक विश्वास इत्यादि के संबंध में भी महत्त्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खननों से प्राप्त खण्डहर सैन्धवजनों के नगर-निर्माण कला, गृह-निर्माण कला तथा तत्सम्बन्धी अन्य पक्षों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। भरहुत और सांची से प्राप्त स्तूपों की वेदिकाओं और तोरण द्वारों पर जो अंकन कार्य हुए हैं उनसे तत्कालीन जन-जीवन का व्यापक विवरण प्राप्त होता है। अजन्ता की गुफाओं में बने चित्र भी इस दृष्टिकोण से बड़े महत्त्व के हैं। ये स्रोत अपने युग के धार्मिक विचारधारा को भी परिलक्षित करते हैं। इसी प्रकार गुप्तकाल में वैष्णव, बौद्ध, जैन एवं शैव धर्म की मूर्तियाँ उस काल में लोगों में धार्मिक सहिष्णुता को इंगित करती हैं। मूर्तियों और चित्रों की भिन्न-भिन्न वेश-भूषा एवं हाव-भाव उस युग की धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं

की जानकारी प्रदान करते हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अतिरिक्त गुजरात में लोथल नामक स्थान पर हुए उत्खनन कार्य से सैन्धव-जनों के व्यापारिक कार्य-कलाप पर अतिरिक्त प्रकाश पड़ा है – यहां से एक गोदी के अवशेष मिले हैं जिसका उपयोग जहाजों पर सामानों को चढ़ाने और उतारने के लिये किया जाता था। मेगस्थनीज के विवरण तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र तथा राजप्रासाद के सम्बन्ध में दिये गये विवरणों की कुमराहार के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों द्वारा पर्याप्त पुष्टि होती है।

2. साहित्यिक स्रोत– साहित्यिक स्रोत को मोटे तौर पर ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक वर्गों में बांटा जा सकता है। दूसरी कोटि के अन्तर्गत वे नाटक, काव्य-ग्रन्थ आदि आते हैं जिनका मुख्य प्रयोजन ऐतिहासिक विवरण देना नहीं है किन्तु जिनमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनायें सुरक्षित होती हैं और इतिहासकार इन्हें सावधानी से निकाल कर अतीत के सम्बन्ध में अपने विवरण में उपयोग में लेता है। इन ग्रन्थों के धार्मिक सम्बन्ध के आधार पर इन्हें मुख्य रूप से तीन वर्गों में रखा जा सकता है : (क) ब्राह्मण साहित्य, (ख) बौद्ध साहित्य, (ग) जैन साहित्य ।

(क) ब्राह्मण साहित्य—ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम वैदिक साहित्य आता है। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद प्राचीनतम है; सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद तिथिक्रम में ऋग्वेद के बाद आते हैं। कालान्तर में इन चारों वेदों के ऊपर टीकायें लिखी गई जिनको ब्राह्मण ग्रन्थों के रूप में जाना जाता है। शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण प्रमुखतम ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। आरण्यक और उपनिषद् मूलरूप से ब्राह्मण ग्रन्थों के अंग हैं किन्तु कालांतर में ये स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। ये वैदिक साहित्य के अन्तिम चरण का निर्माण करते हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से तत्कालीन समाज का जो चित्र उभरता है उसे इतिहासकार पूर्व-वैदिक युग की संज्ञा प्रदान करते हैं। अन्य तीन वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों से समाज के विषय में जो विवरण मिलता है उसे उत्तर वैदिक युग के नाम से जाना जाता है। भारतीय सभ्यता के इतिहास के सन्दर्भ में वैदिक युग का महत्त्व आधारभूमि के रूप में है और वैदिक साहित्य इसके विषय में हमें विस्तृत विवरण प्रदान करता है।

वैदिक परम्परा के अन्तर्गत कालान्तर में साहित्य के उस वर्ग का सृजन हुआ जिसे सूत्र साहित्य कहा जाता है। सूत्र साहित्य को तीन कोटियों में विभक्त किया जा सकता है : कल्पसूत्र— जिनमें वैदिक यज्ञों का विवरण, वर्गीकरण इत्यादि दिया गया; गृह्यसूत्र— जिनमें जनसामान्य में प्रचलित संस्कारों कर्मकाण्डों तथा सामाजिक जीवन के विविध पक्षों की चर्चा की गई है; तथा धर्मसूत्र— जो सामाजिक, राजनीतिक एवं वैधानिक व्यवस्था से सम्बद्ध दिखाई पड़ते हैं।

इसी प्रसंग में हम उन ग्रन्थों को ले सकते हैं जिन्हें सामान्य रूप से वेदांग कहा जाता है। वेदांग के अन्तर्गत निम्न ग्रन्थ-प्रकार आते हैं : (1) शिक्षा अर्थात् शुद्ध उच्चारण से सम्बन्धित शास्त्र (2) कल्प जिनमें याज्ञिक विधि-विधान दिये गये होते हैं। (3) निरुक्त अर्थात् शब्दों की उत्पत्ति और रचना का शास्त्र (4) व्याकरण अर्थात् शुद्ध भाषा बोलने व लिखने का शास्त्र (5) छन्द अर्थात् पद्य रचना से सम्बन्धित शास्त्र, तथा (6) ज्योतिष अर्थात् नक्षत्र विद्या से सम्बन्धित शास्त्र। यह उल्लेखनीय है कि बाद में लिखे गये शास्त्रों और विद्याओं का विकास इन्हीं वेदांग ग्रन्थों से हुआ।

रामायण एवं महाभारत—रामायण और महाभारत भारतीय महाकाव्य हैं। यद्यपि इन

ग्रन्थों की ऐतिहासिकता तथा तिथिक्रम के ऊपर विद्वानों में मतैक्य नहीं हो सका है, सामान्य रूप से इन्हें उत्तरवैदिक युग के जन-जीवन पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों के रूप में लिया जाता है। इन दोनों ग्रन्थों की अन्तर्सामग्री के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों के सभी अंश किसी एक व्यक्ति द्वारा अथवा किसी एक समय विशेष में न लिखे होकर विविध समयों पर लिखे गये। जो भी हो इन ग्रन्थों का महत्त्व उनकी ऐतिहासिकता में निहित न होकर इस बात में निहित है कि भारतीयों के लिए ये ग्रन्थ प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। प्राचीन भारतीय किन आदर्शों और मूल्यों को प्रतिष्ठा प्रदान करते थे, विविध सामाजिक सम्बन्धों के विषय में वे क्या वांछनीय और क्या अवांछनीय मानते थे, विशिष्ट परिस्थितियों से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में उनकी क्या धारणायें थीं, इनके सम्बन्ध में और कोई भी ग्रन्थ इतनी व्यापक और बहुपक्षीय जानकारी नहीं देता जितना कि रामायण और महाभारत। एक प्रकार से रामायण और महाभारत को प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों का दीप-स्तम्भ कहा जा सकता है जिनसे सभी भारतीय प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं और भारतीय जन-मानस पर जिनका प्रभाव आज भी सर्वथा जीवन्त रूप में देखा जा सकता है।

पुराण—रचनाक्रम में पुराण ग्रन्थों को महाकाव्यों के मूल भागों के समकालीन रखा जा सकता है। किन्तु उन्हें अपना वर्तमान रूप गुप्त काल में प्राप्त हुआ। मुख्य पुराण संख्या में अट्ठारह हैं जिनमें मत्स्य पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, वामन पुराण, कूर्म पुराण इत्यादि प्रमुख हैं। विषय सामग्री के रूप में पुराण निम्न विषयों की चर्चा करते हैं : सर्ग (आदि सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि), वंश (देवता तथा ऋषियों के वंशवक्ष), मन्वन्तर (कल्पों के महायुग) तथा वंशानुचरित (राजाओं तथा शासकों का इतिहास)। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पुराणों का वंशानुचरित नामक भाग विशेष रूप में उल्लेखनीय है। प्रारम्भ में पुराणों में दिये गये वर्णनों को विद्वान् बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं मानते थे। इसका कारण यह था कि पुराणों में कभी-कभी बड़े अतिरंजनात्मक विवरण और अविश्वसनीय समयावधियाँ दी गई मिलती हैं किन्तु यह उल्लेखनीय है कि कलियुग (अर्थात् ऐतिहासिक युग) के प्रसंग में दी गई संख्यायें और विवरण पर्याप्त विवेकपूर्ण हैं और अब सामान्य रूप से विद्वान् पुराणों की प्रामाणिकता में अधिक विश्वास करने लगे हैं और उनमें दिये गये विवरणों को अपने लेखन के उपयोग में अधिकाधिक लेने लगे हैं। पुराणों में एक अध्याय का नाम भुवनकोश मिलता है जिसमें भारत का भूगोल वर्णित है, किन्तु इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि यह भूगोल राजनीतिक नहीं अपितु उस समस्त भू-क्षेत्र का भूगोल है जो कि भारतीय संस्कृति के प्रभाव के अन्तर्गत माना जाता था।

स्मृतियां— ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित साहित्यिक परम्परा में स्मृति कहे जाने वाले ग्रन्थों का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। स्मृतियों को धर्मशास्त्र भी कहा जाता है। स्मृतियों में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के विविध कार्यों के नियमों एवं निषेधों का उल्लेख मिलता है। स्मृतियों में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा विधि सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति आदि प्रमुख स्मृति ग्रन्थ हैं। इनमें मनुस्मृति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, तथा इसे अन्य परवर्ती स्मृतियों का आधार माना गया है। सामान्य रूप से विद्वान् इसकी रचना का समय द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईस्वी के बीच मानते हैं।

(ग) बौद्ध ग्रन्थ—छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में प्राचीन भारत में जो धार्मिक आन्दोलन हुआ उसके अन्तर्गत बौद्ध और जैन धर्मों की विशेष रूप से प्रतिष्ठा हुई। कालान्तर में

इन धर्मों से सम्बद्ध विविध ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें भरपूर ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है।

बौद्ध ग्रन्थों में सबसे पहले जातक ग्रन्थों का स्थान आता है। जातक कथाओं में बुद्ध के पूर्व जीवन की कथायें दी गई हैं और इनमें से कुछ कथायें छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व के पहले के जन-जीवन पर भी प्रकाश डालती है। इन्हीं जातक कथाओं को आधार बनाकर रतिलाल मेहता ने अपनी पुस्तक प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया में बुद्ध से पूर्व के भारतीय समाज और जन-जीवन का विवरण देने का प्रयास किया है। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थ पालि भाषा में लिखे हुए हैं। बुद्ध के वचनों का संकलन तीन पृथक्-पृथक् ग्रन्थों के अन्तर्गत हुआ जिन्हें सामूहिक रूप से त्रिपिटक की संज्ञा दी गई। ये तीन पिटक हैं—विनय पिटक, सुत्त पिटक एवं अभिधम्म पिटक। त्रिपिटक का रचना काल तथा इनमें प्राप्त सूचनाओं का समय मुख्य रूप से छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व तथा तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के बीच का मानना चाहिये। पालि ग्रन्थों में एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलन्दपञ्हों (मिलिन्द-प्रश्न) है। इसमें यूनानी शासक मिनेन्डर, जिसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, तथा बौद्ध आचार्य नागसेन के बीच हुए वार्तालाप का वृतान्त दिया गया है। दीपवंश और सिंहली इतिहासकार महानाम द्वारा रचित महावंश लंका में लिखे गये बौद्ध ग्रन्थ हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ तिथि क्रम की दृष्टि से काफ़ी बाद के हैं तथा अन्य देश में लिखे गये किन्तु प्राचीन काल के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विवरण इनमें सुरक्षित मिलते हैं। परवर्तीकाल में संस्कृत भाषा में लिखे गये महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थों में महावस्तु, ललितविस्तर व बुद्धचरित हैं। इन ग्रन्थों में तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विषय में सूचनायें मिलती हैं। बौद्ध धर्म के सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक विकास को समझने में भी इन ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिलती है। अवदान ग्रन्थों में दिव्यावदान का उपयोग मौर्य काल के इतिहास के लेखन में किया गया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कई बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत में भी लिखे गये। इनमें महावस्तु, ललितविस्तार, बुद्ध-चरित्र, सौंदरानन्द, दिव्यादान, मंजूश्री-मूलकल्प आदि उल्लेखनीय हैं। महावस्तु मुख्यतः महात्मा बुद्ध का जीवन वृत है। यह मूलतः हीनयान सम्प्रदाय का ग्रन्थ होते हुए भी महायान सम्प्रदाय की विशिष्टताओं को स्थान प्रदान करता है। ललितविस्तार में बुद्ध को दैवी शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए, उनके अद्भुत क्रियाकलापों का वर्णन है। कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष द्वारा रचित बुद्ध चरित्र एवं सौन्दरानन्द-बुद्ध के जीवन तथा सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं। मंजुश्रीमूलकल्प नामक एक अन्य ग्रन्थ यद्यपि संकेत भाषा में लिखा गया है तथापि विद्वानों द्वारा इसकी ऐतिहासिक उपयोगिता स्वीकार की जाती है।

(ग) जैन ग्रन्थ—बहुत दिनों तक अधिकांश जैन ग्रन्थ अप्रकाशित रहे और प्राचीन भारत के इतिहास लेखन में इनका उपयोग अत्यन्त विरल रहा। किन्तु धीरे-धीरे अब इतिहास लेखन में इनका अधिक उपयोग होने लगा है। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थ अंग नाम से जाने जाते हैं और इनकी संख्या 11 अथवा 12 है। ये ग्रन्थ अर्द्धमागधी भाषा में लिखे हुए हैं। यद्यपि ग्रन्थ रूप में इनका संकलन काफी बाद का है तथापि इनमें उपलब्ध विवरण अत्यन्त पहले के ऐतिहासिक स्थिति की चर्चा करते हैं। आचारांग सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, कल्पसूत्र, भगवती सूत्र इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्राचीन जैन ग्रन्थ हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ हेमचन्द्र रचित परिशिष्टपर्वन है। एक अन्य ग्रन्थ भद्रावाहुचरित से भी कुछ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनायें मिलती हैं। कथाकोष, लोकविभाग तथा पुण्याश्रव-कथाकोष अन्य महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ हैं।

प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ

आज इतिहास की पुस्तकें वैज्ञानिक रीति को अपनाते हुए लिखी जाती हैं। वैज्ञानिक रीति से इतिहास लिखने का तात्पर्य यह है कि इतिहासकार घटनाओं का विवरण देने में अपनी भावनाओं और मान्यताओं से प्रभावित न होकर तटस्थ भाव से लिखे, विवरण में कल्पना और अतिरंजना न हो- इसकी चेष्टा घटनाओं का यथारूप वर्णन करना होनी चाहिए तथा लेखन में तिथिक्रम का सावधानी से निर्वाह किया जाय। इस रूप में लिखे गये ग्रन्थ प्राचीन भारत से कम ही मिलते हैं। इस प्रकार की पुस्तकों के अभाव के कारण कुछ पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने यह कहा कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था। इन विद्वानों ने इसके कई कारण बताये। ज़हां कुछ विद्वानों ने इस मनोवृत्ति का कारण भारत की जलवायु में खोजा, कुछ ने यह कहा कि प्राचीन भारत के लोग माया और कर्म के सिद्धान्तों तथा अन्य आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन में इतने डूबे रहे कि वे. इतिहास को कोई महत्त्व नहीं दे पाये। किन्तु इन मतों की सत्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में प्राचीन भारतीय इतिहास को सर्वथा उस रूप में नहीं समझते थे जिस रूप में इसे आज समझा जाता है। इतिहास के अन्तर्गत वे सामाजिक संस्थाओं, वैधिक नियमों तथा नैतक नियमों का भी समावेश करते थे। जहां तक इतिहास के महत्त्व का प्रश्न है यह उल्लेखनीय है कि ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों में ज्ञान की इस शाखा को 'इतिहास-वेद' का अभिधान दिया गया है। कौटिल्य का कहना है कि तीन वेद वेदत्रयी बनाते हैं और इतिहास के साथ वे वेद के नाम से जाने जाते हैं। उसने मध्याह्नकाल में राजा द्वारा इतिहास का श्रवण अत्यन्त उपयोगी बताया है। प्राचीनकालिक साक्ष्यों को देखने पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि प्राचीन भारतीय इतिहास को लिखने तथा ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओं को सुरक्षित करने के प्रति पर्याप्त सचेष्ट थे। मौर्य काल से ही राजकीय अभिलेखागार के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शासन की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं का लेखन करने वाले अधिकारी का उल्लेख मिलता है और कालान्तर में युवाच्वांग के विवरण से भी इसकी पुष्टि होती है। गुप्तकालीन पदाधिकारी अक्षपटलाधिकृत राजकीय अभिलेखागार से सम्बद्ध अधिकारी जान पड़ता है। कालक्रम में ऐतिहासिक महत्त्व के अधिकांश विवरण नष्ट हो गये और अब अप्राप्य हैं किन्तु जितना उपलब्ध है उसके आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि भारतीय प्राचीनकाल से ही इतिहास लेखन में रुचि रखते रहे हैं, यद्यपि इस विषय को वे आजकल से थोड़ा भिन्न रूप में समझते थे।

इतिहास लेखन में अपेक्षाकृत वैज्ञानिक पद्धति का निर्वाह करते हुए लिखे गये ग्रन्थों में सबसे पहले बाण द्वारा लिखे गये हर्ष-चरित का नाम लिया जा सकता है। बाण हर्ष का समसामयिक था और अपने इस ग्रन्थ में उसने वर्धन वंश का प्रारम्भिक इतिहास तथा अपने संरक्षक शासक हर्ष का जीवन वृतान्त दिया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में हर्ष की पूरी जीवनी नहीं मिलती, तथापि उसके जीवन से सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं का विवरण हमें इस ग्रन्थ में मिलता है। आभिलेखिक साक्ष्यों से भी इसके विवरणों की पुष्टि होती है। इतिहास ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण कल्हण रचित राजतरंगिणी है जिसकी रचना 1148 ई. में प्रारम्भ हुई। यह किसी एक शासन वंश का ही नहीं, अपितु कश्मीर का सामान्य इतिहास है। इसमें पूर्ववर्ती शासनवंशीय इतिहासों को भी स्रोत बनाया गया है और लेखक इस बात के प्रति सचेत लगता है कि घटनाओं का यथारूप विवरण ही दिया जाये। बाद में कई कश्मीरी इतिहासकारों ने इसके पूरक ग्रन्थ लिखे। 15वीं शताब्दी के

मध्य में उत्पन्न जोनराज तथा उनके शिष्य श्रीवर ने तथा 16वीं शताब्दी में राजभट्ट तथा शुक ने अपने ग्रन्थों की रचना की।

हर्ष के एक शताब्दी बाद वाक्पतिराज ने गौडवहो नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें कन्नोज के शासक यशोवर्मन् के विजयों की चर्चा हुई है। 11 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पद्मगुप्त परिमल ने परमार शासक सिन्धुराज की जीवनी को आधार बनाकर नवसाहसांकचरित नामक ग्रन्थ लिखा। सत्य घटनाओं पर आधारित होने पर भी यह ग्रन्थ एक प्रेम कथा में परिवर्तित हो गया है। 11 वीं शताब्दी के अन्त में ही कश्मीर के लेखक बिल्हण ने विक्रमांकदेवचरित नामक ग्रन्थ में कल्याणी के चालुक्यवंश का इतिहास दिया है। 12 वीं शताब्दी में लिखे गये पृथ्वीराजरासो में प्रतिहार, परमार, चालुक्य एवं चाहमान शासन वंशों की उत्पत्ति बतायी गई है। हिन्दू धर्म की रक्षा में सचेष्ट इन चार राजकुलों को एक साथ रखा गया है। जयसिंह सूरि द्वारा रचित हम्मीर महाकाव्य एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। आनन्द भट्ट ने अपनी पुस्तक वल्लालचरित में सेनवंश का इतिहास दिया है। ये सभी ग्रन्थ आधुनिक अर्थ में इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु इनमें सत्य से दूर हुए बिना कथानक को काव्य शैली में उपस्थित किया गया है।

बाद में क्षेत्रीय भाषाओं में विविध प्रकार के ग्रन्थों की रचना हुई जिसमें प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री देखी जा सकती है। तमिल भाषा में उपलब्ध प्राचीनतम साहित्य जिसमें ऐतिहासिक सामग्री प्राप्य है एट्टुतोगइ नाम से ज्ञात कविताओं का संग्रह है। इसमें पाण्ड्य, चोल तथा चेर राजवंश का इतिहास मिलता है। प्राचीन तमिल साहित्य के पांच महाकाव्यों में (पेरूंकाप्पियम महाकाव्य) एक शिलप्पदिकारम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार का एक अन्य ग्रन्थ मणिमेकलाइ है। जयन्गोण्डार लिखित कलिंगत्तुप्परणि में कुलोत्तुंग प्रथम **(1070-1181)** के कलिंग विजय का उल्लेख मिलता है। तेलगू भाषा में जिन ग्रन्थों की रचना हुई उनमें कुमार धूर्जटि द्वारा लिखित कृष्णदेवरायविजयमु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें विजयनगर राज्य के सबसे प्रतापी शासक कृष्णदेवराय का इतिहास मिलता है। आसाम में लिखे गए बुरुंजियों तथा महाराष्ट्र में लिखे गये बखरों में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। उड़ीसा में वंशावलियां लिखी गई जिन्हें उड़िया भाषा में मादलापांजी कहते हैं। राजस्थान में विभिन्न राज्यों ने अपने इतिहास को ख्यातों में सुरक्षित रखा है। ये गद्य में लिख हुए हैं। इनका समय सोलहवीं शताब्दी के बाद का है। ख्यातों में नैणसी की ख्यात सर्वाधिक प्रसिद्ध ख्यात है। इनके अतिरिक्त विभिन्न राजाओं पर रास नामक ग्रन्थ लिखे गए। इनमें सबसे प्राचीन पृथ्वीराज रास है जो पृथ्वीराज तृतीय के दरबारी कवि चन्द्र की रचना मानी जाती है। इसके अधिकांश भाग चौदहवीं शताब्दी के बाद के माने जाते हैं। राजपूतों का सबसे महत्त्वपूर्ण कुल मेदपाट (मेवाड़) के गुहिलपुत्रों का कुल है। चौदहवीं शताब्दी से यह कुल सिसोदिया कुल के नाम से जाना जाने लगा था। सबसे अधिक ख्यात और रास मेवाड़ प्रदेश से मिलते हैं। इनमें प्राचीनतम खुम्माण रास है।

लौकिक साहित्य—इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थ विविध अन्य विषयों को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। किन्तु, इनकी अन्तर्सामग्री ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व की है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इससे मौर्यकालीन प्रशासन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पाणिनि द्वारा लिखी गई अष्टाध्यायी तथा पतंजलि द्वारा इस पर लिखा गया भाष्य (महाभाष्य) व्याकरण ग्रन्थ हैं किन्तु प्रसंग वंश ये कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनायें प्रदान करते हैं। डा. वासुदेव शरण

अग्रवाल ने अष्टाध्यायी के आधार पर पाणिनिकालीन भारत नामक पुस्तक लिखी है जिसमें तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का बड़ा व्यापक चित्रण मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य में यवनों द्वारा साकेत तथा मध्यमिका पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है। गार्गी संहिता में भी यवन आक्रमण की चर्चा मिलती है। तमिल ग्रन्थ पुरूनानूरू तथा मणिमेकलाई की गणना भी इसी श्रेणी के साहित्य में की जानी चाहिये। प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में आधुनिक विद्वानों को इन ग्रन्थों में मिलने वाली सूचनाओं से बड़ी सहायता मिली है।

इसी प्रसंग में उन नाटक ग्रन्थों को लिया जा सकता है जिनमें मुख्य कथानक ऐतिहासिक है। कालिदास द्वारा रचित मालविकाग्निमित्रम् ऐतिहासिक नाटक ग्रन्थ है जिसमें शुंग शासक पुष्यमित्र तथा उसके पुत्र अग्निमित्र प्रमुख ऐतिहासिक पात्र हैं। विशाखदत्त द्वारा लिखित मुद्राराक्षस नामक ग्रन्थ यद्यपि गुप्त काल में लिखा गया तथापि इसमें मौर्यों के प्रारम्भिक इतिहास के विषय में जानकारी मिलती है। इसी लेखक का एक अन्य नाटक ग्रन्थ देवीचन्द्रगुप्तम् है जो गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय को आधार बनाकर लिखा गया है। हर्ष द्वारा रचित नागानन्द, रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नामक नाटिकायें सातवीं शताब्दी के इतिहास तथा सांस्कृतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं।

(3) विदेशी विवरण

भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में कुछ सूचनायें हमें विदेशी लेखकों तथा समय-समय पर यहां आये विदेशी यात्रियों के विवरण से प्राप्त होती हैं। इनमें से अधिकांश सूचनायें समसामयिक होने के कारण विशेष महत्त्व रखती हैं। यद्यपि प्राचीन भारतीयों का विदेशियों के साथ पहला सम्पर्क ईरानियों के साथ हुआ, सबसे पहले यूनानियों ने भारतीय भूगोल तथा इतिहास में अपनी रुचि दिखाई, प्राचीन यूनानी लेखकों में सबसे महत्त्वपूर्ण हेरोडोटस इतिहास का जन्मदाता (484-425 ई. पूर्व) है जिसने हिस्टोरिका नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में पश्चिमोत्तर भारत के राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति का चित्रण मिलता है किन्तु हेरोडोटस के विवरण में कहीं-कहीं किम्वदन्तियों तथा कथाओं का भी समावेश दिखायी पड़ता है। सिकन्दर के भारतीय अभियान के साथ नियार्कस, आनिसिक्राइटुस तथा अरिस्टोबुलुस नामक लेखक आये थे। इन लेखकों के लेख अब उपलब्ध नहीं हैं किन्तु परवर्ती यूनानी लेखकों ने इनका संदर्भ दिया है। इन लेखकों में क्विटस, कर्टियस, डियोडोरस, स्ट्रैबो, एरियन तथा प्लूटार्क उल्लेखनीय हैं। इन साक्ष्यों का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि सिकन्दर के आक्रमण के विषय में हम केवल इन्हीं के आधार पर जानते हैं, किसी भी भारतीय साक्ष्य में इस घटना का उल्लेख नहीं मिलता। कालान्तर में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में सेल्युकस का यूनानी राजदूत मेगस्थनीज आया जिसने इंडिका नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक भी उपलब्ध नहीं है, किन्तु एरियन, अप्पियन तथा स्ट्रैबो और जस्टिन में इस पुस्तक के उद्धरण सुरक्षित मिलते हैं। "इरिथ्रयन सागर का पेरिप्लस" तथा टालमि (130 ईस्वी) द्वारा रचित "भूगोल" अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनसे प्राचीन भारतीय भूगोल तथा व्यापार पर प्रकाश पड़ता है। प्लिनी (23–79 ई.) की पुस्तक "नेच्युरल हिस्ट्री" एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत है। मिश्र का मठधारी काम्मस इण्डिकोप्लुटस 547 ई. में भारत आया और उसने "द क्रिश्चियन टोपोग्रैफी आफ द युनिवर्स" नामक पुस्तक लिखी है।

चीनी भाषा में लिखे ग्रन्थों के प्रसंग में सबसे पहले चीन के प्रथम महत्त्वपूर्ण इतिहासकार शु-मा-चिचन (100 ई. पूर्व) का नाम लिया जा सकता है। इसकी पुस्तक में उन मध्य एशियायी जातियों के परिभ्रमण का विवरण मिलता है जो कालान्तर में भारतीय इतिहास के साथ सम्बद्ध हुए। गुप्त काल में फाह्यान (399–414 ई.) तथा हर्ष के समय

युवानच्वांग (629-645 ई) नामक चीनी यात्री बौद्ध ग्रन्थों के संग्रह करने के उद्देश्य से भारत आये। उनके यात्रा विवरण तत्कालीन इतिहास के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। 13 वीं शताब्दी के मत्वानलिन की कृतियों से भी बहुत कुछ पता चलता है। तारानाथ नामक तिब्बती लेखक ने कंग्युर और तंयुर नामक ग्रन्थ लिखे, जिनमें भारतीय इतिहास की कुछ घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है।

इसके पश्चात् मुस्लिम पर्यटकों का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें अलबेरूनी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ मुस्लिम लेखक जिन्होंने भारत के विषय में लिखा है अलबेरूनी से भी प्राचीन हैं—जैसे अल्बिलादुरी (किताब फुतूह अल्-बुल्दान), सुलेमान (सिलसिलात उत्-तवारीख) और अल् मसूदी (मरूज उल्-जहाब)। अल्बेरूनी महमूद के आक्रमणों में साथ था। 1030 में उसने 'तहकीक-ए-हिन्द' नामक पुस्तक लिखी जो तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति तथा धर्म एवं दर्शन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है। मुहम्मद तुगलक के समय में यहां अफ्रीकी मुस्लिम यात्री इब्नबतूता आया। उसके यात्रा विवरण का नाम रेहला है जो अरबी भाषा में है। वह भारत के भूगोल तथा सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का विस्तारपूर्वक विवरण देता है। तुगलक काल में भारत पर तिमूर ने आक्रमण किया। उसने अपने संस्मरण लिखे जिसका नाम 'तुजुक-ए-तिमूरी है।'

ये विदेशी विवरण तत्कालीन धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति पर अत्यन्त प्रकाश डालते हैं। इनमें से कुछ भारतीय इतिहास के तिथि क्रम की गुत्थियों को समझाने में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं उदाहरण के लिये यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित सैंड्रोकोट्टस का चन्द्रगुप्त मौर्य से समीकरण भारतीय तिथि क्रम को सुनिश्चित आधार प्रदान करता है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि विदेशी होने के कारण कभी-कभी ये लेखक भारतीय समाज को ठीक-ठीक समझने में सफल नहीं हो पाये हैं और इस कारण इनके विवरणों को कुछ सावधानी से उपयोग में लाने की आवश्यकता है।

2

सिन्धु सभ्यता

भारतीय सभ्यता का प्राचीनतम चरण

1922 के पहले सैन्धव-सभ्यता के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं था और भारतीय सभ्यता का इतिहास वैदिक युग से प्रारम्भ किया जाता था। सबसे पहले 1922 में सवर्गीय राखालदास बनर्जी ने हरप्पा में एक बौद्ध स्तूप की खुदाई करते समय यह निष्कर्ष निकाला कि नीचे किसी नगर का अवशेष छिपा है। बाद की खुदाई से उनके इस अनुमान की पुष्टि हुई। लगभग 400 मील की दूरी पर मोहनजोदड़ो से भी इस सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए *हरप्पा पंजाब में रावी नदी के तट पर और मोहनजोदड़ो सिन्ध प्रदेश में सिन्धु नदी के तट पर स्थित है। अब ये दोनों स्थान पाकिस्तान में हैं। चूंकि सबसे पहले इस सभ्यता के अवशेष सिन्धुघाटी से प्राप्त हुए इस कारण इसे सिन्धु-सभ्यता या सैन्धव-सभ्यता कहा जाता है। हरप्पा के नाम पर इसे हरप्पा संस्कृति की भी संज्ञा दी जाती है। किन्तु ये नाम केवल सुविधा के लिये हैं। जैसा कि हम नीचे देखेंगे, बाद की खुदाइयों से यह स्पष्ट हो गया है कि यह सभ्यता केवल इन्हीं प्रदेशों तक सीमित नहीं थी अपितु इसका विस्तार एक लम्बे भू-क्षेत्र पर था। प्रारम्भ में इस सभ्यता पर सुमेर तथा ईरान की संस्कृतियों का प्रभाव माना जाता था। किन्तु बाद में भारतीय प्रदेश में ही कई ग्रामीण संस्कृतियों का पता चला है जो इस सभ्यता से पहले की हैं और जिन्हें विद्वान् अब सामान्य रूप से सैन्धव-सभ्यता का स्रोत मानते हैं। इस सभ्यता के तत्त्व परवर्ती भारतीय सभ्यता में अनुसन्तत रूप में पाये जाते हैं। इस प्रकार इस सभ्यता को भारतीय सभ्यता का प्राचीनतम चरण कहना अधिक उपयुक्त है। यह सभ्यता मिस्र, मैसोपोटामिया आदि सभ्यताओं के समान विकसित एवं प्राचीन थी तथा कुछ क्षेत्रों में तो उनसे भी अधिक विशिष्ट थी।**

सैन्धव सभ्यता का विस्तार

इस सभ्यता के विषय में हमारा ज्ञान मुख्य रूप से हरप्पा और मोहनजोदड़ो में की गई व्यापक खुदाई पर आधारित है। इन स्थानों से इस सभ्यता की जानकारी मिलने के उपरान्त विद्वानों ने कई स्थानों से इस सभ्यता के अवशेष ढूंढ़े है जिनसे इसके व्यापक

---

* 'Mohen' means dead, 'Jo' means of, and 'Daro' means mound. Thus Mohen jodaro means the 'Mound of the dead.'

** "India must henceforth be recognized along with Persia, Mesopotania, and Egypt, as one of the most important areas where the civilizing processes were initiated and developed."

–Sir John Marshall, Mohenjodaro and the Indus civilization, Vol.I. P. 3.

विस्तार का पता चलता है। विशेष रूप से देश के विभाजन के पश्चात् हरप्पा और मोहनजोदड़ो के पाकिस्तान में चले जाने पर भारतीय पुरातात्विकों ने कई स्थानों पर उत्खनन कार्य किये। उत्तर-पश्चिम में इस सभ्यता के अवशेष बलूचिस्तान से प्राप्त हुए हैं। उत्तर-पूर्व में पंजाब प्रदेश में स्थित रूपड़ नामक स्थान से इसके अवशेष मिले हैं। पूर्व में इस सभ्यता का विस्तार पश्चिमी उत्तर प्रदेश के आलमगीरपुर नामक स्थान तक दिखाई पड़ता है। पश्चिम में मकरान समुद्र तट पर सुत्कजेनडोर इस सभ्यता का केन्द्र था। दक्षिण में इसका विस्तार नर्मदा घाटी तक मिलता है। गुजरात में लोथल नामक स्थान से इस सभ्यता के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं। प्राचीन काल में राजस्थान में सरस्वती और दृपद्वती नामक नदियाँ बहती थीं। पहले भी यहाँ सिन्धु-सभ्यता का अनुमान किया जाता था। 1950-51 में भारतीय पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर जनरल श्री घोष ने यहाँ सैन्धव-सभ्यता से सम्बद्ध पच्चीस स्थान खोजे। राजस्थान में प्रागैतिहासिक तथा पूर्वेतिहासिक काल के अनेक अवशेष मिलते हैं। जहाँ तक सिन्धु-सभ्यता का प्रश्न है इससे सम्बन्धित स्थान सरस्वती घाटी में पाकिस्तान की सीमा पर गंगानगर जिले के हनुमानगढ़ एवं सूरतगढ़ नामक स्थानों के बीच में और दृपद्वती घाटी में बीकानेर तथा पूर्वी पंजाब की सीमा के निकट पड़ते हैं। सिन्धु सभ्यता के अवशेष इन स्थानों के अतिरिक्त सोत्काकोह से भी प्राप्त होते हैं जिसकी खोज डेल्स ने 1962 ई. में की थी। एन. जी. मजूमदार द्वारा चन्हुदड़ो की खोज 1931 ई. में की गई जो कि मोहनजोदड़ो से दक्षिण-पूर्व में लगभग 128 कि. मी. पर स्थित है जहाँ से सिन्धु-सभ्यता सम्बन्धी बर्तन, मनके, ताम्र उपकरण आदि प्राप्त हुए हैं। इन स्थानों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काली बंगा है जहाँ से प्राप्त अवशेषों से इस सभ्यता के विषय में कई महत्त्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होती हैं। इस प्रकार विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में जितने बड़े भूभाग पर सैन्धव सभ्यता का विस्तार दिखाई पड़ता है उतने बड़े भूभाग पर किसी भी अन्य प्राचीन विश्व संस्कृति का विस्तार नहीं मिलता। यह भी सम्भावना है कि बाद की खुदाइयों से सैन्धव-सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र का और भी विस्तार होवे।

अद्यतन खोजों से सिन्धु-सभ्यता के अवशेष निम्न स्थानों से प्राप्त होते हैं।* जिन्हें अध्ययन की सुविधानुसार निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया गया है।

(1) सिन्ध—मोहनजोदड़ो के अतिरिक्त सिन्ध में निम्नलिखित स्थानों से सिन्धु-सभ्यता के अवशेष प्राप्त होते हैं।

कोटदीजी—यह मोहनजोदड़ो से पूर्व में लगभग 40 कि. मी. की दूरी पर स्थित है। 1955 एवं 1957 ई. में फजल अहमद खाँ ने यहाँ उत्खनन कराया एवं सिन्धु-सभ्यता के अवशेष प्राप्त किये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु-सभ्यता के नीचे यहाँ पर एक अन्य सभ्यता, जिसे **'कोटदीजी सभ्यता'** कहा गया, के अवशेष भी प्राप्त हुए।

अलीमुरीद—यह दूदू से 32 किमी. दूर स्थित है।

चन्हुदड़ो—एन. जी. मजूमदार ने इस स्थान की खोज 1931 ई. में की थी। मैके ने भी यहाँ पर उत्खनन कार्य कराया था। यह स्थान मोहनजोदड़ो से दक्षिण-पूर्व में लगभग 128 किमी. पर स्थित है। यहाँ पर सबसे नीचे सिन्धु सभ्यता, उसके ऊपर झूकर-सभ्यता तथा उसके ऊपर झांगर-सभ्यता के अवशेष प्राप्त होते हैं। सिन्धु-सभ्यता सम्बन्धी बर्तन, मनके, ताम्र उपकरण आदि प्राप्त होते हैं।

(2) बलूचिस्तान—बलूचिस्तान में सिन्धु-सभ्यता के अवशेष सोत्काकोह, सुत्कगेनडोर एवं डाबरकोट से प्राप्त होते हैं।

सुत्कागेनडोर—यह करांची के पश्चिम में लगभग 300 मील दूरी पर स्थित है। 1927 ई. में इसकी खोज स्टाइन ने की थी। 1962 ई. में डेल्स ने यहाँ पर बन्दरगाह, दुर्ग एवं निचले स्तर की रूपरेखा प्राप्त की थी।

सोत्काकोह—इसकी खोज डेल्स ने 1962 ई. में की थी। इसकी स्थिति पेरिन्ट आठ मील की दूरी पर है।

डाबरकोट—यह उत्तरी बलूचिस्तान की पहाड़ियों में स्थित है। यहाँ पर उत्खनन सम्बन्धी अभी तक विशेष कार्य नहीं हुआ है।

(3) राजस्थान—राजस्थान में कालीबंगा नामक स्थान पर सिन्धु-सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। कालीबंगा सरस्वती नदी के किनारे पर स्थित है जहाँ दो टीले हैं। पूर्वी टीले में पत्थर के मोती, मिट्टी की चूड़ियाँ, बर्तन (मिट्टी के) प्राप्त हुए हैं। पश्चिमी टीले में स्नानागार, कुएँ, अग्निकुण्ड एवं मिट्टी के बर्तन प्राप्त होते हैं। इस स्थान की खोज 1942 ई. में स्टाइन ने की थी।

(4) पंजाब—हड़प्पा के अतिरिक्त पंजाब में रोपड़, बाड़ा, संघोल स्थानों पर भी सिन्धु-सभ्यता के अवशेष उपलब्ध होते हैं।

रोपड़—यहाँ उत्खनन का कार्य यज्ञदत्त शर्मा ने कराया। यह स्थान शिवालिक पहाड़ी की उपत्यका में स्थित हैं। यहाँ से एक मुद्रा भी प्राप्त हुई।

बाड़ा—यह रोपड़ के समीप ही स्थित है।

संघोल—लुधियाना जिले में स्थित संघोल से मनके, चूड़ियाँ, बाली, आदि प्राप्त हुए।

(5) हरियाणा—हरियाणा में सिन्धु-सभ्यता सम्बन्धी बणावली एवं मीत्ताथल स्थानों का पता चला है।

(6) उत्तर प्रदेश—उत्तर प्रदेश में सिन्धु सभ्यता के अवशेष मेरठ से लगभग 30 किमी. दूर आलमगीरपुर एवं गंगा की घाटी में इलाहाबाद से 56 किमी. दूर कौशाम्बी के निकट प्राप्त हुए हैं।

(7) गुजरात—गुजरात में रंगपुर, लोथल, रोजदि, सुरकोटड़ा एवं मालवण से सिन्धु-सभ्यता के अवशेष प्राप्त होते हैं। उपरोक्त स्थानों में लोथल ही विशेषतया महत्त्वपूर्ण है।

लोथल—यह अहमदाबाद से 16 किमी. दक्षिण में स्थित है। प्रो. सांकलिया का मत है कि यहाँ पर सिन्धु-सभ्यता के लोग पैदल व समुद्री दोनों ही मार्गों से आये थे। प्राचीन काल में सम्भवतः यह स्थान साबरमती एवं भोगावा के संगम पर स्थित था। यहाँ हुए उत्खनन से ज्ञात होता है कि यहाँ पर सम्भवतः एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था तथा जहाजों के रुकने के लिए एक विशाल डाकयार्ड बना हुआ था। लोथल में नालियों की बहुत अच्छी व्यवस्था थी। लोथल से बाँट, चूड़ियाँ व पत्थर के आभूषण भी प्राप्त होते हैं। लाल एवं काले रंग के मिट्टी के बर्तन भी यहाँ से प्राप्त हुए हैं जिन पर आकृतियाँ बनी हुई हैं। लोथल के छह बार बसने के अवशेष मिलते हैं, सम्भवतः साबरमती एवं भोगावा नदियों के प्रकोप से यह नष्ट हो गया होगा।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सिन्धु-सभ्यता अत्यधिक विस्तृत थी। प्रो. आर. एन. राव का मानना है कि सिन्धु-सभ्यता का विस्तार पूर्व से पश्चिम 1600 किलोमीटर व उत्तर से दक्षिण 1100 किलोमीटर के क्षेत्र में था। पिगट का विचार है कि सिन्धु-सभ्यता के अन्तर्गत इस विशाल प्रदेश की व्यवस्था व प्रशासन दो राजधानियों, उत्तर में हड़प्पा व

दक्षिण में मोहनजोदड़ो, के द्वारा होती थी। पिगट ने इस सन्दर्भ में कुषाणकालीन दो राजधानियों, पेशावर व मथुरा, का उल्लेख किया है।

उत्पत्ति

फ़ारस की खाड़ी से उत्तर-पश्चिम की ओर चलती हुई तथा भूमध्य सागर के तटीय प्रदेश से गुजरती हुई लगभग मिश्र तक पहुंचने वाली उर्वरशील भूपट्टिका को अपने आकार के कारण 'उर्वर अर्द्धचन्द्र' (अ. 'फर्टाइल क्रीसेन्ट') के नाम से जाना जाता है। इसी प्रदेश में प्राचीनतम सभ्यता के तत्त्वों–यथा अन्नोत्पादन का ज्ञान, पशुओं का पालना, रहने के लिये घर बनाने का ज्ञान, वस्तुओं के संग्रह के लिये बर्तन बनाने का ज्ञान आदि के प्राचीनतम अवशेष प्राप्त होते हैं। इसी प्रदेश में दजला और फ़रात नदियों के किनारे प्राचीन असीरियायी एवं मेसोपोटैमियायी सभ्यताओं का जन्म हुआ। ब्रेस्टेड नामक विद्वान् ने इस मत का प्रतिपादन किया कि सभ्यता के विविध तत्त्व सर्वप्रथम इसी प्रदेश में विकसित थे और यहाँ से अन्य स्थानों पर गये जिनसे अन्य सभ्यताओं का जन्म हुआ। सैन्धव सभ्यता के सन्दर्भ में भी प्रायः विद्वानों की यही धारणा रही है कि यह सुमेर और ईरान की सभ्यता के प्रभाव के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई। किन्तु बाद की खुदाइयों से भारतीय प्रदेश में भी कई ऐसी ग्रामीण संस्कृतियों का पता चला है जो सैन्धव-सभ्यता से पहले की हैं एवं जिनमें सभ्यता के तथाकथित तत्त्व पाये जाते हैं। स्वयं हरप्पा में पूर्व-हरप्पा संस्कृति मिलती है। कालीबंगा में भी सैन्धव-सभ्यता से पहले की ग्रामीण संस्कृति का पता चला है। सैन्धव-सभ्यता में इन पूर्व-सैन्धव संस्कृतियों के कई तत्त्व निरन्तरता बनाये हुए मिलते हैं। अब सामान्य रूप से विद्वानों का झुकाव इस ओर होने लगा है कि सैन्धव-सभ्यता को इन्हीं ग्रामीण संस्कृतियों से सम्बन्धित किया जाना चाहिये तथा इसकी उत्पत्ति को इन संस्कृतियों की पृष्ठभूमि में ही समझने की चेष्टा करनी चाहिये। जहाँ तक सभ्यता के काल का प्रश्न है तृतीय सहस्राब्दी का उत्तरार्द्ध इस सभ्यता का चरमोत्कर्षकाल कहा जा सकता है। इस सभ्यता की निचली सीमा मोटे तौर पर 1500 ईसवी पूर्व मानी जा सकती है।

सिन्धु तिथि—सिन्धु-सभ्यता की तिथि निर्धारित करने के लिए साहित्यिक एवं लिखित साक्ष्य उपलब्ध न होने के कारण हमें पूर्णरूपेण उत्खनन से प्राप्त मूक साक्ष्यों पर आधारित होना पड़ता है। सिन्धु सभ्यता का अन्य देशों प्रमुखतया मैसोपोटामिया, ईरान आदि से सम्पर्क था। सिन्धु-सभ्यता में निर्मित वस्तुएँ भी इन स्थानों से प्राप्त हुई हैं। सिन्धु-सभ्यता की तिथि निर्धारित करने में मैसोपोटामिया की संस्कृति से महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है क्योंकि मैसोपोटामिया की प्राचीन संस्कृतियों द्वारा प्रयुक्त लिपि को पढ़ा जा चुका है। सिन्धु-सभ्यता को लोहे का ज्ञान न था अतः यह एक ताम्रश्म संस्कृति थी।

के. एन. शास्त्री तथा डा. राजबली पाण्डेय इसे ईसा पूर्व चार हजार वर्ष पुरानी सभ्यता मानते हैं। डा. पाण्डेय का मत है कि, "यहाँ की खुदाई में जल के धरातल तक प्राचीन नगरों के खण्डहरों के एक के ऊपर दूसरे सात स्तर मिले हैं। मोटे तौर पर यदि एक नगर के बसने, पनपने और उजड़ने के लिए 500 वर्ष का समय दिया जाए तो सात नगरों के बसने, विकसित होने और गिरने में लगभग 3500 वर्ष लगे होंगे। सबसे नीचे का स्तर भी सभ्य नगर का अवशेष है; जिसके पूर्व सभ्यता विकसित हो चुकी थी। और यदि भूगर्भ का पानी बीच में बाधा न डालता तो सातवें स्तर के नीचे भी खण्डहरों के स्तर मिल सकते हैं। इस प्रकार सिन्धु सभ्यता कम से कम ईसा पूर्व चार हजार वर्ष की है।" बलूचिस्तान एवं मकरान में मिली पुरातात्विक वस्तुओं के आधार पर भी यह माना

जाता है कि सिन्धु-सभ्यता का प्रारम्भ ई. पू. चार हजार पूर्व क्वेटा, अमरी, नालू आदि स्थानों पर ग्राम्य वस्तिओं के रूप में हो गया था। धर्मपाल ने कार्वन-14 पद्धति द्वारा सिन्धु सभ्यता का समय 2300-1750 ई. पू. माना है तथा समस्त साक्ष्यों का अध्ययन करने के उपरान्त व्हीलर ने सिन्धु-सभ्यता का समय 2500-1500 ई. पू. स्वीकार किया है। तिथि मतभेद होने के बावजूद यह विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक थी।*

सैन्धव सभ्यता के निर्माता

कुछ विद्वानों के मतानुसार इस सभ्यता के निर्माता आर्यजातीय थे किन्तु मार्शल ने इस मत का सवल खण्डन किया है और सैन्धव-सभ्यता तथा वैदिक युगीन आर्य-सभ्यता के बीच विद्यमान असमानताओं की ओर ध्यान दिलाया है। कुछ अन्य विद्वान् इस सभ्यता को द्रविड जातीय सभ्यता मानते हैं। इनका कहना है कि द्रविड पाषाण पात्र, आभूषण इत्यादि की सिन्धु प्रदेश से प्राप्त अवशेषों के साथ बड़ी समानता दिखायी पड़ती है तथा इन पर प्राप्त कुछ चिन्ह भी सिन्धु-सभ्यता की लिपि के समान हैं। ऐसे विद्वानों की संख्या अपेक्षाकृत बड़ी है। पर सैन्धव-सभ्यता की लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है और इस विषय में अभी कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

सैन्धव-सभ्यता के स्थानों से प्राप्त जिन नरकंकालों की परीक्षा हुई है उनसे यहाँ चार जाति के लोगों का अस्तित्व ज्ञात होता है : भूमध्यसागरीय, प्रोटो-ऐस्ट्रोलायड, मंगोलियन तथा अल्पाइन। व्हीलर का मत है कि इस सभ्यता के लोगों के जातीय गुणों के विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सभ्यता की जनसंख्या मिश्रित प्रकार की थी तथा इस सभ्यता के निर्माण में कई लोगों ने अपना योगदान दिया।

मुहरें और लिपि

इस सभ्यता से भारी संख्या में मुहरों की प्राप्ति हुई है। ये मुहरें सेलखरी (अं. स्टीअॅटाइट) पत्थर की बनी हुई हैं और कई आकारों की मिलती हैं। इन मुहरों पर कई प्रकार के चित्रों का अंकन मिलता है जिनका सामान्य स्वरूप धार्मिक जान पड़ता है। इन पर चित्राक्षर लिपि में कुछ लिखा हुआ मिलता है। यद्यपि समय-समय पर विविध विद्वानों ने इस लिपि को पढ़ लेने का दावा किया है किन्तु अभी तक इस विषय पर मतैक्य नहीं हो पाया है। इस बात की सम्भावना है कि प्रत्येक व्यापारी अथवा व्यापारी कुल की अपनी मुहर होती थी जिनका आकार मुख्यतः गोलाकार या वर्गाकार हुआ करता था।

तत्कालीन भौगोलिक स्थिति

सिन्ध प्रदेश से ज्ञात सिन्धु सभ्यता के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि आज कल यह प्रदेश रेगिस्तान तथा गर्म जलवायु वाला है। किन्तु यहाँ से जो अवशेष प्राप्त होते हैं उनसे यह संकेतित होता है कि पहले इस प्रदेश की जलवायु भिन्न प्रकार की थी। कृषि के लिये भूमि बड़ी उर्वर थी और कृषि कर्म के लिये जल का अभाव नहीं था। भवनों के निर्माण में व्यापक मात्रा में पकी ईटों का प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि उस समय जलाने की लकड़ी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। नगर योजना के अन्तर्गत बांधों और नालियों की व्यवस्था से भी यही संकेतित होता है। बड़े-बड़े अन्न-भण्डारों की प्राप्ति प्रचुर अन्नोत्पादन का स्पष्ट संकेत करती है। मुहरों पर चीता और घड़ियाल आदि पशुओं का अंकन भी यही संकेतित करता प्रतीत होता है।

* Mookerjee R.K., Hindu Civilization P.47-48.

विदेशी सभ्यताओं के साथ सम्बन्ध

मेसोपोटैमियायी सभ्यता के उत्खननों से प्राप्त साहित्यिक साक्ष्य में डिलमन, मागन तथा मेलुहा नामक तीन स्थानों की चर्चा मिलती है जिनके साथ वहाँ के लोगों के व्यापारिक सम्बन्ध थे। इन स्थानों के व्यापारियों की चर्चा इस साहित्यिक सामग्री में हुई है। अधिकांश विद्वान् मेलुहा को भारत मानते हैं। किन्तु इसे सर्वथा निश्चित नहीं माना जा सकता।

पर कई प्रत्यक्ष अवशेषों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि सैन्धव-सभ्यता के लोगों का तत्कालीन अन्य सभ्यताओं के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे। सुमेर और उर से मिली मुहरों एवं सैन्धव-सभ्यता की मुहरों में पर्याप्त समानता मिलती है। इन मुहरों पर भी सैन्धव सभ्यता की मुहरों पर प्राप्य झुके सींगों वाला बैल तथा एक सींग वाला (एकश्रृंग) पशु अंकित मिलता है और लिपि में भी पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है। मोहनजोदड़ो से एलम तथा सुमेर की बनी संगरमर की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। उर के शाही कब्रों पर हरप्पा के ताम्बे के बने सिंगारदान प्राप्त हुए हैं। मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक मुहर पर एक मनुष्य को बाघ से लड़ते हुए दिखाया गया है। मार्शल का विचार है कि मेसोपोटैमिया की दन्तकथाओं में गिलगमेश की जो कथा मिलती है इस मुहर पर उसी का अंकन हुआ है। मिट्टी के बने बर्तनों और हड्डी से बनी कुछ अन्य सामग्रियों में भी समानता पायी जाती है। मिश्र और सिन्ध की कुछ सामग्रियों में भी अनुरूपता मिलती है। हाइंज मोड नामक विद्वान् ने मेसोपोटैमिया की वर्तुलाकार मुहर की ओर ध्यान आकर्षित किया है जिस पर हाथी के सूंड वाले एक वृषभ का अंकन मिलता है। उनका कहना है कि यह अंकन किसी मेसोपोटैमियायी मुहर पर नहीं मिलता किन्तु मोहनजोदड़ो की कई मुहरों पर इसे पाया गया है। इन साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि सैन्धव-सभ्यता के लोगों का मेसोपोटैमिया, ईजियन सभ्यता तथा मिश्र के साथ व्यापारिक सम्बन्ध थे।

सैन्धव सभ्यता की प्रमुख विशेषतायें

सैन्धव सभ्यता से जहाँ एक ओर प्रस्तर निर्मित उपकरण मिलते हैं वहीं ताम्बे और कांसे की बनी वस्तुऐं भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। इस प्रकार इस सभ्यता को प्रस्तर-धातुयुगीन सभ्यता का अभिधान दिया जाता है। इस सभ्यता में बड़े-बड़े नगरों का अस्तित्व मिलता है और इसी तथ्य को ध्यान में रख कर कुछ विद्वानों ने सैन्धव सभ्यता के युग को भारतीय सभ्यता की प्रथम नगरीय क्रांति का युग कहा है। इसके साथ ही, जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, यह एक व्यापार प्रधान सभ्यता थी। इस सभ्यता में सहज ही विविध प्रकार के उद्योगों और शिल्पों का विकास देखा जा सकता है। प्राप्त अवशेषों से यह स्पष्ट है कि इस सभ्यता के लोग समृद्ध और अपेक्षाकृत विलासितापूर्ण जीवन बिताते थे। विविध बड़े स्मारक-भवनों से उनके विकसित सार्वजनिक जीवन का संकेत मिलता है। उनमें एक कुशल प्रशासन तन्त्र तथा सुव्यवस्थित अर्थतन्त्र का अस्तित्व प्रमाणित होता है। प्राप्त अवशेषों में अस्त्र-शस्त्रों की संख्या अपेक्षाकृत न्यून है जो सम्भवतः उनकी शान्तिप्रियता की ओर संकेत करती है। तथापि ये लोग गढ़ी के निर्माण से परिचित थे और मोहनजोदड़ो और हरप्पा दोनों ही स्थानों से इसके अवशेष प्राप्त हुए हैं। जहाँ तक उनकी सामाजिक संरचना का प्रश्न है सम्भवतः उनमें मातृसत्तात्मक परिवार का प्रचलन था।

नगर योजना और भवन निर्माण

सैन्धव नगर योजना के अन्तर्गत प्रत्येक नगर के पश्चिम में गढ़ी का भाग बना हुआ मिलता है। यह भाग मानव निर्मित ऊंचे चबूतरे पर बनाया जाता था। मोहनजोदड़ो में गढ़ी का भाग 230 फीट लम्बा और 78 फीट चौड़ा तथा हरप्पा में 200 फीट लम्बा

और 150 फीट चौड़ा है। गढ़ी में सम्भवतया मुख्य पुरोहित अथवा शासक का निवास होता था। सार्वजनिक महत्त्व के भवन गढ़ी भाग में ही प्राप्त होते हैं। गढ़ियों में परकोटे और बुर्जें बनी होती थीं और सुरक्षा की दृष्टि से गढ़ी के चारों ओर खाई बनाने का प्रचलन था। इसके पूर्व में सामान्य भवन बने होते थे जिनका धरातल अपेक्षाकृत नीचा है। मैसोपोटैमियायी सभ्यता के नगरों के विपरीत सैन्धव सभ्यता के नगर एक निश्चित पूर्व योजना के आधार पर बने हुए दिखाई पडते हैं। नगरों की सड़कें सीधी हैं और एक दूसरे को समकोण पर काटती हैं जिससे सम्पूर्ण नगर कई खण्डों में विभक्त हो जाता है। सड़कें पर्याप्त चौड़ी होती थीं ; इनकी चौड़ाई 9 फीट से 34 फीट तक मिलती है और कभी-कभी ये आधे मील की लम्बाई तक मिली हैं। इन सड़कों के दोनों ओर लोगों के रहने के मकान बनाये जाते थे। यह उल्लेखनीय है कि सभ्यता के उत्कर्ष काल में कोई भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता, जिसमें किसी मकान को सड़क पर आगे बढ़कर बनाया गया हो। सड़कों के नीचे नालियाँ बनी होती थीं जिनका सम्बन्ध मकानों से निकलने वाली छोटी नालियों के साथ था। सड़कों की नालियाँ एक से दो फीट तक गहरी मिलती हैं जो ईट अथवा पत्थर से ढकी होती थीं। इन नालियों के बीच-बीच में गड्ढे बनाये जाते थे ताकि पानी के साथ बहती हुई गंदगी इनमें जमा होती रहे और समय-समय पर इनकी सफाई की जा सके। सैन्धव भवनों के विषय में यह उल्लेखनीय है कि इनके दरवाजे मुख्य सड़कों पर न खुलकर गलियों में खुलते थे। ऐसा या तो सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता था अथवा इस कारण कि दरवाजे के खुलने पर सड़क से मकान का अन्दरूनी भाग न दिखायी पड़े। प्राप्त अवशेषों से यह भी प्रमाणित होता है कि रात में सड़कों पर प्रकाश की व्यवस्था थी। इन सबसे यह स्पष्ट है कि नगर में एक कुशल प्रशासन विद्यमान था चाहे यह किसी एक अधिकारी के हाथ में रहा हो अथवा नगरपालिका जैसी किसी संस्था के हाथ में।

सैन्धव भवनों के निर्माण में पकी ईटों का प्रयोग हुआ है। ईटों का मानकीकरण दिखायी पड़ता है और भवन निर्माण की विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कुछ विशिष्ट प्रकार की ईटों का भी निर्माण किया जाता था; उदाहरण के लिये कमरों के कोनों में अंग्रेजी के 'एल' (L) अक्षर के आकार की ईटें लगाई जाती थी।गारे के लिये मिट्टी और चूने का प्रयोग होता था। सामान्यतः मकानों को ऊंचे चबूतरे पर बनाया जाता था, सम्भवतः इस दृष्टि से कि वर्षा और बाढ़ के पानी से सुरक्षा रहे। मकान प्रायः दुमंजिले होते थे, किन्तु एक मंजिल वाले मकान भी मिलते हैं। दुमंजिले मकानों की नींव गहरी होती थी और इनके दीवारों की चौड़ाई भी अधिक मिलती है। सम्भवतः इन मकानों में ऊपर के हिस्से में परिवार के लोग और नीचे नौकर-चाकर रहा करते थे। नीचे के ही भाग में कुआं और रसोई घर बना मिलता है। ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ बनी होती थीं; इनकी चौड़ाई कम मिलती है। मकानों की योजना आंगन पर आधारित थी जिसके चारों ओर कमरे बने होते थे। छत पाटने के लिये मिट्टी और लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। मकानों में खिड़कियाँ नहीं मिलती; संभवतः यह अत्यन्त ऊंचाई पर बनायी जाती थी और इनकी संख्या भी कम होती थी। प्रत्येक मकान में स्नानगृह भी होता था। इनमें फर्श पर ईटों की बिछावट पर विशेष ध्यान दिया जाता था तकि पानी फर्श के नीचे न जावे। स्नान गृहों को मकान के आगे बनाया जाता था तकि इनमें गिरने वाला पानी आसानी से सड़क पर बनी नालियों में पहुँच सके।

सार्वजनिक महत्त्व के भवन

मोहनजोदड़ो और हरप्पा दोनों ही स्थानों से कुछ ऐसे स्मारकों और भवनों के अवशेष मिले हैं जो सार्वजनिक महत्त्व के जान पड़ते हैं। मोहनजोदड़ो की गढ़ी भाग में विशाल स्नान-कुण्ड (जिसकी चर्चा नीचे की जायेगी) के उत्तर-पूर्व में एक विशाल भवन का अवशेष मिला है जो सम्भवतः किसी उच्च अधिकारी का निवास गृह रहा होगा। स्नान-कुण्ड के दक्षिण में एक अन्य विशाल भवन का अवशेष मिला है जिसे विद्वानों ने सभा भवन की संज्ञा प्रदान की है।

हरप्पा की गढ़ी में एक विशाल अन्नागार का अवशेष मिला है। यह ऊंचे चबूतरे पर बना हुआ था जिसके पीछे बाढ़ से बचाव का उद्देश्य दिखाई पड़ता है। पचास फीट की लम्बाई तथा बीस फीट की चौड़ाई में बना यह अन्नागार कई खण्डों में विभक्त था और इसमें हवा जाने की सुन्दर व्यवस्था थी। यह सम्भवतः राजकीय अन्नागार था जिसमें संकट के समय के लिये अन्न का संग्रह किया जाता था। इसके पास ही 16 छोटे-छोटे बैरकनुमा मकान बने मिलते हैं जिसमें केवल दो छोटे-छोटे कमरों की व्यवस्था है। ये मकान दो पंक्तियों में बने हुए हैं जिसके बीच में एक पतली गली है। इनकी पतली दीवारें यह संकेतित करती हैं कि ये एक मंजिले थे। पास ही बने ऊंचे चबूतरे पर अनाज कूटने या पीसने के लिये ओखलियों के चिन्ह बने मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मकानों में श्रमिक वर्ग के लोग रहा करते थे। डी. एच. गार्डन नामक विद्वान् ने सैन्धव समाज में गुलामी का अस्तित्व माना है; डी. कोसम्बी इससे सहमत हैं।

सार्वजनिक महत्त्व के स्मारकों में सर्वाधिक उल्लेखनीय मोहनजोदड़ो का विशाल स्नान-कुण्ड है। यह स्नान-कुण्ड 39 फीट लम्बा, 23 फीट चौड़ा और 8 फीट गहरा है। इसके पानी में उतरने के लिये ईंटों की सीढ़ियाँ बनी थीं। पास ही एक कमरे में कुँआ था जिसके जल से स्नान-कुण्ड को भरा जाता था। समय-समय पर स्नान-कुण्ड में बनी नालियों द्वारा जल बाहर निकाल कर पुनः इसमें स्वच्छ जल भरा जाता था। स्नान-कुण्ड के चारों ओर गलियारा था जिनमें छोटे-छोटे कक्ष बने हुए थे। पास में ही अलग बने छोटे-छोटे स्नानागारों में सम्भवतः पुजारी स्नान करते थे और इस स्नान-कुण्ड का प्रयोग जनसामान्य द्वारा किया जाता था।

राजनीतिक संगठन तथा शासन व्यवस्था

सैन्धव लिपि के न पढ़े जाने से उनके राजनीतिक संगठन के विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। फिर भी इस सभ्यता से प्राप्त अवशेषों के आधार पर तथा सैन्धव सभ्यता की अन्य प्राचीन संस्कृतियों के साथ तुलना के आधार पर विद्वानों ने इस सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। हण्टर नामक विद्वान ने यह कहा है कि सैन्धव जनों में जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली विद्यमान थी। ह्वीलर ने भी इसे मध्यवर्गीय जनतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की संज्ञा दी है। पिगट के अनुसार, "शासन की अपरिवर्तनशीलता एक धर्मनिरपेक्ष शासन के स्थान पर एक धर्म प्रधान की ओर संकेत करती है।" बॉशम भी इस विचार का अनुमोदन करते हैं।* मोहनजोदड़ो और हरप्पा दोनों ही स्थानों पर दुर्ग का भाग मिलता है जो सम्भवतः प्रमुख राज्याधिकारी द्वारा निवसित होता था। सम्भवतः मुख्य

---

* "It seems injact that the civilization of Harappa, like those of Egypt and Mesopotamia, was theocratic in character."

—A.L.Basham- The wonder that was India P.1

पुरोहित ही राजा होता था कुछ विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धु-सभ्यता का एक विशाल साम्राज्य था जिसमें विभिन्न प्रदेशों पर केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारी शासन करते थे और मोहनजोदड़ो और हरप्पा इस साम्राज्य के दो प्रमुख केन्द्र थे। यदि इस मत को माना जाय तो यह भी मानना होगा कि राजस्थान में स्थित कालीबंगा भी इस साम्राज्य का एक प्रान्त था। किन्तु इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना होगा कि स्वयं मोहनजोदड़ो एवं हरप्पा के बीच की दूरी चार सौ मील है। शासन का स्वरूप जो भी रहा हो सैन्धव नगरों को देखने से इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं रह जाता कि सैन्धव-जन एक कुशल प्रशासन तन्त्र के अन्तर्गत संगठित थे। अत्यन्त कम संख्या में प्राप्त अस्त्र-शस्त्र इस बात का द्योतक है कि सिन्धु सभ्यता के निवासी शान्तिप्रिय थे अतः उनका जीवन राजनीतिक दृष्टि से भी शान्तिपूर्ण था जिसके फलस्वरुप तत्कालीन निवासियों का जीवन सुख-समृद्धि से परिपूर्ण था। सैन्धव नगरों की योजना में सड़क को दबा कर मकान बनाये जाने के दृष्टान्तों का अभाव, सड़कों पर प्रकाश की व्यवस्था इत्यादि इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। सड़कों पर कोनों पर कुछ ऐसी इमारतें मिलती हैं जो सम्भवतः पुलिस के नाके के रूप में प्रयुक्त होती थी।

आर्थिक जीवन

प्राप्त अवशेषों से यह स्पष्ट होता है कि भूमि उर्वर थी तथा सिन्धु-सभ्यता के लोग कृषि कर्म के ज्ञान में पर्याप्त विकास कर चुके थे। बड़े-बड़े अन्न-भण्डार तथा इस सभ्यता में विद्यमान विकसित नागरीय जीवन इस बात के प्रमाण हैं कि सैन्धव जन अतिरिक्त अन्नोत्पादन करते थे। नगरों में विविध उद्योगों और शिल्पों में लगे हुए लोग दूसरों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त अन्न पर निर्भरशील थे। लोगों को गेहूँ के दो प्रकारों का ज्ञान था। जौ की प्राप्ति मोहनजोदड़ो और हरप्पा दोनों स्थानों से हुई है। अन्य खाद्यान्नों में तिल, मटर और राई उल्लेखनीय है। उन्हें खजूर का भी ज्ञान था। लोथल तथा रंगपुर में मिट्टी तथा मृद्भाण्डों के साथ धान की भूसी मिली हुई मिलती है जिससे संकेतित होता है कि इन स्थानों पर लोगों को चावल का भी ज्ञान था यद्यपि सिन्धु घाटी से सम्बद्ध स्थानों से चावल के ज्ञान का साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता। इन्हें कपास तथा इससे बनने वाले वस्त्र का भी ज्ञान था। मोहनजोदड़ो से एक रजत पात्र से लिपटा हुआ वस्त्र खण्ड मिला है जिसको देखने से यह स्पष्ट होता है कि सैन्धव जनों को ज्ञात कपास जंगली कपास न होकर कृषि कर्म द्वारा उत्पादित कपास था। इस प्रदेश के अपने वर्तमानकालिक कृषि ज्ञान सम्बन्धी अनुभवों के आधार पर लैम्ब्रिक नामक विद्वान् ने सिन्धु-सभ्यता के लोगों के कृषि कर्म के ऊपर कुछ विचार रखे हैं। उनका कहना है कि गेहूं और जौ बाढ़ का पानी हटने पर बो दिये जाते थे और उन्हें मार्च-अप्रेल में काट लिया जाता था। कपास, तिल तथा अन्य अन्न खरीफ की फसल के रूप में बोये जाते थे। मोहनजोदड़ो और हरप्पा से हल का कोई अवशेष या अंकन नहीं प्राप्त होता। डी. कोसम्बी का विचार था कि लोग हल से परिचित नहीं थे और खेत की जुताई के लिये कांटेदार पांचा या हेंगा (अं. हैरो) प्रयोग में लाया जाता था। प्रो. लाल को कालीबंगा में सैन्धव सभ्यता के स्तर से हराई के चिन्ह प्राप्त हुए हैं जिसके आधार पर उनका यह कहना है कि लोग हल से परिचित थे।

सैन्धव आर्थिक जीवन का दूसरा पक्ष पशुपालन है। प्राप्त हड्डियों तथा मुहरों पर अंकित अंकनों से उन पशुओं का ज्ञान होता है जिनसे इस सभ्यता के लोग परिचित थे। गाय, बैल, भैंस तथा भेड़ प्रमुख पाले जाने वाले पशु थे। उन्हें सूअर का भी ज्ञान था जिसे या तो पाला जाता था अथवा इसका शिकार किया जाता था। पिगट नामक विद्वान्

का विचार है कि सैन्धव जनों द्वारा पाली जाने वाली बकरियाँ उसी जाति की थीं जो आजकल कश्मीर में पाई जाती हैं और जिनसे कश्मीरी शाल बनते हैं। हाथी और ऊँट की हड्डियाँ अत्यल्प हैं किन्तु मुहरों पर इनका अंकन विपुल है। कुत्ते और बिल्ली अन्य पशु हैं जो सम्भवतः पाले जाते थे। इस सभ्यता के लोग घोड़े से परिचित थे अथवा नहीं, इस विषय पर विद्वानों में एक मत नहीं रहा है। मुहरों पर इस पशु का अंकन नहीं मिलता और मोहनजोदड़ो से प्राप्त इस पशु की हड्डी ऊपर के स्तर से मिली है। सामान्य रूप से विद्वानों का यह विचार रहा है कि भारत में घोड़े का ज्ञान आर्यों के आगमन से प्रारम्भ हुआ किन्तु पिगट ने इस प्रसंग में यह कहा है कि बलूचिस्तान में रानाधुण्डइ के लोग इस पशु से परिचित थे तथा सैन्धव जनों को भी इस पशु से परिचित मानना चाहिये। इन्हें हिरनों की कई जातियों का ज्ञान था, यथा–सांभर, हिरन, चितल तथा प्रियक हिरन। कछुआ एवं मछली भी इनके भोजन के अंग थे।

सैन्धव जनों के लिये इन पशुओं की उपादेयता विविध रूपों में थी। इनका उपयोग खाद्य के रूप में किया जाता था और इनमें से कुछ पशु बोझा ढोने के काम में लाये जाते थे।

इस समय तक कई उद्योगों और शिल्पों का विकास हो चुका था। प्राप्त सामग्रियों के आधार पर यह देखा जा सकता है कि वे मिट्टी के बर्तन बनाने की कला, गृहनिर्माण कला तथा ताम्बे और कांसे से विविध वस्तुओं को बनाने की कला में अत्यन्त प्रवीण थे। इसी प्रकार बढ़ईगिरी, ईटों को बनाने एवं पकाने की कला तथा मुहर-निर्माण कला पर्याप्त विकसित थी। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि उनमें एक सुव्यवस्थित अर्थतन्त्र विद्यमान था तथा वस्तुओं के समान वितरण की बड़ी अच्छी व्यवस्था थी। कई स्थानों से ऐसी सामग्रियों की प्राप्ति होती है जो उस प्रदेश में नहीं पाये जाते एवं जिन्हें निश्चित रूप से अन्य स्थानों से लाया जाता था। उदाहरण के लिये रोहरी तथा सुक्कुर की पहाडियों में मिलने वाला स्फटिक पत्थर न केवल हरप्पा और मोहनजोदड़ो में अपितु कालीबंगा, रंगपुर और लोथल में भी मिलता है। तौलों में एक रूपता दिखायी पड़ती है। मनके और मुहर नगरों में बनते थे और अलग-अलग स्थानों पर पहुंच जाते थे।

सैन्धव सभ्यता व्यापार प्रधान सभ्यता थी और वे अपने प्रभाव क्षेत्र से बाहर के स्थानों के साथ व्यापार कर्म द्वारा सम्बन्धित थे। जो वस्तुएँ उन्हें मूलतः अपने प्रदेश में उपलब्ध नहीं थीं उन्हें वे बाहर से मंगाते थे। खुदाई में बड़ी मात्रा में सोने और चांदी की वस्तुऐं मिली हैं। सोना मैसूर से आता था और चांदी ईरान अथवा अफगानिस्तान से मंगाई जाती थी। ताम्बा राजस्थान में उपलब्ध था जहाँ से यह अन्य सैन्धव प्रदेशों को जाता था। इसी प्रकार कई बहुमूल्य पत्थर निश्चित रूप से बाहर से आते थे–जैसे वैदूर्य ईरान से, नीलम महाराष्ट्र से और तामड़ा सौराष्ट्र से आता था। इस आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त सैन्धव लोगों का विदेशी व्यापार अत्यन्त विकसित था। ऊपर उनके विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में चर्चा की जा चुकी है जिस प्रसंग में हम देख चुके हैं कि मैसोपोटैमियायी सभ्यता के नगरों के साथ उनका घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। इनके प्रतिनिधि व्यापारी इन नगरों में निवास करते रहे होंगे। यह व्यापारिक सम्बन्ध कब तक बना रहा यह कहना कठिन है। सम्भवतः 2000 ईसवी पूर्व के पश्चात् यह अधिक दिन नहीं रहा।

छोटे-मोटे आन्तरिक व्यापारों के लिये बोझ ढोने वाले पशुओं का उपयोग किया जाता रहा होगा। खुदाई में मिट्टी से बनी बैलगाड़ियों के नमूने मिले हैं। हरप्पा तथा

चन्हुदड़ो में कांस्य निर्मित बैलगाड़ियों के नमूने प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः व्यापारी इस प्रकार की गाड़ियों में सामान लादकर काफिले बनाकर दूर के स्थानों से व्यापार करते थे। जलीय व्यापार में नावों और जहाजों का उपयोग किया जाता था। मुहरों पर जहाज के अंकन मिलते हैं। लोथल से मिट्टी से बने जहाज का एक नमूना मिला है जिसमें मस्तूल लगाने के लिये साकेट तथा जहाज की रस्सियों और बल्लियों को लगाने के लिये छेद बने मिलते हैं। लोथल से ही एक विशाल गोदी का अवशेष मिला है जिसके सम्बन्ध में विद्वानों का विचार है कि यहाँ बाहर से आये जहाजों पर लदे सामान को उतारा जाता था और निर्यात के लिये जाने वाले सामान को लादा जाता था। सम्भवतः मकरान समुद्र तट पर सुत्कजेनडोर एक अन्य सैन्धव बन्दरगाह था जहाँ नावों से आयात-निर्यात का कार्य होता था।

सामाजिक जीवन

सैन्धव नगरों को देखने से समाज में विविध व्यावसायिक वर्गों का अस्तित्व प्रमाणित होता है—ईटों को बनाने वाले तथा उन्हें पकाने वाले, मकानों को बनाने वाले राजगीर, बढ़ई, अन्नोत्पादन करने वाले कृषक आदि। गार्डन चाइल्ड के अनुसार, सैन्धव समाज कई वर्गों में विभक्त था और वर्ग विभाजन का आधार आर्थिक था। समाज में पुजारियों का एक अन्य वर्ग था जिनके हाथ में सम्भवतः शासन की बागडोर भी थी। यह भी सम्भव है कि समाज में शासन कार्य से सम्बद्ध कोई सर्वथा अलग वर्ग रहा हो। इसी प्रकार समाज में दासों का भी एक अलग वर्ग दिखाई पड़ता है। खुदाई में प्राप्त कुछ अत्यन्त छोटे मकानों में श्रमिक वर्ग या दास वर्ग के लोग रहते थे, ऐसा विद्वानों का विचार है। समाज के सामान्य स्वरूप के विषय में केवल अनुमान लगाया जा सकता है। सैन्धव सभ्यता से भारी संख्या में नारी मूर्तियाँ मिली हैं और क्रीट तथा अन्य भूमध्यसागरीय सभ्यताओं के अन्तर्गत मातृसत्तात्मक समाज पाया जाता है; इसी आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि सैन्धव लोगों में भी मातृसत्तात्मक परिवारों का प्रचलन था। कुछ विद्वान् इस सभ्यता को द्रविड़ सभ्यता मानते हैं। द्रविड़ सभ्यता से सम्बन्धित कुछ जन-समूहों में मातृसत्तात्मक परिवार का प्रचलन मिलता है। विद्वानों के विचार से सैन्धव परिवार भी इसी प्रकार के थे।

इस सभ्यता से प्राप्त मूर्तियों और मुहरों के अंकन से लोगों के रहन-सहन का पता लगता है। वे वस्त्र से परिचित थे जो कपास के अतिरिक्त शायद ऊन से भी बनाये जाते थे। प्राप्त पुरुष मूर्तियाँ अधिकांशतः नग्न हैं; मुहरों पर उनके कटिप्रदेश पर पतला सा वस्त्र दिखाया गया है। किन्तु कुछ मूर्तियों में पुरुषों को ऊपर शाल जैसा वस्त्र ओढ़े हुए दिखाया गया है जो बांये कन्धे को ढकते हुए दाहिनी कांख से नीचे निकाला जाता था। एक पुरुष आकृति के शाल पर तिफुलिया आकृतियाँ बनी मिलती हैं। हरप्पा से एक मृत्पात्र के टुकड़े पर एक पुरुष आकृति को पायजामा के समान कोई परिधान अथवा पैरों में सटी धोती पहने हुए दिखाया गया है।

स्त्रियों के परिधान के विषयों में स्त्री मूर्तियों से पता चलता है। तथाकथित मातृ देवी की मूर्तियाँ ऊपर अनावृत हैं तथा नीचे घाघरा की तरह एक घेरेदार वस्त्र पहने हुए हैं। मुहरों पर भी स्त्रियों को यह वस्त्र पहने हुए दिखाया गया है। कटिप्रदेश पर इस वस्त्र को मेखला या करधनी से कसा जाता था। कुछ मूर्तियों पर लहंगे पर उभरे बूटों का प्रदर्शन भी मिलता है। कुछ दृष्टान्तों में इन्हें पंखे की आकृति का एक विचित्र शिरो-परिधान धारण किये हुए दिखाया गया है।

सैन्धवजन श्रृंगारप्रिय तथा आभूषणप्रिय लोग थे। पुरुषों में कुछ लोग दाढ़ी-मूंछ

रखते थे तथा कुछ हजामत करते थे। उनमें केश सज्जा के कई प्रकार प्रचलित थे। सामान्य रूप से सिर के बीचों बीच मांग निकाली जाती थी और बालों को व्यवस्थित करने के लिये फीते का प्रयोग किया जाता था। स्त्रियों की मूर्तियों से भी उनमें प्रचलित केश सज्जा के कुछ विशिष्ट प्रकार मिलते हैं। उदाहरण के लिए कांसे की बनी नर्तकी प्रतिमा में कुंडलीकृत केश राशि को बायें कान तथा गर्दन के पिछले भाग के ऊपर से होते हुए दाहिनी ओर लटके हुए दिखाया गया है। बालों को संवारने के लिये कंघियों का और मुख की छवि देखने के लिए दर्पण का प्रयोग किया जाता था। खुदाई में दर्पण और कंघियाँ प्राप्त हुई हैं। दर्पण कांसे के बनाये जाते थे और कंघियाँ हाथीदांत की बनती थी। बालों में खोंसे जाने वाले कांटे खुदाई में मिले हैं जिनमें से कुछ बड़े कलात्मक हैं। एक नमूने में सिर का भाग पीठ फेर कर बैठे हुए दो मृगों को प्रतिचित्रित करता है। हाथीदाँत के बने एक अन्य नमूने में सिर का भाग बकरी का तथा एक अन्य नमूने में कुत्ते के मुख का दिखाया गया है।

खुदाई में आभूषणों के कई निशान मिले हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। आभूषणों को बनाने में सोना, चाँदी, ताम्बा, कांसा तथा हाथीदाँत एवं विविध बहुमूल्य पत्थरों का उपयोग होता था। शरीर का प्रत्येक अंग आभूषणों से अलंकृत होता था। हाथों में चूड़ियाँ और भुजबन्द प्रमुख आभूषण थे। खुदाई में आधे इंच चौड़े और 16 इंच लम्बे सोने के फीते मिले हैं जिनके दोनों सिरों पर छेद मिलता है। यह सम्भवतः 'पात' के समान का आभूषण था जिसे हरियाणा प्रदेश की जाट स्त्रियाँ आज भी पहनती हैं। कानों में कर्णफूल, गले में कण्ठहार और कमर में मेखला या करधनी पहनी जाती थी। गुरियों और मनकों से निर्मित आभूषण सैन्धव कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ये सोना, चांदी और कई अन्य नगों और संगों (=बहुमूल्य पत्थरों, गोमेद व फटीक आदि) से बनाये जाते थे। ये मनके विविध आकार और रूप के हैं। कुछ लम्बे और पतले हैं, कुछ गोल और कुछ गेरीनुमा; कुछ जौ के आकार के छोटे मनके, कुछ हरड़ के आकार के बड़े। इन मनकों को बडी सफाई से काटा और बींधा जाता था और इनके अन्दरूनी भाग में अब भी ओप (चमक) विद्यमान मिलती है। चन्हुदड़ो में गुरियाँ बनाने वाले एक सैन्धव शिल्पी की पूरी कर्मशाला बनी है जिनसे मनकों को बनाने की पूरी प्रक्रिया को समझने में सहायता मिलती है। इस प्रसंग में डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने (भारतीय कला) लिखा है : "शुरू में खड़ संग या नग को लेकर उसे चीर कर लम्बी छड़ निकालते थे। आजकल के कारीगर तार लगी हुई धनुई और कुरण्ड के चूर्ण से चीरने का काम करते हैं। ज्ञात होता है कि यही प्रक्रिया उस समय भी थी। खड़ पत्थर में से चीरा हुआ लगभग 3 इंच का चौकोर टुकड़ा कोर कर गोल बनाया जाता था। अभी तक पुराने वेगड़ी (सं. वैकटिक) इसी भाँति से कोनों को छांट कर गुरिया में गोलाई लाते हैं। इसे कोरना कहा जाता है (कोटि=किनारा, कोरना=किनारों को छांटना)। इसके अनन्तर रगड़ने और घिसने से नग पर ओप लाई जाती थी। इसके अनन्तर लम्बी यष्टि या पोटी को बींधने का काम किया जाता था। नग बींधने में शिल्पी चिर अभ्यास के कारण बड़ी दक्षता का परिचय देते थे। इस समय खम्भात इस कला का बड़ा केन्द्र है। आश्चर्य नहीं जो कि रंगपुर और लोथल के प्राचीन सिन्धुकालीन शिल्पी अपनी नग बनाने की परम्परा वहाँ छोड़ गए हों।" खुदाई में सुरमादानियाँ और सलाइयाँ भी मिली हैं। घोंघे में लाल चूर्ण मिला है जिसका प्रयोग सम्भवतः रूज की तरह गालों पर मलने के लिये होता था।

उपलब्ध साक्ष्यों से सैन्धव जनों की आमोद-प्रमोद प्रियता का भी सम्प्रकाशन होता

में शिव के स्वरूप की जो कल्पना की गई उसके कई लक्षण इस अंकन में देखे जा सकते हैं। शिव को योगीश्वर कहा जाता है और वे पशुपति भी हैं। इन्हीं समानताओं के आधार पर मार्शल ने इस आकृति को 'पशुपति शिव' की संज्ञा प्रदान की है। ऋग्वेद में, जो कि बाद की वैदिक सभ्यता से संबंधित ग्रन्थ है, रुद्र नामक देवता का उल्लेख मिलता है। विद्वानों का विचार है कि सैन्धव जनों और वैदिक जनों के पारस्परिक सम्बन्ध से आगे चल कर जिस समन्वित भारतीय सभ्यता का जन्म हुआ उसमें वैदिक रुद्र और सिन्धु-सभ्यता में पूजा जाने वाला यह पुरुष-देवता मिल कर एक हो गए। बाद के हिन्दू धर्म में रुद्र और शिव को एक ही माना जाने लगा। सैन्धव लोग सम्भवतः शिव की लिंग रूप में भी पूजा करते थे। खुदाई में लिंग के स्वरूप के पत्थरों की प्राप्ति हुई है। ऋग्वेद में लिंग-पूजकों की निन्दा की गई है जो सम्भवतः सैन्धव जनों में प्रचलित लिंग-पूजा का संकेत करता है। प्रस्तर-योनियाँ भी मिली हैं पर यह भी हो सकता है कि इनका कोई धार्मिक प्रयोजन न रहा हो और इनका उपयोग खंभों के अधिष्ठान के रूप में किया जाता रहा हो।

बाद के भारतीय धर्म में विविध पशुओं, पक्षियों, वृक्षों की पूजा का विधान दिखाई पड़ता है। नाग-पूजा, पीपल अथवा तुलसी के पेड़ की पूजा आज भी प्रचलित है। जहाँ विभिन्न पशु देवताओं के वाहनों के रूप में प्रतिष्ठित मिलते हैं वहीं कुछ स्वतंत्र रूप में देवता मान लिए गए हैं (उदाहरण के लिए वानर देवता हनुमान)। सैन्धव मुहरों पर बने कुछ चित्रों से यह अनुमान किया जा सकता है कि सिन्धु-सभ्यता के लोग भी कुछ पशुओं और वृक्षों को पवित्र मानते थे और उनकी पूजा करते थे। कई मुहरों पर एक सींग वाला वृषभ बना मिलता है जिसके आगे सम्भवतः धूपदण्ड रखा हुआ है। मुहरों पर वृषभ का अंकन बहुतायत से मिलना सम्भवतः उनके धार्मिक महत्त्व का परिचायक है। अनेक मुहरों पर पीपल के पेड़ और पत्तियाँ बनी मिलती हैं तथा कुछ पर वृक्ष देवता तथा वृक्ष देवी को प्रसन्न करने के लिए बलि हेतु पशु को ले जाते हुए दिखाया गया है। उनमें सम्भवतः जल-पूजा एवं नाग-पूजा का भी प्रचलन था।

अन्त्येष्टि क्रिया

खुदाई में मिले अवशेषों से अन्तिम संस्कार की तीन विधियाँ प्राप्त होती हैं –1. मृत्यु के पश्चात् पूरे मृत शरीर को जमीन में गाड़ दिया जाता था, 2. शव को पहले पशु-पक्षियों के खाने के लिए छोड़ दिया जाता था और फिर बची हुई हड्डियों को अन्य वस्तुओं के साथ दफना दिया जाता था, 3. दाह के पश्चात् अवशेष को पहले एक छोटे पात्र में रखा जाता था और पुनः उसे एक बड़े पात्र में रखकर जमीन में गाड़ दिया जाता था। अन्त में सिन्धु सभ्यता में गाड़ने की विधि का महत्त्व कम व दाह संस्कार का महत्त्व ज्यादा हो गया था।

सिन्धु सभ्यता का विनाश

इतनी समृद्ध सभ्यता का विनाश कैसे हुआ? इस विषय पर कई अनुमान व्यक्त किए गए हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह सभ्यता सिन्धु नदी में बाढ़ आने के कारण विनष्ट हुई, जबकि कुछ अन्य विद्वान् इस सभ्यता का पतन आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में गिरावट आ जाने के कारण मानते हैं। पिगट और व्हीलर नामक विद्वानों का मत है कि इसका अन्तिम पतन आर्यों के आक्रमण के कारण हुआ। इनका कहना है कि ऋग्वेद में आर्यों के देवता इन्द्र को नगरों और दुर्गों को ध्वंस करने वाला कहा गया है–ये उल्लेख सैन्धव जनों के नगरों और दुर्गों की ओर संकेत करते हैं। उन्होंने खुदाई में मिलने वाले

कुछ नर कंकालों की ओर भी ध्यान दिलाया है जो अस्त-व्यस्त पड़े मिलते हैं और जिन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों वे आक्रमणकारी से डर कर भागते हुए मारे गए हों। पर, इस मत को सुनिश्चित नहीं माना जा सकता, और यह मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि यह सभ्यता धीरे-धीरे पतन को प्राप्त हुई, जिसका मुख्य कारण सम्भवतः रावी एवं सिन्धु नदी के प्रवाह की दिशा में परिवर्तन अथवा बाढ़ रहा होगा।

सैन्धव सभ्यता तथा वैदिक सभ्यता में अन्तर

अगले अध्याय में हम भारतीय सभ्यता के दूसरे चरण को वैदिक युग के नाम से पढ़ेंगे। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह मानना है कि इन दोनों ही सभ्यताओं के निर्माता आर्य थे, सामान्यतया यही स्वीकार किया जाता है कि इनमें अन्तर है और इन दोनों में सैन्धव सभ्यता प्राचीनतर है। ऋग्वेद में आर्यों की सभ्यता का रूप ग्रामीण दिखाई पड़ता है। ये लोग फूस और बांस के बने घरों में रहते थे। खुदाई से सैन्धव-सभ्यता एक समन्वित नागरीय सभ्यता के रूप में उभर कर आती है, जिसमें बड़े-बड़े व्यवस्थित नगरों और योजनाबद्ध भवनों का अस्तित्व मिलता है। मकान पकी ईंटों के तथा दुमंजिले बनाए जाते थे। सैन्धव लोग घोड़े से परिचित थे अथवा नहीं यह एक विवादस्पद प्रश्न है, पर आर्य लोग घोड़े से भली-भाँति परिचित थे और घोड़े जुते हुए रथों में बैठ कर लड़ते थे। सिन्धु सभ्यता के लोग सोने, चांदी के अतिरिक्त तांबे, कांसे और पत्थर का प्रयोग करते थे, पर खुदाई से मिली वस्तुओं में लोहे का सर्वथा अभाव है। आर्यों को सम्भवतः लोहे का भी ज्ञान था। धार्मिक क्षेत्र में भी जहाँ सिन्धु सभ्यता में मूर्ति पूजा का प्रचलन दिखाई पड़ता है, आर्य लोग प्राकृतिक शक्तियों में देवता का रूप मानकर पूजा करते थे। उन्हें प्रसन्न करने के लिए वे हवन और यज्ञ करते थे। सैन्धव सभ्यता में कोई यज्ञ कुण्ड नहीं मिला है जबकि आर्यों में यज्ञ की वेदी में प्रज्वलित अग्नि में आहुति डाल कर पूजा करने का व्यापक प्रचलन था।

परवर्ती भारतीय सभ्यता पर सिन्धु सभ्यता का प्रभाव

सिन्धु सभ्यता भारतीय सभ्यता का प्रथम चरण है। इस सभ्यता के विविध तत्त्व परवर्ती संस्कृति में वने रहे। शिव हिन्दू धर्म के प्रमुख देवता हैं। इस देवता के व्यक्तित्व के कई पक्षों की कल्पना सिन्धु-सभ्यता में संपन्न हो चुकी थी। इस प्रकार शक्ति की पूजा की प्राचीनता भी सिन्धु-सभ्यता तक ले जायी जा सकती है। आज के धार्मिक जीवन में वृक्ष-पूजा, पशु-पूजा, तथा जल-पूजा का जो अस्तित्व मिलता है उसका प्रारम्भ भी सिन्धु-सभ्यता में ही देखा जा सकता है। सिन्धु-सभ्यता के लोग सम्भवतः शिव की लिंग रूप में भी पूजा करते थे।

भारतीय धर्मों में योग का प्रमुख स्थान है। सभी धार्मिक सम्प्रदायों में इसकी मान्यता है। ध्यान में बैठना इसका एक प्रमुख अंग है। हम देख चुके हैं कि सैन्धव-सभ्यता में योगासीन मूर्तियों और अंकनों की प्राप्ति हुई है। योग और तंत्र का विकास इसी काल से मानना चाहिए। कुछ लोग तो यहाँ तक मानते हैं कि इस सभ्यता से मिली कुछ मूर्तियाँ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में एक धार्मिक आन्दोलन का रूप ग्रहण करने वाली निवृत्तिवादी श्रमण परम्परा को भी विद्वान् वैदिक सभ्यता के पहले का मानते हैं।*

---

* उदाहरणार्थ, मार्शल, मोहेन जोदरो एण्ड ऐन्श्येन्ट इन्डस सिविलाइजेशन ज. I पृ. 49, तथा चान्दा, मेमायर्स आव दि आर्क्यलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, ज. 41, पृ. 28-30।

भारत क्षेत्र में भी परवर्ती भारतीय सभ्यता के अधिकांश तत्त्व पहले से ही सिन्धु-सभ्यता में विद्यमान मिलते हैं। विविध खाद्यान्नों और कपास की खेती का ज्ञान सैन्धव जनों से ही प्रारम्भ हुआ; इसी प्रकार विविध पाले जाने वाले पशुओं का पालन भी इसी काल से प्रारम्भ हो चुका था। भारतीय स्थापत्यकला और मूर्ति कला की स्थापना इसी युग में हुई और बाद की भारतीय कला में इस काल की कला के विविध तत्त्व देखे जा सकते हैं।

पंडित जवाहरलाल नेहरु के शब्दों में, "हम कह सकते हैं कि द्रविड़ों, जो कि सम्भवतः सिन्धु-सभ्यता के प्रतिनिधि थे (यद्यपि यह विवादास्पद है) एवं आर्यों में प्रथम महान् सांस्कृतिक समन्वय एवं संयोग हुआ। इस समन्वय एवं संयोग से भारतीय जातियों तथा मूल भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, जिसमें दोनों के तत्त्व विद्यमान हैं।"

इसके अतिरिक्त सिन्धु-सभ्यता का सर्वाधिक महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इस सभ्यता ने भारत में विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक होने का गौरव प्रदान किया। अनेक इतिहासकार इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि सुमेर आदि सभ्यता का स्रोत ही सिन्धु-सभ्यता तथा मैसोपोटामिया, मिस्र आदि की प्राचीन संस्कृतियों को प्रभावित करने वाली संस्कृति भारतीय ही थी।

3

वैदिक सभ्यता का काल

(i) ऋग्वैदिक सभ्यता

वैदिक साहित्य

इस सभ्यता के विषय में हमारे ज्ञान का आधार साहित्य का वह वर्ग है जिसे हम वैदिक साहित्य के नाम से जानते हैं। यह साहित्य केवल भारतीय आर्यों का नहीं अपितु सम्पूर्ण आर्य समूह का प्राचीनतम साहित्य है। वेद का अर्थ है 'ज्ञान' और हिन्दूओं की मान्यता के अनुसार ये शाश्वत तथा अपौरुषेय हैं। इनकी रचना मनुष्यों द्वारा नहीं हुई है अपितु मनीषी ऋषियों ने इन्हें ईश्वर से सुना है। इसी कारण वेदों को 'श्रुति' भी कहा जाता है। वेद संख्या में चार हैं : ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। प्रत्येक वेद के चार भाग हैं : मन्त्र अथवा संहिता भाग–प्रत्येक वेद की अपनी संहिताएँ हैं। ब्राह्मण–कालान्तर में मन्त्रों की व्याख्या करनी आवश्यक समझी गई और ब्राह्मणों का सृजन हुआ; ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में लिखे गए हैं और इसमें मन्त्रों के अर्थों पर विचार के साथ-साथ उनके प्रयोग का विधान भी बताया गया है। यज्ञों से सम्बन्धित अन्य बातों की चर्चा भी इनमें मिलती है। आरण्यक–ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ भाग अधिक पवित्र माने जाने लगे और उन्हें 'अरण्य' (= जंगल) के एकान्त में पढ़ने योग्य माना गया, जिस कारण इन्हें आरण्यक कहा गया। उपनिषद्–सामान्यतः ये आरण्यकों के अन्तिम भाग हैं और इनमें अध्यात्मविद्या की चर्चा है।

वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में ऋग्वेद संहिता प्राचीनतम है। इसमें 1028 सूक्त हैं जो 10 मण्डलों अथवा 8 अष्टकों में विभक्त हैं। इन सूक्तों (सूक्त–मन्त्र समूह) में विश्वामित्र, गृत्समद, अत्रि, वामदेव, भारद्वाज, वसिष्ठ आदि ऋषि परिवारों की रचनाएँ हैं जो विविध देवताओं को सम्बोधित हैं। इसके दो ब्राह्मण हैं— ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतिक ब्राह्मण; इससे सम्बन्धित दो उपनिषद् भी इसी नाम से मिलते हैं। सामवेद में 75 मन्त्रों को छोड़ कर अन्य सभी ऋग्वेद से लिये गये हैं— इन्हें सोमयज्ञ के अवसर पर उद् गाता लोग गाते थे। यजुर्वेद में यज्ञ विधियों का विवेचन है। इसके दो स्पष्ट भेद मिलते हैं— शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। इस वेद की कई शाखाएँ मिलती हैं— जैसे काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता, वाजसनेयी संहिता। अथर्ववेद की दो 'ज्ञात शाखाएँ' हैं— शौनकीय तथा पैप्पलाद। इस वेद में वशीकरण, जादू-टोना, मित्र लाभ, शत्रु-मारण आदि से सम्बन्धित मन्त्र मिलते हैं और इससे तत्कालीन लोक धर्म तथा लोक विश्वास के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

वैदिक साहित्य की परम्परा में आगे चलकर सूत्र साहित्य तथा वेदांगों की रचना

हुई (देखिए पीछे अध्याय 1)।

वेदों की रचना का काल

वेदों की रचना के काल-निर्धारण के प्रश्न पर विविध विद्वानों में पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ता है। इस प्रश्न पर सर्व प्रथम मैक्समूलर ने गहराई से विचार किया। उन्होंने बुद्ध की ज्ञात तिथि (600 ई. पूर्व) को अपने विवेचन का प्रारम्भ बिन्दु बनाया जिसके पहले प्रमुख उपनिषद् रचे जा चुके थे और मोटे तौर पर उन्होंने वैदिक साहित्य के प्रत्येक चरण के लिए 200 वर्षों का समय निर्धारित किया। इस प्रकार, 600 ई. पूर्व से पीछे की ओर चलते हुए, उपनिषद् 800-600 ई. पूर्व, ब्राह्मण-आरण्यक 1000-800 ई. पूर्व तथा ऋग्वेद की ऋचाएँ अथवा मन्त्र 1200-1000 ई. पूर्व रचे गये होंगे। पर यह उल्लेखनीय है कि स्वयं मैक्समूलर इस तिथि-निर्धारण को सर्वथा निश्चित नहीं मानते थे और उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि ऋग्वेद का रचना काल 1000 ई. पूर्व, 1500 ई. पूर्व, 2000 ई. पूर्व अथवा 3000 ई. पूर्व भी हो सकता है। परवर्ती विद्वानों ने आँख मूंद कर 1200 ई. पूर्व को ऋग्वेद का रचना काल ग्रहण कर लिया।

कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद, पारसी धर्म ग्रन्थ अवेस्ता तथा छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के प्राचीन ईरानी अभिलेखों की भाषा की पारस्परिक तुलना के आधार पर वेदों के काल-निर्धारण का प्रयास किया है। उनका यह मत है कि ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा में पर्याप्त समानता है। उनके अनुसार, प्राचीन ईरानी अभिलेखों की भाषा के साथ तुलना करते हुए और इस आधार पर पीछे चलते हुए अवेस्ता और ऋग्वेद को 1000 ई. पूर्व में रखा जाना चाहिए। उपरोक्त मत के विपरीत, जर्मन विद्वान् याकोबी तथा भारतीय विद्वान् तिलक खगोलीय गणना के आधार पर ऋग्वेद की रचना का समय काफी प्राचीन निर्धारित करते हैं। याकोबी वैदिक सभ्यता का समय 4500-2500 ई. पूर्व के बीच रखते हैं जबकि तिलक ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का समय 6000 ई. पूर्व तक प्राचीन मानते हैं।

वेदों के रचना-काल के ऊपर विचार के लिए एक नई दृष्टि एशिया माइनर में बोगजकोई नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख से मिली है। यह अभिलेख 1400 ई. पूर्व का है और इसमें हित्ताइत जाति तथा मितन्नी राजाओं के बीच हुए एक सन्धि का उल्लेख है। सन्धि की साक्षी के रूप में जिन देवताओं का उल्लेख है वे ऋग्वेद के इन्द्र (लेख का इन्-द्-र), वरुण (लेख का उ-रू-व्-न), मित्र (लेख का मि-इत्-र) तथा नासत्यौ (लेख का न-ह-अत्-ति-इअ) हैं। इस प्रकार 1400 ई. पूर्व में इन दवताओं का एशिया माइनर में पूजा जाना प्रमाणित होता है। तेल-एल अमरना से प्राप्त कुछ लेखों में भी मितन्नी राजाओं के नाम संस्कृत नाम जान पड़ते हैं। हित्ताइती राजाओं के शुरियस तथा मरित्स नाम क्रमशः संस्कृत के सूर्य तथा मरुत् के रूपान्तर ही हैं। हित्ताइतों के विषय में यह जानकारी मिलती है कि उन्होंने 1746 तथा 1180 ई. पूर्व के बीच काबुल पर राज्य किया था। बोगजकोई के लेख से भी ऋग्वेद के काल सम्बन्धी समस्या का अन्तिम निदान नहीं निकाला जा सकता है, क्योंकि इसके वास्तविक महत्त्व के प्रश्न पर विद्वान् दो वर्गों में बंट गये हैं। जहाँ एक वर्ग का यह कहना है कि यह लेख आर्यों के पूर्वाभिमुख संक्रमण में एक पड़ाव की सूचना देता है (और इस प्रकार ऋग्वेद की रचना इसके बाद माननी होगी), दूसरे वर्ग का यह तर्क है कि यह लेख भारत में ऋग्वेद की रचना सम्पन्न हो चुकने पर आर्यों की बाहर जाने वाली शाखा से सम्बद्ध है— अर्थात् ऋग्वेद की रचना इस तिथि के पहले माननी चाहिए। डा. रमाशंकर त्रिपाठी का विचार है कि इन प्रमाणों के आधार पर ऋग्वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ सोलहवीं सदी ई. पूर्व माना जा सकता है

किन्तु तिथि में कुछ अन्तर होने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक मंत्रों की रचना का निश्चित समय निर्धारित कर सकना कठिन है। विन्तरनित्ज ने भी इस कठिनाई को स्वीकार किया है और इस संबंध में यह मत प्रकट किया है कि इसकी अन्तिम तिथि 800 ई. पूर्व तथा पूर्ववर्ती सीमा तृतीय सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व मानी जा सकती है।*

वैदिक आर्यों के मूल स्थान का प्रश्न

वैदिक सभ्यता के संस्थापकों को ऋग्वेद में 'आर्य' कहा गया है जिसका तात्पर्य है— 'सुसंस्कृत', 'कुलीन' अथवा 'श्रेष्ठ'। डा. राधा कुमुद मुखर्जी के शब्दों में "भारत का इतिहास आर्यों का ही इतिहास समझा जाता है।"**

इस सभ्यता के निर्माता मूलतः कहाँ के निवासी थे? यह प्रश्न भी विद्वानों में बड़े विवाद का विषय रहा है। कुछ भारतीय विद्वानों ने यह माना है कि आर्य कहीं बाहर से नहीं आए अपितु वे भारत के ही रहने वाले थे। इन विद्वानों में प्रमुख हैं— डा. गंगानाथ झा, डा. अविनाश चन्द्र दास, डा. सम्पूर्णानन्द तथा डा. राजबली पाण्डेय। डा. दास तथा डा. सम्पूर्णानन्द के अनुसार आर्यों का मूल स्थान भारत का सप्त सैन्धव प्रदेश (सिन्ध और पंजाब का प्रदेश) ही था। डा. राजबली पाण्डेय मध्यदेश को और डा. गंगानाथ झा ब्रह्मर्षि प्रदेश को आर्यों का आदि देश मानते हैं।

आर्यों की भारतीय उत्पत्ति मानने में जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह सिन्धु सभ्यता और वैदिक सभ्यता के पारस्परिक सम्बन्ध से जुड़ी हुई है। सामान्यतया मोहनजोदड़ो से तथा हड़प्पा से प्राप्त सभ्यता को वैदिक सभ्यता से अलग और प्राचीनतर माना जाता है यदि यह ठीक है, तो वैदिक आर्यों को यहां का निवासी नहीं माना जा सकता।

अधिकांश विद्वान् वैदिक आर्यों को बाहर से आया हुआ मानते हैं। इस निष्कर्ष का प्रमुख आधार विभिन्न इण्डो-योरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन है। इन भाषाओं के शब्दों में अद्‌भुत समानता दिखाई पड़ती है जिससे यह संकेतित होता है कि इनके बोलने वालों के पूर्वज किसी समय एक साथ रहते रहे होंगे और बाद में अलग-अलग शाखाओं में विभक्त होकर अलग-अलग स्थानों पर बस गये। इन मूल पूर्वजों को 'इण्डो जर्मेनिक' कहा जाता है। पी. गाइल्स ने इनके लिए 'वीरोज' शब्द का प्रयोग किया है। कई प्राचीन आर्य भाषाओं में 'वीरोज' का अर्थ 'पुरुष' मिलता है और संस्कृत का वीर शब्द सम्भवतः इसी से निकला है। ऐसी ही एक शाखा ईरान में और एक भारत में आकर बस गई। इन भाषाओं में दृश्यमान समानता के कुछ दृष्टान्तों को लें :

पिता के लिए संस्कृत का 'पितृ' शब्द, जेन्द में 'पैतर', लैटिन में 'पेतर', ग्रीक में 'पेतर', तोखारियन में 'पतर', गॉथिक में 'फदर', तथा अंग्रेजी में 'फादर'।

संस्कृत 'द्यौ' शब्द, लेटिन 'दुओ', आईरिश 'दौ', लुथियानियन 'दु' और अंग्रेजी 'टू'।

संस्कृत का 'अस्ति' शब्द, लैटिन 'एस्ति', आइरिश 'इज', गॉथिक 'इस्त', लुथियानियन 'एस्ति', अंग्रेजी 'इज'।

भाषागत समानता के अतिरिक्त पशु-पक्षी जगत् तथा वनस्पतियों के ज्ञान में भी

---

* विन्तरनित्ज, हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, भाग 1।

** "Dr. Radha Kumud Mookerji! "Hindu Civilization page 64" the History of India is mainly that of the Aryans in Indias."

उपलब्ध समानताओं की ओर इन विद्वानों ने ध्यान आकर्षित किया है।

आर्यों को विदेशी मानने वाले विद्वानों में भी मतैक्य यहीं तक सीमित है। ठीक-ठीक स्थान के बारे में उनके मतों में बड़ी विविधता मिलती है। मैक्समूलर के अनुसार यह स्थान मध्य एशिया था। बेनफे इसे काला सागर के उत्तर में योरोपीय चरागाह प्रदेश मानते हैं। गाइगर इस स्थान को मध्य तथा पश्चिमी जर्मनी में रखते हैं, और पी. गाइल्स आधुनिक आस्ट्रिया, हंगरी तथा बोहेमिया के भू-प्रदेश में।

इस चर्चा के प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि स्वयं ऋग्वेद में आर्यों के कहीं बाहर से आने की कोई स्मृति सुरक्षित नहीं मिलती। जो विद्वान् आर्यों को भारत का ही मूल निवासी मानते हैं, वे इस बात पर विशेष बल देते हैं।

खण्ड 1 – ऋग्वैदिक अथवा पूर्व-वैदिक काल

सम्पूर्ण वैदिक काल एक विस्तृत काल को इंगित करता है ज़िसके अंतराल में महत्त्वपूर्ण विकास एवं परिवर्तन घटित होते रहे। इस विस्तृत काल को अध्ययन की सुविधा हेतु दो भागों (पूर्व वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल) में विभक्त किया गया है। वैदिक साहित्य में प्राचीनतम ऋग्वेद संहिता से तत्कालीन समाज का जो चित्र उभरता है उसे ऋग्वैदिक अथवा पूर्व-वैदिक काल तथा शेष ग्रन्थों से ज्ञात समाज तथा जन-जीवन को उत्तर-वैदिक काल के अन्तर्गत रखा जाता है।

ऋग्वेद का भौगोलिक परिवेश

इस काल में आर्य सभ्यता का भौगोलिक परिवेश अफगानिस्तान से लेकर गंगा के दोआब तक विस्तृत दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद में अफगानिस्तान की नदियों– कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल) — का उल्लेख है। सिन्धु को 'नदीतमा' (नदियों में श्रेष्ठ) कहा गया है। इसकी सहायक नदियाँ वितस्ता (झेलम), अस्किनी (चेनाब), परुष्णी (रावी), विपाशा (व्यास) तथा शतुद्रि (सतलज) भी सुविज्ञात थीं।

इन नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश तथा सरस्वती–दृषद्वती नदियों की घाटी का प्रदेश आर्य सभ्यता का गढ़ था। आर्यों की बाहरी बस्तियाँ गंगा और यमुना के किनारों तक थीं। ऋग्वेद में गंगा तथा यमुना का कुल दो या तीन बार उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद की रचना के आधार पर आर्यों का भारत आगमन-काल 2500 ई.पू. से 1500 ई. पू. के मध्य निर्धारित किया जाता है। इस सभ्यता के मानव ने अपना अधिकार पंजाब तक विस्तृत कर इस प्रदेश को 'ब्रह्मवर्त' का नाम दिया। तत्पश्चात् यह सभ्यता पूर्वी राजस्थान, थानेश्वर, मथुरा आदि की अधिकारिणी बनकर 'ब्रह्मर्षि' देश के नाम से जानी गई व जब इसमें प्रयाग, हिमालय एवं विन्ध्याचल आदि क्षेत्र भी सम्मिलित हो गए तो इस भू-भाग को 'मध्यदेश' का नाम दिया गया।

आर्य तथा 'दास-दस्यु'

ऋग्वेद में कई स्थानों पर 'दास' और 'दस्यु' लोगों की चर्चा आर्यों के विरोधियों के रूप में हुई है। एक मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र ने 'दस्युओं' को मार कर 'आर्यवर्ण' की रक्षा की।* एक दूसरे मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र ने 'दास वर्ण' को नीचे गुहा में भगा दिया।** इन्हें 'कृष्णयोनि' तथा कृष्णत्वच् (अथात् काले रंग का), 'अक्रतु' (अर्थात् जो आर्यों के धार्मिक कृत्य नहीं करते), 'अनास' (नाक रहित अर्थात् चिपटी नाक वाले)

---

* हत्वी दस्यून् प्राय वर्णमावत्।

** यो दासवर्णमधरं गुहाकः।

तथा मृध्रवाच् (अर्थात् जिनकी भाषा न समझी जा सके) कहा गया है।

ये दास-दस्यु कौन थे ? अधिकांश विद्वानों के अनुसार ये आर्यों से अलग यहां के मूल निवासी थे जिन्हें आर्यों ने जीता। इन लोगों तथा आर्यों के बीच न केवल रंग का भेद था अपितु सांस्कृतिक दृष्टि से भी इनमें पर्याप्त अन्तर था।

पर कुछ विद्वान् भिन्न मत रखते हैं। पण्डित क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय का कहना है कि ये शब्द असुरों और राक्षसों का निर्देश करते हैं। डा. अविनाश चन्द्र दास के विचारानुसार ये भी आर्य थे किन्तु वे असभ्य स्थिति में थे, लूटमार करते थे और सभ्य आर्यजनों के धार्मिक कृत्यों को नहीं करते थे। इसी कारण सभ्य आर्यजनों का इनसे विरोध था। इस प्रसंग में मुइर नामक विद्वान् का निष्कर्ष इस प्रकार है: "मैंने ऋग्वेद में उल्लिखित दस्युओं अथवा असुरों के नामों का अध्ययन यह जानने के उद्देश्य से किया कि क्या इनमें से किसी को आर्येतर अथवा यहाँ का मूल निवासी माना जा सकता है, किन्तु मैंने पाया कि किसी का स्वरूप ऐसा नहीं है।"

समाज का सामान्य स्वरूप

आर्य लोगों के संगठित जीवन की उच्चतम इकाई 'जन' था। इसके लिए 'राष्ट्र' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। 'जन' को मोटे तौर पर कबीला कह सकते हैं। 'जन' के सदस्यों को सामूहिक रूप में 'विश्' कहा जाता था। आर्य लोग कई जनों में बंटे हुए थे जिनमें पांच प्रमुख जन थे अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वस तथा पुरु। इनके अतिरिक्त कई अन्य जन भी थे, जैसे भरत, तृत्सु, श्रृंजय, क्रिवि इत्यादि। एक जन के अन्दर कई ग्राम होते थे और एक ग्राम में कई कुल (परिवार) होते थे। कुल का प्रमुख 'कुलपा' कहलाता था।

आर्यों के इन जनों में प्रायः पारस्परिक युद्ध भी हुआ करते थे। इसी प्रकार का एक भीषण पारस्परिक युद्ध परुष्णी नदी के तट पर हुआ था जिसे 'दशराज्ञ' युद्ध के नाम से जाना जाता है। इस युद्ध में भरतों के राजा सुदास ने दस राजाओं के संघ को हराया। इन दस राजाओं के पुरोहित विश्वामित्र थे जबकि सुदास के कुल-पुरोहित वसिष्ठ थे। वसिष्ठ ने इस विजय की चर्चा की है। इस प्रकार के पारस्परिक युद्धों के अतिरिक्त आर्य जनों को कुछ ऐसे लोगों से भी लोहा लेना पड़ रहा था जो सम्भवतः आर्येतर (आर्यों से भिन्न) थे। विद्वानों की मान्यता है कि ऋग्वेद में उल्लिखित पिप्रु, धुनि, चुमुरि, शम्बर आदि नाम इन आर्येतर लोगों के मुखियों के नाम थे।

आर्यों का राजनैतिक संगठन

'जन' अथवा 'राष्ट्र' का सर्वोच्च व्यक्ति अथवा नेता राजा कहलाता था। ऋग्वेद की दानस्तुतियों में हम कई राजाओं का उल्लेख पाते हैं। दिवोदास तथा सुदास इस काल के प्रसिद्ध राजा थे। ऋग्वेद में राजाओं की वंशावलियां मिलती हैं पर कहीं-कहीं राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख प्राप्त होता है। धीरे-धीरे राजा का पद वंशानुगत ही होता चला गया। इस काल के राजा को परवर्ती काल के राजाओं से भिन्न समझना चाहिए। इस समय समाज का स्वरूप सरल था और राजा जन-सामान्य से कई रूपों में जुड़ा हुआ था। परवर्त्ती कालीन राजाओं के संदर्भ में दिखाई पड़ने वाला ऐश्वर्य, राजकर्मचारियों की भारी संख्या तथा राजपद की विशिष्ट गरिमा एवं निरंकुशता का इस काल में अभाव मानना चाहिए।

राजा का एक प्रमुख दायित्व युद्धों में जन को नेतृत्व प्रदान करना था। वह जन का रक्षक (गोपा जनस्य) कहलाता था। इसके बदले में वह जन के सदस्यों से आज्ञापालन की अपेक्षा रखता था। लोग उसे स्वेच्छा से उपहार प्रदान करते थे। सम्भवतः राज्य की

ओर से नियमित करों का विधान अभी प्रारम्भ नहीं हुआ था।

इस काल में राजा के अधिकारियों की संख्या काफी सीमित दिखाई पड़ती है। इनमें सबसे प्रमुख पुरोहित था। यह राजा का प्रमुख सहायक तथा परामर्शदाता था। युद्धकाल में यह राजा के साथ युद्धक्षेत्र में भी जाता था। 'सेनानी' एक अन्य अधिकारी था जिसका सैनिक दायित्व नाम से ही स्पष्ट है। 'ग्रामणी' ग्राम का प्रमुख अधिकारी था। यह कह सकना कठिन है कि वह राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था अथवा गांव के लोगों द्वारा निर्वाचित होता था। कई स्थानों पर 'व्राजपति' नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है जिसे 'कुलपों' (परिवार के मुखियों) द्वारा 'अनुसेवित' कहा गया है। 'व्राजपति' और 'ग्रामणी' सम्भवतः एक ही अधिकारी के दो नाम हैं।

'सभा' और 'समिति' इस काल की दो प्रमुख राजनीतिक संस्थाएँ थीं। ऋग्वेद में कई स्थानों पर इनका उल्लेख हुआ है; ये पूरे वैदिक काल में बनी रहीं। यद्यपि इनके वास्तविक स्वरूप के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं पर इस काल के राजनीतिक संदर्भ में इनका महत्त्व स्पष्ट है। अथर्ववेद में इन्हें प्रजापति की जुड़वां पुत्रियाँ कहा गया है। समिति सम्भवतः बड़ी संस्था थी जिसमें जन के सभी लोग सम्मिलित होते थे। एक स्थान पर 'सभेय' अर्थात् 'सभा की सदस्यता के योग्य' शब्द से ऐसा जान पड़ता है कि सभा में विशिष्ट लोगों की सदस्यता होती थी। इन संस्थाओं का राजा की शक्ति पर नियंत्रण दिखाई पड़ता है। समिति की बैठकों में राजा भी भाग लेता था। समिति में लिए गए निर्णयों का विशेष महत्त्व माना जाता था और इसीलिए समिति में 'सहभाव' की कामना की गई है। एक मंत्र इस प्रकार है— "आओ, हम एकत्रित हों। हम समान रूप से विचार करें, हमारी समिति समान (अर्थात् एक मत वाली) हो। हमारे मन और चित्त समान हों। हमारा उद्देश्य समान हो। सबका निश्चय समान हो, सबका मन समान हो।" इन दोनों संस्थाओं में राज्य सम्बन्धित कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जाते थे। प्रत्येक बैठक में राजा की उपस्थिति अनिवार्य न थी परन्तु समय-समय पर राजा को उपस्थित होना पड़ता था। राजा को पदच्युत अथवा निर्वासित करने का अधिकार इस बात का परिचायक है कि ये दोनों संस्थाएँ अत्यन्त सबल थीं। अति शक्तिशाली राजा भी इन संस्थाओं के निर्णयों की अवहेलना करने का साहस नहीं जुटा पाता था। सभा में गैर राजनीतिक विषयों पर भी मंत्रणा होती थी। ग्रामों में उत्पन्न विवाद पंचो की मध्यस्थता से सुलझाया जाता था।

इस काल में होने वाले युद्धों का प्रमुख कारण पशुधन का लोभ था। पशुओं को हांक लाने के लिए ये लोग प्रायः आक्रामक धावे किया करते थे। इस समय की सेना में पदारोही और रथारोही दोनों होते थे। अश्वारोहियों की भी कल्पना की जा सकती है। राजा और प्रमुख योद्धा रथ पर सवार होकर ही लड़ते थे। रथों पर ध्वज लगे रहते थे। रथ में योद्धा के बाईं ओर सारथी बैठता था। योद्धा कवच और शिरस्त्राण धारण करते थे। धनुष तथा बाण युद्ध के प्रमुख शस्त्र थे। परशु, भाला, तलवार अन्य हथियार थे। पत्थर फेंकने के गोफनों का भी प्रयोग किया जाता था। ''शर्ध, 'व्रात' तथा 'गण' आदि शब्द या तो सेना की विविध इकाइयों के नाम हैं अथवा विविध प्रकार की व्यूह रचनाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

विधि और न्याय

न्याय प्रायः राजा द्वारा किया जाता था जिसमें वह पुरोहित तथा सम्भवतः कुछ अन्य अधिकारियों से सहायता लेता रहा होगा। ऋग्वेद में कई दण्डनीय अपराधों का उल्लेख हुआ है। चोरी, लूटमार, ठगी, रात में दूसरों के पशुओं को हांक लाना प्रमुख

अपराध थे। कभी कभी सक्षम व्यक्ति स्वयं ही दण्ड दे देता था। उदाहरण के लिए ऋजाश्व ने लापरवाही से अपने पिता के सौ भेड़ों को भेड़िये को खिला दिया जिस पर उसके पिता ने उसे अन्धा कर दिया। आर्य लोग कृत्रिम उपायों से अपराध परीक्षण में भी विश्वास करते थे— जैसे अग्नि अथवा जल द्वारा।

गैर फौजदारी मामलों के बारे में हमारी जानकारी अधिक नहीं है। ऋण लेने का प्रचलन हो चला था। जुए के शौकीन आर्य लोग कभी-कभी सब कुछ हार कर ऋण लिया करते थे। ऋण न चुका सकने पर उन्हें दास भाव स्वीकार करना पड़ता था। ऋण पर ब्याज भी लिया जाता था।

भूमि पर व्यक्ति का अधिकार माना जाता था। परिवार की सम्पत्ति का स्वामी पिता होता था। उसकी मृत्यु के बाद पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता था। कई पुत्र होने पर सम्पत्ति का विभाजन हो जाता था। पिता के न रहने पर अविवाहित कन्याओं के भरण-पोषण तथा विवाह का दायित्व भाईयों के ऊपर होता था।

सामाजिक संरचना : वर्ण-व्यवस्था

भारतीय सामाजिक जीवन में वर्ण व्यवस्था का विशिष्ट स्थान मिलता है। सारा समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त परिकल्पित किया जाता है, जिनमें से प्रत्येक में विविध जातियों का अस्तित्व मिलता है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत जाति उस सामाजिक इकाई को कहते हैं जिसके सदस्य आपस में ही विवाह और खान-पान का संबंध रखते हैं। सदस्यता जन्म पर आधारित होती है अर्थात् सन्तान को अपने पिता की जाति अपने आप मिलती है। उत्तर-वैदिक काल में ही वर्णों का स्वरूप भी वंशानुगत हो गया था। ऋग्वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का क्या स्वरूप था? यह विचारणीय है।

ऋग्वेद में केवल एक बार दसवें मण्डल के 'पुरुष सूक्त' में इन चारों वर्णों का (क्षत्रिय के लिए 'राजन्य' शब्द का प्रयोग हुआ है) सामूहिक उल्लेख हुआ है। इसमें कहा गया है कि ब्राह्मण 'पुरुष'* का मुख था, क्षत्रिय उसकी भुजाएँ, वैश्य उसकी जांघ और उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। इससे समाज का चार वर्गों में विभाजन संकेतित होता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आर्यों में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति उनके भारत में आगमन के पूर्व हो चुकी थी और इस प्रकार पुरुष सूक्त का विवरण सम्पूर्ण ऋग्वैदिक काल पर लागू मानना चाहिए। इसके विपरीत अन्य विद्वान् पुरुष सूक्त को बाद की रचना मानते हैं और यह मत रखते है कि वर्ण-व्यवस्था का क्रमिक विकास मानना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो 'वैश्य' और 'शूद्र' शब्दों का उल्लेख केवल एक स्थान पर नहीं हुआ होता। यह भी उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में ये शब्द बाद की तरह रूढ़ नहीं हुए हैं। क्षत्रिय शब्द का प्रयोग विरल है; इसके लिए राजन्य शब्द भी मिलता है। ब्राह्मण शब्द का प्रयोग भी सामान्यतः प्रतिभावान तथा गुणवान व्यक्ति के अर्थ में हुआ है। 'कारु', 'विप्र', 'कवि', 'वेधस्' आदि अन्य शब्दों का प्रयोग भी ऐसे व्यक्ति के लिए मिलता है। इसी प्रसंग में ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र को लिया जा सकता है जिसमें अश्विनों से यह प्रार्थना की गई है कि वे 'ब्रह्म', 'क्षत्र' तथा 'विश' की श्रीवृद्धि करें और उन्हें क्रमशः बुद्धि बाहुबल तथा पशुधन प्रदान करें।

उपरोक्त को देखते हुए यह अधिक संभव लगता है कि प्रारम्भ में आर्य समाज

---

* यहां 'पुरुष' की परिकल्पना उस आदि सत्ता के रूप में है जिससे सृष्टि की सभी वस्तुओं का उद्भव हुआ।

में केवल दो प्रमुख व्यावसायिक वर्ग थे : 'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र'। ब्रह्म वेद-ज्ञान, पठन-पाठन, यज्ञ कर्म तथा पौरोहित्य से संबद्ध था जबकि 'क्षत्र' वर्ग युद्ध तथा समाज के सैनिक दायित्वों को निभाता था। समाज के जनसामान्य को 'विश्' कहा जाता था जो विविध व्यवसायों में लगे हुए थे। कालान्तर में 'विश्' का दो पृथक् वर्गों में विभाजन हो गया; कृषि कर्म पशुपालन, वाणिज्य कर्म में लगे हुए लोगों को 'वैश्य' के अन्तर्गत और सेवा कार्य में लगे लोगों को 'शूद्र' के अन्तर्गत रखा गया।

सामान्यत: यह माना जाता है कि आर्यों ने जिन अनार्यों को पराजित कर दास बनाया, वे ही सेवा कर्म में लगे और उन्हीं से शूद्र वर्ण बना। यह विचार भ्रामक तथा अर्धसत्य है। यह सही है कि आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा होने के कारण आर्येतर लोगों में से अधिकांश शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रखे गए होंगे, किन्तु शूद्र वर्ण की रचना का आधार रंगभेद अथवा प्रजाति-भेद मानना गलत होगा। जुए आदि में सब कुछ हार जाने पर आर्थिक विपन्नता के कारण जो आर्य सेवा कार्य करने को विवश होते थे, उन्हें भी शूद्र वर्ण की प्राप्ति होती थी। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि 'शूद्र' आर्यों की ही एक शाखा का नाम है जो मूल ऋग्वैदिक आर्यों के पहले या बाद में यहां आई।

ऊपर उल्लिखित 'पुरुष सूक्त' में समाज की परिकल्पना एक कायिक इकाई के रूप में की गई है। समाज एक व्यक्ति के समान है और चारों वर्ण उसके चार अंगों की तरह हैं। मुख से जन्मा माना गया ब्राह्मण प्रार्थना तथा शिक्षण कर्म से संबद्ध है। व्यक्ति की भुजाओं के समान क्षत्रिय समाज एवं राज्य की रक्षा करता है। जांघो के समान वैश्य अपनी अर्थ शक्ति से सम्पूर्ण राष्ट्र का भार वहन करता है। बाद में आर्थिक गतिविधियों में विस्तार हो जाने के कारण वैश्य वर्ण में एक और भेद कर दिया गया; इस शूद्र वर्ण का कार्य सेवा कर्म माना गया। इस काल में इन वर्णों के साथ ऊंच-नीच की भावना जुड़ी हुई नहीं मिलती। जैसे व्यक्ति के लिये सभी अंग उपयोगी होते हैं, वैसे ही समाज के लिए इन चारों वर्णों में से प्रत्येक की उपयोगिता है।

पूर्व-वैदिक काल में ये वर्ण वंशानुगत नहीं थे। ये केवल व्यावसायिक नाम थे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार इन्हें अपनाने को स्वतंत्र था। परवर्ती जाति व्यवस्था के विपरीत कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र है यह इस बात पर निर्भर नहीं करता था कि उसके माता-पिता क्या हैं अपितु इस पर निर्भर करता था कि वह इनमें से किसके कार्य को कर रहा है। ऋग्वेद में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं जिसमे लोगों द्वारा व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता प्रमाणित होती है। एक ही परिवार के विविध सदस्य अलग-अलग व्यवसायों में लगे हुए मिलते हैं। उदाहरण के लिए, एक मंत्र में एक ऋषि कहता है— "मैं मंत्र का रचियता हूं, मेरे पिता चिकित्सक हैं, मेरी माता चक्की पीसने वाली है।" एक अन्य मंत्र में एक ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है कि वह उसे 'जन' का राजा बनावे, या सोम पीने वाला ऋषि बनावे, और नहीं तो धनवान व्यक्ति बनावे। स्वयं भृगु ब्राह्मण ऋषि थे किन्तु उनके कुछ वंशज कुशल रथ बनाने वाले थे। वंशानुगत रूप में चलने वाली जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार के उदाहरण नहीं हो सकते। वर्णों में पारस्परिक खान-पान पर कोई बन्धन नहीं था। एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में विवाह कर सकता था। इस प्रकार के अन्तर्वर्णीय विवाहों के कई उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व-वैदिक काल में वर्ण सबके लिए खुले वर्ग थे जिनकी सदस्यता का आधार जन्म नहीं, अपितु गुण माना जाता था।

परिवार का स्वरूप तथा पारिवारिक जीवन

परिवार समाज की प्रमुखतम इकाई था परिवार के लिये सामान्य रूप से 'कुल' शब्द का प्रयोग हुआ है। परिवार का प्रमुख 'कुलपा' (कुल की रक्षा करने वाला) कहलाता था जो परिवार का ज्येष्ठतम पुरुष होता था। इस समय संयुक्त परिवार होते थे। इन परिवारों के ठीक-ठीक आकार के विषय में कुछ कह सकना कठिन है किन्तु मोटे तौर पर यह माना जा सकता है कि तीन पीढ़ियों के लोग एक परिवार में साथ-साथ रहते रहे होंगे।

वैदिक परिवार पितृसत्तात्मक परिवार थे, अर्थात् पिता ही परिवार का प्रमुखतम व्यक्ति माना जाता था। वह घर का स्वामी था और परिवार की संपूर्ण संपत्ति पर उसका अधिकार था। परिवार के अन्य सभी सदस्य उसके अनुशासन में रहते थे और वह उन्हें कठोर से कठोर दण्ड भी दे सकता था। ऊपर हम ऋजाश्व की कथा की चर्चा कर चुके हैं जिसे सौ भेड़ों के गंवा देने के अपराध पर उसके पिता ने अन्धा करवा दिया था। परिवार का पूरा दायित्व गृहपति के ऊपर होता था। उसकी मृत्यु के बाद यह भार ज्येष्ठ पुत्र पर पड़ता था। यद्यपि पिता का पुत्र के ऊपर पूर्ण नियंत्रण माना जाता था, पर सामान्य रूप से पिता-पुत्र में भावनात्मक एवं प्रेमपूर्ण संबंध होता था। मंत्रों में देवताओं को प्रायः पिता के रूप में देखा गया है। अग्नि को की गई एक प्रार्थना इस प्रकार है— 'तू हमारे लिए, पुत्र के लिए पिता के समान, सुख से प्राप्त होने योग्य हो, हमारे कल्याण के लिए तू हमारा सहायक बने।'

कोई भी समाज कितना सभ्य एवं संस्कृत है, यह इससे ज्ञात होता है कि उसमें स्त्रियों की स्थिति क्या है। इस दृष्टि से ऋग्वैदिक समाज अत्यन्त प्रगतिशील तथा सुसंस्कृत समाज था। यद्यपि लोगों में पुत्र प्राप्ति की विशेष कामना होती थी पर कन्या का जन्म अवांछनीय नहीं समझा जाता था। उनकी शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाती थी। यह इस बात से ही प्रमाणित है कि ऋग्वेद के कुछ मंत्रों की रचना स्त्रियों ने की है। अंबाला, घोषा, लोपामुद्रा तथा सिकता-निवावरी के नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। कन्याओं का भी उपनयन संस्कार किया जाता था और वे स्वतंत्र रूप से यज्ञ आदि का संपादन कर सकती थीं। विवाह होने पर वह गृहस्वामिनी समझी जाती थी। अपने जीवन-साथी का चुनाव करने की उन्हें स्वतंत्रता थी। पति और पत्नी के बीच मधुर संबंध होने की कामना की जाती थी। एक स्थान पर कहा गया है कि पत्नी ही घर है, वही आनन्द है। इस काल में पर्दा प्रथा का अभाव था। प्रणय-विवाह के कई दृष्टान्त प्राप्त होते हैं जो यही संकेतित करते हैं। पति की मृत्यु के बाद स्त्रियों के सती होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। केवल एक मंत्र में इस प्रथा का संदिग्ध संकेत मिलता है जिसके आधार पर कुछ विद्वान् इस काल में सती-प्रथा का अस्तित्व मानते हैं। अधिकांश विद्वानों का मत नकारात्मक है।

इस काल तक विवाह संस्था पर्याप्त विकसित हो चुकी थी और इसे एक पवित्र संस्कार माना जाता था। विवाह परिपक्व आयु में होता था। सामान्यतः लोग एक ही पत्नी रखते थे किन्तु राजा और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न लोग एक से अधिक पत्नियाँ भी रखते थे। चारों वर्णों में पारस्परिक विवाह संबंध हो सकते थे। जीवन-साथी को चुनने में बहुत अधिक सामाजिक बन्धन इस काल में नहीं दिखाई पड़ते, पर पिता-पुत्री तथा भाई-बहन में वैवाहिक संबंध नहीं हो सकता था। संभवतः भाइयों की सन्तानों के बीच भी वैवाहिक संबंध नहीं होते थे। ऋग्वेद में एक सूक्त को 'विवाह-सूक्त' के नाम से जाना जाता है

जिससे विवाह के समय होने वाले कर्मों तथा अनुष्ठानों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वर अपने परिजनों के साथ भावी वधू के घर जाता था, जहां वधू के घर वाले अतिथियों का सत्कार करते थे। इसके पश्चात् विवाह का अनुष्ठान प्रारंभ होता था। वर वधू का हाथ थामता था और अग्नि के चारों ओर घूमता था। विवाह हो चुकने पर पुरोहित दम्पति को जीवन भर साथ रहने, पुत्र-पौत्र युक्त होने और सुखमय जीवन बिताने का आशीर्वाद देता था। तत्पश्चात् वधू 'गृहपत्नी' के रूप में वर के घर लायी जाती थी। गृहस्वामिनी के रूप में स्त्रियां घर-गृहस्थी के कार्य के अलावा विविध व्यावसायिक कर्म भी करती थीं— जैसे कपड़ों की कताई-बुनाई, रंगाई, डलिया बनाना आदि। अधिकांश विद्वानों के अनुसार विधवा स्त्री पुत्र-प्राप्ति के लिए अपने देवर को निमित्त बना पुत्र प्राप्त कर सकती थी।

ऋग्वेद में एक स्थान पर वर्णित है कि यमी अपने भाई यम से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कहती है तो यम निम्न शब्दों में उसे समझाता है— "यमी, तुम किसी अन्य पुरुष का आलिंगन करो। जैसे लता वृक्ष का वेष्टन करती है उसी प्रकार अन्य पुरुष तुम्हें आलिंगन करे। उसी के मन का तुम हरण करो, इसी में मंगल होगा।" कुछ विशेष परिस्थितियों में सधवा स्त्री को भी पुत्र प्राप्ति के निमित्त अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की जाती थी। स्त्रियों की महत्त्वपूर्ण स्थिति होने के बावजूद विधवा-विवाह के स्पष्ट उदाहरण दिखाई नहीं देते।

भोजन

आर्य लोग कृषि से भली भाँति परिचित थे और विविध अन्नों को उपजाते थे। साथ ही वे विविध पशुओं को पालते थे दूध तथा दूध से बनी अन्य वस्तुओं का भोजन में विशेष स्थान था। अन्न को चक्की में पीस कर आटा बना लिया जाता था और फिर इसे दूध अथवा घी में मिश्रित कर पूवा बनाया जाता था। ऋग्वेद में इसके लिए 'अपूप' शब्द का प्रयोग हुआ। भुने हुए अन्न को पीस कर 'सक्तु' या सत्तू बनाकर खाने का प्रचलन भारत में ऋग्वैदिक काल से ही विद्यमान दिखाई पड़ता है। आर्य लोगों में मांसाहार का भी प्रचलन था। पेय पदार्थों में धारोष्ण (थन से सीधा निकाला गया गरम) दुग्ध पान लोगों को बड़ा प्रिय था। सोमरस एक अन्य पदार्थ था, जिसका धार्मिक महत्त्व भी था। यह किसी वनस्पति का रस था; इसकी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकी है।* लोग सुरापान से भी परिचित थे किन्तु इसके दोषों का भी उन्हें ज्ञान था। एक स्थान पर सुरापान को क्रोध और जुआ के साथ रखा गया है और पापकारी बताया गया है।

वस्त्र-परिधान एवं शारीरिक सज्जा

आर्य लोगों की वेश-भूषा साधारण थी किन्तु वे इसके प्रति सर्वथा उदासीन नहीं थे। 'सुवासस्' तथा 'सुवसन्' शब्दों का प्रयोग वस्त्र-परिधान में उनकी रुचि की ओर संकेत करता है। शरीर के निचले भाग में पहना जाने वाला वस्त्र 'वासस्' कहलाता था। ऊपरी भाग के वस्त्र को 'अधिवासस्' कहते थे। सबके ऊपर संभवतः शाल की तरह का कोई वस्त्र ओढ़ते थे। इसको 'उक्त' या 'द्रापि' कहा जाता था। नर्तकियां 'पेशस्' नाम का विशेष वस्त्र धारण करती थीं। विवाह के अवसर पर वधू भी विशेष वस्त्र धारण करती थी जिसे 'वाधूय' कहा जाता था। आर्यों में पगड़ी पहनने का रिवाज भी था, जिसे वे 'उष्णीय' कहते थे। आर्यों के वस्त्र सूत, ऊन तथा मृग चर्म के होते थे एवं उन्हें रंगीन

---

* सोम के पौधे को मूजवत् पर्वत पर उगने वाला बताया गया है। सोमरस को भांग की तरह पत्थरों द्वारा अथवा खल में पीस कर तैयार किया जाता था।

वस्त्रों में अधिक रुचि थी।

आर्य लोग आभूषण प्रिय भी थे। वे कान में 'कर्णशोभन' पहनते थे और गले में माला धारण करते थे। एक अन्य आभूषण 'खादि' था जो बाजूबन्द की तरह पहना जाता था। सिर पर 'कुम्ब' नामक विशेष प्रकार का आभूषण धारण किया जाता था। बालों को तेल डालकर कंघी से संवारा जाता था। स्त्रियाँ वेणी बनाती थीं। सामान्यतः पुरुष दाढ़ी-मूंछ रखते थे पर दाढ़ी-मूंछ न रखने का भी प्रचलन था।

आमोद-प्रमोद

आर्य लोग संसार के विविध सुखों को भोगने की कामना रखते थे और अपने जीवन को आमोद-प्रमोदमय बनाना जानते थे। समय-समय पर वे बड़े पैमाने पर उत्सव करते थे जिन्हें 'समन्' कहा जाता था। इस अवसर पर लोग बड़ी संख्या में एकत्रित होकर नृत्य, गीत तथा रथ दौड़ आदि से अपना मनोरंजन करते थे। उन्हें गायन की कई विधियां ज्ञात थीं। दुदुंभि या ढोल की ध्वनि उनके विजयोल्लास को दुगना कर देती थी। 'कर्करी' वीणा के समान कोई वाद्य यन्त्र था। 'बाण' तथा 'नाड़ी' को फूंक मार कर बजाया जाता था। झांझ-मंजीरों का भी प्रयोग होता था। लोग नाट्याभिनय से भी परिचित थे। आर्य लोग जुए के विशेष शौकीन थे। जूआ पांसों से खेला जाता था। एक मंत्र में जुए में दांव लगाकर अपना सब कुछ हारे हुए व्यक्ति का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। घुड़दौड़ तथा रथदौड़ मनोरंजन के अन्य प्रिय साधन थे। आखेट जीविका का साधन तो था ही, मनोरंजन का भी साधन था।

शिक्षण कर्म तथा अध्ययन विषय

सम्भवतः शिक्षा का स्वरूप मौखिक था। बालक प्रारम्भिक शिक्षा माता-पिता से प्राप्त करता था। एक मंत्र में मेंढक के टर्राने की तुलना शिक्षक द्वारा कहे गए शब्दों को विद्यार्थियों द्वारा सामूहिक रूप से दुहराने से की गई है। यह पाठशालाओं का अस्तित्व प्रमाणित करता है। विद्यार्थी के लिए 'ब्रह्मचारिन्' शब्द का प्रयोग मिलता है।

अध्ययन के विषय में वैदिक मंत्रों का स्थान स्वाभाविक रूप में सबसे ऊपर रहा होगा। वैदिक मंत्र छन्दबद्ध हैं जिससे छन्द-शास्त्र का अस्तित्व प्रमाणित होता है। यज्ञों की वेदियाँ बनाने के लिए ज्यामिति का ज्ञान आवश्यक था। खगोल विद्या भी पर्याप्त विकसित थी। लोग वर्ष में बारह महीनों के ज्ञान से परिचित थे। यह लगता है कि इतिहास-पुराण और गाथाओं की अध्ययन के विषयों के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी। शिक्षा का प्रधान लक्ष्य बौद्धिक विकास तथा आचरण को विकसित करना था। इसमें "आत्म-निरिक्षण" की पद्धति पर विशेष जोर दिया जाता था। नैतिकता को जीवन में बड़ा महत्त्व दिया जाता था। मनुष्य का परम कत्तव्य अपने आचार-विचार में सादगी, वृद्धों व गुरुजनों के प्रति आदर एवं आतिथ्य माना जाता था।

आर्थिक जीवन

पूर्व-वैदिक आर्यों का समाज कृषिकर्मी पशुपालकों का समाज था। यद्यपि आर्य लोग कृषि के क्षेत्र में काफी प्रगति कर चुके थे किन्तु पशुपालन का महत्त्व कम नहीं हुआ था। कृषि कर्म तथा पशुपालन के साथ-साथ विविध उद्योगों तथा व्यवसायों का भी उद्‌भव हो चुका था।

पशुपालन

आर्य लोग विविध पशुओं से परिचित थे जिनमें गाय और बैल का विशेष महत्त्व था। ऋग्वेद के दो सूक्त 'गावों-देवता' की प्रशंसा में कहे गए हैं। एक स्थान पर कहा

गया है कि जिस घर में गाएँ नहीं हैं उनमें ऐश्वर्य नहीं हो सकता। यज्ञ कराने वाले पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में गाय और बैल ही दिये जाते थे। गायों के विशेष सम्मान का आर्थिक आधार स्पष्ट है। गाय से उत्पन्न बैल जहां कृषि कार्य में उपयोगी थे, वहीं इसके दूध तथा दूध से बनी विविध वस्तुओं का उपयोग भोजन के रूप में किया जाता था। इसी कारण गाय को कई स्थानों पर 'अहन्या' (अर्थात् न मारने योग्य) कहा गया है।

इसके अतिरिक्त आर्य लोग भेड़, बकरी, भैंस, गधा तथा ऊंट से भी परिचित थे। ऊंट उस समय भी पंजाब तथा सिन्धु प्रदेश में 'मरुस्थल के जहाज' के रूप में ज्ञात था। ऊंट और गधा बोझ ढोने वाले पशु थे। पालतू पशुओं में सब से अधिक महत्त्व घोड़े का था। यह पशु भक्ति और गति का प्रतीक था और युद्ध में रथों में जोता जाता था। यह बोझ ढोने तथा हल खींचने के काम भी आता था। प्रो. मैकडॉनेल का यह विचार है कि आर्य लोग अश्वारोहण नहीं करते थे। पर डा. अविनाश चन्द्र दास ने उनके इस विचार का खण्डन किया है। ये लोग हाथी को पकड़कर उसे पालतू बनाना भी जान चुके थे। हाथी के लिए ऋगवेद में 'हस्तिमृग' शब्द के अतिरिक्त 'इभ' तथा 'वारण' शब्द का प्रयोग हुआ है।

कृषि-कर्म

हल खींचने के लिए सामान्य रूप से बैलों का प्रयोग होता था। हल लकड़ी के बने होते थे। ऋग्वेद में खेती से सम्बिन्धत विविध कर्मों का उल्लेख मिलता है। जुताई होने पर खेत में बीज बोया जाता था। फसल तैयार होने पर इसे 'दात्र' (हंसिया) से काटा जाता था तत्पश्चात् फसल को गट्ठरों में बांध कर खलिहान में लाया जाता था जहाँ अन्न को भूसे से अलग किया जाता था। फसल को सींचने के लिए 'कुल्याएँ' (नालियां) बनाई जाती थीं। अन्न के लिए 'यव' तथा 'धान्य' शब्दों का प्रयोग मिलता है। इनके अतिरिक्त आर्य गेहूँ, तिल, उड़द, मसूर, चना आदि फसलें भी उपजाया करते थे। कृषि ऋग्वैदिक काल में भी वर्षा पर निर्भर रहा करती थी अतः समयानुकूल वर्षा के लिए आर्य देवताओं की स्तुति करते थे। इसके अतिरिक्त आर्यों ने कुओं (अवत) के जल से सिंचाई करना आरम्भ कर दिया था। एक चक्र के द्वारा कुएँ से जल खींचा जाता था और नालियों की सहायता से खेतों तक पहुँचाया जाता था।

उद्योग तथा व्यवसाय

पूर्व-वैदिक काल में ज्ञात विविध उद्योगों तथा शिल्पों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान 'तक्षन्' (बढ़ई) का था। इस महत्त्व का कारण इस शिल्प की सामाजिक उपादेयता थी। तत्कालीन ऐतिहासिक संदर्भ में युद्ध आर्य जनजीवन का एक प्रमुख अंग था जिसमें रथ का प्रयोग होता था। तक्षन् इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए तथा रथ दौड़ में लोगों के मनोरंजनार्थ प्रयोग में आने वाले रथों का निर्माण करता था। कृषि कर्म तथा वाणिज्य-व्यापार में उपयोग में आने वाली गाड़ियों (अनस्) तथा नावों को भी वही बनाता था। उसके उपयोग में आने वाले विविध उपकरणों में 'कुलिश' या कुल्हाड़ी का नामोल्लेख हुआ है। आर्य लोग धातु गला कर बर्तन इत्यादि बनाने की कला से परिचित थे, पर यह सर्वथा निश्चित नहीं है कि इस काल में उन्हें लोहे का ज्ञान था या नहीं। धातु के लिए ऋग्वेद में 'अयस्' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद के उद्धरणों में इसके लाल रंग की ओर संकेत मिलता है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह तांबा या कांसा रहा होगा। अथर्ववेद में 'श्याम अयस्' (लोहा) और 'लोहित अयस' (तांबा) में अन्तर किया

गया है। यह सम्भव है कि अयस् एक से अधिक धातुओं के लिए प्रयोग में आने वाला सामान्य शब्द था। जो भी हो आर्य लोग इस काल में ही धातु निर्माण कला में पर्याप्त प्रवीण हो चुके थे। 'कर्मार' अथवा लुहार धातु गला कर बर्तनों को बनाता था। कच्ची धातु को चिड़ियों के पंखों से बनी धौंकनी की सहायता से भट्टी में गलाया जाता था। स्वयं ऋग्वेद में 'हिरण्यकार' (सुनार) शब्द नहीं मिलता, किन्तु इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता कि तत्कालीन समाज में यह शिल्पी भी विद्यमान था। यह विविध प्रकार के आभूषण बनाने में दक्ष था। 'चर्मण्' नामक शिल्पी चमड़े की वस्तुएँ बनाता था। यह धनुष की प्रत्यंचा, रथ के विविध भागों को बांधने के लिए चमड़े की रस्सियां, घोड़ों को साधने के काम आने वाली लगाम तथा घरेलू काम में आने वाले चमड़े के थैलों आदि को बनाता था।

धातु के अतिरिक्त मिट्टी से भी बर्तन बनाए जाते थे। लोग सूत कातना तथा कपड़ा बुनना जानते थे और यह उद्योग काफी उन्नत अवस्था में था। वस्त्रों पर कढ़ाई भी की जाती थी और कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए विशिष्ट वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। कताई, बुनाई तथा कढ़ाई आदि का काम मुख्यतः स्त्रियों के कार्य-क्षेत्र में आता था। नाई (वप्तृ) का अपना अलग व्यवसाय व्यवस्थित हो चुका था। चिकित्सक का व्यवसाय आदर की दृष्टि से देखा जाता था। सम्भवतः कसाई का व्यवसाय भी एक स्वतन्त्र व्यवसाय के रूप में अस्तित्व में आ चुका था। ऋग्वेद के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि विविध शिल्पों में विशेषज्ञता का आविर्भाव हो चुका था।

वाणिज्य एवं व्यापार

ऋग्वेद में धन कमाने के लिए परदेश जाने की चर्चा मिलती है जिससे यह स्पष्ट है कि इस काल में आर्य लोग दूर स्थित स्थानों के साथ व्यापार करते थे। क्रय-विक्रय में वस्तु-विनिमय प्रणाली का उपयोग किया जाता था, किन्तु इसके साथ ही गाय मूल्य की एक इकाई बन चुकी थी। सम्भवतः 'निष्क' भी मूल्य की एक निश्चित इकाई थी।

कीथ इत्यादि कुछ योरोपीय विद्वानों का विचार है कि आर्य लोग समुद्र तथा सामुद्रिक यात्रा से परिचित नहीं थे। किन्तु मैक्समूलर, लैसेन, जिमर, ए. डी. पुसालकर आदि कई विद्वान् यह मानते हैं कि आर्यजन समुद्र से भली-भांति परिचित थे। एक स्थान पर सौ बल्लियों से चलाई जाने वाली नाव का उल्लेख हुआ है। इतनी बड़ी नाव का उपयोग सामुद्रिक आवागमन के लिए ही होता रहा होगा। ऋग्वेद में 'पणि' लोगों का उल्लेख हुआ है। ये सम्भवतः आर्यों से भिन्न व्यापारी थे। कुछ विद्वान् इन्हें बेबीलोन के निवासियों के साथ समीकृत करते हैं। डा. अल्तेकर का विचार है कि 'पणि' लोग हरप्पा संस्कृति के निवासी थे।*

यात्रा में रथों तथा गाड़ियों का उपयोग होता था, जिनमें अश्व अथवा बैल जोते जाते थे। यह माना जाता था कि पूषन् नामक देवता यात्रा को निरापद बनाता है और रास्ते में चोरों, बदमाशों आदि से रक्षा करता है।

पूर्व वैदिक धर्म तथा दर्शन

आर्य लोग विविध देवताओं में विश्वास करते थे। अधिकांश देवता प्रकृति की विविध शक्तियों तथा पक्षों के मानवीकरण दिखाई पड़ते हैं। द्यौस (आकाश), पृथ्वी, अग्नि, सूर्य, उषा आदि देवताओं का प्राकृतिक आधार स्वतः स्पष्ट है। इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत् आदि

---

* इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1959 का अध्यक्षीय भाषण।

देवता भी विविध प्राकृतिक शक्तियों के साथ सम्बन्धित दिखाई पड़ते हैं। आर्य लोग इन विविध देवताओं की उपासना करते थे। इन्हें प्रसन्न करने के लिए यज्ञ किए जाते थे, जिसका अर्थ था वेदी में प्रज्वलित अग्नि में घृत तथा अन्न आदि की आहूति देना और देवता विशेष की स्तुति में मन्त्रों का गायन। इस काल में यज्ञों का स्वरूप सरल था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं यज्ञ कर सकता था और इस कार्य में विशेष रूप से दक्ष पुरोहितों की आवश्यकता नहीं थी।

देवताओं का सामान्य स्वरूप तथा प्रमुख देवता

आर्य लोगों का विविध देवताओं में विश्वास था। कुछ स्थानों पर इनकी संख्या तैंतीस बताई गई है पर कुछ स्थानों पर उन्हें 'बहुसंख्यक' कहा गया है। इस प्रकार इनकी संख्या सर्वथा निश्चित नहीं थी। देवताओं को उनके परिकल्पित स्थान के आधार पर तीन वर्गों में रखा गया है : (1) पृथ्वी स्थानीय देवता, जैसे सोम और अग्नि, (2) अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता जैसे इन्द्र तथा (3) द्युस्थानीय देवता जैसे सूर्य। देवता अमर माने जाते थे; उनका यही गुण प्रमुख रूप से उन्हें मनुष्यों से पृथक् करता था। ये सोम नामक रस में विशेष रुचि रखते थे। विश्व में सर्वत्र व्यवस्था और नियमबद्धता बनाए रखना देवताओं का प्रमुख दायित्व था। नियम और व्यवस्था के लिए ऋग्वेद में 'ऋत' शब्द का प्रयोग हुआ है। बाद में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द में जो भाव निहित है, मोटे तौर पर 'ऋत' उसी भाव का सूचक था। देवताओं को 'ऋत' का रक्षक (गोपा ऋतस्य) कहा गया है। देवताओं में किसी को छोटा -बड़ा नहीं माना जाता था। यह विश्वास किया जाता था कि देवता व्यक्तियों को उनके अच्छे कर्मों के लिए पुरस्कृत तथा बुरे कर्मों के लिए दण्डित करते हैं। देवता यज्ञ से प्रसन्न होते हैं। सामान्य रूप से इनका स्वरूप सौम्य प्रकार का है। केवल रुद्र नामक देवता में विनाशकारी तत्त्व का दर्शन होता है।

आर्यों द्वारा पूजित देवताओं में सबसे प्रमुख इन्द्र दिखाई पड़ता है और ऋग्वेद में सबसे अधिक मंत्र इसी देवता की स्तुति में हैं। यह शक्ति और युद्ध का देवता था। युद्ध में विजय के लिए आर्य इसका आह्वान करते थे। यह वज्र धारण करने वाला* तथा वृत्र और अर्बुद आदि असुरों का विनाश करने वाला माना जाता था। वरुण नैतिकता का देवता था। यह प्रकृति तथा नैतिक जगत् में नियमबद्धता बनाए रखता था। सूर्य और चन्द्रमा को इसकी आंखें कहा गया है। पृथ्वी पर होने वाले प्रत्येक कर्म की सूचना इसे अपने गुप्तचरों से मिलती रहती है और इसी आधार पर वह व्यक्तियों को पुरस्कृत अथवा दण्डित करता है। अग्नि देवताओं का पुरोहित था जो यज्ञ में डाली गई आहुति को उनके पास पहुंचाता था। सोम किसी वनस्पति को पीस कर तैयार किया जाने वाला रस था जिसे भी देवता माना गया है। देवता इसे पीने की विशेष इच्छा रखते हैं; यज्ञ करने वाले ऋषि भी इसे पीते थे। विष्णु, रुद्र, मरुत्, पूषन्, पर्जन्य आदि अन्य देवताओं का उल्लेख भी मिलता है। पुरुष देवताओं की तुलना में स्त्री देवताओं की संख्या कम थी और उनका महत्त्व उतना नहीं दिखाई पड़ता है। स्त्री देवताओं में उषा और अदिति प्रमुख थीं। उषा सूर्योदय के पूर्व की बेला को द्योतित करने वाली देवता है इसे आकाश की दुहिता कहा गया है जो लाल घोड़ों से जुते चमकते रथ पर विचरण करती है। ऋग्वेद में इसे लक्ष्य कर कहे गए मन्त्रों में सुन्दर काव्यात्मकता मिलती है। अदिति का अर्थ है निस्सीम अर्थात् यह प्रकृति की सीमारहित व्यापकता द्योतित करती है। सिन्धु और सरस्वती नदियों को

---

* इसका वज्रधर होना इसकी शक्ति का प्रतीक है।

भी देवी रूप में देखा गया है

आर्य लोग इन विविध देवताओं में विश्वास करते थे जिस कारण उसके धर्म को वहुदेववाद की संज्ञा प्रदान की जाती है। पर ऐसा लगता है आजकल विद्यमान हिन्दू धर्म की मान्यता के समान उस समय भी इन देवताओं का देवत्व के विविध पक्षों के रूप में माना जाता था। एक स्थान पर कहा गया है कि 'सत् एक ही है, लोग उसे विविध नाम देते हैं– कोई अग्नि कहता है, कोई यम और कोई मातरिश्वन।' एक अन्य स्थान पर 'उस एक' (तदेकम्) की चर्चा है।

ऋग्वैदिक मुनि

ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त 'मुनि-सूक्त' के नाम से जाना जाता है। इसमें सात मंत्र हैं। इन्हें लम्बी जटाओं वाला, आकाश में उड़ने वाला, मलिन वस्त्र धारण करने वाला तथा आनन्द के अतिरेक में झूमने वाला कहा गया है। डा. गोविन्दचन्द्र पाण्डे आदि विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद में वर्णित मुनि संसार त्यागी लोग थे जो विचरणशील थे और बाद में इन्हीं की परम्परा में यतियों, श्रमणों सन्यासियों आदि का आविर्भाव हुआ।* यह उल्लेखनीय है कि कालान्तर में मुनि, 'यति' 'परिव्राजक' और 'सन्यासी' पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं।

आर्यों के द्वारा देवताओं की स्तुति की विभिन्न विधियाँ बताई गई हैं। प्रार्थना एवं स्तुति और यज्ञों द्वारा। यज्ञों में अन्न, घृत, मांस, सुगन्धित सामग्री की आहुति देकर अपने लिए धन-धान्य, शतायु, पुत्र-पौत्रों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना करते थे। ऊपर लिखित देवताओं के अतिरिक्त आर्य पितरों (अपने पूर्वजों) की भी उपासना करते थे।

इस प्रकार, ऋग्वैदिक सभ्यता कुछ पृथक् विशेषताओं को प्रदर्शित करती है एवं उत्तर वैदिक सभ्यता से भी भिन्न है। डा. मजूमदार के कथनानुसार क्रमिक विकास के लिए ऋग्वैदिक सभ्यता अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करना न्यायसंगत होगा।

---

* इस पर विस्तारपूर्ण चर्चा के लिए द्रा० डा०-गोविन्दचन्द्र पाण्डे की पुस्तक-स्टडीज इन दि ओरिजन्स ऑफ बुद्धिज्म (इलाहाबाद-1957) पृ० 258-261

4

वैदिक सभ्यता का काल

(ii) उत्तर-वैदिक सभ्यता

इस अध्याय के प्रारम्भ में हम पूर्व-वैदिक तथा उत्तर-वैदिक में अन्तर किए जाने का आधार स्पष्ट कर चुके हैं। ऋग्वेद से इतर वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों से हम सभ्यता तथा संस्कृति का जो चित्र पाते हैं उसे उत्तर-वैदिक काल के अन्तर्गत रखा जाता है। इस प्रकार इस काल के लिए हमारे ज्ञान का आधार यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की संहिताएँ तथा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इस काल के जनजीवन के विविध पक्षों में पूर्ववर्ती काल की तुलना में हम कई नवीनताएँ तथा परिवर्तन देखते हैं जिस कारण यह विभेद किया जाता है।

भौगोलिक परिवेश में परिवर्तन

पूर्व वैदिक काल में आर्य लोग अफगानिस्तान से गंगा-यमुना नदी तट तक बसे हुए थे। पंजाब तथा सरस्वती नदी का तटवर्ती प्रदेश आर्य सभ्यता का गढ़ दिखाई पड़ता है। उत्तर-वैदिक काल में आर्य-संस्कृति का केन्द्रस्थल खिसककर कुरु-पांचाल प्रदेश में आ गया था। कुरु जनपद के अन्तर्गत आधुनिक थानेश्वर, दिल्ली तथा गंगा घाटी का ऊपरी भाग एवं पंचाल के अन्तर्गत आधुनिक बरेली, बदायूं, फर्रुखाबाद तथा पश्चिमी उत्तरी प्रदेश के कुछ पड़ोसी भू-भागों को रखा जा सकता है। गंगा-यमुना का तटवर्ती 'मध्यदेश' नाम से जाना जाने वाला भू-भाग अब एक विशिष्ट स्थान रखता था। काशी और कोशल आर्यों के नए केन्द्र बन चुके थे और वे विदेह (आधुनिक बिहार) तक पहुँच गए थे। इस काल के साहित्य में हम पहली बार आन्ध्रों, पुण्ड्रों (बंगाल में), शबरों (मध्य प्रान्त में) आदि का नाम सुनते हैं। अंग और विदर्भ अन्य नए प्रदेश हैं जिनका उल्लेख उपनिषदों में हुआ है। शतपथ एवं 'ऐतरेय' ब्राह्मण इस कथन की पुष्टि करते हैं। इससे स्पष्ट है कि इस काल में आर्य लोग हिमालय से लेकर विन्ध्य पर्वत तक सम्पूर्ण भू-भाग से परिचित थे, सम्भवतः उनके ज्ञान की परिधि इस सीमा से आगे भी विस्तृत थी।

प्रादेशिक राज्यों की स्थापना

ऋग्वैदिक काल में आर्यों के विविध 'जनों' की चर्चा की जा चुकी है। किन्तु ऋग्वैदिक काल में इन्हें किसी निश्चित भू-प्रदेश के साथ सम्बद्ध नहीं किया गया है। ऐसा उनके सुस्थिर आवासों के न होने के कारण था। उत्तर-वैदिक काल में 'जनों' का स्थान 'जनपदों' ने ले लिया था अर्थात् अब किसी भी राजनीतिक इकाई अथवा राज्य के अन्तर्गत एक निश्चित भू-प्रदेश को सम्मिलित माना जाता था। प्रादेशिक राज्यों की स्थापना के कारण विस्तारवादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। शक्तिशाली राज्य पड़ोसी निर्बल राज्यों को अपने अन्दर मिलाकर अपने भू-क्षेत्र के विस्तार की कामना करने लगे थे। कुरु, गान्धार,

केकय, मद्र, काशी, अवन्ति, अश्मक, मूलक, कौशल अत्यादि इस युग के महत्त्वपूर्ण जन (राज्य) थे। मगध व अंग शक्तिशाली राज्य थे। राजनीति पर धर्म के प्रभाव ने इस विश्वास को जन्म दिया कि राजसूय, वाजपेय तथा अश्वमेघ आदि यज्ञों के करने से राजा को सार्वभौम पद की प्राप्ति होती है और सागर पर्यन्त सारी पृथ्वी पर उसका शासन स्थापित होता है। छोटे तथा बड़े राज्यों में अन्तर किया जाने लगा था। सम्राट पद की प्राप्ति प्रत्येक शासक की कामना का परम पद बन गया था जिसकी पूर्ति के लिये वह अधिक से अधिक भू-भाग पर अधिकार जमाने के लिए सदैव सचेष्ट रहने लगा था। राजाओं की इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इस काल में अपेक्षाकृत बड़े राज्यों की स्थापना हुई।

राजा के पद की महिमा में वृद्धि

बडे राज्यों की स्थापना से राजा की शक्ति में वृद्धि स्वाभाविक थी। यद्यपि इस काल के साहित्य में भी राजा के निर्वाचन के उद्धरण मिलते हैं किन्तु सामान्यतः राजा का पद अब स्थायी और वंशानुगत हो चला था। किन्तु यदि राजपुत्र राजपद के योग्य नहीं होता, तो विश या प्रजा को, राजवंश के किसी अन्य व्यक्ति को राजा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अधिकार प्राप्त था। कई स्थानों पर उसमें दैवी गुणों का होना बताया गया है। यद्यपि ऋग्वैदिककालीन सभा और समिति नामक संस्थाएँ अभी भी जीवित थीं पर अब उनका वह प्रभाव नहीं रह गया था। राजा अब अधिक ऐश्वर्य से रहने लगा था और उसकी अपनी परिषद् होती थी। राजकार्य में उसे सहायता पहुँचाने के लिए कई नवीन कर्मचारी अस्तित्व में आ गए थे। राजा के अपने कुल के लोगों का एक स्वतंत्र वर्ग बन गया था। ये सजात क्षत्रिय उसकी शक्ति के आधार थे यद्यपि स्वयं राजा इस सबसे ऊपर होता था। राजा नीति-निर्माता था एवं सर्वोच्च सेनापति एवं न्यायाधिकारी था। धर्मानुसार शासन करना, न्याय प्रदान करना, बाह्य आक्रमणों व आन्तरिक असामान्यताओं से राज्य व प्रजा की रक्षा करना, दुर्बलों तथा असहायों की रक्षा करना, राज्य विस्तृत करना, लोक-कल्याण हेतु प्रयासरत रहना, प्रजा के सुख के लिये यज्ञ-अनुष्ठान करना, ऋषि-मुनियों एवं अतिथियों का सत्कार करना ये राजा के कुछ प्रमुख कत्र्तव्य थे।

राजा अपनी प्रजा से 'बलि' 'शुल्क' 'भाग' आदि कर वसूल करता था जो कि उनकी आय का 1/6 भाग होता था।

प्रशासनिक तन्त्र

राज्यों के आकार में वृद्धि होने से प्रशासन में जटिलता बढ़ी। राजकार्य को सुचारु रूप से चलाने में राजा कई कर्मचारियों से सहयोग लेता था। इन्हें रत्निन् कहा जाता था। संभवतः ये उच्च पदाधिकारी ही राजपरिषद् का निर्माण करते थे। इनका महत्त्व इस बात से ही स्पष्ट है कि राजसूय के अवसर पर राजा इनमें से प्रत्येक के घर जा कर कुछ अनुष्ठान करता था और इस प्रकार उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट करता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन्हें राष्ट्र का धारक कहा गया है। विभिन्न ग्रन्थों में इनकी संख्या अलग-अलग बताई गई है।

प्रशासन तन्त्र में सबसे ऊपर राजा होता था। अन्य अधिकारियों में पुरोहित का विशिष्ट महत्त्व दिखाई पडता है। इस पद का महत्त्व धार्मिक तथा बौद्धिक था। वह राजा का प्रमुख परामर्शदाता था और राजा को दैवी कृपा दिलाने के उद्देश्य से यज्ञादि अनुष्ठान करता था। इन रत्निनों में राजा की महिषी अथवा प्रधान पत्नी का भी नाम गिनाया गया है। डा. यू.एन. घोपाल का विचार है कि इस समय के प्रशासनतन्त्र में उसे भी महत्त्वपूर्ण

स्थान प्राप्त था। सेनानी नामक पदाधिकारी युद्धों में सेना का नेतृत्व करता था। ग्रामणी ग्राम का प्रमुख था। अब राज्य नियमित रूप से कर वसूल करने लगा था। भागदुघ नामक अधिकारी कर इकट्ठा करता था। सगृहीतृ संभवतः कोषाध्यक्ष को कहते थे। गोविकर्तन संभवतः जंगल विभाग का प्रधान अधिकारी था। सूत राजा का सारथी होता था। एक ग्रन्थ में तक्षन् अर्थात् बढ़ई तथा रथकार को भी रत्निनों की सूची में रखा गया है। क्षतृ, पालागल तथा अक्षवाप नामक रत्निनों के वास्तविक स्वरूप एवं महत्त्व को ठीक-ठीक बता सकना कठिन है।

न्याय-व्यवस्था

न्याय-व्यवस्था जैसा कि चर्चा की जा चुकी है, राजा सर्वोच्च न्यायाधिकारी होता था अर्थात् नियम बनाना और अपराधियों को दण्ड देना राजा का प्रमुख कत्तव्य माना जाता था। न्याय प्रदान करने के लिए राजा न्यायाधीशों की नियुक्ति भी कर सकता था जिन्हें 'स्थपित' कहा जाता था। कानून जनसामान्य के लिए एक होता था परन्तु दण्डित करते समय अपराधी की स्थिति को ध्यान में रखा जाता था। दण्ड के प्रकार देश-निकाला, शारीरिक यातनाएँ एवं जुर्माना आदि हुआ करते थे। गाँव में छोटे-छोटे अपराधों का 'ग्राम्यवादिन' नामक अधिकारी निर्णय करता था।

उत्तर-वैदिक काल का समाज

इस काल में समाज का मूल ढांचा यद्यपि वही था जो ऋग्वैदिक काल में था तथापि इस समय हम कई महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन घटित होते हुए देखते हैं।

वर्णव्यवस्था का परिवर्तित रूप

ऋग्वेद में चारों वर्णों की चर्चा केवल एक स्थान पर हुई है। इसमें ये वर्ण खुले हुये सामाजिक वर्गों के रूप में दिखाई पड़ते हैं जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसके जन्म से न होकर उसके कार्य से होता था। उत्तर-वैदिक काल में चारों वर्णों का विपुल उल्लेख मिलता है और इन वर्णों में पार्थक्य दर्शाने, की निश्चित कामना दिखाई पड़ती है। चातुर्वण्य-व्यवस्था अब एक सामाजिक यथा था। अब इसमें परवर्ती जाति व्यवस्था के कई गुणों का प्रवेश हो चला था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों की विशिष्ट स्थति थी। वाणिक्, कृपक तथा शिल्पी वैश्य वर्ग के अन्तर्गत रखे गए और शूद्र वर्ण के ऊपर सेवा कार्य रखा गया।

अपने विस्तार की प्रक्रिया में आर्य लोग कई आर्येतर (आर्यों से भिन्न) जन-जातियों के सम्पर्क में आए जिसका उनकी सामाजिक संरचना पर काफी प्रभाव पड़ा। उनमें अपने अन्दर वर्ग विभाजन की प्रक्रिया चल रही थी। अब इन नए लोगों की समाज में आत्मसात करने की समस्या थी। इन्हें समाज में वही स्थान दिया गया जो उनके अपने पहले के व्यवसाय और सांस्कृतिक स्तर के अनुसार मिलना चाहिए था। पर युद्ध में बन्दी बनाए गए लोगों को आर्य परिवारों में दासों के रूप में स्थान प्राप्त हुआ। आर्थिक दृष्टि से दरिद्र तथा सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी जनजातियों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत रखा गया। इस काल में शूद्र वर्ण के प्रति जो द्वेषभावना दिखाई पड़ती है उसका यही कारण मानना चाहिए।

तत्कालीन साहित्य में इन चारों वर्णों में पार्थक्य दर्शाने के लिए कई नियम विधान बताए गए हैं। शतपथ ब्राह्मण में अलग वर्णों को बुलाने के लिए अलग-अलग संबोधनों की व्यवस्था की गई है। मृत्यु के बाद उनकी चिताओं के लिए अलग-अलग आकार बनाया गया है। यज्ञ के अवसर पर इनके द्वारा अलग-अलग वृक्षों की लकड़ी का उपयोग

बताया गया है। शूद्रों को इन धार्मिक कृत्यों से बहिष्कृत रखा गया है। वह दूसरों का सेवक था। उसे यज्ञ की अग्नि छूने का अधिकार नहीं था। एक ब्राह्मण में कहा गया है कि शूद्रों का कोई देवता नहीं होता और न ही उसे यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त है। उसे वेदाध्ययन तथा उपनयन संस्कार से भी वंचित रखा गया।*

पर यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि शूद्रों के प्रति यह भावना किसी जातीय विद्वेष के कारण नहीं थी। इस समय जो जातीय मिश्रण की प्रक्रिया शुरू हुई उसमें आर्य और आर्येतर का भेद बड़ी शीघ्रता से समाप्त होता गया। इस समय वेदों के संकलन का श्रेय व्यास को दिया गया जिनमें निश्चित रूप से आर्येतर रक्त था। एक स्थान पर कृष्ण वर्ण तथा रक्तिम नेत्र वाले पुत्र की प्राप्ति के लिए अनुष्ठान बताया गया है। इस प्रकार द्विजातियों और शूद्रों का भेद आर्य और आर्येतर के भेद पर आधारित नहीं था। यह भेद आर्थिक दरिद्रता और सांस्कृतिक पिछड़ेपन पर आधारित था।

फिर भी उत्तर-वैदिक काल में इन वर्णों में पारस्परिक यातायात सर्वथा समाप्त नहीं हुआ था। इस काल में अन्तर्वर्णीय विवाहों के कई उल्लेख मिलते हैं। कवष ऐलूष आर्य पिता तथा दासी माता के पुत्र थे। छान्दोग्य उपनिषद् में जानश्रुति नामक एक शूद्र राजा द्वारा एक ब्राह्मण को अपनी कन्या देने का उल्लेख मिलता है। पर यह सही है कि सामान्य रूप से अपने वर्ण के अन्दर ही विवाह करना ठीक माना जाता था।

परिवार का स्वरूप

इस काल में भी संयुक्त परिवार की परम्परा सामान्य रूप से बनी रही पर कई कारणों से परिवार थोड़े बहुत टूटने भी लगे थे। पिता के रहते हुए ही सम्पत्ति का विभाजन भी होने लगा था। वैसे पिता का परिवार के अन्य सदस्यों के ऊपर सर्वोच्च अधिकार माना जाता था। भुखमरी से बचने के लिए अंजीगर्त ने अपने पुत्र को बेच दिया था। पर पुत्र द्वारा अपने पिता की आज्ञा को नकारने के उल्लेख भी मिलते हैं। अब आर्य लोग सुव्यवस्थित रूप से बस गए थे और भूमि पारिवारिक संपत्ति का प्रधान अंग बन गयी थी। संपत्ति विभाजन के प्रश्न पर भाईयों में कलह होना स्वाभाविक था।** पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संयुक्त परिवारों की परम्परा समाप्त हो गई थी। हाँ कुछ परिवर्तनों का सूत्रपात हो गया था। इस युग में पूर्व काल समान अतिथि सत्कार पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

स्त्रियों की दशा

ऋग्वैदिक काल के समान इस काल में भी स्त्रियों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था पर साथ ही परवर्ती काल में उनकी जो अपेक्षाकृत हीन दशा दिखाई पड़ती है इस काल में उसका भी बीज पड़ चुका था। वैसे इस काल में कुछ विदुषी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं। जनक की सभा में अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ में हारने वाले याज्ञवल्क्य को

---

* डा. आर.एस. शर्मा (**शूद्रज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया**, वाराणसी, 1958, पृ. 67-68) का विचार है कि प्रारम्भ में शूद्रों का भी उपनयन होता रहा होगा। आर.के.मुकर्जी (**ऐन्श्येन्ट इण्डियन एजूकेशन**, **लन्दन**, 1940 पृ. 53) का मत है कि वेदाध्ययन का अधिकार सभी को था। पर ये मत ठीक नहीं जान पड़ते— द्र. विजय बहादुर राव, **उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति** (वाराणसी 1966) पृ. 114।

** इस प्रसंग में 'भ्रातृव्य' शब्द का परिवर्तित अर्थ द्रष्टव्य है। इस शब्द का अर्थ है भतीजा। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका शत्रु के अर्थ में प्रयोग मिलीता है। ऐसा जायदाद के झगड़े के कारण हुआ होगा—द्र. हरिदत्त वेदालंकार, हिन्दू परिवार मीमांसा (दिल्ली, 1973), पृ. 47।

गार्गी ने अपनी विद्वता से चुनौति दीथी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी एक विदुषी स्त्री थी। स्त्रियों की प्रशंसा में कई उल्लेख मिलते हैं और यह कहा गया है कि बिना स्त्री के कोई पुरुष पूर्ण नहीं होता। किन्तु साथ ही पुत्री को कष्ट का मूल भी बताया गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि एक छोटा बालक भी स्त्रियों से श्रेष्ठ है। उसे संपत्ति पर अधिकार नहीं दिया गया है। इस समय राजाओं और समृद्ध लोगो में बहु-विवाह का प्रचलन था जिससे भी उनकी स्थिति में हीनता आई।

भोजन, वस्त्राभूषण, मनोरंजन आदि

भोजन के विषय में उत्तर-वैदिक काल के आर्यों का विचार ऋग्वैदिक काल जैसा ही था। भोजन के मुख्य अंग अन्न, दुग्ध एवं दुग्ध उत्पादित पदार्थ थे। अन्न में गेहूँ, जौ एवं चावल मुख्य थे व चावल को 'वृहि' कहा जाता था। वैदिक साहित्य में 'ओदन', 'क्षीरोदन' एवं 'तिलोदन' शब्द उल्लेखनीय हैं जो कि दूध में किसी वस्तु को पकाकर खाने का सूचक है। सामान्यतः बैल, बकरा एवं पशु-पक्षियों का मांस भी प्रचलन में था। ऋग्वैदिक काल की भाँति इस युग में भी लोगों को साग-सब्जियों एवं फलों का शौक था परन्तु इसके साथ ही स्पष्ट रूप से देखा गया है कि सुरापान का प्रचलन काफी बढ़ गया था।

वेश-भूषा के संदर्भ में मनुष्य ने उत्तर-वैदिक काल में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। मृग-चर्म के वस्त्रों के स्थान पर सूती, ऊनी एवं रेशमी वस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। रंग-बिरंगे एवं सिले हुए वस्त्र अधिक लोकप्रिय हुए। धनी एवं कुलीन वर्ग के लोग अपने वस्त्रों पर सोने-चाँदी की जरी का काम भी करवाते थे। साधु-सन्यासी मृग-चर्म का प्रयोग करते थे। आभूषणों में चाँदी का प्रयोग अधिक विस्तृत हो गया था एवं कीमती पत्थरों की जड़ाई भी प्रचलन में आई। आमोद-प्रमोद के साधनों में पहले की भाँति नृत्य, गायन, जुआ, घुड़दौड़ एवं रथ-दौड़ आदि शामिल थे।

नगर एवं गृह

यद्यपि नगर शब्द का प्रयोग उत्तर-वैदिक काल में मिलता है, तथापि हस्तिनापुर एवं कौशाम्बी (इलाहाबाद के निकट) को अपरिष्कृत (आदिम) नगर के रूप में माना जा सकता है जिन्हें आदि-नगरीय स्थान या क्षेत्र माना जाता है। अधिकांशतः मनुष्य कच्ची एवं पक्की ईटों के मकान में निवास करता था परन्तु कुछ घरों का जो कि ठाठ-टट्टर आदि से लीप कर और जिनके छतें लकडी के बड़े-बड़े लट्ठों से बनाई जाती थी, इनका भी उल्लेख मिलता है। घास-फूस से घरों की छत पाटी जाती थी एवं घर के अनेक कक्ष होते थे।

वर्णाश्रम व्यवस्था

(प्राचीन भारतीय विचारकों ने समाज को चार भागों में विभक्त किया और इन्हें वर्ण की संज्ञा दी। एवं मानव-जीवन को भी चार विभागों में बाँट कर आश्रम की संज्ञा दी। वर्णाश्रम- धर्म का निर्देश करने और स्वधर्म के पालन को महत्वपूर्ण बताने का उद्देश्य समाज व व्यक्ति दोनों का जीवन नियोजित करना, समाज व व्यक्ति के बीच का संघर्ष समाप्त कर, सामंजस्य स्थापित करना था। वर्णाश्रम-व्यवस्था को दैवी बताकर उन्होंने इसे सनातन स्वरूप देना चाहा, जिससे इसके महत्व और इसकी गंभीरता को लोग स्वीकार कर सकें।)

पूर्व वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी और आश्रम-व्यवस्था का तो उल्लेख ही नहीं मिलता, यद्यपि जीवन के विभिन्न विभागों के विषय में सूचना मिलती

है। उत्तर-वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था स्पष्ट एवं आश्रम व्यवस्था की प्रारम्भिक अवस्था का पता चलता है। कालांतर में वर्ण-व्यवस्था के कठोर होने पर दोनों में घनिष्ठ संबंध माना गया। ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ, द्विज बालकों के वर्ण के अनुसार अलग-अलग अवस्था में होता था। शूद्र के लिए उपनयन संस्कार वर्जित था, अतः वह ब्रह्मचारी नहीं हो सकता था। शूद्रों को सामान्यतया यज्ञ करने की अनुमति नहीं थी, यद्यपि कहीं-कहीं सब वर्णों द्वारा यज्ञ के उल्लेख हैं।*

सन्यासाश्रम केवल ब्राह्मणों के लिए ही विहित था, अन्य वर्णों के लिए नहीं।** अन्यत्र भी मोक्ष को विप्रों के लिए अनुमित बताकर कहा गया है कि जन्म से कोई विप्र नहीं होता। वही ब्राह्मण विप्र कहलाने के योग्य है जो जितेन्द्रिय, दयावान व क्षमावान हो। मनु ने द्विज को ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की अनुमति दी है।*** शूद्र के लिए तो सन्यास सर्वथा वर्जित था, शेष तीनों आश्रमों का पालन भी शूद्र, राजा की अनुमति लेकर ही कर सकता था। यह अनुमति भी उसे प्रतिबंधित रूप में मिलती थी जबकि उसने तीनों वर्णों की सेवा की हो, जो सन्तान उत्पन्न कर चुका हो और जिसने सदाचार का पालन किया हो।**** यहाँ तीन आश्रम का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है क्योंकि क्या एक शूद्र सन्तानोत्पत्ति के बाद भी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर सकता था? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

किसी आश्रम के आरंभ होने या समाप्त होने की निश्चित अवस्था नहीं थी। अपनी बौद्धिक, नैतिक, मानसिक और शारीरिक सामर्थ्य के अनुसार एक से दूसरे आश्रम में प्रवेश किया जा सकता था। आचार्य भी विभिन्न आश्रमों के धर्मों का पालन करते थे। कई साहित्यिक स्रोतों में आश्रमों का विभाजन आयु के आधार पर दिखाई पड़ता है जैसे कि 5-25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन, 26-50 तक गृहस्थ जीवन का निर्वाह, 51-75 तक वानप्रस्थ एवं 76-100 तक सन्यासी जीवन व्यतीत करना।

आर्थिक जीवन

कृषि और पशुपालन

इस समय कृषि संबंधी ज्ञान और विकसित हो चला था। लोग ऋतुओं के अनुकूल यव, व्रीहि (धान), गोधूम (गेहूँ), तिल आदि अन्न बोते और काटते थे। सीता (=जोते हुये खेत की हराई) कृषि की देवी थी। उपज में वृद्धि के लिए नभस्पति (मेघों के स्वामी) की स्तुति की जाती थी। लोग लोहे के ज्ञान से परिचित हो चुके थे और हल में लोहे की फाल लगाई जाती थी। हल में कभी-कभी छः, आठ, बारह और कभी-कभी चौबीस की संख्या तक में बैलों को जोता जाता था।

पशुओं के बिना किसी घर की कल्पना नहीं की जाती थी। पशु श्री तथा समृद्धि के सूचक माने जाते थे। उन्हें रखने के लिए विशेष रूप से बाड़े बनाए जाते थे। पहचान

---

* सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णय। महा, शांति, 60, 53।

** ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम॥
वही, शांति 62,2

*** मनु, 6,37

**** महा, शांति, 63, 12-3

के लिए पशुओं को चिन्हित किया जाता था। पशुओं में स्वाभाविक रूप से गाय का विशेष महत्त्व थाकृषि कर्म के लिए बैलों का और सामरिक दृष्टि से घोड़ों का पालन किया जाता था एवं माल ढोने के लिए बैल तथा घोड़ों के अतिरिक्त गधे व ऊंट भी पाले जाते थे।

विविध पेशे और औद्योगिक व्यवसाय

इस काल में कई नवीन उद्योग और व्यवसाय अस्तित्व में आए। एक स्थान पर तत्कालीन उद्योगों और व्यवसायों की एक लम्बी सूची मिलती है।* रथकार, कुलाल (कुम्हार), कर्मार (लुहार), मणिकार (आभूषण बनाने वाला), धनुष्कार (धनुष बनाने वाला), हिरण्यकार (सुनार) प्रमुख व्यवसाय थे। इनके अतिरिक्त धोबी, व्याध, गडेरिए, जुलाहे, खटीक और वधिक, नट और गायक, नाई चिकित्सक आदि भी उल्लिखित मिलते हैं। स्त्रियाँ रंगसाजी, टोकरी और चटाई आदि बनाने का काम, कढ़ाई और सिलाई आदि कार्य करती थीं।

लोगों को सोना और चांदी के अतिरिक्त लोहा, तांबा तथा सीसा आदि धातुओं का परिचय था। इनसे विविध वस्तुएँ बनाई जाती थीं।

समाज का वैश्य वर्ग कृषि और पशुपालन के साथ व्यापार तथा वाणिज्य कर्म में लगा हुआ था। वाणिज्य में लगे लोगों के लिए 'वणिक्' शब्द का प्रयोग मिलता है। समृद्ध वैश्यों को 'श्रेठी' कहा जाने लगा था। वैश्यों का एक वर्ग सूद पर कर्ज देने का व्यवसाय करता था। थलीय व्यापार में रथों तथा बैलों द्वारा खींचे जाने वाले शकटों का प्रयोग होता था। नदियों को नाव से पार किया जाता था। संभवतः कुछ व्यापार समुद्र से भी किया जाता रहा होगा। ब्राह्मण-ग्रन्थों 'श्रेष्ठी', 'गण', 'गणपति' शब्दों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि इस युग में व्यावसायिक संगठन का विकास हो चुका था एवं प्रत्येक संगठन अपने हितों की सुरक्षा व कार्यों की देखरेख किया करते थे।

सिक्कों के विषय में जिस प्रकार ऋग्वैदिक काल में 'निष्क' आभूषण एवं तौल के रूप में प्रयुक्त होता था उसी प्रकार उत्तरवैदिक काल में 'शतमान', 'कृष्पल' और 'पाद' का उल्लेख मिलता है।

धर्म और दर्शन

इस काल तक आते-आते वैदिक, धार्मिक तथा दार्शनिक चिन्तन पर्याप्त विकास कर चुका था। यज्ञवाद अपने विकास तथा जटिलता की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञों के सभी पक्षों का विवेचन निहित मिलता है ब्राह्मण ग्रन्थों के इस कर्मकाण्ड के साथ-साथ चिन्तन का दूसरा पक्ष ज्ञानकाण्ड पर विशेष बल देता था। यह पक्ष उपनिषदों में दिखाई पड़ता है।

यज्ञों का विकसित एवं जटिलस्वरूप

ऋग्वैदिक काल में यज्ञों का स्वरूप बड़ा सरल था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अग्नि में आहुति डाल कर देवताओं को प्रसन्न करने की चेष्टा कर सकता था। उत्तर-वैदिक काल में दैनिक यज्ञों के साथ-साथ बड़े-बड़े यज्ञों का संपादन होने लगा था। अब यज्ञ का किया जाना इस विषय में विशेष ज्ञान की अपेक्षा रखता था। यह माना जाता था कि यज्ञों के संपादन में किसी प्रकार का दोष नहीं रहना चाहिए और मंत्रों का उच्चारण सर्वथा शुद्ध होना चाहिए। इनसे पुरोहित वर्ग का विशेष महत्त्व स्थापित हुआ। इन्हें उस कार्य में दक्ष

* वाजसनेयी संहिता

माना जाता था और यज्ञ करने में इनकी सहायता आवश्यक थी। यज्ञ का अनुष्ठान अब देवताओं से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया था।

यज्ञ के दो उद्देश्य थे– इस जीवन में भौतिक इच्छाओं की पूर्ति और मृत्यु के बाद स्वर्ग की प्राप्ति। यज्ञ कई प्रकार के होते थे। अश्वमेघ, राजसूय और वाजपेय राजनीतिक महत्त्व के यज्ञ थे। पुत्र की प्राप्ति के लिये 'पुत्रेष्टि' यज्ञ और दुर्भिक्ष के समय वर्षा हेतु 'कारिरीष्ट', नामक यज्ञ किया जाता था। इनके अतिरिक्त जनसामान्य द्वारा प्रतिदिन किए जाने वाले यज्ञ थे। 'अग्निहोत्र' इसी प्रकार का यज्ञ था जिसे प्रत्येक ब्राह्मण रोज करता था।

विष्णु और रुद्र-शिव का बढ़ा हुआ महत्त्व

ऋग्वेद में विष्णु और रुद्र उल्लिखित हैं किन्तु उत्तर-वैदिक काल में इनका महत्त्व पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गया था। इनके सम्बन्ध में कई पुराणकथाएँ बन चुकी थीं, जिनका बाद के विकसित वैष्णव और शैव धर्म पर काफी प्रभाव पड़ा। विष्णु के साथ अवतार की कल्पना का जन्म हो चुका था। इस काल में रुद्र-शिव से सम्बन्धित संप्रदाय बड़ा लोकप्रिय दिखाई पड़ता है। इस देवता का शिव नाम पहली बार इस काल में मिलता है। ऐसा लगता है कि सैन्धवजनों द्वारा पूजित पुरुष देवता (जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है और जिसे मार्शल ने 'पशुपति शिव' कहा है) तथा आर्यजनों द्वारा पूजित रुद्र इस काल तक आते-आते आपस में सर्वथा एकाकार हो गये। रुद्र-शिव के उपासकों का दायरा बहुत विस्तृत था जिसमें समाज के कई जन समुदाय तथा कई नीची एवं असभ्य समझी जाने वाली जनजातियाँ भी सम्मिलित थीं। इनके साथ ही ब्रह्मा, पार्वती, दुर्गा, भैरव, गणेश आदि देवताओं की प्रधानता बढ़ गई। इनके अतिरिक्त पंचमहायज्ञ एवं तीन ऋणों का भी उल्लेख जिनके कल्पना के मूल में भी समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व और कर्त्तव्य है।

लोक धर्म

तत्कालीन धर्म का लोकपक्ष अथर्ववेद में उजागर होता है। इसमें विविध भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये जादू-टोना, वशीकरण तथा मारण-अतिचार आदि विधानों का उल्लेख है। लोग कई अमानवीय तथा आसुरी सत्ताओं में विश्वास करते थे–यथा राक्षस, पिशाच, गंधर्व, अप्सराएँ आदि। पुरोहित मंत्रों की जादुई शक्ति से सम्पन्न जादूगर की तरह था। कुछ जादू रक्षात्मक हैं जिनका प्रयोजन बुरी शक्तियों को बहला-फुसला कर अपने से दूर करना है। पर कुछ विद्वेष भावना से प्रेरित हैं जिनका लक्ष्य अपने शत्रुओं को हानि पहुँचाना है।

लोग स्वर्ग और नरक में विश्वास करते थे। यह विश्वास किया जाता था कि स्वर्ग सभी प्रकार के सुखों का स्थान है जबकि नरकलोक घोर अन्धकारमय है जहाँ लोगों को तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती हैं।

उपनिषदों का एकसत्तावाद

उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन हुआ है। इसमें दार्शनिक चिन्तन परम सत्य की खोज में प्रवृत्त मिलता है। ऋग्वेद में ही 'उसएक' (तदेकम्) की चर्चा हुई है और यह कहा गया है कि 'सत्' एक ही है लोग उसे अलग-अलग नामों से कहते हैं।* उपनिषदों में इस एकसत्तावाद का चरम विकास मिलता है। उपनिषदों के अनुसार परमसत्ता एक ही

* एक सद् विप्राः बहुधा वदन्ति .... ।

है और अन्य सभी कुछ उसी से उद्भूत हुआ है। उपनिषदों में इस परमसत्ता को 'ब्रह्म' तथा 'आत्मा' कहा गया।* जब हम इस मूलसत्ता का आत्मनिष्ठ दृष्टि से विचार करते हैं, अर्थात् मैं क्या हूँ? मेरी शक्ति का आधार क्या है? मेरा अस्तित्व कहाँ से हुआ? आदि प्रश्नों पर विचार करने पर इस मूलसत्ता को आत्मा कहते हैं। इसी प्रकार अपने चतुर्दिक वस्तुओं और प्राणियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर अन्ततः जो सत्ता मिलती है उसे उपनिषद् के ऋषियों ने ब्रह्म नाम दिया। संसार में दिखाई पड़ने वाली विविधता के पीछे यही मूलसत्ता विद्यमान है। जिस प्रकार मिट्टी से बने चूहे और मिट्टी से बने हाथी को यदि पानी में डाल दें तो गल जाने पर दोनों ही दृष्टान्तों में केवल मिट्टी ही शेष बचती है और इस प्रकार दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार संसारिक भेद केवल सतह पर हैं। मनुष्य इस सतही भेद के कारण परस्पर लड़ते हैं क्योंकि उन्हें अपने हितों और दूसरों के हितों में विरोध दिखाई पड़ता है।

ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दो पक्ष हैं। सगुण रूप में उसे ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर जगत् की सृष्टि, पोषण और विनाश का मूल है। वह सभी प्रणियों का प्रभु और सबमें विद्यमान है। निर्गुण रूप में उसका केवल अनुभव किया जा सकता है; उसके विषय में कुछ कह सकना संभव नहीं। इस रूप में वह अनिर्वचनीय और सब कुछ से ऊपर है।

शिक्षा

धार्मिक सूत्रों के आदर्श के आधार पर, ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी जिसे 'अन्तेवासी' भी कहा जाता था गुरु के आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करता था। विद्यार्थी का प्रथम कर्तव्य गुरु का आदर करना, प्रत्येक नियम का पालन और गुरु की प्रत्येक कार्य में सहायता करना होता था।

उत्तर-वैदिक काल के पाठ्यक्रम में वैदिक ग्रन्थों का विशेष महत्त्व था। मंत्रों को कंठस्थ करने हेतु एक ही मंत्र का उच्चारण कई बार किया जाता था और आचार्य विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया करते थे जैसेकि– शब्दों को जोड़कर, बाद में तोड़कर या अलग करके (पदपाठ) और एक शब्द को दूसरे शब्द में गूथ कर अर्थात् क ख, ख ग, ग घ शैली (कर्मपाठ) आदि

शिष्यों का संपूर्ण ध्यान वेदज्ञान पर ही केन्द्रित न होकर, अन्य विज्ञान जैसे कि कला, शिक्षा, छन्द, निरुक्त, व्याकरण और ज्योतिष भी हुआ करता था जिन्हें 'वेदाङ्ग' भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त नक्षत्र ज्ञान, गणित व साहित्य की जानकारी भी विद्यार्थियों को दी जाती थी। समय-समय पर विभिन्न शाखाओं के छात्रों में वाद-विवाद अथवा शास्त्रार्थ आयोजित किया जाता था व विजयी विद्वान् को पुरस्कृत कर प्रोत्साहित किया जाता था।

वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति का महत्त्व तथा परिवर्ती भारतीय सभ्यता पर इसका प्रभाव

कई रूपों में वैदिक सभ्यता को समग्र भारतीय सभ्यता का स्रोत कहा जा सकता है। इस काल के विचार, विश्वास तथा संस्थाएं किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण बनी रहीं और भारतीयों को प्रभावित करती रहीं। (आज के हिन्दू धर्म का मूल वैदिक कालीन धर्म है।) आज के हिन्दू धर्म के सभी प्रमुख देवता वैदिक साहित्य में वर्णित देवताओं से

* 'आत्मा' और 'ब्रह्म' में कोई अन्तर नहीं है–'आत्मा वै ब्रह्म'

विकसित हुए हैं। हिन्दू परिवारों में विशेष धार्मिक तथा सामाजिक अवसरों पर आज भी किसी न किसी रूप में यज्ञ किए जाते हैं जिसमें अग्नि में आहुति डाली जाती है। वैदिक आर्य कई देवताओं की पूजा करते थे पर वे उन्हें अलग-अलग और परस्पर विरोधी देवता नहीं मानते थे। उनका विचार था कि देवता तो एक ही है जिसके कई नाम और कई रूप हो सकते हैं। इस भावना में धार्मिक सहिष्णुता का मूलमंत्र छिपा है जो कि भारतीय सभ्यता की एक प्रमुख विशेषता है।

सामाजिक क्षेत्र में, वैदिक काल में समाज के चार वर्णों में विभाजित होने की अवधारणा थी। इसे वर्णव्यवस्था कहते हैं जो बाद में जाति व्यवस्था में रूपान्तरित हो गई। जातिव्यवस्था सदा ही भारतीय समाज का एक विशेष तत्व रही और आज भी यहाँ विद्यमान है। जो भी विदेशी यात्री यहाँ आया, उसका ध्यान सबसे पहले इस व्यवस्था की ओर गया। जातिव्यवस्था ने जहाँ भारतीय समाज को स्थिरता दी, वहीं इसने ऊंच-नीच की भावना के कारण सामाजिक एकता में बाधा भी खड़ी की। आज भी देश में यह सभ्यता दिखाई पड़ती है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जहाँ व्यवहार में जाति व्यवस्था प्रभाव में रही उदारवादी भारतीय विचारकों ने सदैव वर्णव्यवस्था के आदर्श पर बल दिया। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व में बुद्ध और महावीर ने इस बात पर बल दिया कि कोई जन्म से 'ब्रह्मण' या 'शूद्र' नहीं बनता, उसके कर्म उसे ब्राह्मण या शूद्र बनाते हैं। मध्यकाल में भक्त सन्तों ने तथा आधुनिक काल में दयानन्द, महात्मा गाँधी जैसे सुधारकों ने यही बात दुहराई है।

इसी प्रकार वैदिक काल की चक्रवर्ती सम्राट की अवधारणा ने सदैव यहां के राजाओं को प्रेरित किया। भारत को दर्शनों का भण्डार कहा जाता है। बाद के भारतीय दर्शनों का मूल वैदिक साहित्य में देखा जा सकता है विशेष रूप से उपनिषदों में। शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य सभी अपने विचारों को उपनिषदों से उत्पन्न हुआ बताते हैं। हिन्दुओं की पवित्र पुस्तक गीता को उपनिषदों का सार कहा गया है। आधुनिक काल में राजा राममोहन राय, विवेकानन्द, गाँधी आदि भारतीय विचारकों ने उपनिषदों से प्रेरणा ग्रहण की और भारतीयों को इसके महत्त्व से अवगत कराया। ईश उपनिषद् के पहले श्लोक में कहा गया है कि सभी कुछ ईश्वरमय है, और हमें चाहिए कि हम त्याग की भावना रखते हुए संसार की वस्तुओं का भोग करें तथा किसी और के धन में लोभ न रखें। महात्मा गाँधी ने कहा है कि यदि भारतीय सब कुछ भूल जायें और केवल यह श्लोक याद रखें तो भारतीय संस्कृति सदैव जीवित रहेगी। इस प्रकार हम आज के युग तक उपनिषदों के विचारों को भारतीयों के प्रेरणा स्रोत के रूप में पाते हैं।

5

महाकाव्यों में वर्णित समाज एवं संस्कृति

यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि प्रत्येक भारतीय रामायण तथा महाभारत के कथानक तथा पात्रों से परिचित होगा। इन्हें महाकाव्यों के नाम से जाना जाता है। इन दोनों ग्रन्थों का भारतीय जनमानस पर बड़ा गहरा प्रभाव रहा है और इन्हें प्राचीन भारतीयों की धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि का प्रतिमान कहा जा सकता है। जैसा कि मैक्डॉनेल नाम विद्वान् ने कहा है 'विश्व साहित्य के किसी अन्य लोकपरक ग्रन्थ ने किसी समाज के जीवन तथा चिन्तन को इतना अधिक प्रभावित नहीं किया जितना कि रामायण ने।'

महाकाव्यों का उद्भव

महाकाव्यों का मूल वैदिक साहित्य में ढूंढा जाता है। वैदिक साहित्य में गाथा-नाराशंसी, आख्यान, इतिहास तथा पुराण नाम से कुछ साहित्यिक विधाओं का उल्लेख मिलता है। गाथा-नाराशंसी जननायकों की प्रशंसा में रचे गए गेय (गाए जाने योग्य) पद थे। इतिहास और पुराण में प्राचीन जननायकों एवं उनके कार्यों का विवरण सुरक्षित करने का प्रयास किया जाता था। आख्यानों में भी इसी प्रकार का विवरण होता था। विशेष उत्सवों पर पेशेवर गायक, जिन्हें सूत कहा जाता था, इनका गायन करते थे और लोगों को सुनाते थे। प्रारम्भ में इनका स्वरूप सरल तथा आकार छोटा था। धीरे-धीरे इनका आकार बढ़ता गया और मूल कथानक में छोटे-छोटे विविध कथानक जुड़ते गए। रामायण और महाभारत को इसी विकासमान प्रक्रिया का अन्तिम रूप कहा जा सकता है। जहां अपने धार्मिक स्वरूप के कारण वैदिक साहित्य ब्राह्मण पुरोहितों के वर्ग तक सीमित रहा, अपने लौकिक स्वरूप के कारण रामायण और महाभारत जनसामान्य से सम्बन्धित हुए।

यह उल्लेखनीय है कि भारतीय परम्परा इन दोनों ही ग्रन्थों को इतिहास के अन्तर्गत रखती है। इस प्रकार, भारतीय दृष्टि में ये काल्पनिक कथाएँ न होकर अपने मूल रूप में ऐतिहासिक वृत्त हैं। इनमें प्राचीन जननायकों, वीरपुरुषों तथा वीरांगनाओं के कार्यों, पारस्परिक युद्धों तथा व्यावहारिक जीवन दर्शन का विवेचन मिलता है। सूत लोग इन्हें लोगों को गा-गा कर सुनाते थे। अलग-अलग श्रोताओं को सुनाते हुए सूत लोग इसमें नवीन सामग्री भी जोड़ते रहते थे। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते इन ग्रन्थों को अपना वर्तमान आकार प्राप्त हुआ।

रामायण और महाभारत का काल

भारतीय परम्परा के अनुसार रामायण के रचयिता वाल्मीकि तथा महाभारत के रचयिता द्वैपायन व्यास थे। अपने वर्तमान रूप में रामायण में 24000 श्लोक हैं और यह सात काण्डों में विभक्त है। महाभारत में लगभग एक लाख श्लोक हैं। इसी कारण यह 'शतसाहस्री संहिता' कहलाता है। यह अठारह खण्डों में बँटा हुआ है जिन्हें 'पर्व' नाम

से जाना जाता है।

आधुनिक विद्वान् रामायण और महाभारत को किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते। इसका कारण यह है कि इन दोनों ही ग्रन्थों में अलग-अलग भागों में वस्तुसामग्री, भाषा तथा शैली इत्यादि में एकरूपता नहीं मिलती। ऐतिहासिक समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें समय-समय पर नवीन सामग्रियों का समावेश होता रहा और इस प्रकार कथानक का आकार निरन्तर बढ़ता रहा।

रामायण के सम्बन्ध में विद्वानों का सामान्य रूप से यह विचार है कि काण्ड 2 से लेकर काण्ड 6 तक का भाग मूल अंश है, प्रथम और सप्तम् काण्ड इसमें बाद में जोड़े गए। कुछ विद्वानों का कहना है कि इन दो काण्डों में भी कुछ अंशों को मौलिक मानना चाहिए। ग्रन्थ के मौलिक भागों में राम को पुरुषोत्तम माना गया है, अर्थात् उनकी चर्चा एक जननायक के रूप में हुई है। किन्तु बाद के भागों में उनका दैवीकरण मिलता है और उन्हें विष्णु का अवतार माना गया है। जननायक राम के देवता में रूपान्तरित होने में काफी लम्बा समय लगा होगा। इस प्रकार अपने वर्तमान रूप में आने में रामायण को कई शताब्दियों का समय लगा होगा। रामायण के मूल भाग का समय क्या माना जाय? महाभारत के तीसरे पर्व में 'रामोपाख्यान' में राम की कथा दी गई है जिससे यह स्पष्ट होता है कि महाभारत के संहिता रूप प्राप्त होने के पूर्व रामायण की रचना संपन्न हो चुकी थी और लोग इस कथा से भली भांति परिचित हो चुके थे। बौद्ध 'दशरथ जातक' में राम की कथा का कुछ अंश मिलता हैं। इस प्रसंग में रामायण की आन्तरिक सामग्री से भी सहायता मिलती है। रामायण में पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता। पाटलिपुत्र की स्थापना अजातशत्रु के पुत्र उदायी ने की थी। बौद्ध तथा बाद के ग्रन्थों में अयोध्या का नाम साकेत हो गया था; बौद्ध ग्रन्थों में कोशल की राजधानी श्रावस्ती है पर रामायण में कोशल की राजधानी अयोध्या है। रामायण में बुद्ध का उल्लेख केवल एक बार हुआ है और इस श्लोक विशेष को भी बाद का जोड़ा गया माना जाता है। इन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रामायण का मूल भाग इससे पहले रचा जा चुका था। मैक्डॉनिल के अनुसार, रामायण का मूल भाग 500 ई. पू. के पहले का मानना चाहिए जबकि बाद के अंश दूसरी शताब्दी ई. पू. के लगभग अथवा उसके बाद रचे गए होंगे।

महाभारत को भी अपना वर्तमान रूप एक लम्बी विकास प्रक्रिया के पश्चात् प्राप्त हुआ। महाभारत से ही ज्ञात होता है कि अपने प्रारम्भिक रूप में इसका नाम 'जय' था और इसका कथानक कौरवों के ऊपर पाण्डवों की विजय-चर्चा से सम्बद्ध था। इस समय इसमें 8000 या 10000 श्लोक रहे होंगे। बाद में यह 'भारत' कहलाया। इस अवस्था में श्लोकों की संख्या 24000 हो गई। तत्पश्चात् अपने विकास की तीसरी अवस्था में इसका आकार बढ़ कर एक लाख श्लोकों का हो गया और इस महान् आकार के कारण यह 'महाभारत' कहलाया। गुप्त काल के (500 ईसवी) एक लेख में इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहा गया है अर्थात् इस समय तक इसे अपना वर्तमान रूप प्राप्त हो चुका था। इसका सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन के गृह्यसूत्र में मिलता है। महाभारत के रचना काल के सम्बन्ध में विन्टरगित्ज का मत विचारणीय है। उनके अनुसार इसकी रचना की कोई एक तिथि नहीं है; इसकी रचना 400 ई. पू. से 400 ईसवी काल में हुई। चौथी शताब्दी ईसवी तक यह अपना वर्तमान रूप प्राप्त कर चुका था और 'शतसाहस्री संहिता' नाम से जाना जाने लगा था।

रामायण और महाभारत की ऐतिहासिकता

भारतीय परम्परा में रामायण और महाभारत को इतिहास माना गया है पर कुछ आधुनिक विद्वानों ने इनके ऐतिहासिक होने पर सन्देह व्यक्त किया है।

लैसेन और वेबर ने रामायण के विषय में यह विचार व्यक्त किया कि रामायण अनार्य दक्षिण भारतीय संस्कृति के ऊपर आर्य संस्कृति के विजय का अलंकारपूर्ण वर्णन है। जर्मन विद्वान् याकोबी ने भी यह विचार रखा कि रामायण में भारतीय धार्मिक विश्वास को एक काल्पनिक कथानक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार, सीता हराई (हल जोतने से बना चिन्ह) की देवी हैं और राम तथा रावण का युद्ध ऋग्वेद में उल्लिखित इन्द्र और वृत्र के युद्ध का निरूपण-मात्र है किन्तु कामिल बुल्के तथा एडी. पुसालकुर विद्वानों की रामायण की ऐतिहासिकता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। कथा के चमत्कारपूर्ण तथा काल्पनिक प्रसंगों को हटाकर देखा जाय तो इसकी ऐतिहासिकता में कुछ भी सन्देहास्पद नहीं दिखाई पड़ता। राम कोशल में अयोध्या के ईक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राजा रहे होंगे जिनके कृत्यों और शासनकाल का लोगों के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा होगा। 'दशरथ जातक' में भी उनके मनुष्य रूप का वर्णन है।

वर्तमान रूप में महाभारत की बहुत सी बातें निश्चित रूप से अनैतिहासिक हैं। दोनों पक्षों की ओर से दूर-दूर के प्रदेशों के राजाओं के युद्ध करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रसंग में ऐसी जातियों का उल्लेख हुआ है जो सभी समसामयिक नहीं हैं। फिर यह विश्वास करना भी कठिन है कि एक पारिवारिक कलह में दूरस्थ प्रदेशों के लोगों ने इतनी व्यापक रुचि ली होगी। तथापि, इसकी मूल कथा ऐतिहासिक जान पड़ती है। महाभारत के इन्द्रप्रस्थ की स्मृति आज भी दिल्ली के निकट यमुना के तट पर बसे इन्दरपत नामक गांव में सुरक्षित दिखाई पड़ती है। शतपथ ब्राह्मण में महाभारत के एक पात्र जनमेजय का उल्लेख है और उसे कुछ ही समय पहले का बताया गया है। महाभारत के युद्ध की परम्परागत तिथि 3102 ई. पू. है पर ऐतिहासिक समीक्षा के आधार पर विद्वान् इसकी तिथि 1400 ई. पू. अथवा 1000 ई. पू. में रखते हैं।

रामायण की संक्षिप्त कथा

अयोध्या में दशरथ राजा थे। कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा इनकी तीन रानियां थीं। राम कौशल्या से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र थे। जब दशरथ ने राम को युवराज बनाना चाहा उसी समय कैकेयी ने षड्यंत्र किया। दशरथ ने कैकेयी को दो वर दे रखे थे। इस समय भरत अपने ननिहाल में थे। कैकेयी ने एक वर से राम के लिए 14 वर्ष का वनवास और दूसरे वर से अपने पुत्र भरत के लिए युवराज पद मांगा। पिता का वचन भंग न हो इसलिए राम ने वन जाना स्वीकार किया। उनकी पत्नी सीता और भाई सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण ने उनका अनुगमन किया। राम के वियोग में दशरथ की मृत्यु हो गई। ननिहाल से लौटने पर सब वृत्तान्त जानकर भरत कष्टित हुए। वे वन राम को मनाने गए पर राम ने उन्हें समझा-बुझा कर लौटा दिया। कालान्तर में वन में लंका के राजा रावण ने सीता का अपहरण कर लिया। सीता को खोजते हुए राम और लक्ष्मण की सुग्रीव से भेंट हुई। बाली को मार कर राम ने सुग्रीव को किष्किंधा का राजा बनाया। फिर सुग्रीव की सेना की सहायता से उन्होंने समुद्र पार कर रावण से युद्ध किया जिसमें रावण अपने पुत्रों और अन्य संबंधियों के साथ मारा गया। राम सीता को साथ लेकर अयोध्या लौटे। उन्होंने एक आदर्श राजा के रूप में शासन किया। बाद में जनापवाद के कारण उन्होंने सीता को त्याग दिया। इसी अवधि में सीता के कुश और लव दो पुत्र हुए। राम ने अश्वमेध यज्ञ

किया जिस अवसर पर वे अपने पुत्रों से मिले। उन्होंने कुश का राज्याभिषेक किया; कुश ने कुशस्थली को और लव ने श्रावस्ती को अपनी राजधानी बनाई। लक्ष्मण की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। राम ने भरत, शत्रुघ्न तथा अयोध्या के निवासियों के साथ स्वर्ग को प्रस्थान किया।

महाभारत का मूल कथानक

कुरु वंश में विचित्रवीर्य नाम का राजा हुआ। धृतराष्ट्र और पाण्डु उसके दो पुत्र थे। धृतराष्ट्र अन्धे थे और पाण्डु भी एक दुस्साध्य रोग से ग्रस्त थे। अपनी दो पत्नियाँ माद्री और कुन्ती को लेकर पाण्डु जंगल में चले गए। वहां उनकी मृत्यु होने पर माद्री पति के साथ चिता में जल मरी और कुन्ती अपने पांच पुत्रों को लेकर वापस आ गई। ये पाँच पुत्र थे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे जिनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव और पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाए। कौरव पाण्डवों से जलते थे और उन्होंने पाण्डवों को हर तरह से सताना प्रारम्भ किया। तथापि धृतराष्ट्र पाण्डवों के अधिकार के दावे को सर्वथा ठुकरा नहीं सके और कौरवों के साथ उनकी शिक्षा-दीक्षा का भी प्रबन्ध हुआ। पाण्डव सभी दृष्टि से कौरवों से श्रेष्ठ थे जिससे कौरवों की ईर्ष्या बढ़ती रही। इसी बीच पाँचाल की राजकुमारी द्रौपदी का स्वयंवर हुआ और वह पाण्डवों की पत्नी बनी। अपने मामा शकुनि की सहायता से दुर्योधन ने युधिष्ठिर को जुए के खेल में हराया और पाण्डवों को 12 वर्ष के लिए जाना पड़ा। इसके बाद एक वर्ष उन्हें अज्ञातवास में बिताना था। इस समय दुःशासन ने द्रौपदी का भी अपमान किया। यह अवधि बिता कर पाण्डव वापस लौटे और उन्होंने अपना हिस्सा मांगा। दुर्योधन द्वारा यह मांग ठुकरा दिया जाने पर महाभारत का युद्ध हुआ। यह युद्ध 18 दिनों तक चला और दोनों पक्ष के बहुत से योद्धा मारे गए। युद्ध में सारे कौरवों की मृत्यु हुई। युधिष्ठिर को अन्ततः विजय मिली और वे राजा बने। मूल रूप में महाभारत का यही कथानक रहा होगा। जिसमें धीरे-धीरे और बहुत से कथानक जुड़ते गए और यह ग्रन्थ वृहदाकार बन गया।

रामायण और महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व

रामायण और महाभारत की गणना हिन्दुओं के अत्यन्त पवित्र ग्रन्थों में होती है। भारतीय धर्म की भक्ति धारा में राम और कृष्ण आराध्य देवों के रूप में पूजित हुए। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाता है; कृष्ण को तो स्वयं नारायण या विष्णु कहा गया है। महाभारत के अन्तर्गत विद्यमान भगवद्गीता हिन्दुओं का एक अत्यन्त पवित्र धर्म ग्रन्थ है। यह कृष्ण और अर्जुन के संवाद के रूप में हैं और ज्ञान, कर्म तथा भक्ति को संप्रकाशित तथा समन्वित करने वाला अनुपम ग्रन्थ है।

महाकाव्यों को पाँचवां वेद कहा गया है। इनका प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। इन दोनों ग्रन्थों में अगणित हिन्दुओं के धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों की अभिव्यक्ति मिलती है। इनके प्रमुख पात्र आदर्श व्यक्तियों के रूप में जाने जाते हैं। राम की पितृभक्ति, लक्ष्मण की भातृ सेवा, सीता की पतिभक्ति, भीम और अर्जुन का शारीरिक बल, युधिष्ठिर की सत्यप्रियता, कर्ण की दानवीरता, हनुमान का भक्तिभाव भारतीयों के लिए सदैव प्रेरणा के स्रोत रहे हैं और इन पात्रों के विविध गुणों का बाद के साहित्य तथा अभिलेखों में प्रायः सम्मानपूर्ण उल्लेख हुआ है। कालीदास और भारवि जैसे कवियों ने अपने ग्रन्थों के कथानक यहां से लिए। दक्षिण में तमिल कवि कम्बन ने 'रामायणम्' अथवा 'रामावतारम्' नामक ग्रन्थ में राम की कथा कही। कन्नड

भाषा में 1100 ईसवी में नागचन्द अथवा अभिनव पम्प ने रामचन्द्रचरित पुराण लिखा, जिसे पम्प रामायन नाम से भी जाना जाता है। सोलहवीं शताब्दी में कण्णश्श पनिक्कर नामक कवि ने वाल्मीकि रामायण को आधार बना कर मलयालम में कण्णश्श रामायण का सृजन किया। मराठी में पहला रामायण एकनाथ (जन्म 1548) ने लिखा जिसका शीर्षक भावार्थ रामायन हैं। बंगाली में रामायण का सबसे लोकप्रिय रूपान्तर 15वीं शताब्दी में कृत्तिवास द्वारा रचित रामायण है। 18 वीं शताब्दी में दिवाकर प्रकाश भट्ट ने कश्मीरी रामायण की रचना की। आसामी, गुजराती आदि अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में भी इस ग्रन्थ का रूपान्तरण मिलता है। उत्तर में तुलसीदास नामक भक्त कवि ने हिन्दी में 'रामचरितमानस' लिखकर इस कथा को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया। आज भी अधिकांश हिन्दू घरों में इसका पाठ होता है।

इन महाकाव्यों का प्रभाव भारतीय कला पर भी देखा जा सकता है। झांसी में देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकालीन दशावतार मन्दिर की पट्टियों पर रामायण की कथा दर्शायी गई है। चालुक्य काल के पट्टदकल मन्दिर पर भी रामायण की कथा के कई दृश्य अंकित हैं। एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर में अंकित रावण द्वारा कैलाश पर्वत हिलाने का दृश्य रामायण के उत्तर काण्ड से लिया गया है। इसी प्रकार महाभारत के कई दृश्य गुप्त मन्दिरों तथा महाबलीपुरम के शैल-मन्दिर पर अंकित हुए हैं।

रामायण और महाभारत भारतीय आदर्शों और आकांक्षाओं का निरूपण करते हैं। आदर्श सामाजिक जीवन किस प्रकार का हो और हमारे सामाजिक सम्बन्ध कैसे स्वस्थ और सुन्दर हो सकते हैं, इसकी कुंजी भारतीय इन ग्रन्थों में ही ढूंढते आये हैं। आज भी रामलीला, भरतलीला और नाटकों और नृत्यों में इन ग्रन्थों के कथानकों के प्रदर्शन भारतीयों को आकर्षित करते हैं। रामायण और महाभारत इस प्रकार सच्चे अर्थ में भारत का इतिहास प्रस्तुत करते हैं— राजनीतिक घटनाओं के विवरण के रूप में नहीं अपितु भारतीय सांस्कृति और इसके आदर्शों के निरूपण के रूप में।

महाकाव्यों में समाज एवं संस्कृति का स्वरूप

रामायण और महाभारत में समाज का जो चित्र मिलता है उसमें अधिक भेद नहीं है। अतः दोनों ही ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री को साथ-साथ रख कर देखा जा सकता है।

राजनीतिक जीवन

राजा राज्य का सर्वोच्च व्यक्ति था। राजा का पद वंशानुगत था और सामान्य रूप से पिता के बाद ज्येष्ठ पुत्र राजा बनता था। राजा अपने सभासदों तथा सेना के साथ राजधानी में रहता था। सुरक्षा के लिए राजधानी के चारों ओर प्राचीरें बनी होती थीं जिनमें ऊंचे द्वार तथा बुर्ज बने होते थे। प्राचीर के चारों ओर जल से खाई होती थी। राजा अब पर्याप्त ऐश्वर्य से रहने लगा था उसका प्रासाद सभी प्रकार के तड़क-भड़क तथा सुविधाओं से संपन्न होता था जिसमें उसकी परिचर्या के लिए नर्तकियां और स्त्रियां होती थीं। द्यूतक्रीड़ा, पशुयुद्ध और मल्लयुद्ध के प्रदर्शन उसका मनोरंजन करते थे। आखेट मनोरंजन का एक अन्य साधन था।

प्रजा को सभी प्रकार से खुशहाल रखना और सभी प्रकार की आपदाओं से उसकी रक्षा करना राजा का प्रमुख कत्तव्य माना जाता था। रामायण और महाभारत दोनों में राजा के इस आदर्श रूप की चर्चा हुई है। यह विश्वास किया जाता था कि राजा के सच्चरित्र तथा धार्मिक होने पर प्रजा सुखी रहती है, दैवी आपदाएँ भी राजा में कमी होने पर आती हैं। यह विश्वास राजा के ऊपर एक नैतिक बन्धन का काम करता था। वैसे भी राजा

सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं था और अपने सभासदों, सम्बन्धियों और प्रजा की सलाह को मानता था। राम को युवराज बनाने की घोषणा दशरथ ने एकत्रित विशाल जनसमूह में की थी और उपस्थित जनों को बिना किसी झिझक के अपनी सलाह देने को कहा था। महाभारत में भी धृतराष्ट्र को जंगल जाने के लिए प्रजा का अनुमोदन मांगते हुये दिखाया गया है। यहाँ तक कि रावण जैसे दुष्ट राजा की सभा में भी अपने मत को विना डर के रखा जा सकता था। विभीषण और कुम्भकर्ण दोनों ने सीता के प्रति उसके आचरण की भर्त्सना की थी। कुल, जाति, श्रेणी, पूग आदि सामाजिक इकाइयों के अपने नियम और आधार थे जिनका सामान्यतः राजा आदर करता था। महाभारत में एक स्थान पर कहा गया है कि दुष्ट राजा को सिंहासनच्युत कर देना चाहिए अथवा पागल कुत्ते की भाँति मार देना चाहिए। वस्तुतः राजा और प्रजा के बीच सम्बन्ध की अवधारणा पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित थी। राजा उनकी खुशहाली और रक्षा के लिए उद्यम करता था और बदले में वह प्रजा से कर प्राप्त करता था। अपने कर्त्तव्य को समझाने के लिए राजा से वेदों और शास्त्रों के अध्ययन की अपेक्षा की जाती थी। आत्म-नियन्त्रण उसका एक अन्य गुण माना जाता था।

राजा की सहायता के लिए मन्त्रि-परिषद् होती थी। नीति को जानना, आचारवान होना, सत्यप्रियता तथा ईमानदारी मन्त्रियों अथवा अमात्यों के लिए अपेक्षित गुण थे। इनके अतिरिक्त कई अन्य अधिकारियों की चर्चा मिलती है—यथा प्रदेष्टा अथवा न्यायाधीश, धर्माध्यक्ष (यह भी न्याय का अधिकारी था), दण्डपाल अथवा पुलिस अधिकारी, नगराध्यक्ष आदि। गांव का मुखिया ग्रामीण कहलाता था। अलग-अलग संख्या में गांवों को समूहित कर अन्य कई प्रशासकीय इकाइयाँ बनाई गई थीं। दस गांवों के ऊपर नियुक्त अधिकारी दशग्रामिक; बीस गांवों के ऊपर नियुक्त अधिकारी 'विंशतिय', सौं गांवों के ऊपर 'शतग्रामिक' तथा हजार गांवों के ऊपर 'अधिपति' कहलाता था।

राज्य की सेना को नेतृत्व प्रदान करने के लिए सेनापति होता था। सेना कई इकाइयों में बंटी हुई होती थी जिनमें रथ, हाथी और पैदल प्रमुख थे। सैनिक सफलता के लिए गुप्तचरों का उपयोग किया जाता था। व्यूह-रचना अथवा युद्धस्थल पर अवसर के अनुरूप सेना को विशेष प्रकार से सजाने का ज्ञान था। रथों पर ध्वज लगे होते थे और इन पर योद्धा के अतिरिक्त सारथि अथवा रथ हांकने वाला बैठता था। युद्ध में काम आने वाले यंत्रों का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार के एक यंत्र 'शतघ्नी' (सौ को मारने वाला) का उल्लेख महाभारत में मिलता है। क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्रह्मण भी शस्त्रविद्या में निष्णात होते थे और सेनापति बनते थे। महाभारत में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और अश्वथामा ब्राह्मण योद्धा थे। शस्त्र-विद्या में अद्वितीय परशुराम भी ब्राह्मण योद्धा थे। वैश्य और शूद्र वीरों का भी उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट है कि सेना में समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग होते थे।

ऊपर विवेचित राजतन्त्रात्मक राज्यों के अतिरिक्त महाभारत में गणराज्य का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार के राज्य में सामान्य जनों की भावनाओं को अधिक आदर प्राप्त था। यद्यपि प्रशासन की बागडोर कुछ अभिजात कुलों के ही हाथ में होती थी। कभी-कभी ये गण मिलकर एक संघ भी बना लेते थे। महाभारत के शान्ति पर्व में अन्धक-वृष्णि संघ का उल्लेख मिलता है जिसके नेता कृष्ण थे।

समाज और सामाजिक जीवन

इस समय तक समाज में वर्ण-व्यवस्था की जड़ें जम चुकी थीं। सामान्य रूप से

वर्ण का निर्धारण व्यक्ति के जन्म के आधार पर होता था पर सिद्धान्त में यह भी स्वीकार किया जाता था कि गुण और कर्म ही वर्ण-निर्धारण के आधार हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि मैंने चारों वर्णों को गुण और कर्म के आधार पर बनाया है। चारों वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रिय की विशिष्ट स्थिति थी और शूद्र का कर्त्तव्य केवल द्विजों की सेवा करना माना जाता था। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यापार का कार्य वैश्य के अधिकार क्षेत्र में आता था। वणिकों और शिल्पियों ने स्वयं को श्रेणियों में संगठित कर रखा था। समाज में इन श्रेणियों का विशेष स्थान था और राजा इनके मुखियों को आदर देता था।

इस समय में स्त्रियों की दशा उतनी अच्छी नहीं रह गई थी, जितनी वैदिक काल में थी। तथापि, कैकेयी, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी जैसी प्रभावशालिनी स्त्रियां थीं जो राजकीय विचारों और नीतियों तक को नियन्त्रित करती थीं। अभिजात और समृद्ध लोगों में बहुपत्नी-विवाह का व्यापक प्रचलन दिखाई पड़ता है। कन्यायें स्वयंवर में अपने पति का वरण करती थीं। सती प्रथा का भी उल्लेख मिलता है। कुछ कुलों में परदा प्रथा का भी रिवाज दिखाई पड़ता है।

सामान्य जनता, गांवों और नगरों में रहती थी। पर कुछ जनजातियां जंगल में रहती थीं। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण ऋषि भी अपने आश्रम बना कर जंगल में रहते थे। इनके आश्रम विद्या और ज्ञान के केन्द्र थे जहाँ विद्यार्थी शिक्षा हेतु आते थे। कोई संकट अथवा तप-साधना में बाधा पड़ने पर ये ऋषि राजा के पास जाकर सहायता मांगते थे। उन्हें सहायता पहुंचाना राजा का नैतिक कर्त्तव्य था। जंगल में रहने वाले ये तपस्वी आवश्यकता पड़ने पर दुःखी और आर्त्त लोगों को शरण प्रदान करते थे। बाल्मीकि ने सीता और उनके बच्चों को आश्रय प्रदान किया था। कण्व ने शकुन्तला को आश्रय दिया था।

धार्मिक जीवन

वैदिक कालीन धर्म की तुलना में महाकाव्यों में उपलब्ध धार्मिक विश्वासों में कई दृष्टियों से अन्तर दिखाई पड़ता है। प्राचीन वैदिक देवताओं का प्राकृतिक रूप अब समाप्त हो गया था; अब उनका पर्याप्त मानवीकरण दिखाई पड़ता है। विष्णु और शिव इस समय प्रमुख देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित दिखाई पड़ते हैं। राम और कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते थे। महाकाव्यों में कई नए देवताओं का अस्तित्व दिखाई पड़ता है। स्कन्द, गणेश और मणिभद्र ऐसे ही नये देवता थे। सूर्य तथा दुर्गा की पूजा भी मान्य थी। विष्णु और शिव से सम्बन्धित कई पौराणिक कथाओं का जन्म हो चुका था। इन कई देवताओं से सम्बद्ध धार्मिक सम्प्रदाय बन चुके थे। भागवत अथवा पाँचरात्र सम्प्रदाय ईश्वर की भक्ति पर विशेष बल देता था। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन भगवद्गीता में मिलता है। पाशुपत सम्प्रदाय शिव-पशुपति की और सौर सम्प्रदाय सूर्य की उपासना से सम्बद्ध सम्प्रदाय थे। विविध देवताओं में एकत्व स्थापित करने के उद्देश्य से त्रिमूर्ति की कल्पना का आविर्भाव हुआ। यह माना गया कि ईश्वर ब्रह्मा के रूप में सृष्टि रचना करता है, विष्णु रूप में वह पोषण करता है और रुद्र-शिव रूप में वह सम्पूर्ण विश्व को शाश्वत् निद्रा में निमग्न कर देता है।

महाकाव्यों में जीव के आवागमन का सिद्धान्त सुमान्य हो चला था। लोग कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। महाभारत में कहा गया है कि 'जैसे बछड़ा हजार गायों में अपनी माता को पहचान लेता है, वैसे ही पूर्व कर्मों के फल अपने कर्त्ता को पहचान लेते हैं।' नैतिक कर्मों के आचरण पर विशेष बल दिया गया है। पूर्वकालिक पशु-यज्ञों

के स्थान पर आत्म-यज्ञ की महिमा गाई गई है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए यज्ञ में पशुओं की वलि आवश्यक नहीं है अपना परिष्कार करना अधिक आवश्यक है।

भगवद्गीता

महाकाव्यों में वर्णित धर्म की चर्चा में भगवद्गीता की अलग से विशेष चर्चा करनी आवश्यक है। यह हिन्दुओं का अत्यन्त पवित्र धार्मिक ग्रन्थ है। यह महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है और इसमें 18 अध्याय हैं। यह कृष्ण और पाण्डव योद्धा अर्जुन के संवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्वयं गीता के अनुसार इनमें उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन का सार है।

गीता में ब्रह्म और आत्मा का सिद्धान्त लगभग उपनिषदों के समान ही मिलता है। ब्रह्म अपने सगुण रूप में ईश्वर है। यह सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ है। ब्रह्म और आत्मा में अभेद है। आत्मा अजर, अमर और शाश्वत् है। शरीर मरता है, आत्मा नहीं। "जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी जीर्ण शरीर का त्याग कर नया शरीर धारण करता है।"

गीता में मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीन मार्ग बताए गये हैं–ज्ञान, भक्ति और कर्म। तीनों में विरोध नहीं है, तीनों में समन्वय ही गीता की दृष्टि है। अपनी विशेष रुचि और क्षमता के अनुरूप व्यक्ति इनमें से किसी एक को विशेष रूप में अपनाता है। ज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप को ठीक से जानता है, वह जानता है कि वह परम सत्ता सब में समान रूप से विद्यमान है; अतः जो बाहरी विविधता दिखाई पड़ रही है वह अज्ञान का परिणाम है। भक्ति का अर्थ है ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव। ईश्वर सब कुछ का कर्ता है, यह भाव भक्ति के अहंकार को नष्ट करता है और साँसारिक विरोध नष्ट हो जाते हैं। कृष्ण ने कहा है, 'सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ', 'मेरा भक्त कभी विनष्ट नहीं होता'। गीता का कर्मयोग निष्काम कर्मयोग कहलाता है। व्यक्ति कर्म किये बिना रह नहीं सकता अतः कर्म के स्वरूप को समझना आवश्यक है। व्यक्ति को फल की इच्छा न रखते हुए अपना कर्म करना चाहिए। दुःख में विचलित न होना, सुख में स्पृहा न होना, मान और अपमान को समान समझना, हानि और लाभ में समभाव बनाए रखना कर्मयोग का लक्षण है। ऐसे व्यक्ति को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है अर्थात् जिसकी प्रज्ञा सभी स्थितियों में समभाव में प्रतिष्ठित रहती है।

धार्मिक और आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में गीता सहिष्णु दृष्टि का पक्षपाती है। कोई मार्ग छोटा या बुरा नहीं है। "जो जिस रूप में भी भजता है, मुझे ही भजता है", गीता में कृष्ण का स्पष्ट कथन है। भक्ति-मार्ग सभी के लिए समान रूप से खुला है। द्विजों के अतिरिक्त शूद्र और नारी वर्ग भी भक्ति-मार्ग से ईश्वर को पाने में समर्थ है। ज्ञानी व्यक्ति के लिए ब्राह्मण और शूद्र में कोई भेद नहीं है क्योंकि यह बाहरी भेद है, मूलतः सबमें परमात्मा का वास है।

6

महाजनपद-युग

वैदिक काल के प्रारम्भ में राजनीतिक संगठन का मुख्य आधार 'जन' था। डा. राजबली पाण्डेय के अनुसार जन को 'जातीय राज्य' कहा जा सकता है। प्रारम्भ में इन जनों का कोई सर्वथा निश्चित स्थान नहीं होता था और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ये स्थान परिवर्तन कर लिया करते थे। इस प्रकार इनका कोई भौगोलिक आधार नहीं था। पर शीघ्र ही ये जन निश्चित स्थानों पर बस गये। उत्तर वैदिक काल में हम प्रादेशिक राज्यों की स्थापना की चर्चा कर चुके हैं। अब इनका भौगोलिक आधार बना जिस कारण उन्हें 'जनपद' कहा जाने लगा। 'जनपद' का अर्थ है जन द्वारा अधिकृत क्षेत्र। जनपद का नाम प्रायः जन के नाम पर ही होता था। प्रारम्भिक बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में, पुराणों में विशेष रूप से तथा अन्य ग्रन्थों में भी इन जनपदों की चर्चा मिलती है।

बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय में सोलह जनपदों की सूची दी गई है। सोलह महाजनपदों की एक ऐसी ही सूची जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र में भी दी गई है। पर इसमें दिए गए कुछ नाम अंगुत्तर निकाय की सूची से भिन्न हैं। भगवती सूत्र का विवरण बाद के काल का परिचायक जान पड़ता है। जैसा कि जनपद के पूर्व लगे 'महा' शब्द से स्पष्ट है ये राज्य अपेक्षाकृत बड़े भू-विस्तार वाले राज्य थे। जनपदों की स्थापना के बाद इनमें आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक था जिस प्रक्रिया में निर्बल राज्य समाप्त होते गये और शक्तिशाली राज्यों में विलीन होते गये। अधिक शक्तिशाली और विस्तार में बड़े इन राज्यों को महाजनपदों की संज्ञा प्राप्त हुई। चूंकि इनकी सूची प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य के ग्रन्थ में मिलती है; अतः इनका समय बुद्ध के पहले मानना चाहिए। स्वयं बुद्ध के समय में इनमें से कई अपनी स्वतंत्रता खो कर अन्य शक्तिशाली जनपदों में विलीन हो गए थे, कुछ नए राज्य स्थापित हो गए थे और इनमें से कुछ का स्वरूप परिवर्तन हो चुका था। इस प्रकार, उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर महाजनपदों का काल आठवीं-सातवीं शताब्दी ई. पूर्व से छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक माना जा सकता है, यद्यपि इनके आविर्भाव के पहले जनपदों के पारस्परिक संघर्ष का लम्बा इतिहास था।

यह नहीं समझना चाहिए कि इन महाजनपदों के अतिरिक्त इस समय अन्य जनपदों का अस्तित्व नहीं था पर बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों ने दुर्बल तथा सीमा विस्तार में छोटा होने के कारण अन्य जनपदों को महत्त्वपूर्ण नहीं माना और केवल महाजनपदों का उल्लेख किया।

इन सोलह महाजनपदों में कुछ में राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति थी जबकि कुछ महाजनपदों में गणतन्त्रात्मक शासन- विधान का प्रचलन था। प्रथम प्रकार में सत्ता एक व्यक्ति (राजा) के हाथों में केन्द्रित थी। इसके विपरीत, द्वितीय प्रकार में राज्यों में प्रशासन में जनसामान्य की सहभागिता होती थी, यद्यपि ये गणतन्त्र सामान्य रूप में अभिजात कुलों

द्वारा शासित थे। वज्जि और मल्ल गणतन्त्रात्मक महाजनपद थे। पर अधिकांश महाजनपदों में राजतन्त्र का प्रचलन था। गांधार और कम्बोज महाजनपदों के विषय में निश्चित रूप से कह सकना ठीक है।

नीचे हम अंगुत्तर निकाय में दी गई सूची के महाजनपदों की चर्चा कर रहे हैं। यह भगवती सूची से प्राचीनतर है।*

कासी–कई बौद्ध जातक कथाओं में इस राज्य के राजाओं की शक्ति और उनकी राजनीतिक आकाँक्षाओं की चर्चा हुई है। यह संभवतः प्रारम्भ में महाजनपद काल का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था। इसकी राजधानी वाराणसी थी। उत्तर वैदिक काल में ही यह राज्य स्थापित हो चुका था। महाजनपदकाल का अन्त होते होते यह कोसल राज्य में विलीन हो गया।

कोसल–इस राज्य का भू-विस्तार आधुनिक उत्तर प्रदेश के अवध क्षेत्र में था। रामायण में इसकी राजधानी अयोध्या बताई गई है। बौद्ध ग्रन्थों में इसकी राजधानी श्रावस्ती कही गई है। बौद्ध ग्रन्थों में इस राज्य के एक अन्य प्रसिद्ध नगर साकेत का उल्लेख मिलता है जो प्रो. राइस डेविड्स के अनुसार अयोध्या के निकट ही सरयू नदी के दूसरे पार बसा हुआ था।

रामायण और पुराणों में यहाँ के राजाओं को इक्ष्वाकु कुल का बताया गया है। धीरे-धीरे इस राज्य की शक्ति बढ़ती गई। कपिलवस्तु का साक्य गणतन्त्र तथा केशपुत्त के कालामों का गणतन्त्र इसके अधीन हो गया। कासी के साथ लम्बे संघर्ष के पश्चात् यह उसे भी पराभूत करने में सफल हुआ। बुद्ध के समय यह चार शक्तिशाली राजतन्त्रों में एक था।

अंग–यह राज्य मगध के पूर्व में स्थित था। दोनों राज्यों के बीच में चम्पा नदी बहती थी। चम्पा इसकी राजधानी का भी नाम था। महाजनक जातक में इसे एक समृद्ध राज्य कहा गया है। अंग और मगध में निरन्तर संघर्ष हुआ करते थे। अन्त में यह मगध में विलीन हो गया।

मगध–इस राज्य का अधिकार क्षेत्र मोटे तौर पर आधुनिक बिहार के पटना और गया जिलों के भू प्रदेश पर था। इसकी प्राचीनतम राजधानी गिरिव्रज थी। बाद में राजगृह राजधानी बना। महाभारत और पुराणों में यहाँ वृहद्रथ कुल के राजाओं का उल्लेख मिलता है जिनमें जरासन्ध अत्यन्त प्रतापी शासक था। प्रारम्भ में यह एक छोटा राज्य था पर इसकी शक्ति में निरन्तर विकास होता गया। बुद्ध के काल में यह चार शक्तिशाली राजतन्त्रों में एक था।

वज्जि–यह राज्य गंगा नदी के उत्तर में नेपाल की पहाड़ियों तक विस्तृत था। पश्चिम में गण्डक नदी इसकी सीमा बनाती थी और पूर्व में सम्भवतः इसका विस्तार कोसी

---

* जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र में महाजनपदों के नाम इस प्रकार हैं : 1. अंग, 2. बंग, 3. मगह 4. मलय, 5. मालव, 6. अच्छ, 7. वच्छ, 8. कोच्छ, 9. लाढ, 10. पाढ, 11. वज्जि, 12. मोलि, 13. कासि, 14. कोसल, 15. अवाह, 16. सम्भुत्तर ।
दोनों सूचियों की तुलना करने पर हम देखते हैं कि अंग, मगध (मगह), वत्स (वच्छ), वज्जि, कासि और कोसल दोनों सूचियों में समान नाम हैं। जैसा कि डा. हेमचन्द राय चौधरी का विचार है, भगवती सूत्र का मालव संभवतः अंगुत्तर निकाय का अवन्ति है, और मोलि संभवतः अंगुतर निकाय की सूची के मल्ल का ही बिगड़ा हुआ रूप है।

और महानन्दा नदियों के तटवर्ती जंगलों तक था। यह एक संघात्मक गणराज्य था जो आठ कुलों से बना था। इसकी राजधानी वैशाली थी। आठ कुलों में एक प्रमुख कुल लिच्छवियों का था, जिनके नाम पर इसे लिच्छविगण भी कहा गया है। यह राज्य उत्तर वैदिक कालीन विदेह राजतन्त्र के ध्वंसावशेषों पर बना था। बुद्ध और महावीर के समय यह एक अत्यन्त शक्तिशाली गणराज्य था।

मल्ल–यह भी गणराज्य था। यह दो भागों में वंटा हुआ था। एक की राजधानी कुसीनारा (उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में आधुनिक कुशीनगर) और दूसरे की पावा थी। मल्ल राज्य अन्ततः मगध द्वारा आत्मसात कर लिया गया।

चेदि–यह राज्य आधुनिक बुन्देलखण्ड के पूर्वी भाग में स्थित था। इसकी राजधानी शुक्तिमती थी जिसे बौद्ध साक्ष्य में सोत्थवती कहा गया है। चेदी लोगों का उल्लेख ऋग्वेद में भी मिलता है। महाभारत में यहाँ के राजा शिशुपाल का उल्लेख है।

वत्स–यह राज्य गंगा नदी के दक्षिण में स्थित था और इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। कौशाम्बी इलाहाबाद से लगभग 30 मील की दूरी पर है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इतिहास एवं पुरातत्व विभाग की ओर से यहाँ की गई खुदाई से महत्त्वपूर्ण अवशेषों की प्राप्ति हुई है। पुराणों के अनुसार बाढ़ द्वारा हस्तिनापुर के ध्वंस के बाद निचक्षु ने यहाँ राजधानी स्थापित की थी। यहाँ के राजा भारत अथवा कुरु कुल के थे। बुद्ध के समय यहाँ का शासक उदयन था। वत्स का राज्य भी बुद्ध के समय चार प्रमुख राजतन्त्रों में एक था।

कुरु–इस राज्य में आधुनिक दिल्ली के आस-पास के प्रदेश थे। इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी, जिसकी स्मृति दिल्ली के निकट इन्द्रपत गांव में सुरक्षित मिलती है। हस्तिनापुर इस राज्य का एक अन्य प्रसिद्ध नगर था।

पंचाल–इस महाजनपद का विस्तार आधुनिक रोहिलखण्ड और मध्य दोआब में था। यह दो भागों में विभक्त था : उत्तरी पंचाल और दक्षिणी पंचाल। उत्तरी पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिणी पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी। उपनिषद् काल में इसके राजा प्रवाहण जैवलि का एक दार्शनिक राजा के रूप में उल्लेख हुआ है।

मत्स्य–इस राज्य का विस्तार आधुनिक राजस्थान के अलवर जिला से चम्बल नदी तक था। इसकी राजधानी विराटनगर (जयपुर से दिल्ली जाने वाले राजमार्ग पर स्थित आधुनिक बैराट)थी। महाभारत के अनुसार, पाण्डवों ने यहाँ अपना अज्ञातवास का समय बिताया था।

शूरसेन–इस जनपद की राजधानी मथुरा थी। महाभारत तथा पुराणों में यहाँ के राजवंशों को यदु अथवा यादव कहा गया है। यादव लोग कई कुलों में विभक्त थे ; सात्वत, अन्धक और वृष्णि इनके प्रमुख कुल थे। यूनानी लेखकों ने इस जनपद का उल्लेख सौरसेनाइ नाम से किया है।

अस्सक–गोदावरी नदी के तट पर स्थित इस महाजनपद की राजधानी पोतलि अथवा पोदन थी।

अवन्ति–इस राज्य के अन्तर्गत आधुनिक उज्जैन का भू-प्रदेश तथा नर्मदा घाटी का कुछ भाग आता था। यह राज्य भी दो भागों में वंटा था – एक की राजधानी उज्जैन थी और दक्षिणी भाग की राजधानी महिष्मती थी। बुद्धकालीन चार शक्तिशाली राजतंत्रों में एक अवन्ति का राज्य भी था।

गन्धार–यह पूर्वी अफगानिस्तान में स्थित था। इस राज्य में कश्मीर घाटी तथा

प्राचीन तक्षशिला का भू-प्रदेश भी आता था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

कम्बोज–इसका उल्लेख सदैव गन्धार के साथ हुआ है। अतः यह महाजनपद गन्धार राज्य से सटे हुए भारत के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित रहा होगा। राजपुर और द्वारका इस राज्य के दो प्रमुख नगर थे।

ऊपर के इन सोलह बड़े जनपदों के अतिरिक्त देश में अन्य कई छोटे-छोटे जनपद भी थे जिनका उल्लेख अन्य विविध साक्ष्यों में मिलता है। आधुनिक पंजाब में केकय, मद्रक, त्रिगर्त और यौधेय नामक जनपद स्थित थे। सिन्धु प्रदेश में सिन्धु, सौवीर, शिवि और अम्बष्ठ नामक जनपद थे। इसी प्रकार कोसल के उत्तर में नेपाल की तराई में शाक्यों का जनपद था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। अस्सक अथवा अश्मक जनपद के पूर्व में कलिंग (आधुनिक उड़ीसा) और पश्चिम में मूलक (जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी) और

विदर्भ (आधुनिक बरार प्रदेश) नामक प्रसिद्ध जनपद थे। भारत के पश्चिम भाग में सौराष्ट्र और कच्छ तथा पूर्व भाग में राढ़ (पश्चिमी बंगाल), पुण्ड, (उत्तरी बंगाल)एवं बंग (पूर्वी बंगाल) नामक जनपदों का उल्लेख मिलता है। सुदूर दक्षिण में द्रमिल रट्ठ (तमिल राष्ट्र) का नाम आता है। ऐसा जान पड़ता है कि ये छोटे जनपद अपने बड़े जनपदों की अधीनता मानते थे अथवा उसके प्रभाव में थे।

महाजनपद-युग की राजनीतिक स्थिति

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि देश इस समय बहुसंख्यक बड़े तथा छोटे जनपदों में बंटा हुआ था। इनमें भू-विस्तार के लिए संघर्ष चलता रहता था। किसी भी एक ऐसे शक्तिशाली राज्य का अभाव था, जिसकी प्रभुता को अन्य सभी जनपद स्वीकार करते हों, पर यह सभी अपनी सीमा और शक्ति को बढ़ाने के इच्छुक थे। इस प्रवृत्ति ने साम्राज्यवाद की उस प्रक्रिया को जन्म दिया, जिसमें निर्बल तथा छोटे जनपद धीरे-धीरे शक्तिशाली जनपदों में आत्मसात होते चले गये बुद्ध और महावीर के समय तक आते आते कोसल, मगध, वत्स और अवन्ति नामक जनपद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रह गये। मगध ने अपने पड़ौसी राज्य अंग को हड़प लिया और काशी का राज्य कोसल में विलीन हो गया। अवन्ति और वत्स आपस में उलझे हुए थे। कालान्तर में उन्हीं चार राज्यों में साम्राज्य की स्थापना की होड़ प्रारम्भ हुई। ये सभी राजतंत्रात्मक जनपद थे। इस काल की राजनीतिक अवस्था की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेपता है गणतन्त्रों का अस्तित्व। वज्जि और मल्ल इस काल के प्रमुख गणतन्त्रात्मक जनपद हैं। वज्जि जनपद बड़ा शक्तिशाली था और यह लम्बे समय तक अपने पड़ौसी मगध के शक्तिशाली जनपद की साम्राज्यवादी आकांक्षा से लड़ता रहा। आगे इस संघर्ष और इसके परिणाम की विस्तार से चर्चा की जाएगी।

छठी शताब्दी ई.पू. का धार्मिक आन्दोलन : जैन धर्म और बौद्ध धर्म

जैन धर्म और बौद्ध धर्म के उदय की पृष्ठभूमि

छठी शताब्दी ई. पूर्व से प्राचीन भारत के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ माना जा सकता है। सभ्यता का वह काल जिसे वैदिक सभ्यता का काल कहा जाता है इस समय तक अपना चक्र पूरा कर चुका था। पूर्व वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक काल में वैदिक सभ्यता के विविध पक्षों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चले थे। प्रारम्भिक काल का सरल धर्म अब बहुत कुछ कर्मकाण्डी हो गया था। उत्तर-वैदिक काल में कई खर्चीले और लम्बे समय तक चलने वाले यज्ञों का अस्तित्व दिखाई पड़ता है जिन्हें साधारण जनता नहीं कर सकती थी। यही नहीं यज्ञों द्वारा देवताओं की उपासना अब वैयक्तिक सामर्थ्य की बात नहीं रह गई थी। इसके लिए अब यज्ञ-विधि में दक्ष माने जाने वाले पुरोहितों का आश्रय लेना आवश्यक हो गया था क्योंकि वे ही मंत्रों का ठीक-ठीक उच्चारण कर सकते थे और यज्ञों को दोष-रहित रूप में सम्पादित करा सकते थे। पुरोहित वर्ग की विशिष्टता की पृष्टभूमि में यह विश्वास था कि मन्त्रोच्चारण में दोष होने पर तथा यज्ञ का सम्पादन दोष-रहित न होने पर फल मिलना तो दूर रहा देवता अप्रसन्न हो जाते हैं और यज्ञ करने वाले को कष्टभोग करना पड़ सकता है। इस प्रकार के धार्मिक विश्वास में मनुष्य का देवता के साथ सम्बन्ध सीधा नहीं रह गया था। इस प्रकार के धर्म के प्रति प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। स्वयं उपनिषदों में ही इसकी ध्वनि मिलती है।

इसी प्रकार वैदिक काल के अन्तिम दिनों में समाज के ढांचे में पर्याप्त विकार आ गया दिखाई पड़ता है। प्रारम्भिक वर्ण-व्यवस्था में सभी वर्ण खुले हुये वर्ग थे; व्यक्ति को अपना व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता थी और ऊंच-नीच की भावना का अभाव था। पर उत्तर-वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था में रूपान्तरित हो गई थी जिसमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण उसके जन्म के आधार पर होने लगा था। समाज का शूद्र कहा जाने वाला वर्ग पतित माना जाने लगा था और उसे यज्ञ आदि करने तथा शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। सभी को और विशेषकर प्रबुद्ध लोगों को यह पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था अच्छी नहीं लग सकती थी।

इस काल में कुछ और भी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए थे। अब अपेक्षाकृत बड़े-बड़े राज्य स्थापित हो चले थे, जिनका स्वरूप प्रादेशिक था और

जिनकी अपनी नियमित सेनाएँ थी। इनमें सीमा विस्तार के लिए सदा युद्ध हुआ करते थे। युद्धकालीन स्थिति में जनसामान्य की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं और अशान्ति तथा असुरक्षा की भावना पनपती है। आर्थिक क्षेत्र में इस समय लोहे के ज्ञान तथा इसके व्यापक प्रयोग को विद्वानों द्वारा विशेष महत्त्व दिया जाता है। इससे जहाँ एक ओर युद्धों की प्रखरता बढ़ी, वहीं दूसरी ओर अधिक अन्नोत्पादन भी सम्भव हुआ। अतिरिक्त अन्नोत्पादन ने नागरीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। अब बड़े बड़े नगरों का उदय दिखाई पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक और सामाजिक ढांचे के स्वरूप तथा सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों की अवधारणा में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर, पहली बार सिक्कों का बड़े पैमाने पर प्रयोग होने लगा था। सिक्कों के अभाव में, यदि वस्तुएँ धन का मानदण्ड होती हैं (जैसा कि इसके पहले था) तो धन-संग्रह की एक सीमा होगी। पर अब सिक्कों के बहुल प्रयोग ने इस सीमा को हटा दिया था और सिक्कों के रूप में धन-संग्रह करना अधिक आसान बना दिया था। धन इकट्ठा करने की लालसा व्यापार को बढ़ावा दे रही थी और धनी व्यापारियों और सेठों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया था। इसके विपरीत समाज में ऐसे लोग थे जो धनहीन और दरिद्र अवस्था में थे।

इस प्रकार की परिस्थितियों में जनसामान्य में जीवन के प्रति निराशावादी और निवृत्तिवादी विचारधारा का उदय होना स्वाभाविक है। इस विचारधारा में संसार की दुःखमयता और संसार तथा सांसारिक वस्तुओं के त्याग पर विशेष बल होता है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों में निवृत्तिवादी विचारधारा प्रखर रूप में दिखाई पड़ती है और यह स्वाभाविक है कि इन्हें इन परिस्थितियों से जोड़ा जाय। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये परिस्थितियाँ इस काल के निवृत्तिवादी धार्मिक आन्दोलनों के कारण नहीं हैं। निवृत्तिवादी विचारधारा यहाँ पहले से ही विद्यमान थी। वैदिक साहित्य में इसके उल्लेख मिलते हैं। स्वयं जैन लोग अपने धर्म को महावीर से बहुत पहले का मानते हैं। अतः यह मानना अधिक उपयुक्त होगा कि बीजरूप में यह विचारधारा पहले से ही विद्यमान थी और अनुकूल परिस्थितियों में इसने प्रभावपूर्ण आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया।*

तत्कालीन परिवेश : परिव्राजक वृत्ति का जोर

जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस समय जीवन के प्रति निवृत्तिवादी दृष्टिकोण का बोलबाला था। इसके साथ ही यह युग विचारों के उत्कर्ष का युग था। इस युग के विचारकों में लोग सामान्य रूप से महावीर और बुद्ध के विषय में ही जानते हैं क्योंकि इनके चलाए हुए धर्म अधिक लोकप्रिय हुए और बाद में भी बने रहे। किन्तु, जैन और बौद्ध ग्रन्थों में इनके अतिरिक्त और कई दार्शनिकों और विचारकों के नाम प्राप्त होते हैं। मक्खलिपुत्त गोसाल आजीवक धर्म का आचार्य था। अजित केसकम्बल, पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप), पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्यायन), संजय बेलट्ठपुत्त इस युग के अन्य प्रमुख विचारक थे। ये तथा अन्य तमाम दार्शनिक और विचारक जगह-जगह पर घूमते हुए जनता को अपनी शिक्षाओं से परिचित कराते थे। स्वयं उन्होंने घर और समाज का त्याग कर दिया था और वे भिक्षा से भोजन प्राप्त करते थे। भारी

* छठी शताब्दी ई. पू. के धार्मिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि पर विस्तारपूर्ण एवं समीक्षात्मक चर्चा के लिए, द्रष्टव्य गोविन्द चन्द्र पांडे, स्टडीज़ इन दि ओरिजिंस आव बुद्धिज्म, अ. 9 ; मेरी पुस्तक दि इज़ आव विनय, अ. 2 ।

संख्या में लोग अपना घर-बार छोड़ कर उनके अनुयायी बनते थे और संसार के दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय ढूंढते थे [गृहविहीन और घुमक्कड़ जीवन बिताने के कारण इन्हें सामान्य रूप से परिव्राजक कहा जाता था]। इन्हें भिक्षु, सन्यासी और श्रमण भी कहा जाता था। इनका अपना अलग-अलग धार्मिक समाज होता था, जिसे संघ कहते थे। छठी शताब्दी ई. पूर्व में इस प्रकार के कई धार्मिक सम्प्रदाय-अथवा संघ थे।* महावीर और बुद्ध इस युग के शिक्षकों में अधिक महत्त्वपूर्ण थे।

जैन धर्म

जैन शब्द 'ज़िन' शब्द से बना है। 'जिन' का अर्थ है 'विजेता' अर्थात् जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है। ज़िन 'महावीर' की एक अन्य उपाधि है जो अपनी साधना की समाप्ति और लक्ष्य की प्राप्ति के बाद उन्हें प्राप्त हुई। 'जिन' के अनुयायी जैन कहलाये।

तीर्थंकर परम्परा

जैन परम्परा में महावीर को जैन धर्म का संस्थापक नहीं माना जाता। जैनों के अनुसार, महावीर के पूर्व तेईस तीर्थंकरों ने समय-समय पर इस धर्म का प्रवचन तथा प्रवर्तन किया था [तीर्थंकर का अर्थ है संसार रूपी सागर से औरों को पार कराने के लिए घाट अथवा मार्ग बनाने वाला]

जैन परम्परा के अनुसार ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे और महावीर चौबीसवें। महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे। महावीर के पूर्व के सभी तीर्थंकरों को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने के लिए हमारे पास प्रमाण नहीं हैं किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जर्मन विद्वान् याकोबी ने अपने शोध से यह प्रमाणित किया है कि पार्श्वनाथ आठवीं शताब्दी ई. पूर्व में हुए थे और काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इन्होंने चार प्रमुख सिद्धान्तों की शिक्षा दी : अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह (वस्तुओं का संग्रह न करना)। जैनों का यह विश्वास है कि पार्श्वनाथ के इन्हीं चार सिद्धान्तों में महावीर ने अपना ब्रह्मचर्य का पाचवाँ सिद्धान्त जोड़ा।

महावीर की जीवनी

महावीर के जन्म की तिथि 599 ई. पूर्व अथवा 540 ई. पू. मानी जाती है। वे लिच्छवि गणराज्य के ज्ञातृक कुल में कुण्डग्राम नामक स्थान पर उत्पन्न हुए थे। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञातृक कुल के प्रधान थे। उनकी माता का नाम-त्रिशला था जो लिच्छवि 'राजा' चेटक की भगिनी थी। इसी चेटक की पुत्री चेल्लना का विवाह मगध के शासक विम्बिसार में हुआ था। इस प्रकार पिता और माता दोनों के ही ओर से महावीर अभिजात वर्ग से सम्बद्ध थे।

महावीर का वचपन का नाम वर्धमान था। युवा होने पर यशोदा नामक राजकन्या से इनका विवाह हुआ जिससे उन्हें एक पुत्री भी हुई। तीस वर्ष की आयु तक उन्होंने सुखपूर्वक गृहस्थ का जीवन विताया। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद वर्धमान ने अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर परिव्राजक का जीवन ग्रहण किया। घर छोड़ने के

---

* तत्कालीन अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक संप्रदायों एवं समसामयिक दार्शनिक विचारों पर विस्तार के लिए देखें, **गोविन्द चन्द्र पांडे, स्टडीज** . . . . अ. । इसी लेखक की अन्य पुस्तक, **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,** अ. । मेरी पुस्तक **दि एज आफ विनय,** अ. 2 ।

बाद बारह वर्षों तक उन्होंने घोर तपस्या की। इस काल में वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। कभी-कभी असभ्य प्रदेशों में विचरण करते हुये उन्हें घोर कष्टों का सामना करना पड़ा, लोगों ने उन पर पत्थर फेंके और उनके पीछे कुत्ते तक दौड़ा दिये। किन्तु उन्होंने किसी के प्रति भी अपने मन में बुरा भाव नहीं आने दिया। तपस्या काल में कीट-कीटाणुओं के शरीर पर चढ़ जाने तथा काटने पर भी उन्होंने सदैव उदासीन भाव बनाए रखा। अन्ततः उन्हें 42 वर्ष की आयु में जम्भिय गाम (जृम्भिक-ग्राम) के निकट ऋजुपालिका नदी के तट पर ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस समय में वे 'केवली' (अर्थात् जिसे केवल अर्थात् निर्मल ज्ञान मिल गया है),'जिन' (विजेता, अर्थात् जिसने इन्द्रियों और वासनाओं पर विजय पा लिया है), 'अर्हत'(योग्य) और 'महावीर' (परम वीर) कहलाए। उन्होंने जगह-जगह पर घूम कर अपने सिद्धान्तों का उपदेश देना शुरू किया। भारी संख्या में लोग उनके अनुयायी बने जिनमें राजा, साधारण लोग, धनी सेठ और गरीब सभी सम्मिलित थे। 72 वर्ष की आयु में पावा नामक स्थान पर (कुछ के अनुसार आधुनिक उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में पडरोना और कुछ के अनुसार इसी जिले का फाजिलपुर नामक स्थान) उन्होंने देहत्याग किया।

जैन सिद्धान्त

सामान्य विचार

महावीर ने सत्य को जानने में वेदों को प्रमाण नहीं माना। जैन मत में सृष्टि करने वाले किसी ईश्वर की सत्ता में भी विश्वास नहीं किया जाता। उनके अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त है और सृष्टि का क्रम एक प्रवाह के रूप में चलता रहता है। बौद्ध धर्म के समान ही जैन धर्म कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने किए हुये के अनुसार अच्छे या बुरे फल की प्राप्ति करता है। फल की प्राप्ति में किसी प्रकार की साझेदारी सम्भव नहीं है। व्यक्ति अपने कर्मों के कारण ही बन्धन में पड़ता है और अपने ही प्रयासों से उसे बन्धन से मुक्ति मिल सकती है। जैन धर्म संसार की दुःखमयता में विश्वास करता है जिससे छुटकारा इसके सिद्धान्तों पर चलने से संभव है।

जीव और अजीव

सांसारिक अस्तित्व को जैन धर्म ने जीव और अजीव नामक दो कोटियों में विभक्त किया है। चेतन सत्ता को जीव और अचेतन को अजीव कहा जाता है।

'चेतना' जीव का विशिष्ट लक्षण है। जीव की अवधारणा वही है जो उपनिषदों में आत्मा की है, पर यह भेद है कि जहाँ उपनिषदों में आत्मा की एकात्मकता मानी गई है, जैन धर्म बहुसंख्यक जीवों की सत्ता में विश्वास करता है। जीवों के दो मुख्य भेद है : मुक्त अर्थात् वे जीव जो अपने मूल विशुद्ध स्वभाव में स्थित है और आवागमन के चक्र से स्वतंत्र है और बन्ध अर्थात् वे जीव जो कर्म-प्रभाव में अपनी मूल विशुद्धता खो चुके हैं और इस कारण आवागमन के चक्र के बन्धन में फंसे हुये हैं। बन्ध अवस्था के जीवों में कुछ संचरणशील हैं जबकि कुछ में संचरणशीलता का अभाव है–ये भूमि, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति जगत् के अणुओं में निवास करते हैं। इन्हें एक इन्द्रिय वाला (स्पर्श) माना जाता है। इस प्रकार जिन वस्तुओं को (जैसे पत्थर या पानी) सामान्य रूप से अचेतन माना जाता है, जैन उनमें भी जीव मानते हैं। इसीलिये जैन साधु जमीन को भी बड़ी सावधानी से बुहारते हैं। बन्ध अवस्था के अन्य जीवों में संचरणशीलता होती है और जैन लोग उनमें उनकी इन्द्रियों की संख्या के आधार पर भेद करते हैं। बड़े पशुओं

और मनुष्यों में पाँच इन्द्रियाँ होती हैं जबकि केंचुआ में केवल दो और चींटी में तीन। जीव अपने कर्म के अनुसार स्वरूप धारण करता है। जीव का स्वयं का कोई स्वरूप नहीं है पर बन्धन की अवस्था में वह एक स्वरूप से संबद्ध हो जाता है। मुक्त अवस्था में यह पुनः अपने शुद्ध चैतन्य को प्राप्त करता है।

अजीव अचेतन है। अजीव को पुद्‌गल (भूतद्रव्य), आकाश (स्थान), धर्म (गति की अवस्था), अधर्म (विश्राम की अवस्था), तथा काल (समय) में विभाजित किया जाता है। इनमें किसी में जीवन या चेतना नहीं है। पुद्‌गल का जैन धर्म में एक विशिष्ट अर्थ है : वह जिसे जोड़ा या तोड़ा जा सके। संसार की सभी वस्तुएँ भूतद्रव्य के अणुओं से मिल कर बनी हैं। धर्म और अधर्म का अर्थ पुण्य या पाप नहीं अपितु गति और विश्राम की स्थितियाँ हैं। प्रत्येक वस्तु कुछ स्थान घेरती है इसे आकाश कहा गया है। काल का अर्थ समय है।

बन्धन और मोक्ष

अपने मूल रूप में जीव और अजीव दोनों एक दूसरे से स्वतन्त्र और अलग हैं। बन्धन का अर्थ है जीव का अजीव द्वारा आवरण। जैसे प्रकाशमान मणि के ऊपर गोबर या मिट्टी का आवरण चढ़ जाने से उसका प्रकाश छिप जाता है उसी प्रकार अजीव का आवरण चढ़ जाने पर जीव का मूल स्वरूप छिप जाता है। कर्म वह कड़ी है जो जीव को अजीव से जोड़ती है। जैन धर्म में चार कषाय (चिपचिपी वस्तुएँ) बताए गये हैं : क्रोध, लोभ, मान (अहंकार) और माया (भ्रम)। जब व्यक्ति अविद्या (सत्य का ज्ञान न होना) और कषायों के प्रभाव में कार्य करता है तब कर्म के रूप में पुद्‌गल जीव की ओर आकृष्ट होते हैं और उसे आवृत करते जाते हैं। जीव अपना मूल स्वरूप भूल जाता है और अजीव से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। जैसे तेल से सने वस्त्र पर धूल आसानी से और अधिक जमती है अन्यथा नहीं, वैसे ही कषायों के होने पर जीव के ऊपर कर्म रूपी अजीव का जमाव भी तेजी से होता है। अजीव के जीव की ओर चलने की इस प्रक्रिया को पारिभाषिक शब्दावली में 'आस्रव' कहा जाता है। इसी के संपन्न होने पर जीव अपना मूल स्वरूप खो कर जन्म-पुनर्जन्म के चक्र (जिसे संसार-चक्र अथवा आवागमन का चक्र भी कहते हैं) में फंस जाता है। इस स्थिति को ही बन्ध अथवा बन्धन की अवस्था कहते हैं। पहली बार जीव अजीव के सम्पर्क में कब आया ? जैन धर्म इस प्रश्न को व्यर्थ मानता है। वर्तमान सत्य–अर्थात् इस समय यह सम्पर्क है– को स्वीकार करते हुए व्यक्ति को इससे छुटकारा पाने का प्रयास करना चाहिए।

अतः मोक्ष के लिए यह आवश्यक है कि जीव को कर्म के बन्धन से मुक्त किया जाय। इसके लिए पहले तो नये कर्मों के आगमन को रोकना आवश्यक है। कषायों के न रहने पर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के द्वारा यह सम्भव होता है। नए कर्मों के आगमन की प्रक्रिया को रोकना 'संवर' कहलाता है। पुनः जो कर्म पहले से इकट्ठा है उनका विनाश आवश्यक है। इसके लिए जैन धर्म में तप आदि कई उपाय बताए गए हैं। संचित कर्मों के विनाश की प्रक्रिया को 'निर्जरा' कहा जाता है। कर्मों के बन्धन से सर्वथा मुक्त होने को 'मोक्ष' कहा जाता है। इस स्थिति में जीव अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर हल्का हुआ और एकाकी विचरण करता है।

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

अनेकान्तवाद जैन धर्म में सत्य के स्वरूप की अवधारणा से सम्बन्धित है। जैन धर्म के अनुसार सत्य नानात्मक है अर्थात् इसके कई पहलू हैं। व्यक्ति इसके किसी एक

पहलू को देखता है और इसे सम्पूर्ण सत्य मान बैठता है। जैन धर्म में इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है—जन्म से ही अन्धे लोगों के गांव में हाथी आया। उन्हें हाथी का कोई ज्ञान नहीं था। सबने हाथी के अलग अलग अंगों को छू कर हाथी के बारे में अपना ज्ञान निश्चित किया। जिसने उसके पैर को छुआ उसने उसे खम्भे की तरह, जिसने पीठ को छुआ उसने दीवाल की तरह और जिसने सूंड को छुआ उसने उसे पेड़ की डाली की तरह बताया। इनमें से किसी एक का भी ज्ञान हाथी के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार सत्य के विषय में भी समझना चाहिए। लोग इसे अपने- अपने दृष्टिकोण से केवल अंशतः ही समझते और जानते हैं और भ्रमवश अपने आंशिक ज्ञान को ही सम्पूर्ण ज्ञान और एकमात्र ज्ञान मान बैठते हैं।

यही बात संसार की किसी भी वस्तु के लिए सही है। प्रत्येक व्यक्ति उसे किसी एक दृष्टिकोण से देखता है और केवल आंशिक रूप से जानता है। उदाहरण के लिए, एक ही व्यक्ति अपने माता और पिता के दृष्टिकोण से पुत्र होता है पर अपने पुत्र के दृष्टिकोण से पिता, पत्नी के दृष्टिकोण से वह पति होता है और मित्र के दृष्टिकोण से मित्र। उसे पिता, पुत्र, पति अथवा मित्र कहना आंशिक दृष्टि से सही है पर इनमें से कोई एक उसका पूरा वर्णन नहीं करता। इसी प्रकार लोहे के बने गिलास को लें। निर्माण सामग्री की दृष्टि से यह लोहा है पर आकार और प्रयोजन की दृष्टि से यह बर्तन या गिलास कहलाएगा। किसी भी विषय में कोई कथन अंशतः अथवा एक दृष्टिकोण से सत्य होता है, अतः किसी को अपने ही ज्ञान को पूर्ण ज्ञान और दूसरे के ज्ञान को एकदम झूंठा नहीं मानना चाहिए। इसी सिद्धान्त को जैन लोग सात कथन प्रकारों के रूप में रखते हैं, सभी कथन के पूर्व 'एक दृष्टि' से लगाया जाना चाहिए : (1)'है'(2)'नहीं है'(3)'है' और 'नहीं है' (4)'अवक्तव्य'(जो न कहा जा सके) (5)'है' और 'अवक्तव्य' है, (6)' नहीं है' और 'अवक्तव्य' है , (7) 'है' 'नहीं है' और 'अवक्तव्य' है। ऊपर दिए गए व्यक्ति के उदाहरण के आधार पर ही हम इन कथन-प्रकारों को समझने की चेष्टा करें। मान लीजिए, उस व्यक्ति के लिए कहा जाता है कि वह पुत्र है, (पहला कथन प्रकार 'है')। यह कथन उस व्यक्ति के माता-पिता के दृष्टिकोण से ठीक कथन होगा। किन्तु अपने पुत्र या स्त्री अथवा मित्र के दृष्टिकोण से वह व्यक्ति 'पुत्र नहीं है' (दूसरा कथन-प्रकार 'नहीं है') । इस प्रकार वही व्यक्ति 'है' और 'नहीं है' जो कि तीसरा कथन-प्रकार होगा। 'है और नहीं है' विरोधी बाते हैं और इस कारण उस व्यक्ति की स्थिति को 'अवक्तव्य' (जिसे कहा नहीं जा सकता), कहना होगा। यह चौथा-कथन प्रकार होगा। बाकी के तीन कथन-प्रकार आवश्यक नहीं हैं और केवल इस कारण दे दिए गए हैं कि अधिक से अधिक किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का विवरण देने में इस प्रकार भी कहा जा सकता है।

मोक्ष प्राप्ति के साधन : जैन नीतिशास्त्र

जैन समाज या संघ चार वर्गों में विभक्त है : भिक्षु, भिक्षुणियाँ, उपासक तथा उपासिकाएँ। प्रथम दो के अन्तर्गत वे पुरुष और स्त्री आते हैं जिन्होंने सांसारिक जीवन त्याग कर सन्यास जीवन ग्रहण कर लिया है। उपासक और उपसिकाएँ गृहस्थ जीवन में रहने वाले वे लोग हैं जो जैन मत को स्वीकार करते हैं किन्तु संसार त्यागी नहीं हैं। जहाँ तक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपक्रम या साधनों का प्रश्न है जैन धर्म में इन दोनों वर्गों के संदर्भ में उपक्रम के स्वरूप के अनुपात का भेद किया जाता है। भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए नियम अधिक कठोर हैं जबकि उपासकों और उपासिकाओं के लिए उनका स्वरूप सरल है।

मोक्ष की प्राप्ति के तीन प्रमुख साधन बताए गए हैं : सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। जैन धर्म में इनको 'त्रि- रत्न' (तीन रत्न) कहा जाता है। सम्यक् दर्शन का अर्थ है संसार के वास्तविक स्वरूप का बोध होना। जब तक मनुष्य को यह अनुभव नहीं होगा कि संसार दुखः मय है तब तक वह इन्द्रिय सुखों और प्रलोभनों के पीछे भागता रहेगा। तब तक उसमें मोक्ष पाने की इच्छा ही नहीं जागेगी। दूसरी सीढ़ी है सम्यक् ज्ञान जिसका अर्थ है संसार की प्रक्रिया को ठीक से जानना अर्थात् यह कि जीव कैसे कषायों के प्रभाव में कर्म इकट्ठा करता है और दुःख के बन्धन में बंध जाता है। पर मोक्ष के लिए केवल सम्यक् दर्शन और सम्यग् ज्ञान आवश्यक नहीं हैं। इन्हें जीवन में उतारना आवश्यक है, अर्थात् मनुष्य को सदैव सदाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। यही तीसरा साधन है।

नैतिक और सदाचारी जीवन व्यतीत करने के लिए पांच व्रतों पर बल दिया गया है :

(1) अहिंसा– मनुष्य को मन, वाणी और कर्म तीनों में सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव रखना चाहिए। चूंकि जैन धर्म यहाँ तक कि सामान्यतः जड़ समझी जाने वाली वस्तुओं में भी जीव मानता है। अतः उनका अहिंसा का व्रत कठोर और कभी–कभी अव्यवहारिक लगता है ; **(2) सत्य भाषण** ;**(3) अस्तेय–** अर्थात् दूसरों की वस्तु की चोरी न करना ; **(4) अपरिग्रह–** अर्थात् वस्तुओं का संग्रह करने से वस्तुओं के साथ लगाव पैदा होता है। फिर हम उसे केवल अपना समझने लग जाते हैं और दूसरों को इससे वंचित रखना चाहते हैं ; तथा **(5) ब्रह्मचर्य–**अर्थात् पवित्रता का जीवन बिताना। भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए इनका स्वरूप कठोर है और उस संदर्भ में इन्हें महाव्रत कहा जाता है। गृहस्थों के लिए इनका स्वरूप अपेक्षाकृत सरल है और उस संदर्भ में इन्हें 'अणुव्रत' कहा जाता है। उदाहरण के लिए जैन साधु के लिए अपरिग्रह का अर्थ होगा सभी चीजों का त्याग। किन्तु गृहस्थ सभी वस्तुओं का त्याग नहीं कर सकता। उसके लिए अपरिग्रह का अर्थ होगा केवल उतनी चीजें रखना जितनी आवश्यक है तथा जिस संग्रह से दूसरों को कष्ट नहीं होता।

जैन मत में किसी ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं हैं जिसके प्रसाद या अनुग्रह से मोक्ष की प्राप्ति होती हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयासों से मोक्ष प्राप्त करता है। जैन साधना में तपस्या और काय-क्लेश पर विशेष बल दिया गया है। तपस्या से इच्छाएँ भस्म हो जाती हैं और राग-द्वेष आदि विकार विनष्ट हो जाते हैं। जैन साधुओं को तपस्या द्वारा शरीर को कष्ट देना आवश्यक बताया गया है। इसी प्रकार चित्त की शुद्धि के लिये ध्यान के कई प्रकार बताये गये हैं। ध्यान का प्रमुख प्रयोजन है चित्त की चंचलता को समाप्त कर उसे एकाग्र भाव में प्रतिष्ठित करना। ऐसी स्थिति में चित्त सत्य का सहज बोध कर पाता है।

इसी प्रकार दैनिक जीवन के विविध कार्यकलापों में व्यक्ति के लिए पूर्ण सावधानी बरतना आवश्यक है। इसे पांच 'समितियों' द्वारा प्रतिपादित किया गया है : (1) ईर्या समिति, अर्थात् चलने फिरने में पूर्ण सावधानी ताकि किसी जीव के प्रति हिंसा न हो जाय, (2) भाषा समिति, अर्थात् बोलने में सावधानी, (3) एषणा समिति, अर्थात् विविध शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सावधानी, (4) आदान-निक्षेप समिति, अर्थात् किसी वस्तु को उठाते और रखते समय सावधानी जिससे जीवहिंसा न हो जाय, (5) उत्सर्ग समिति, अर्थात् लघुशंका और दीर्घशंका के समय सावधानी।

महावीर के बाद जैन धर्म का इतिहास और जैन धर्म के संप्रदाय

कालान्तर में जैन धर्म दो संप्रदायों में विभक्त हो गया : दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर का अर्थ है सर्वथा नग्न रहना। श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करना विहित बताते हैं। यह उल्लेखनीय है कि नग्न रहने अथवा श्वेत वस्त्र धारण करने का विधान केवल संसारत्यागी साधुओं के लिए विवाद का विषय है, गृहस्थों के संदर्भ में नहीं। दिगम्बर और श्वेताम्बर में प्रमुख दार्शनिक विचारों को लेकर कोई मतभेद नहीं है; उनका भेद कुछ विश्वासों और व्यवहार की कुछ छोटी–मोटी बातों को ही लेकर है। दिगम्बर लोगों का साधना मार्ग अधिक कठोर है जबकि श्वेताम्बर लोगों का मार्ग अपेक्षाकृत सरल और उदार है। दिगम्बर लोग यह मानते हैं कि महावीर का विवाह नहीं हुआ था जबकि श्वेताम्बर उनका विवाह ही नहीं इस विवाह से एक कन्या का जन्म भी मानते हैं। दिगम्बरों के अनुसार स्त्री की योनि में मोक्ष नहीं मिल सकता, इसके लिए उसे अगले जन्म में पुरुष की योनि लेनी होती है। इसी प्रकार दिगम्बर लोग यह मानते हैं कि महावीर के मूल वचन नष्ट हो गये हैं जबकि श्वेताम्बर सम्पूर्ण मूल वचन को नष्ट हुआ नहीं मानते

यह संप्रदाय-भेद कैसे हुआ ? इस विषय पर श्वेताम्बर परम्परा में निम्न विवरण प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय (लगभग 310 ई. पू. में) मगध में 12 वर्षों का लम्बा दुर्भिक्ष पड़ा। इस विपदा से बचने के लिए आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में 12000 भिक्षु दक्षिण चले गये ; ये पूर्ण नग्नता के नियम का पालन करते थे। उसकी अनुपस्थिति में, मगध में आचार्य स्थलूभद्र ने इसमें छूट दे दी और भिक्षुओं को श्वेत वस्त्र धारण करने की अनुमति प्रदान कर दी। साथ ही, इसी समय स्थूलभद्र ने मगध में एक संगीति बुलाकर भगवान महावीर के वचनों का संग्रह और संकलन कार्य करवाया। संगीति 11 अंगों को प्रस्तुत कर सकी किन्तु बाहरवां अंग नहीं प्रस्तुत कर सकी। स्थलूभद्र को सभी ग्रन्थ ज्ञात थे और उसने इसका भी संकलन करवाया। लौटने पर भद्रबाहु को यह सब अच्छा नहीं लगा। लौटने पर वह फिर संघ का नेता बन गया किन्तु वह नग्नता का नियम सब पर लागू नहीं कर सका। उसने स्थलूभद्र के नेतृत्व में संगीति द्वारा संकलित ग्रंथों को भी मान्यता नहीं दी। इस प्रकार मूल संघ दो सम्प्रदायों में बंट गया।

कालांतर में इन सम्प्रदायों में भी भेद हुए और कई उप संप्रदायों का जन्म हुआ।

जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार

स्वयं महावीर के समय में जैन धर्म पर्याप्त लोकप्रिय हो गया था और भारी संख्या में समाज के विविध वर्ग उसके प्रति आकर्षित हुए थे। मगध के शासक बिम्बिसार और अजातशत्रु, जैन परम्परा के अनुसार, इसके पक्षधर थे। चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा जैन धर्म स्वीकार किये जाने पर इसे और बल मिला। उसके समय में यह धर्म दक्षिण में फैला। प्रथम शताब्दी ई. पू. में कलिंग का शासक खारवेल इस धर्म का अनुयायी था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में मथुरा जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यहाँ से प्राप्त बहुत से लेख और पुरातात्विक अवशेषों से इस बात की पुष्टि होती है। दक्षिण के चालुक्य और राष्ट्रकूट शासन वंशों के कई नरेश इस धर्म में आस्था रखते थे। पाँचवीं शताब्दी ई. तक यह धर्म गुजरात में पर्याप्त प्रभावी हो चला था जिसके पश्चात् यहा इसका प्रभाव बढ़ता ही गया। यहीं से इस धर्म का प्रसार राजस्थान में हुआ। आज भी गुजरात और राजस्थान में इस धर्म के अनुयायी विपुल मात्रा में पाये जाते हैं।

बौद्ध धर्म

बुद्ध की ऐतिहासिक जीवनी*

बुद्ध के जन्म की तिथि के विषय में मतभेद है, किन्तु इसे 566 ई. पू. के आस पास माना जा सकता है। बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ था। वे नेपाल की तराई में स्थित शाक्य गणराज्य में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था और माता का नाम माया था। उनके पिता शुद्धोदन गण-राजा थे। जन्म के सातवें दिन ही बुद्ध की माता का देहान्त हो गया और उनका लालन-पालन उनकी मौसी महाप्रजापती गौतमी ने किया। सिद्धार्थ बचपन से ही चिन्तनशील बालक थे। बड़े होने पर शुद्धोदन ने उनका विवाह कोलिय गणराज्य की एक सुन्दरी कन्या यशोधरा से कर दिया। कहीं- कहीं उसकी भार्या का नाम गोपा अथवा बिम्बा भी दिया है। इस विवाह से उन्हें राहुल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बाद के बौद्ध ग्रन्थों में कहा गया है कि बुद्ध के जन्म के समय ही एक सन्यासी ने यह भविष्यवाणी की थी कि बड़ा होने पर यह बालक चक्रवती राजा बनेगा या सन्यासी। सिद्धार्थ सन्यासी न बनें और संसार में उनका मन लगा रहे इसलिए शुद्धोदन ने उनके महल में सांसारिक सुख की सारी वस्तुएँ जुटा दी थीं। पर संसार के सुख सिद्धार्थ को अधिक दिन तक बाँध नहीं सके। इस युग में परिव्राजक वृत्ति का बड़ा प्रभाव था। भारी संख्या में लोग सन्यास जीवन अपनाकर सत्य की खोज में प्रवृत्त होते थे। सिद्धार्थ भी एक दिन अपनी पत्नी और सद्योजात पुत्र को सोता छोड़कर घर से निकल पड़े। इस समय उनकी आयु 29 वर्ष की थी। ज्ञान की खोज में वे अपने समय के कई आचार्यों के पास गए-बौद्ध ग्रंथों में आलारपुत्त कोलाम और उद्दक रामपुत्त का नाम मिलता है। पर सिद्धार्थ को उनकी शिक्षाओं से संतुष्टि और शान्ति नहीं मिली, फिर लगभग साढ़े छः वर्षों तक उन्होंने घोर तपस्या का मार्ग अपनाया पर उससे भी उन्होंने अपने को ज्ञान के निकट पहुंचा हुआ अनुभव नहीं किया। एकाएक उन्हें यह याद आया कि बचपन में वे ध्यान किया करते थे और उन्होंने इस मार्ग को साधने का निश्चय किया। वे गया में (बिहार प्रांत) एक वृक्ष के नीचे इस दृढ़ निश्चय के साथ ध्यान लगा कर बैठ गए कि वे तब तक नहीं उठेंगे जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती। यहीं उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। यह वृक्ष 'बोधि वृक्ष' (बोधि-ज्ञान) कहलाया और सिद्धार्थ अब बुद्ध (=ज्ञानी) कहलाए। अब वे 'अर्हत' (=योग्य) हुए। सारनाथ में (उत्तर प्रदेश में वाराणसी के निकट) उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया। बौद्ध इस घटना को 'धर्म चक्र-प्रवर्तन'(=धर्म का चक्का जो रूक गया था उसे फिर से चलाया जाना) कहते हैं।

महावीर के समान बुद्ध ने भी जीवन की शेष आयु अपने सिद्धान्तों का उपदेश करने में बिताया। भारी संख्या में लोग उनके शिष्य बने। अनुयायी भिक्षुओं और भिक्षुणियों से उन्होंने बौद्ध संघ की स्थापना की। गृहस्थों में समाज के हर वर्ग के लोग उनके अनुयायी बने जिनमें विभिन्न धनी, श्रेष्ठी और राजा-राजकुमार सम्मिलित थे। 80 वर्ष की आयु में कुसीनारा (कुशीनगर-उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में) नामक स्थान पर उन्होंने देहत्याग किया। यह तिथि 487-486 ई. पू. अथवा 484-483 ई. पू. मानी जाती है।

बुद्ध और महावीर दोनों का कार्यक्षेत्र आज का पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार था। दोनों ही अपने समय के लोकप्रिय धार्मिक नेता थे।

---

* बुद्ध की जीवनी पर सामान्यतः द्र. ई. जे. टामस, **द लाइफ आव बुद्ध**, क्रिसमस हम्फीज, **बुद्धिज्म**, कोमा कॉरस, द **लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ बुद्ध**, ई. जे. ब्रुएस्टर, **द लाइफ आव गौतम द बुद्ध**।

बुद्ध के सिद्धान्त

सामान्य सिद्धान्त

महावीर के समान बुद्ध भी वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते थे। उनका भी किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास नहीं था। उनके अनुसार भी सृष्टि अनादि और अनन्त है। वे कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानते थे। 'कर्म ही मनुष्य का जनक है' और ' संसार में अलग-अलग मनुष्यों में दिखाई पड़ने वाला भेद कर्म के ही कारण है'। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का फल प्राप्त करता है और इसमें माता-पिता, भाई, पुत्र, पत्नी या मित्र कोई भी साझा नहीं बंटा सकता। बुद्ध क्षणिकवाद अथवा अनित्यता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलता की तीव्र गति के कारण यह दिखाई नहीं पड़ता। जैसे नदी के एक जल-बिन्दु का स्थान कब दूसरा जलबिन्दु से लेता है यह दिखाई नहीं पड़ता और केवल जल-प्रवाह दिखाई पड़ता है, ऐसे ही संसार की वस्तुओं के विषय में समझना चाहिए।

बुद्ध दुः ख की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। बुद्ध के अनुसार जीवन अथवा संसार तथा दुः ख को पर्यायवाची शब्दों के रूप में लिया जा सकता है। अपने विविध पूर्व जन्मों में प्रत्येक व्यक्ति ने अनन्त दुख भोगें हैं और उसका यह दुः ख-भोग तब तक चलता रहेगा जब तक कि उसे निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती। एक स्थान पर बुद्ध ने कहा है कि यदि एक ओर चारों समुद्रों का जल रखा जाय और दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अनन्त जन्मों में बहाए गए अश्रुओं को तो अश्रुओं का परिमाण चारों समुद्रों के जल से अधिक होगा। संसार दुःखमय है और यह बन्धन है। इन्द्रिय सुखों और भोगों के पीछे पड़ा हुआ मनुष्य इस बन्धन से छूट नहीं पाता। संसार की तुलना उन्होंने आग में जलते हुए घर से की।

बुद्ध तर्कबुद्धि पर विशेष बल देते थे। उन्होंने बार-बार कहा कि कोई बात केवल इसलिए नहीं स्वीकार करनी चाहिए कि इसे कोई कह रहा है अथवा यह किसी ग्रन्थ में हैं अथवा परम्परा ऐसा कहती है। जैसे स्वर्णकार सोने की शुद्धता को कसौटी पर कस कर या आग में गला कर परखता है, उसी प्रकार सत्य की भी परख तर्क-बुद्धि की कसौटी पर कस कर करनी चाहिए। बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों को भी परख कर ही स्वीकार करने को कहा। उन्होंने अपने धर्म को 'ऐहिपस्सिक धम्म' बताया अर्थात आओ और स्वयं देखो। भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में बुद्ध को प्रथम बुद्धिवादी दार्शनिक कहा जा सकता है।

बुद्ध का दृष्टिकोण व्यावहारिक था। वे गूढ़ दार्शनिक तथा आध्यात्मिक प्रश्नों के पचड़े में पड़ना ठीक नहीं मानते थे। आत्मा क्या है? संसार की उत्पत्ति कब हुई? मरने के बाद मुक्त व्यक्ति कहाँ जाता है? आदि प्रश्नों का उत्तर ढूंढना निरर्थक है।*

बुद्ध ने कहा कि इस प्रकार का उत्तर ढूंढने वाले की स्थिति उस व्यक्ति की तरह है जिसे जंगल में तीर लग गया हो और वह यह कहे कि मैं तब तक तीर निकलवा कर उपचार नहीं कराऊंगा जब तक मुझे इन सभी प्रश्नों का उत्तर न मिल जाय-तीर किसने चलाया? वह किस जाति का था? तीर किस धातु का बना था? इसे बनाने वाला कौन था? तीर में जहर था या नहीं? इत्यादि। जब तक उसे इन सारे प्रश्नों का उत्तर मिल पाएँगे, उसके प्राण पखेरू उड़ जाएँगें। बुद्ध ने कहा कि व्यक्ति संसार रूपी दुःख में है

* ऐसे प्रश्नों को बुद्ध ने 'अव्याकृत प्रश्न' कहा है।

यह यथार्थ है। इस यथार्थ को जान कर इससे छुटकारा पाने का उपाय ढूंढना चाहिए।

चार आर्य सत्य–

सारनाथ के अपने प्रथम उपदेश में ही बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया। वे इस प्रकार हैं :

1. दुःख आर्य सत्य–

बुद्ध के अनुसार संसार में दुःख ही दुःख है। जन्म, रोग, मृत्यु, प्रिय व्यक्ति से बिछड़ना, अप्रिय व्यक्ति से मिलना यह सभी कुछ दुःख है। संसार में जन्म लेने का अर्थ ही दुःख के बन्धन में पड़ना है जो सुख जान पड़ता है वह भी वास्तव में दुःख ही है क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ अस्थायी हैं जिस कारण सुख का विषय कभी न कभी हमसे अलग होता है और परिणामवश हम पुनः दुःखी हो जाते हैं। सुख का विषय बना भी रहे तो मृत्यु का शाश्वत सत्य हमें उससे अलग करता है।

2. दुःख समुदय–

समुदय का अर्थ है कारण। बुद्ध ने केवल संसार की दुःखमयता का बोध नहीं कराया बल्कि इस दुःख कारण भी बताया। यह कारण है, तृष्णा या इच्छाएँ। मनुष्य की इच्छाएँ कभी शान्त नहीं होंती, एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है। मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि उसकी भी इच्छाएँ पूरी नहीं हो सकती, और परिणामस्वरूप वह दुःखी होता है। तृष्णा का मूल कारण अविद्या है जिसके प्रभाव में व्यक्ति संसार की वस्तुओं में नित्यशः व्याप्त अनित्यता को नहीं देख पाता और इनके भोग के पीछे भागता रहता है। इस प्रकार तृष्णा को दुःख का तात्कालिक कारण और अविद्या को दुःख का आत्यन्तिक कारण समझना चाहिए।

3. दुःख निरोध–

निरोध का अर्थ है हटाना। बुद्ध कार्य-कारण का सिद्धान्त मानते हैं। यदि दुःख का कारण तृष्णा है तो तृष्णा के नाश से दुःख का भी नाश हो जायगा। दुःख का पूर्ण विनाश ही आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है।

4. दुःख निरोध का मार्ग–

बुद्ध ने उस मार्ग को भी बताया जिस पर चलकर दुःख का निरोध सम्भव है। इसके आठ अंग है जिस कारण इसे अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। अष्टांगिक मार्ग है :-

1. सम्यक् दृष्टि,
2. सम्यक् संकल्प,
3. सम्यक् वाक्,
4. सम्यक् कर्म,
5. सम्यक् आजीव,
6. सम्यक् व्यायाम
7. सम्यक् स्मृति,
8. सम्यक् समाधि।

प्रत्येक के पहले लगे हुए सम्यक् का अर्थ है उपयुक्त या ठीक-ठीक।

सम्यक् दृष्टि से तात्पर्य है सभी प्रकार के (कायिक, वाचिक, मानसिक) अच्छे और बुरे कर्मों का ज्ञान। 'कायिक' बुरे कर्म हैं हिंसा, चोरी और व्याभिचार और अहिंसा, अ-चोरी और अ-व्याभिचार कायिक अच्छे कर्म हैं; वाचिक बुरे कर्म है : मिथ्या भाषण, चुगली, कटु वाणी बोलना और बकवास; मानसिक बुरे कर्म हैं लोभ, प्रतिहिंसा और मिथ्या धारणा।

इसी प्रकार संसार के स्वरूप का ठीक- ठीक ज्ञान भी सम्यक् दृष्टि के अन्तर्गत आएगा। सम्यक् संकल्प से तात्पर्य उस संकल्प से है जिसमें भ्रम, हिंसा और प्रतिहिंसा की भावना न हो। सम्यक् वाक् का अर्थ है झूठ, चुगली, कटुभाषण और बकवास से बचना और सत्य भाषण तथा मधुर वाणी का प्रयोग। हिंसा, चोरी और व्यभिचार-रहित कर्म सम्यक् कर्म है। शरीर चलने के लिए जीविका के बुरे साधनों का परित्याग कर अच्छे साधनों को अपनाना सम्यक् आजीव है। जीविका के वे सभी साधन जिनमें प्राणि-हिंसा होती हो बुरे कहे जायेंगे। बुद्ध ने ऐसे साधनों में निम्नलिखित की गणना की थी - हथियार का व्यापार, प्राणी का व्यापार, मांस का व्यापार, मदिरा तथा विष का व्यापार। सम्यक् व्यायाम का अर्थ है ठीक उद्यम या उपक्रम इन्द्रियों पर समय रहते हुए बुरी भावनाओं को न आने देने और अच्छी भावनाओं को उत्पादित करने का प्रयत्न करते रहना। सम्यक् स्मृति से तात्पर्य है मन को ठीक विषय पर लगाना। सम्यक् समाधि का अर्थ है चित्त को एकाग्र करना जिससे चित्त के विक्षेप दूर हो जाते हैं और यह शान्ति की स्थिति में प्रतिष्ठित होता है।

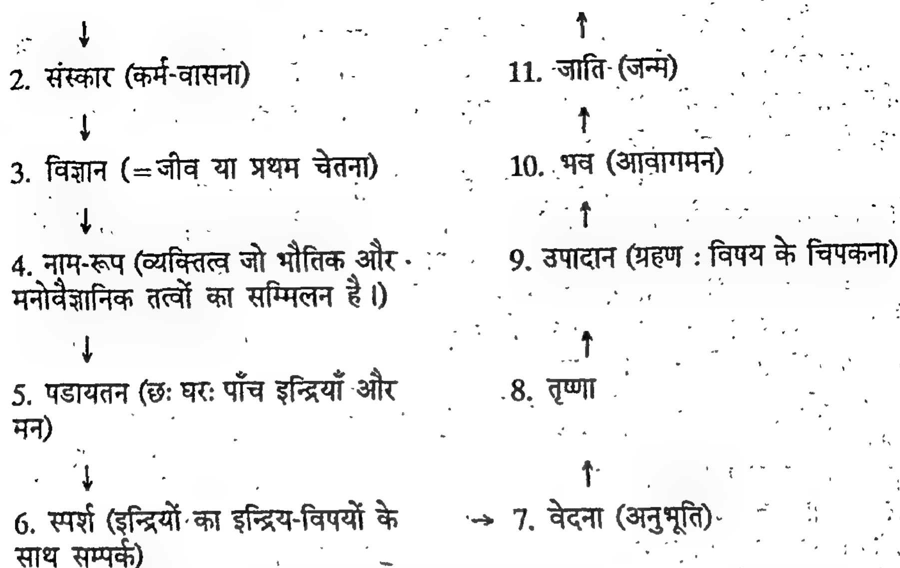
बुद्ध ने अपने मार्ग को मध्यम मार्ग भी कहा है। मध्यम मार्ग का अर्थ है अति का सर्वत्र विरोध। बुद्ध ने देखा कि जहाँ कुछ लोग इन्द्रिय-सुख को ही सब कुछ मानकर सांसारिक भोग-विलासों में ही निमग्न रहते हैं वहीं कुछ लोग कठोर तपस्या द्वारा शरीर को नाना प्रकार के कष्ट पहुंचाते हैं। बुद्ध के अनुसार, मनुष्य को न तो केवल भोग-विलास में फंस जाना चाहिए और न ही शरीर को अनावश्यक कष्ट देना चाहिए। बौद्ध धर्म में इसे वीणा के तारों की उपमा द्वारा समझाया गया है। वीणा के तार जब बहुत ढीले या बहुत कड़े कसे हुए रहते हैं तो स्वर ठीक नहीं निकलते; तारों को समरस कसे होने पर ही स्वर ठीक निकलते हैं। ऐसे ही शरीर की इन्द्रियों को न तो एकदम ढीला छोड़ देना चाहिए और न ही बहुत अधिक कसना चाहिए। शरीर के स्थान पर मन का संयम आवश्यक है।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद बौद्ध धर्म का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त है। इसके अनुसार, प्रत्येक 'उत्पाद' (=कार्य अथवा वस्तु) का कोई न कोई 'प्रत्यय' (=हेतु अथवा कारण) होता है। इस सिद्धान्त को एक सिद्धान्त-वाक्य (formula) के रूप में इस प्रकार समझाया गया है; 'इसके होने पर यह होता है; इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है। इसके अभाव में यह नहीं होता; इसके निरुद्ध होने पर इसका निरोध हो जाता है।" अर्थात् ' क' के होने से 'ख' का अस्तित्व संभव है और यदि कारण रूपी 'क' नहीं हो तो कार्य रूपी 'ख' भी नहीं होगा। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद कार्य-कारण सम्बन्ध का सिद्धान्त है। संसार कार्य-कारण श्रृंखला में चलता है और इसकी व्याख्या के लिए ईश्वर जैसी किसी सत्ता का अस्तित्व मानने की आवश्यकता नहीं है। तृष्णा दुःख का तात्कालिक कारण है और अविद्या मूल कारण। तृष्णा और अविद्या के नाश से दुःख भी नहीं रहेगा और संसार में आवागमन का चक्र भी समाप्त हो जाएगा।

कार्य-कारण-सम्बन्ध के इस सिद्धान्त को विकसित रूप में 'द्वादश निदान' (बारह कड़ियों) द्वारा समझाया गया है। प्रत्येक निदान अपने से बाद वाले निदान का प्रत्यय या कारण है। इन बारह निदानों का चक्र इस प्रकार है

1. अविद्या ← 12. जरामरण (दुःख या संसार)



इस रूप में प्रतीत्य समुत्पाद दुःख अथवा संसार की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। प्रतिलोम प्रकार से विचार करने पर (अर्थात् यदि जाति न हो तो जरामरण नहीं होगा, यदि भव न हो तो जाति नहीं होगा इसी प्रकार अविद्या के नाश तक) यह सिद्धान्त दुःख अथवा संसार के विनाश की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

अनात्मवाद

संसार का विश्लेषण करते हुए बुद्ध ने कहा कि सभी कुछ अनात्म है। इससे कुछ विद्वानों ने यह समझा है कि बुद्ध आत्मा नाम की किसी सत्ता में विश्वास नहीं करते थे। पर कुछ अन्य विद्वानों का विचार है कि बुद्ध आत्मा तो मानते थे पर वे सांसारिक वस्तुओं को अनात्म मानते थे। इस प्रसंग में बौद्ध धर्म का कहना है कि जैसे गाड़ी कई पुर्जों को जोड़ कर बनती है और हम उसे गाड़ी कहते हैं ऐसे ही मनुष्य भी कई तत्वों का जोड़ है। इनमें से कोई भी तत्व स्थायी नहीं हैं। मृत्यु के बाद ये तत्व अलग-अलग हो जाते हैं। संसार की सभी चीजें क्षणिक और नाश होने वाली है। केवल प्रवाह में वे स्थायी दिखाई पड़ती हैं। जैसे नदी का जल निरन्तर बदलता रहता है पर प्रवाह के कारण हम केवल नदी को देखते हैं वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति संसार के पदार्थों से चल रहे निरन्तर परिवर्तनों को नहीं देख पाता और उसे स्थायी मानता है।

निर्वाण

जिसे हिन्दू धर्म में मोक्ष या जैन धर्म कैवल्य कहते हैं, इसी स्थिति को बौद्ध धर्म का निर्वाण कहा जाता है। 'निर्वाण' का शाब्दिक अर्थ है 'बुझ जाना'। जैसे दीपक का तेल समाप्त हो जाने पर और उसमें नए तेल की आमदनी न होने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार चित्त की सारी मलिनताओं के समाप्त हो जाने पर, काम-भोग और पुनर्जन्म की इच्छाओं के क्षीण होने पर संसार का यह आवागमन नष्ट हो जाता है। यह संसार रूपी भवन, जो दुःख का ही दूसरा नाम है, अविद्या और तृष्णा के गारे से बना है। तृष्णा का नाश होने पर यह ढह जाएगा। इस प्रकार, नकारात्मक रूप से निर्वाण वह स्थिति है जिसमें सभी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं और सभी दुःखों का नाश हो जाता है।* सकारात्मक

रूप में यह परम सुख**

और परम शान्ति की स्थिति है। नैतिक आचरण और ध्यान तथा ज्ञान से निर्वाण की प्राप्ति होती है। निर्वाण की प्रकृति शरीर रहते ही होती है–यथा बुद्ध को निर्वाण की प्राप्ति बोधि वृक्ष के नीचे हुई। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की मृत्यु को परिनिर्वाण कहते हैं।

बौद्ध नीति शास्त्र : शीलपरक धर्म

बौद्ध धर्म के अनुसार, निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति ईश्वर जैसी किसी दैवी सत्ता की कृपा या अनुग्रह से संभव नहीं है। व्यक्ति अपने ही कर्मों के कारण दुःख में हैं और अपने ही कर्मों से वह इस स्थिति से छुटकारा पा सकता है। इस कारण व्यक्ति को सदैव शुभ कर्म करने चाहिए। हिंसा की भावना से रहित और लोक कल्याण की भावना से प्रेरित कर्म शुभ कर्म है। कोई कर्म अच्छा है या बुरा इसका मानदण्ड यह है कि वह किस भावना या अभिप्राय से किया गया।

बुद्ध का विचार था कि निरन्तर प्रयास करते रहने पर व्यक्ति आत्म-सुधार कर सकता है। पहले तो उसे इन्द्रिय-विषयों से बचने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु इस साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है मन के ऊपर नियंत्रण। मन चंचल है और स्वभाव से बार-बार भोगों की ओर भागता है। इसे बार-बार शुभ विषयों में लगाने का अभ्यास करना चाहिए। बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग है। लक्ष्य की प्राप्ति न तो शरीर को विविध भोगों से निमग्न कर देने से हो सकती है और न ही शरीर को अनावश्यक कष्ट देने से। आध्यात्मिक साधना का मूल चित्त को साधने में ही निहित है। चित्त के परिष्कार के लिए ध्यान के विविध प्रकार बताए गये हैं। संसार की दुःखमयता तथा सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता का ध्यान व्यक्त को अच्छे कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

बौद्ध संघ

बौद्ध धर्म में संघ का विशेष स्थान है। प्रत्येक बौद्ध यह कह कर अपने विश्वास की अभिव्यक्ति करता है : 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' ('मैं बुद्ध की शरण जाता हू, मैं धर्म की शरण जाता हू, मैं संघ की शरण जाता हू)।

बुद्ध ने पहले अपने संघ में स्त्रियों को प्रवेश नहीं दिया था। पर बाद में जब बचपन में उन्हें पहले वाली महाप्रजापती गौतमी ने भिक्षुणी बनने का आग्रह किया तब आनन्द नामक अपने प्रिय शिष्य के कहने पर उन्होंने भिक्षुणियों को भी संघ की सदस्यता प्रदान की। पर उन्हें भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ कठोर नियमों का पालन करना होता था। भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए बनाए गए नियमों का संकलन विनय पिटक नामंक ग्रन्थ में मिलता है।

संघ में प्रवेश के लिए 15 वर्ष की आयु निर्धारित की गई थी। इसमें सभी वर्ण और जाति के लोग प्रवेश पा सकते थे पर कुछ कठिन रोगों से ग्रस्त, कुछ अनाचार कर्मों के करने वाले तथा कुछ अपराधों से दण्डित लोगों को प्रवेश का अधिकार नहीं था। संघ का स्वरूप लोकतांत्रिक था। बुद्ध ने अपनी मृत्यु के बाद किसी एक व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी न बना कर संघ को ही अपने अनुयायियों का नेता बनाया। प्रत्येक विवाद या मतभेद के विषय का निर्णय भिक्षुओं की सभा में विचार-विमर्श द्वारा तथा बहुमत द्वारा किया जाता था। विभिन्न आवश्यताओं को ध्यान में रख कर भिक्षुओं में से विविध

---

* सब्बसंखारसमथो सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो निरोधो निब्बान।

** निब्बान परम सुखं।

अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।

भिक्षु सभा प्रत्येक पन्द्रह दिन पर एक बार इकट्ठी होती थी। इस समय प्रातिमोक्ष (भिक्षु-नियमों की सूची) का पाठ किया जाता था। इसके बाद उपस्थित भिक्षुओं से पूछा जाता था कि वे इन अपराधों से मुक्त हैं या नहीं। यदि कोई वयक्ति किसी नियम का अपराधी होता तो उसे स्वीकार करता था। अपराध के स्वरूप के अनुसार उसे दण्ड दिया जाता था।*

बौद्ध संगीतियाँ

(बुद्ध के वचनों को संकलित तथा व्यवस्थापित करने के उद्देश्य से समय-समय पर व्यापक स्तरीय भिक्षु सभाएँ बुलाई गई। इनको संगीतियाँ कहते हैं।) बौद्ध परम्परा में चार प्रमुख संगीतियों की चर्चा मिलती है। प्रथम बौद्ध संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण (=देह त्याग) के तुरन्त पश्चात् बुलाई गई, जिसमें पहली बार बुद्ध-वचनों को संकलित किया गया। यह संगीति राजगृह में हुई और इस समय मगध का शासक अजातशत्रु था। दूसरी संगीति 100 वर्ष (एक अन्य परम्परा के अनुसार 110 वर्ष) बाद वैशाली में हुई। इस समय मगध के शासक का नाम कालाशोक बताया गया है। तीसरी बौद्ध संगीति मौर्य शासक अशोक के शासन काल में हुई। चौथी बौद्ध संगीति कुषाण शासक कनिष्क के शासन काल में बुलाई गई।

बौद्ध सम्प्रदाय : हीनयान और महायान

कालक्रम में बौद्ध संघ कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। अशोक के समय तक यह 18 सम्प्रदायों में बंट गया था। आगे चल कर मोटे तौर पर दो प्रमुख भेद बने : हीनयान और महायान। हीनयान महायानियों का दिया गया नाम है। स्वयं हीनयानी अपने सम्प्रदाय को स्थविरवाद (पाली भाषा में थेरवाद) कहते हैं। 'यान' शब्द का अर्थ है सवारी। महायान का कहना है कि उनका अपना मत या धर्म बढ़ी सवारी है जिसमें बहुत लोग बैठ कर संसार के दुःखों से मुक्ति पा सकते हैं जबकि हीनयान छोटी सवारी है।

जहाँ तक बुद्ध के प्रमुख सिद्धान्तों का प्रश्न है हीनयान और महायान में अन्तर नहीं हैं। किन्तु कुछ सिद्धान्तों पर महायान विशेष बल देता है और इसमें कुछ नई बातें भी हैं। महायान में बुद्ध का पूर्ण दैवीकरण मिलता है। इसी कारण महायान में भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन है। महायान में बुद्ध की करूणा पर विशेष बल दिया गया है। महायान में जिस एक अन्य नवीन तत्व का प्रवेश हुआ वह था बोधि सत्वों की सत्ता में विश्वास। बोधिसत्व से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसने बुद्धत्व की प्राप्ति का प्रण किया है और निरन्तर इस लक्ष्य की ओर अग्रसर है। दूसरे का कल्याण उसकी नैतिक और धार्मिक साधना का प्रमुख अंग है। ऐसा व्यक्ति यह निश्चय करता है कि 'मैं तब तक निर्वाण सुख नहीं प्राप्त करुंगा, जब तक अन्य सभी प्राणियों को निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो जाती।'

भक्ति की भावना के साथ ही महायान में मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ। बुद्धों और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं और उनकी उपासना के लिए बौद्ध धर्म में भी मंत्रों और पूजा-अनुष्ठानों का आविर्भाव हुआ। जहाँ हीनयान में यह विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही शुभ कर्मों द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है, महायान में बोधिसत्वों की कृपा और सहायता में विश्वास किया गया है।

---

* बौद्ध संघ के संगठन, भिक्षुओं की जीवनचर्या आदि पर विस्तार के लिए मेरी पुस्तक दि एज आव विनय (दिल्ली, 1972), अभ्यास 4।

शून्यवाद और विज्ञानवाद महायान के दो प्रमुख सम्प्रदाय थे। शून्यवाद के नागार्जुन और विज्ञानवाद के असंग और वसुबन्धु प्रमुख आचार्य थे। नागार्जुन का समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी ईस्वी माना जाता है। यह उल्लेखनीय है कि महायान के सिद्धान्त विविध हीनयानी सम्प्रदायों में बीज रूप में पहले से ही विद्यमान थे जिनका महायान में विकास हुआ। विशेष रूप से महासांघिक सम्प्रदाय की महायान के अभ्युदय में विशेष भूमिका मानी जाती है।

विदेशों में प्रसार

भारत से बाहर बौद्ध धर्म का प्रचार अशोक के शासनकाल में प्रारम्भ हुआ। तीसरी बौद्ध संगीति के बाद भिक्षु-टोलियाँ इस कार्य हेतु अलग-अलग प्रदेशों में गई। इसी समय बौद्ध धर्म बर्मा और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में गया। अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को लंका में बौद्ध धर्म ले जाने का श्रेय दिया जाता है। अशोक के समय भारत की सीमा अफगानिस्तान तक थी और उसके समय में यह प्रदेश बौद्ध धर्म के प्रभाव में आया। पश्चिमोत्तर में रहने वाले यूनानी इससे परिचित हुए। इसी से आगे चलकर इस प्रदेश में प्रसिद्ध बौद्ध कला-शैली गांधार कला का उदय हुआ जिसमें कथा-विषय बौद्ध हैं किन्तु मूर्ति की शैली यूनानी है। कुषाण शासक कनिष्क का शासन भारत और मध्य एशिया दोनों पर था। वह स्वयं बौद्ध था। उसके समय में बौद्ध धर्म मध्य एशिया में फैला और इसने तिब्बत और चीन को प्रभावित किया। चीन में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रसार चीनी सम्राट मिंग-ती के शासन काल में हुआ। चीन से यह जापान पहुचा। इन विविध देशों में बौद्ध धर्म के प्रसार ने भारतीय संस्कृति को दूर-दूर पहुचाने में योगदान दिया। इनमें बौद्ध धर्म राष्ट्र धर्म बना और जब कि यह अपनी जन्मभूमि में विलुप्त हो गया, इन विविध देशों में आज भी यह प्रमुख धर्म के रूप में जीवित है।

भारत में बौद्ध धर्म का पतन तथा पतन के कारण

बौद्ध धर्म के विकास में महायान के बाद तांत्रिक बौद्ध धर्म की अवस्था आती है। इस रूप में बौद्ध धर्म सर्वथा अनुष्ठानात्मक हो गया, यहाँ तक कि इसमें कई ऐसे तत्वों का (जैसे मदिरा, स्त्री संसर्ग) प्रवेश हो गया जो मूल बौद्ध धर्म से कतई मेल नहीं खाते। 8वीं से 12वीं शताब्दी का समय तांत्रिक बौद्ध धर्म के प्रभाव का समय था। बंगाल इसका प्रमुख केन्द्र था। इसके बाद धीरे-धीरे बौद्ध धर्म अपने जन्म की भूमि से विलुप्त हो गया।

इस पतन का कोई एक कारण नहीं हैं। कई कारणों ने धीरे-धीरे ऐसी स्थिति बनाई कि बौद्ध धर्म यहाँ जीवित नहीं रह सका। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म की जीवन्तता समाप्त होती चली गई और भिक्षु संघ में अनाचार और कुप्रवृति बढ़ गई। तांत्रिक बौद्ध धर्म के कई पक्षों ने जनसाधारण में इसके लिए घृणा की भावना पैदा की। भिक्षु और भिक्षुणियाँ भोग और विलास में रूचि लेने लगे जिससे लोगों में उनके प्रति श्रद्धा समाप्त होती गई। साथ ही, हिन्दू धर्म में सदा से ही विविध बाह्य तत्वों को आत्मसात् करने की विलक्षण शक्ति रही है। इसी प्रवृति ने बुद्ध को भी विष्णु का एक अवतार मान लिया और उनके विविध सिद्धान्तों को रूपान्तरित कर अपना लिया। दूसरी ओर स्वयं बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा प्रारम्भ हो गई थी और मंत्र-अनुष्ठान आदि का आविर्भाव हो चला था। ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म का अपना पृथक् व्यक्तित्व समाप्त हो गया, इसमें और हिन्दू धर्म में कुछ विशेष भेद न रह गया। 7वीं 8वीं शताब्दी के बाद हिन्दू धर्म के पुनरूत्थान ने इसे पहले से ही खोखले हो रहे धर्म को जोरदार धक्का दिया। चूंकि यह प्रारम्भ से ही जैन धर्म की

अपेक्षा अधिक लोकप्रिय था अतः हिन्दू धर्म का प्रहार भी इसी पर हुआ। शंकराचार्य और कुमारिल ने अपने दार्शनिक प्रतिपादनों और शास्त्रार्थों द्वारा इस पर तीखे प्रहार किए। इनके सामने बौद्ध अनुयायी नहीं टिक सके।

प्रारम्भ से ही बौद्ध धर्म में एक बड़ी कमजोरी थी। जैन समाज में संघ के अन्तर्गत उपासक और उपासिकाओं के रूप में गृहस्थ भी आते हैं। जैन धर्म में भिक्षुओं और भिक्षुणियों का गृहस्थी से घनिष्ट सम्बन्ध रखा गया जिसके कारण् जन-साधारण में जैन धर्म का प्रभाव निरन्तर बना रहा। इसके विपरीत, बौद्ध संघ में भिक्षुओं और गृहस्थों के बीच ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध नहीं परिकल्पित था। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे बौद्ध धर्म विहारों और मठों तक केन्द्रित होकर रह गया और साधारण जनता में इसका प्रभाव कम होता गया। जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ तो मठों और विहारों को ध्वंस कर दिया गया। उनमें रहने वाले भिक्षु भारी संख्या में मारे गये या मुस्लिम बना लिए गए। कुछ भाग कर पड़ोस के देशों में चले गये। मठों के विनाश के साथ केवल मठों तक सीमित रह गया धर्म भी विनिष्ट हो गया। यदि जनसाधारण में इसकी जड़ें गहरी होतीं तो मठों के विनाश के बावजूद यह बचा रह जाता।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की पारस्परिक समानताएँ और अन्तर

जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही श्रमण परम्परा के धर्म हैं, अर्थात् दोनों ही निवृत्तिवाद का प्रतिपादन करते हैं। बुद्ध और महावीर दोनों का कार्यक्षेत्र एक था। दोनों वेदों की प्रामाणिकता नहीं मानते थे और न सृष्टि-कर्ता ईश्वर में विश्वास करते थे। दोनों कर्मवादी थे। दोनों धर्मों ने अहिंसा पर बल दिया, यद्यपि जैन धर्म में यह बहुत अधिक है। समाज-व्यवस्था के विषय में ये दोनों ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था से विरोधी मत रखते हैं। दोनों में सभी वर्णों और जातियों के लोगों को प्रवेश की अनुमति थी और वे मानते थे कि जन्म से कोई ऊंचा-नीचा नहीं होता अपितु व्यक्ति के कर्म ही महत्त्वपूर्ण हैं।

इन सामान्य समानताओं के होने पर भी इनके सिद्धान्तों में पर्याप्त विषमताएँ भी देखने में आती हैं। जहाँ बौद्ध धर्म 'अनात्मवाद' का सिद्धान्त मानता है, जैन धर्म विपुल संख्यक जीवों की सत्ता में विश्वास करता है। जैन लोग कठोर तपस्या को बड़ी महिमा प्रदान करते हैं, किन्तु बुद्ध ने शरीर को अनावश्यक कष्ट देने को निरर्थक बताया और 'मध्यम मार्ग' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। कर्म के सिद्धान्त के विषय में भी इनमें सूक्ष्म भेद मिलता है। बन्धन की प्रक्रिया और बन्धन की समाप्ति के विषय में भी उनके मत भिन्न हैं। इसी प्रकार निर्वाण या मोक्ष के स्वरूप के विषय में भी उनके भिन्न विचार मिलते हैं।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म का भारतीय मस्तिष्क पर प्रभाव तथा अन्य सांस्कृतिक योगदान

हम देख चुके हैं कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही निवृत्तिवादी धर्म हैं। इन दोनों में ही त्याग पर विशेष बल दिया गया है। जैनों का अपरिग्रह का सिद्धान्त कम से कम वस्तुओं और केवल उतना ही रखने को कहता है जितना कि आवश्यक है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में भोग और त्याग दोनों की आवश्यकता होती है। तभी उसका जीवन स्वस्थ और सुखी बनता है, अन्यथा उसमें तनाव और उलझनें आ जाती हैं। इन दोनों धर्मों ने भारतीय मस्तिष्क को इस दिशा में प्रेरित किया। इन धर्मों के प्रभाव में ब्राह्मण धर्म ने भी अपने अन्दर इस त्याग और निवृत्ति के विचार को अपनाया। हिन्दू धर्म के प्रमुख ग्रन्थ गीता में प्रवृत्तिवाद और

निवृत्तिवाद का इस प्रकार का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है।

वैदिक धर्म में वेदों को सर्वोच्च माना गया है। इसके अनुसार, क्या उचित है और क्या अनुचित, यह सभी कुछ वेदों में दिया गया है। किसी एक पुस्तक को इस प्रकार का प्रमाण मान लेने तथा उसमें अन्ध-विश्वास करने पर स्वतन्त्र चिन्तन का मार्ग रूद्ध हो जाता है और बौद्धिक विकास की गति धीमी पड़ जाती है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों वेदों को प्रमाण नहीं मानते। प्रत्येक मनुष्य को स्वयं सत्य को जानने और अनुभव करने का प्रयास करना चाहिए और ऐसा करने पर सत्य और ज्ञान का साक्षात्कार होता है। बुद्ध ने अपने धर्म को 'आओ और देखो' (एहिपस्सिक) धर्म कहा है। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा कि मेरी बात को भी आंख मूंद कर मत मानो बल्कि हर बात को स्वयं परखने के बाद ही उसे स्वीकार करो। इस प्रकार इन धर्मो ने स्वतन्त्र चिन्तन का मार्ग खोला और बौद्धिक विकास में सहायता पहुचाई। जैन और बौद्ध दार्शनिक चिन्तन ने भारत के दार्शनिक विचारों के भण्डार को और भी समृद्ध बनाया।

ये दोनों धर्म सृष्टि के निर्माण के लिए किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करते। साथ ही ये कर्म के सिद्धान्त पर बल देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःख के लिए स्वयं उत्तरदायी है, उसका दुःख भाग्य अथवा किसी ईश्वर ने नहीं पैदा किया है। उसके पूर्व जन्मों के कर्म ही उसके कारण हैं। न ही कोई और व्यक्ति अथवा शक्ति इसे दूर कर सकती है; उसे दुःख को स्वयं अपने सुकर्मों से दूर करना है। वैदिक कालीन ब्राह्मण धर्म में यह विश्वास था कि प्रायश्चित्त अथवा यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों से देवताओं को प्रसन्न करके अपने पापों को धोया जा सकता है। जैन और बौद्ध धर्म ने इस विश्वास को गलत बताया। प्रत्येक कर्म का फलभोग करना ही पड़ेगा और इस कारण सभी को कर्म करते समय सचेत रहना चाहिए। इस प्रकार के विचार ने जहाँ एक ओर अपने उद्धार के लिए किसी और सत्ता का मुंह देखने की भावना को दूर किया, वहीं दूसरी ओर इसने मनुष्य में एक नया आत्मविश्वास जगाया। कर्म पुनर्जन्म तथा संसारवाद के सिद्धान्तों को बाद के सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों ने स्वीकार किया। यह भारतीय धर्मों का एक विशिष्ट तत्व है; ईसाई धर्म और इस्लाम में यह नहीं मिलता।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही नैतिक आचरण पर विशेष बल देते हैं। सम्यक् चारित्र जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है जिसके बिना मोक्ष नहीं मिल सकता। बौद्ध धर्म में भी नैतिक आचरण पर इतना बल है कि इसे 'शीलपरक धर्म' कहा जाता है। सत्य, अस्तेय, अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य भारतीय मस्तिष्क और विचारधारा के विभिन्न अंग रहे हैं। दोनों धर्म अहिंसा पर विशेष बल देते हैं और जैन धर्म का तो यह मूल मंत्र है। अहिंसा केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं अपितु इसमें पशु, पक्षी और यहाँ तक कि पेड़ और पौधे तक आ जाते हैं। इन दोनों धर्मो ने इसे भारतीय मस्तिष्क में गहरे बिठाया है। इन्होंने धर्म के नाम पर पशु बलि का भी विरोध किया। अहिंसा को भारतीय विचारधारा का प्रमुख तत्व कहा जा सकता है। प्राचीन काल में अशोक से लेकर आधुनिक काल में महात्मा गांधी तक यह परम्परा चलती हुई मिलती है। महाभारत में अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म बताया गया है। (अहिंसा परमो धर्मः) और पुराणों तथा स्मृतियों में भी इस पर बल दिया गया है। अहिंसा के व्यापक स्वरूप में इस आस्था के कारण भारतीय मस्तिष्क सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई मानता है। यह सभी को पारस्परिक प्रेम से रहना सिखाता है।

जैनों के स्याद्वाद तथा अनेकान्तवाद के सिद्धान्त में सत्य को कई पहलुओं वाला

बताया गया है। लोग सत्य अथवा ज्ञान के किसी एक पहलू को देखते हैं और इसे पूर्ण ज्ञान समझ बैठते हैं। दूसरों की बात और विचारों को वे गलत समझने लगते हैं। यह विचार ठीक नहीं है। जिसे हम गलत कहते हैं वह भी किसी न किसी दृष्टिकोण से ठीक होगा। इस विचार ने भारतीयों के मस्तिष्क में सहिष्णुता की भावना को जन्म दिया। भारतीयों की धार्मिक और वैचारिक सहिष्णुता प्रशंसनीय रही है और उन्होंने इसे अपने जीवन में उतारा है। जैनों का अनेकान्तवाद धार्मिक और साम्प्रदायिक असहिष्णुता के लिए एक अनूठी दवा है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म को सुधारवादी कहा जाता है। यद्यपि महावीर और बुद्ध ने समाज के सुधार का उद्देश्य लेकर अपना घर नहीं छोड़ा था किन्तु उनके सिद्धान्तों ने सामाजिक बुराईयों को दूर करने में सहायता पहुचाई। उस समय का भारतीय समाज वर्ण व्यवस्था के अपने पुराने आदर्श को भूल चुका था। वर्णों में ऊंच-नीच का विचार जड़ पकड़ चुका था और शूद्रों को समाज में सबसे पतित और अस्पृश्य तक माना जाने लगा था। बुद्ध और महावीर दोनों ने इस विचारधारा पर कठोर प्रहार किया। उनका कहना था कि जन्म से कोई ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता, बल्कि मनुष्य के कर्म उसे ब्राह्मण या शूद्र बनाते हैं। इन दोनों धर्मों में संघ में प्रवेश के लिए वर्ण अथवा जाति का कोई बन्धन नहीं था और शूद्र भी मोक्ष की प्राप्ति का उतना ही अधिकारी था जितना कि ब्राह्मण। इस प्रकार महावीर और बुद्ध ने उदारतावादी तथा प्रगतिशील विचारधारा की वह परम्परा बनाई जो मध्यकाल के भक्त सन्तों में और पुनः आधुनिक काल में राजा राममोहन राय, विवेकानन्द, दयानन्द तथा गाँधी जैसे समाज-सुधारकों में दिखाई पड़ती है।

इन दोनों धर्मों ने भारतीय साहित्य और कला को भी समृद्ध बनाने में अनूठा योगदान दिया। बुद्ध और महावीर ने अपना उपदेश जनसाधारण की भाषा में दिया और जनभाषा को ऊंचा उठाया। प्रारम्भिक जैन और बौद्ध ग्रन्थ जनभाषा प्राकृत में लिखे गये हैं। बाद में दोनों ने संस्कृत अपनाया। जैन लेखकों में छठी सदी में आचार्य विमल सूरि ने 'पउम चरित'(पद्म चरित) में राम की कथा को जैन रूप में प्रस्तुत किया। सातवीं सदी में रविषेण ने पद्मपुराण नामक ग्रन्थ और आठवीं सदी में जिनसेन द्वितीय ने हरिवंश पुराण लिखा। कथा साहित्य में तरंगवती और तरंगलीला, मलय सुन्दरी कथा और पद्मावती कथा नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है। नीति, दर्शन आदि अन्य गहन विषयों पर भी जैन लेखकों ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया। बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में मिलिन्दपच्हो (मिलिन्द प्रश्न) उल्लेखनीय है। इसमें यूनानी शासक मिनेंडर (जिसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था) और बौद्ध आचार्य नागसेन के बीच हुआ दार्शनिक संवाद है। अश्वघोष रचित बुद्धचरित एक प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ है और शारिपुत्र प्रकरण एक नाटक ग्रन्थ है। महावस्तु, दिव्यावदान, मंजुश्रीमूलककल्प आदि अन्य प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ हैं। बौद्ध ग्रन्थों में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी मिलती है। तर्क, दर्शन, आदि विषयों में बौद्ध लेखन का बहुमूल्य योगदान रहा है।

इसी प्रकार कला के क्षेत्र में यदि भारतीय कला में से जैन और बौद्ध कला को हटा दिया जाय तो बहुत थोड़ा शेष रह जाता है। जैन और बौद्ध धर्मों से सम्बन्धित गुफाऐं प्रस्तर में बनी भारतीय वास्तुकला का अनुपम उदाहरण हैं। उड़ीसा में उदयगिरि तथा खण्डगिरि में कई जैन गुफायें मिली हैं। ऐलोरा में भी कई जैन गुफाऐं हैं। इसी प्रकार महाराष्ट्र में भाजा, कार्ले, कन्हेरी और अजन्ता में कई बौद्ध गुफाएं मिलती है। जैन मन्दिरों का भारतीय कला में अपना विशिष्ट स्थान हैं जिनमें पत्थरों में पच्चीकारी का

अनुपम काम देखा जाता है। राजस्थान में आबू पर्वत पर देलवाड़ा के मन्दिर, रणकपुर के मन्दिर, इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला के क्षेत्र में मथुरा से कई प्राचीन कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। बौद्ध धर्म में भी मूर्तिकला का काफी विकास हुआ। अशोक के स्तम्भों पर बनी पशु-मूर्तियाँ अपनी स्वाभाविकता के लिए विख्यात हैं। सारनाथ के स्तम्भ पर बने सिंह-संघात में विलक्षण गरिमा और गांभीर्य दिखाई पड़ता है। भरहुत और सांची में बने स्तूपों की वेदिकाओं पर बनी उकेरी मूर्तियाँ भारतीय कला में विशिष्ट स्थान रखती हैं। कुषाणकाल में गंधार तथा मथुरा में दो प्रसिद्ध कला-शैलियों में बुद्ध मूर्तियों का निर्माण हुआ। इन्हें गंधारकला और मथुरा कलाशैली के नाम से जाना जाता है। गुप्तकाल में बनी सारनाथ से प्राप्त प्रसिद्ध बोधिसत्व-प्रतिमा को भारतीय मूर्तिकला का सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है। कालान्तर में अमरावती बौद्ध कला का एक प्रसिद्ध केन्द्र बनी। चित्रकला के क्षेत्र में अजन्ता की गुफाओं में बने भित्ति चित्र विश्व में प्रसिद्ध हैं। इन चित्रों के कथानक जातक कथाओं से तथा बुद्ध के जीवन चरित से लिए गये हैं। आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति, रंग-संयोजन और शारीरिक लावण्य के संप्रकाशन में इन चित्रों का कोई मिसाल नहीं है। बाघ और सित्तनवासल की गुफाओं में बने चित्र भी बड़े सुन्दर हैं।

8

छठी शताब्दी ई.पूर्व की राजनीतिक अवस्था

सोलह महाजनपदों की चर्चा के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार इन जनपदों में अपने राज्यों की सीमाओं के विस्तार के लिए निरन्तर संघर्ष चल रहे थे। मगध और अंग के बीच चल रहे संघर्ष में अन्ततः अंग का पराभव हुआ और इसे मगध ने आत्मसात कर लिया। इसी प्रकार, काशी को कोशल के साथ लम्बे समय से चल रहे संघर्ष में अपनी स्वतंत्रता खोनी पड़ी और वह कोशल में विलीन हो गया। छठी शताब्दी ई. पूर्व में मुख्य रूप से चार राजतंत्रों तथा दस गणराज्यों का उल्लेख मिलता है।

मगध, कौशल, वत्स तथा अवन्ति ऐसे प्रमुख महाजनपद थे जहाँ कि शासन-व्यवस्था राजतंत्रात्मक थी। राजतन्त्रात्मक जनपदों का शासन राजा द्वारा संचालित होता था। राजा वंशानुगत होता था एवं दैवी-सिद्धान्त (Divine Theory of Kingship) में विश्वास रखता था। परन्तु वह निरकुंश शासक नहीं होता था। राजा की एक मन्त्रि-परिषद् हुआ करती थी और वह अपने मंत्रियों की मंत्रणा से शासन संचालित करता था। राजाओं में साम्राज्यवादी मनोवृत्ति अधिक प्रबल हो गई थी अतः अपने राज्य-विस्तार के लिए वे निरन्तर युद्ध करते रहते थे। अपनी शक्ति-विस्तार के लिए वे सेना को शक्तिशाली बनाये रखते थे।

राजा पर धार्मिक अवधारणाओं का कठोर अंकुश होता था। निर्दयी तथा अयोग्य राजाओं को उस समय पदच्युत कर दिया जाता था जब वह प्रजा के हित के विपरीत कार्य किया करते थे। राजा अपनी मंत्रि-परिषद् में योग्य मन्त्रियों को नियुक्त करता था। उस काल में राज पुरोहित का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आदरणीय समझा जाता था। राजकुमारों को भी मन्त्रि-परिषद् में स्थान दिया जाता था तथा राजधानी के समीप के प्रान्तों में प्रान्तपति का स्थान राजपुत्रों को भी मिलता था। युद्ध के समय सेना का संचालन स्वयं राजा करता था तथा राजा ही सर्वोच्च न्यायाधिकारी होता था। जनता इस प्रणाली में प्रसन्न थी क्योंकि राजतंत्रात्मक प्रणाली का मुख्य उद्देश्य प्रजा के हित में कार्य करना होता था।

बुद्धकालीन प्रमुख राजतन्त्र

इस समय के प्रमुख राजतन्त्र कोशल, मगध, वत्स तथा अवन्ति थे। ये चारों राज्य अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने का प्रयास कर रहे थे। इस प्रक्रिया में उनका अन्ततः परस्पर संघर्ष में आना स्वाभाविक था। बौद्ध ग्रन्थों से उनके शासकों के विषय में तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में विस्तृत सूचनायें प्राप्त होती हैं। मगध के विषय में हम अगले अध्यायों में विस्तार से चर्चा करेंगे किन्तु वर्तमान चर्चा के प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि बुद्धकालीन राजनीतिक परिवेश की चर्चा में मगध के तत्कालीन शासक

बिम्बिसार और अजातशत्रु से सम्बन्धित विवरणों को भी सम्मिलित करना होगा।

उज्जयिनी में बुद्ध का समकालीन प्रद्योत था। बौद्ध ग्रन्थों में उसे चण्ड प्रद्योत कहा गया है। यह सम्भवतः उसके क्रूर स्वभाव का परिचायक है। भास रचित स्वप्नवासवदत्तम् के अनुसार, प्रद्योत अपनी विशाल सेना के कारण महासेन भी कहलाता था। प्रद्योत पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी शासक था। पुराणों में कहा गया है कि उसने पड़ोसी राज्यों को हरा कर अपने अधीन कर लिया। उसने मथुरा को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ पर अपने पुत्र को नियुक्त किया। बौद्ध साक्ष्य से पता चलता है कि उसकी बढ़ती हुई शक्ति से आशंकित होकर मगध के शासक अजातशत्रु को अपनी राजधानी की प्राचीरों को और मजबूत करवाना पड़ा था। वत्स में इस समय उदयन शासन कर रहा था। वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। यह भरत-वंशीय था और शतानीक परंतप का पुत्र था। उदयन एक वीर और रसिक शासक था। भारतीय साहित्य में उसे एक प्रणयी वीर के रूप में चित्रित किया गया है। इसके प्रणय और युद्धों के विषय में बहुत सी अनूश्रतियाँ मिलती हैं जो–जैसा कि कालिदास के मेघदूत नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है–प्राचीन काल में भी गोष्ठियों में चाव से कही और सुनी जाती थी।*

ये कहानियाँ अतिरंजित हैं किन्तु इनसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि उदयन एक शक्तिशाली शासक था और उसने अपने समय के राजकुलों के साथ युद्ध किया। उदयन और प्रद्योत में भी संघर्ष चला जिसमें एक अवसर पर प्रद्योत उसे धोखे से बन्दी बनाने में सफल हुआ। किन्तु उदयन चतुराईपूर्वक प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता को लेकर भाग निकलने में सफल हुआ और कौशाम्बी लौट कर उससे विवाह कर लिया। जनश्रुति के अनुसार उसने अंग के शासक दृढ़वर्मन की कन्या और मगधराज दर्शक की बहन पद्मावती से भी विवाह किया। यह निश्चत नहीं ज्ञात है कि यह मगधराज कौन था। इन वैवाहिक सम्बन्धों से उसकी स्थिति सुदृढ़ हुई होगी। उसका पुत्र बोधिकुमार था। कथासरित्-सागर नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि उसी के समय प्रद्योत के पुत्र पालक्क ने वत्स राज्य को जीत कर अवन्ति में मिला लिया।

इसी समय कोसल और मगध के बीच संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। बुद्ध के समय में कोसल का शासक प्रसेनजित् था। उसके पिता महाकोसल के समय तक काशी जनपद कोसल का अंग बन गया था। पालि बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि शाक्य गणराज्य ने कोसल की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस समय के प्रमुख व्यापारिक मार्ग कोसल राज्य में होकर निकलते थे जिस कारण यह आर्थिक दृष्टि से बड़ा समृद्ध था। इस प्रकार इस समय कोसल की शक्ति और अधिकार क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था। इसकी सीमा मगध राज्य की सीमा से सटी हुई थी।

मगध के शासक बिम्बिसार के समय में दोनों राज्यों के बीच शान्ति रही। प्रसेनजित् की बहन बिम्बिसार को ब्याही गई थी और दहेज में बिम्बिसार को काशी का प्रदेश प्राप्त हुआ था। कोसल और मगध के बीच संघर्ष का प्रारम्भ उस समय हुआ जब बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपने पिता को मार कर अथवा बन्दी बना कर शासन सत्ता हड़प ली और प्रसेनजित् ने काशी राज्य को वापस लिया। इससे दोनों राज्यों में अनबन शुरू हो गई। दोनों राज्यों के बीच कई लड़ाईयाँ लड़ी गई जिसमें कभी एक पक्ष जीतता कभी दूसरा। अन्त में दोनों में समझौता हो गया जिसके अनुसार प्रसेनजित् की पुत्री वजिरा का

* उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्–

विवाह अजातशत्रु के साथ हुआ और काशी राज्य पुनः मगध को दे दिया गया। स्वयं प्रसेनजित् को अपने पुत्र विडूडभ के विद्रोह के कारण गद्दी छोड़नी पड़ी। वह भाग कर अपने दामाद अजातशत्रु से सहायता मांगने पहुँचा किन्तु जब वह पहुँचा उस समय तक रात हो जाने के कारण नगर-द्वार बन्द हो गया था। नगर-द्वार के बाहर ही उसकी मृत्यु हो गई।

विडूडभ के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख घटना थी उसके द्वारा शाक्यों पर आक्रमण और शाक्य जनपद को तहस- नहस करना। बौद्ध ग्रन्थों में यह कथा मिलती है कि प्रसेनजित् किसी शाक्य कन्या से विवाह करना चाहता था। चूंकि शाक्यों में आपस में ही विवाह करने का रिवाज था किन्तु साथ ही वे प्रसेनजित् को नाराज नहीं कर सकते थे अतः उन्होंने धोखे से उसका विवाह एक दासी-कन्या से करवा दिया। विडूडभ इसी दासी-कन्या का पुत्र था जो कोसल का राजकुमार बना। एक बार जब बचपन में वह शाक्य जनपद में अपने ननिहाल आया हुआ था, वहाँ उसे दासीपुत्र मानते हुए शाक्य लोग किसी न किसी बहाने उसके साथ भोजन करना टालते रहे। कथा के अनुसार, विडूडभ के जाने के बाद उन्होंनें जहाँ वह ठहरा हुआ था उस स्थान को दूध से धुलवाया। किसी प्रकार विडूडभ को इन वातों का पता चल गया और अपने अपमान से क्रुद्ध हो कर उसने शाक्यों को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। राजा बनने पर उसनें इस प्रतिज्ञा को पूरा किया। भगवान बुद्ध का अनुरोध भी विडूडभ को रोक नहीं सका। एक बार जब वह अचिरावती (आधुनिक राप्ती) नदी के किनारे अपनी सेना का शिविर लगाए हुए था रात में नदी में अचानक वाढ़ आ गई और वह नदी की बाढ़ में बह गया। बाद में कोसल मगध का अंग वन गया।

तत्कालीन गणराज्य

बौद्ध ग्रन्थों में दस गणराज्यों के नाम मिलते हैं। ये सभी कोसल तथा अंग अर्थात् उत्तर-पूर्व विहार के वीच में स्थित थे। ये गणराज्य क्रमशः इस प्रकार थे :

1. कपिलवस्तु के शाक्य–शाक्य जनपद के अन्तर्गत आधुनिक उत्तर प्रदेश में वस्ती जिले का पूर्वोत्तर भाग, गोरखपुर जिले का पश्चिमोत्तर भाग एवं उत्तर में लगा हुआ आधुनिक नेपाल राज्य का भाग आता था। कपिलवस्तु इसका प्रमुख नगर था। शाक्य स्वयं को सूर्यवंशी तथा इक्ष्वाकु कुल का मानते थे। इस समय शाक्य गणराज्य ने कोसल की अधीनता स्वीकार कर ली थी। सुत्त निपात नामक बौद्ध ग्रन्थ में गृहत्यागी बुद्ध का पहली वार मगध राज विम्बिसार से मिलने का विवरण मिलता है। जब विम्बिसार ने उनका परिचय पूछा तो अन्य सूचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने यह वताया कि उनका घर कोशल जनपद में है। (कोसलेसु निकेतनो)। इससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध के युवा होने के पूर्व शाक्य जनपद कोशल का एक अंग वन चुका था। यदि शाक्य जनपद स्वतंत्र जनपद रहता तो बुद्ध स्वयं को शाक्य जनपद का वताते।

2. रामग्राम के कोलिय–यह गणराज्य शाक्य गणराज्य के पूर्व में था। दोनों गणराज्यों के वीच में रोहिणी नदी वहती थी जिसके पानी के वंटवारे के प्रश्न पर दोनों में कलह हुआ करते थे। इस गणराज्य की राजधानी रामग्राम थी जिसे डॉ. राजबली पाण्डेय आधुनिक गोरखपुर में (रामगढ़ ताल) मानते हैं।

3. पिप्लीवन के मोरिय–बौद्ध साक्ष्य में मोरियों को शाक्यों की एक शाखा बताया गया है। इनके ठीक स्थान को वताना कठिन है। ये कोलियों के पड़ौस में थे और इनका जनपद मल्लों के पश्चिम में स्थित था।

4. कुसीनारा (कुशीनगर) के मल्ल- यह गणराज्य मोरियों के पूर्वोत्तर में स्थित था। कुसीनारा या कुशीनगर उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के कसया नामक स्थान पर स्थित था। यहीं भगवान बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ।

5. पावा के मल्ल-पावा का मल्ल जनपद कुशीनगर के मल्ल जनपद के पूर्वोत्तर में स्थित था। कनिंघम के अनुसार पावा का आधुनिक प्रतिनिधि देवरिया जिले का पडरौना नामक स्थान मानना चाहिए। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार, यह फजिलपुर नामक स्थान था। भगवान महावीर ने इसी स्थान पर प्राण त्याग किया।

6. अल्लकल्प के बुलि-बुलि लोगों का गणराज्य मल्लों के पूर्व में आधुनिक आरा तथा मुज्जफरपुर नामक स्थानों के बीच में स्थित था।

7. वैशाली के लिच्छवि-गणराज्यों में यह सबसे अधिक शक्तिशाली था। आधुनिक मुज्फ़रपुर जिले के बसाढ़ नामक स्थान पर प्राचीन वैशाली का अस्तित्व माना जाता है। लिच्छवि, कुल वज्जि संघ के आठ कुलों में एक था। अन्य कुलों के नाम थे : विदेह, ज्ञातृक, वृज्जि, उग्र, भोग, कौरव तथा ऐक्ष्वाकु। इस संघात्मक गणराज्य में लिच्छवियों का कुल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। इसी कारण इस गणराज्य को इस कुल के नाम पर लिच्छवि गणराज्य भी कहा जाता था।

8. मिथिला के विदेह- नेपाल की सीमा पर आधुनिक जनकपुर नामक स्थान प्राचीन मिथिला का प्रतिनिधित्व करता है। बुद्ध के पूर्व उपनिषद् काल में यहाँ राजतन्त्र था। उपनिषदों मं यहाँ के राजा जनक की दार्शनिक राजा के रूप में प्रतिष्ठा मिलती है। इस समय यह राजतंत्र गणराज्य में रूपान्तरित हो गया था।

9. सुंसुमारगिरि के भग्ग (भर्ग) -यह गणराज्य सम्भवतः आधुनिक मिर्जापुर में स्थित था। यह वत्स राज्य की अधीनता स्वीकार करता था। भर्गों की चर्चा ऐतरेय ब्राह्मण तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलती है।

10. केसपुत्त के कालाम-इस गणराज्य का निश्चित स्थान बता सकना कठिन है पर संभवतः यह कोसल राज्य के पश्चिम में कहीं पर था। शतपथ ब्राह्मण में 'केशियों' का उल्लेख पांचालों के साथ हुआ है। केसपुत्त के कालाम इन 'केशियों' के साथ सम्बन्धित रहे होंगे, यह अनुमान किया जा सकता है। बुद्ध के समय का एक प्रमुख दार्शनिक आचार्य तथा बुद्ध का प्राथमिक गुरु आलार इसी गण का था।

गणराज्यों की शासन पद्धति

(क) गणराज्यों का स्वरूप और संगठन-राजतांत्रिक राज्यों और गणराज्यों में मुख्य अन्तर यह था कि जहाँ राजतान्त्रिक राज्य में शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक व्यक्ति (राजा) के हाथ में होती थी, गणराज्य में यह शक्ति सम्पूर्ण गण, अथवा समूह के हाथ में होती थी। किन्तु इन गणराज्यों को आधुनिक अर्थ में पूर्ण प्रजातंत्रात्मक राज्य नहीं मानना चाहिए। इन्हें कुछ अभिजात कुलों द्वारा शासित मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इनके सदस्य अपने कई प्रतिनिधियों को चुनते थे जिनमें से प्रत्येक को 'राजा' कहा जाता था। इस प्रकार गणराज्य में 'राजा' शब्द का अर्थ भिन्न था। ये सभी राजा समान होते थे और मिल कर एक सभा बनाते थे जिसे 'परिसा'(परिषद्) कहा जाता था। चुने हुए 'राजा' एक निश्चित कार्यकाल के लिए अपनों में से एक को सभापति निर्वाचित करत थे जिसे 'गणपति', 'गणज्येष्ट', अथवा 'संघमुख्य' कहा जाता था। परिषद् के सभी सदस्य (राजा) अपनी कार्यवाही के लिए एक निश्चित स्थान पर मिलते थे जिसे 'संथागार'(संस्थागार) कहा जाता था। संथागार में राज्य से सम्बन्धित सभी राजनीतिक तथा सामाजिक महत्त्व

के प्रश्नों के पर विचार किया जाता था।

ये गणराज्य दो प्रकार के दिखाई पड़ते हैं : 1. किसी एक कुल द्वारा बना हुआ गणराज्य। शाक्यों, कोलियों और मल्लों के गणराज्य इसी प्रकार के गणराज्य थे। 2. संघात्मक गणराज्य जिनमें कई कुल सम्मिलित होते थे। उदाहरणार्थ वज्जि गणराज्य में आठ विविध क्षत्रिय कुल सम्मिलित थे। कभी- कभी शत्रुओं का सामना करने के लिए अलग अलग गणराज्य मिल कर एक संघ बनाते थे। मल्लों और वज्जियों के गणराज्यों द्वारा मगध की साम्राज्यवादी नीति का सामना करने के लिए इस प्रकार का संघ बनाने का उल्लेख मिलता है।

(ख) परिषद् की कार्यवाही का ढंग–राजनीतिक गणों की कार्यवाही के सम्बन्ध में हमें कोई विवरण नहीं मिलता। पर सामान्य रूप से यह माना जाता है कि बौद्ध संघ में भिक्षु-सभा में जिस प्रकार कार्यवाही सम्पन्न होती थी, तत्कालीन राजनीतिक गणों में लगभग वही व्यवस्था रही होगी। स्वयं बुद्ध शाक्य गण में उत्पन्न हुए थे और यह स्वाभाविक है कि अपने संघ के संगठन में उन्होंने वही प्रणाली अपनाई हो जो उनके पैतृक गणराज्य में प्रचलित थी।

परिषद् के अधिवेशन का भवन संथागार (संस्थागार) कहलाता था। संथागार में प्रत्येक प्रतिनिधि के बैठने के स्थान को 'आसन' कहते थे। 'आसन प्रज्ञापक' नामक अधिकारी लोगों को अपने स्थान पर बिठाता था। परिषद् की कार्यवाही शुरू होने के पहले सदस्यों की एक निश्चित संख्या का होना आवश्यक था; आजकल की शब्दावली में यह कहा जा सकता है कि 'कोरम' की व्यवस्था थी। इससे सम्बन्धित अधिकारी को 'गणपूरक' कहा जाता था। विचारार्थ लाए जाने वाले प्रस्ताव को 'प्रतिज्ञा' कहा जाता था। प्रतिज्ञा को ऊंचे स्वर में सदस्यों को सुनाया जाता था और फिर इसे दो या तीन बार दुहराया जाता था। प्रस्ताव के ऊपर वाद-विवाद होता था। पक्ष और विपक्ष के बीच वाद-विवाद हो चुकने पर मत लिया जाता था जिसके लिए 'छन्द' शब्द का प्रयोग मिलता है। मत 'शलाकाओं' द्वारा लिया जाता था जो लकड़ी की छोटी-छोटी डांडियाँ होती थीं और अलग-अलग रंगों की होती थी। इन 'शलाकाओं' को इकट्ठा करने वाला अधिकारी 'शलाका-ग्राहक' कहलाता था। लोगों के मत गुप्त रखे जाते थे।

(ग) वाद-विवाद की प्रक्रिया तथा निर्णय लेने का ढंग–बौद्ध साक्ष्यों में हमें दो कथाएँ मिलती हैं जिससे इस समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

पहली कथा में कोशल के राजा प्रसेनजित् द्वारा शाक्य गण पर आक्रमण का विवरण है। कोशल नरेश ने शाक्यों को समर्पण करने तथा अधीनता स्वीकार करने को कहा। शाक्यों ने आपस में कहा कि 'हम लोग इकट्ठे हों तथा इस विषय में विचार-विमर्श कर यह निर्णय लें कि नगर का द्वार खोला जाय या नहीं।' वे एकत्रित हुए। उनमें से कुछ समर्पण के पक्ष में थे और कुछ इसके विरोध में। अन्त में बहुमत से यह निर्णय लिया गया कि नगर का द्वार खोल दिया जाय।

दूसरी कथा के अनुसार, लिच्छवियों के वृद्ध सेनापति खण्ड के मरने पर यह समस्या खड़ी हुई कि उसके बड़े पुत्र गोप को अथवा छोटे पुत्र सिंह को सेनापति नियुक्त किया जाय। स्वयं सिंह ने यह कहा कि उसके पिता की मृत्यु के बाद उसके बड़े भाई को ही सेनापति बनाया जाय। इस पर दोनों ने यह कहा कि सेनापति का पद पैतृक नहीं है और इस विषय पर गण का निर्णय ही अन्तिम होगा। अन्त में वाद-विवाद के बाद सिंह को सेनापति नियुक्त करना स्वीकार किया गया।

इन कथाओं से दो बातें स्पष्ट होती हैं-(1) गण के सामने कोई भी महत्त्वपूर्ण समस्या आ जाने पर गण के सदस्य एक स्थान पर एकत्रित होकर इस पर विचार-विमर्श करते थे। (2) प्रारम्भ में इस बात का प्रयास किया जाता था कि निर्णय सर्वसम्मति से लिया जाय। पर ऐसा न हो सकने पर बहुमत के आधार पर निर्णय लिया जाता था।

कभी कभी समस्या के पेचीदा होने पर तथा सदस्यों द्वारा विविध प्रकार के विरोधी मतों के रखे जाने पर एक छोटी समिति बना दी जाती थी जो विचार विमर्श करने के उपरान्त बहुमत के आधार पर इस पर निर्णय लेती थी।

(घ) प्रमुख अधिकारी–बौद्ध ग्रन्थों और विशेष रूप से जातक कथाओं से हमें विविध अधिकारियों के बारे में जानकारी मिलती है। 'गण-मुख्य' परिषद् के बहुमत के आधार पर शासन करता था। उसकी सहायता के लिए कई अधिकारी होते थे। 'राजा' के बाद 'उप-राजा' होता था। गणराज्य अपनी सैनिक व्यवस्था का पूरा ध्यान रखते थे और इस विभाग का प्रमुख अधिकारी 'सेनापति' होता था। प्रायः गणराज्य का प्रत्येक युवक सैनिक के कार्य से परिचित होता था। सेनापति का प्रमुख दायित्व युद्ध में सैन्य-संचालन करना था किन्तु एक जातक कथा से ऐसा लगता है कि वह अभियोगों की सुनवाई भी करता था। अर्थ विभाग का प्रमुख अधिकारी 'भाण्डागारिक' कहलाता था। न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित अधिकारी 'विनिश्चय महामात्य' कहलाता था। 'व्यावहारिक' एक दूसरा न्याय सम्बन्धी अधिकारी था। यह अभियोगों की सुनवाई कर उन पर अपना निर्णय देता था और राजा को धर्म तथा शासन के सम्बन्ध में सलाह भी दिया करता था। इनके अतिरिक्त जातक कथाओं में 'हिरण्यक', 'सारथि' आदि कुछ अन्य छोटे कर्मचारियों के भी उल्लेख मिलते हैं।

(ङ) **न्याय व्यवस्था**–बौद्ध साक्ष्य में हमें लिच्छवियों की न्याय-व्यवस्था का विस्तृत विवरण मिलता है। यदि कोई चोरी करने के अपराध में पकड़ा जाता तो उसे पहले विनिश्चय महामात्य के पास लाया जाता था। यदि वह उस व्यक्ति को निर्दोष पाता तो उसे छोड़ दिया जाता था। दोषी पाये जाने पर उसे व्यावहारिक के पास पेश किया जाता था। इसी प्रकार क्रमशः उसकी पेशी 'सुत्धरों' 'अष्टकुलकों', 'सेनापति', 'उप-राजा' और 'राजा' के पास होती थी। निर्दोष पाये जाने पर राजा उसे छोड़ देता था अथवा अपराधी पाने पर प्राचीन दृष्टान्तों (इन्हें सन्निहित करने वाली संहिता को 'पवेणि पोत्थक' कहा गया है) के आधार पर उसे दण्डित करता था। 'अष्टकुलक' संभवतः कोई समिति थी जिसमें आठ व्यक्ति होते थे। शायद उन्होंने नियमों अथवा प्राचीन दृष्टान्तों की कोई पुस्तक बना रखी थी जिसे पवेणि पोत्थक कहते थे।

इस प्रकार हम पाते हैं कि लोगों को न्याय पाने की पूरी सुविधा थी। एक अधिकारी द्वारा दिया गया दण्ड अन्तिम नहीं होता था और उससे ऊपर के न्यायालय में उसकी अपील की जा सकती थी। इस न्याय-व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल ने कहा है कि इसमें नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था, डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार ने कहा है कि न्याय की इतनी सुन्दर व्यवस्था विश्व के कुछ ही स्थानों पर दिखाई पड़ती है।

गणराज्यों का पतन तथा इसका कारण

छठी शताब्दी ई. पू. में ही हम पाते हैं कि अधिकांश गणतन्त्र अपनी स्वतंत्रता गंवा चुके थे और किसी न किसी शक्तिशाली राजतन्त्र की अधीनता स्वीकार करते थे। कोशल के शासक विडूडभ ने शाक्यों को पूर्णतया तहस- नहस कर दिया था। केवल

वज्जि गणराज्य काफी लम्बे समय तक मगध के साम्राज्यवाद के विरुद्ध जूझता रहा पर मगध की शक्ति के सामने अन्ततः उसे भी नतमस्तक होना पड़ा।

पर गणतन्त्रों का इतिहास यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसके बाद भी गुप्त काल तक विभिन्न गणराज्यों का अस्तित्व बना रहा; समय- समय पर नए गणराज्यों का उदय होता रहा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कम्बोज, सुराष्ट्र, मद्रक, कुकुर तथा पांचाल नामक संघों का उल्लेख मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 18 गणतन्त्रों का उल्लेख हुआ है। सिकन्दर के आक्रमण के समय सिन्धु प्रदेश में कई गणतंत्र थे जिन्होंने विदेशी आक्रमणकारी से जमकर लोहा लिया। पर इन गणतंत्रों का धीरे-धीरे ह्रास होता गया और अन्ततः ये समाप्त हो गए।

इन गणराज्यों के विनाश का एक प्रमुख कारण छठी शताब्दी ई.पू. के राजतन्त्रों में साम्राज्यवादी भावना का जोर पकड़ना था। कोशल और मगध के शक्तिशाली राजतंत्र अपने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाने की होड़ कर रहे थे और पास के गणतन्त्रों की स्वतन्त्रता उन्हें अखरती थी। शाक्य गण कोशल नरेश विडूडभ के कोप का भाजन बना तथा वज्जि गण मगध की साम्राज्य-लिप्सा की लपेट में आ गया।

इन गणराज्यों के पतन के पीछे एक आन्तरिक कारण भी था। प्रजातन्त्र की सफलता सदस्यों की एकता पर निर्भर होती है। उनका आपसी बैर और ईर्ष्या-द्वेष उनके पतन का का मुख्य कारण बना। संस्थागारों में प्रायः दलबन्दियाँ हुआ करती थी और एक दल दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करता था। बौद्ध साक्ष्य के अनुसार लम्बे समय तक वज्जियों को परास्त न कर पाने पर अजातशत्रु ने अपने मंत्री वर्षकार को लिच्छवियों में फूट डालने को भेजा और उसकी यह चाल सफल हुई।

जहाँ पूर्व के गणतन्त्र कोशल और मगध की साम्राज्य-लिप्सा के शिकार बने, देश के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित गणतंत्र सिकन्दर के आक्रमण और बाद में यूनानियों, शकों तथा कुषाण आक्रमणों के कारण विनिष्ट हो गये। वास्तव में भारतीय इतिहास में धीरे-धीरे साम्राज्यवाद के युग का प्रवेश हो रहा था और इसके वेग के आगे गणराज्य अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल नहीं हो सके।

मौर्य साम्राज्य की स्थापना तक मगध के उदय का इतिहास तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का क्रमिक विकास

प्रारम्भिक (छठी शताब्दी ई. पू. के पूर्व) इतिहास

मगध का प्रारम्भिक इतिहास स्पष्ट नहीं है। प्रारम्भ में इसमें आधुनिक गया और पटना जिले आते थे। शुरू में इसकी राजधानी गिरिव्रज थी। महाभारत और पुराणों में मगध के सबसे प्राचीन राजवंश का नाम बार्हद्रथ बताया गया है जिसमें बृहद्रथ नामक प्रसिद्ध राजा हुआ। इसका पुत्र जरासन्ध इस वंश का दूसरा महत्वपूर्ण शासक था जो, महाभारत के अनुसार पाण्डव वीर भीम के हाथों मारा गया। इसने अपने समसामयिक कई राजाओं को पराजित कर बन्दी बना लिया था। रिपुंजय इस शासक वंश का अन्तिम शासक था।

छठी शताब्दी ई. पू. के प्रारम्भ से मगध का कुछ स्पष्ट इतिहास मिलने लगता है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही यह एक महाजनपद था। यह अंगुत्तर निकाय में दी गई सूची के सोलह महाजनपदों में एक है। पुराणों में बृहद्रथ के कुल के तुरन्त पश्चात् शिशुनाग द्वारा प्रारम्भ हुए शैशुनाग वंश को शासन करते हुए बताया गया है और इसी वंश में बिम्बिसार को रखा गया है। पर पुराणों का मत गलत है। पालि बौद्ध साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि शिशुनाग बिम्बिसार के कई पीढ़ियों बाद में आया। वास्तव में बार्हद्रथ शासनवंश के पश्चात् हर्यंक कुल के शासनवंश का प्रारम्भ मानना चाहिये।

हर्यंक कुल : साम्राज्यवाद के विकास का प्रथम चरण

विविध साक्ष्यों के अवलोकन से ऐसा जान पड़ता है कि यह वंश मूलतः नाग जाति के लोगों से सम्बन्धित था। हर्यंक (हरि = सर्प + अंक = चिह्न) शब्द का भी अर्थ होता है 'सर्प का चिह्नांकन'। यह प्रतीत होता है कि हर्यंक कुल एक नाग जातीय शासनवंश था।

बिम्बिसार

लगभग 543 ई.पू. में बिम्बिसार द्वारा हर्यंक शासनवंश का प्रारम्भ हुआ। इसका पिता दक्षिण बिहार का एक साधारण सामन्त था। बाद के ग्रन्थों में इसके पिता का नाम भट्टिय, हेमजित, क्षेमजित अथवा क्षैतौजा मिलता है। सिंहली बौद्ध ग्रन्थ महावंश में कहा गया है कि 15 वर्ष की आयु में बिम्बिसार को उसके पिता ने राजपद पर अभिषिक्त कर दिया था। बिम्बिसार का एक दूसरा नाम सेनिय (श्रेणिक) था । इसके पहले मगध की

राजधानी गिरिव्रज थी। बिम्बिसार ने इसी नगर के निकट राजगृह नामक एक और नगर बसाया और इसे अपनी राजधानी बनाया।

बिम्बिसार एक कुशल और मेधावी शासक था और उसमें अपने समय की राजनीतिक स्थिति को समझने की क्षमता थी। इस समय कोशल और अवन्ति के राज्य अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। उसके राज्य से सटा हुआ वत्स का राज्य एक अन्य शक्तिशाली राजतन्त्र था। उसके राज्य के उत्तर में वज्जियों का शक्तिशाली गणराज्य था।

(क) युद्ध और नीति द्वारा मगध की स्थिति का सुदृढ़ीकरण-बिम्बिसार के राज्य के पूर्व में अंग का राज्य था। अंग के साथ मगध की पुरानी शत्रुता थी और बिम्बिसार ने सर्वप्रथम इस राज्य की ओर ध्यान केन्द्रित किया। बौद्ध साक्ष्यों के अनुसार, उसने अंग (मुंगेर और भागलपुर का कुछ भाग) के राजा ब्रह्मदत्त को पराजित कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। जैन साक्ष्यों से हमें ज्ञात होता है कि अंग मगध का एक प्रान्त था जो मगध के राजकुमार कुणिय (अजातशत्रु) द्वारा शासित होता था।* बुद्धघोस की अट्ठकथा से ज्ञात होता है कि बिम्बसार के समय में मगध का राज्य विस्तार दुगुना हो गया था।

बिम्बिसार ने कुशल नीतिज्ञ होने का परिचय दिया। उसे इस बात का ज्ञान था कि इस समय उसका राज्य अपनी समसामयिक शक्तियों से युद्ध करने और अपनी शक्ति का क्षय करने की स्थिति में नहीं है। अतः उसने इनसे अनावश्यक मुठभेड़ से बचने का प्रयास किया और युद्ध के स्थान पर नीति द्वारा मगध की स्थिति को मजबूत बनाने की चेष्टा की। वत्स, मद्र, गांधार और कम्बोज के साथ उसने दूत सम्बन्ध बनाया। अवन्ति के शासक प्रद्योत द्वारा आतंकित हो कर जब तक्षशिला के शासक पुष्करमारिन् ने उससे सहायता माँगी तब बिम्बिसार ने उसके दूत का तो स्वागत किया किन्तु सहायता की मांग को टाल गया। इस समय वह प्रद्योत से अथवा किसी अन्य शक्ति से शत्रुता नहीं करना चाहता था। उज्जैनी का शासक प्रद्योत जब एक बार भयंकर पाण्डुरोग से पीड़ित हुआ तो उसने अपने राजवैद्य जीवक को उसकी चिकित्सा के लिए भेजा।

वैवाहिक सम्बन्धों से भी उसने कुछ राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए। राजनीतिक महत्त्व की दृष्टि से उसके चार वैवाहिक सम्बन्ध उल्लेखनीय हैं। उसकी एक रानी कोशल के शासक प्रसेनजित् की बहन महाकोशला थी। इस विवाह में उसे काशी का प्रदेश दहेज के रूप में प्राप्त हुआ; साथ ही शक्तिशाली कोशल राज्य के साथ वैवाहिक सम्बन्ध से उसकी प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई होगी। उसने लिच्छवि राजा चेटक की बहन चेलना से दूसरा विवाह किया। पड़ौस के इस शक्तिशाली गणराज्य के साथ वैवाहिक सम्बन्ध ने उसे लिच्छवियों की ओर से निश्चित होने का अवसर दिया। उसकी तीसरी पत्नी वासवी विदेह की राजकुमारी थी। चौथी पत्नी क्षेमा मद्र (पंजाव) के राजा की कन्या थी। ये वैवाहिक सम्बन्ध उसके कुशल राजनीतिज्ञ होने के प्रमाण हैं।

इन मित्रतापूर्ण सम्बन्धों से बिम्बसार निश्चित होकर अपने राज्य की आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में समय दे सका। उसके पुत्र अजातशत्रु ने आगे चलकर जो युद्ध नीति अपनाई उसके लिए जिस आन्तरिक शक्ति और प्रशासनिक संगठन की आवश्यकता थी वह बिम्बसार की देन थी।

---

* बिम्बिसार द्वारा अंग पर अधिकार के लिए बौद्ध साक्ष्यों में महावग्ग तथा दीघनिकाय का 'सोणदण्ड सुत्त', जैन साक्ष्यों में परिशिष्टपर्वन्, भगवतीसूत्र तथा निरयावली सूत्र।

(ख) प्रशासनिक संगठन–बिम्बिसार ने अपने समय के शासन प्रबन्ध पर विशेष ध्यान दिया। अपने राज कर्मचारियों के ऊपर उसका कड़ा नियंत्रण था और उसके विषय में बौद्ध ग्रन्थ महावग्ग में कहा गया है कि वह खराब सलाह देने वाले अधिकारियों को दण्डित एवं उचित सलाह देने वाले अधिकारियों को पुरस्कृत करता था। उच्चस्तरीय अधिकारी 'महामात्य' कहलाते थे और उन्हें अलग-अलग विभागों के सुचारुरूपेण संचालन का दायित्व सौंपा गया था। 'सेनानायक महामात्य' सेना की देखभाल करता था और 'व्यावहारिक महामात्य' न्याय विभाग का प्रमुख अधिकारी था। अधिकारियों को कड़ा दण्ड दिया जाता था जिसमें जेल भेजने से लेकर शरीर को दागने, कोड़े लगाने एवं हड्डी पसली तोड़ देने तक के दण्ड शामिल थे। शासन की सुविधा के लिए राज्य प्रान्तों में बंटा हुआ था जिन्हें 'मण्डल' कहते थे। इन पर राजा द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि शासन कार्य को देखते थे। ग्राम प्रशासन का दायित्व 'ग्रामणी' नामक अधिकारी के हाथ में था। वह समय-समय पर इनसे मिलता था और उनके माध्यम से जनसामान्य की समस्याओं से अवगत होने तथा उनका समाधान करने का प्रयास करता था। आवागमन की सुविधा के लिए बिम्बिसार ने राज्य में सड़कें बनवायीं।

(ग) धर्म–बिम्बिसार बुद्ध और महावीर दोनों का समकालीन था। बुद्ध से वह विशेपरूपेण प्रभावित जान पड़ता है। वह स्वयं बुद्ध से मिला था और बौद्ध संघ को कई प्रकार की सहायता की थी। उसका व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म जान पड़ता है, पर वह धार्मिक दृष्टि से उदार शासक था। इसी कारण बौद्ध ग्रन्थ और जैन ग्रन्थ दोनों ही उसे अपने धर्मो का अनुयायी बताते हैं।

(घ) अन्तिम दिन–बिम्बिसार के अन्तिम दिन दुःखद बीते। उसके पुत्र अजातशत्रु ने उसे बन्दी बना लिया और उसकी मृत्यु बन्दीगृह में ही हुई। उसके वियोग में उसकी पत्नी महाकोशला भी मर गई। बौद्ध ग्रन्थों में अजातशत्रु को पितृद्रोही और पितृहन्ता कहा गया है। एक स्थान पर यह उल्लेख आता है कि उसने स्वयं बुद्ध के समक्ष अपने पापकर्म को बताया और बुद्ध ने उसे पुनः पाप-कर्म न करने का उपदेश दिया।*

अजातशत्रु

इसका दूसरा नाम कुणिय या कुणिक मिलता है। अपने पिता के शासनकाल में वह अंग में प्रान्तीय शासक रह चुका था । लगभग 490 ई.पू. में वह अपने पिता को बन्दीगृह में डाल कर सिंहासन पर बैठा। बिम्बिसार द्वारा मगध की स्थिति पहले ही काफी सुदृढ़ बनायी जा चुकी थी और अब मगध अपनी साम्राज्यवादी नीति को कार्यान्वित करते हुए अन्य राज्यों से युद्ध करने में सक्षम था। अजातशत्रु का शासनकाल हर्यंक कुल की शक्ति के चरमोत्कर्ष का काल है।

(क) कोशल के साथ संघर्ष–ऊपर हम पढ़ चुके हैं कि मगध को काशी का प्रदेश कोशल से दहेज में प्राप्त हुआ था। किन्तु जब अजातशत्रु ने अपने पिता को कैद कर लिया और बिम्बिसार तथा महाकोशला की मृत्यु हो गई तब प्रसेनजित् ने चिढ़ कर काशी को जब्त कर लिया। इसी बात को लेकर मगध और कोशल में युद्ध छिड़ गया। दोनों के बीच में कई लड़ाइयाँ लड़ी गई जिसमें कभी एक पक्ष जीतता था कभी दूसरा पक्ष। अन्त में दोनों राज्यों में समझौता हो गया जो मगध के अनुकूल था। इस समझौते

---

* विनसेंट स्मिथ प्रभृति बौद्ध ग्रन्थों के विवरण की सत्यता में शंका रखते हैं। किन्तु राइस डेविड्स, मजुमदार प्रभृति विद्वान् इनके विवरण को प्रामाणिक मानते हैं।

के अनुसार, प्रसेनजित् की कन्या वजिरा का अजातशत्रु के साथ विवाह हो गया और काशी का प्रदेश पुनः मगध को मिल गया।

(ख) वज्जि संघ के साथ संघर्ष–मगध के पड़ोस में वज्जि संघ का शक्तिशाली गणराज्य था। साम्राज्यवादी अजातशत्रु के लिए उसके अस्तित्व का खटकना स्वाभाविक था। बिम्बिसार ने चेटक राजा की भगिनी चेल्लना से विवाह करके वज्जि राज्य के साथ मित्रता का सम्बन्ध बनाया था। पर अब मगध का राज्य शक्तिशाली हो गया था और वज्जि संघ से युद्ध करने की बात सोच सकता था।

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में इस युद्ध के अलग-अलग कारण बताये गये हैं। जैन साक्ष्य के अनुसार, चेल्लना से बिम्बिसार के हल और बेहल्ल नामक दो पुत्र थे। बिम्बिसार ने उन्हें एक रत्नमाला और एक हाथी उपहार में दे रखा था। अपने पिता को बन्दी बना लेने के उपरान्त अपनी पत्नी के उकसाने पर अजातशत्रु ने इन उपहारों को वापस मांगा। उन्होंने इन उपहारों को वापस करने से मना कर दिया और अपनी सुरक्षा के उद्देश्य से वे अपने नाना के यहाँ भाग गये। इस पर क्रुद्ध होकर अजातशत्रु ने वज्जि संघ पर आक्रमण कर दिया। बौद्ध साक्ष्य के अनुसार, इन दोनों राज्यों के बीच एक खान थी जिस पर दोनों राज्यों का आधा-आधा हिस्सा था। पर वज्जि राज्य के लोग मगध को इसका उपभोग नहीं करने देते थे और अजातशत्रु ने शक्ति प्रयोग द्वारा इस समस्या को निपटाने का निश्चय किया। युद्ध का कारण कुछ भी रहा हो, यह मानना उपयुक्त जान पड़ता है कि वज्जि संघ पर आक्रमण के मूल में अजातशत्रु की साम्राज्यवादी नीति थी जिसके लिए उसे किसी बहाने की तलाश थी। यह मिलते ही उसने यह कार्य सम्पन्न किया।

वज्जि गण एक शक्तिशाली राज्य था और इसे पराजित करने के लिए उसने बड़े पैमाने पर सामरिक तैयारियाँ की और कूटनीति का उपयोग किया। उसने गंगा के किनारे पाटलिग्राम (जो बाद में पाटलिपुत्र बना; आधुनिक पटना) नामक स्थान के सामरिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए वहाँ पर दुर्ग बनवाया। वज्जियों में आन्तरिक फूट डालने के उद्देश्य से उसने अपने दो मंत्रियों, सुनीष और वर्षकर को उनके दिखावटी अपमान के बहाने से वहाँ भेजा। युद्ध कई वर्षों तक चलता रहा। वज्जियों ने भी मगध के साम्राज्यवाद का सामना करने के लिए मल्लों के साथ मिल कर एक संघ बनाया। इस युद्ध में अजातशत्रु ने 'रथमूसल' और 'शिलाकंटक' नामक दो नये सामरिक यंत्रों का प्रयोग किया। रथमूसल सम्भवतः रथ था जिसमें भारी गदा संयोजित होती थी और युद्ध क्षेत्र में दौड़ता हुआ यह रथ शत्रु पक्ष के सैनिकों का भारी संहार करता था। शिलाकंटक सम्भवतः कोई प्रेक्षेपक यन्त्र था जिसकी सहायता से शत्रु सेना पर पत्थर बरसाए जाते थे।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वज्जि के साथ हुए संघर्ष को अजातशत्रु ने बड़ी गम्भीरता से लिया था और इसमें सफलता पाने के लिए सभी सम्भव उपायों का उपयोग किया था। वह इस तथ्य से अवगत था कि मगध राज्य के शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरने के लिए वज्जि गणराज्य का विनाश आवश्यक था। जैन साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि वज्जि गणराज्य ने भी काफी लम्बे समय तक मगध के साम्राज्यवाद का मुकाबला किया और यह युद्ध सोलह वर्षों तक चलता रहा। अन्त में इस युद्ध में अजातशत्रु की विजय हुई और वज्जि राज्य को मगध में मिला लिया गया।

(ग) अवन्ति के विरुद्ध मोर्चाबन्दी–वज्जि पर विजय से मगध की सीमाओं का काफी विस्तार हो गया। काशी पहले से मगध को मिल चुका था। अब केवल अवन्ति का शक्तिशाली राज्य ऐसा था जिससे मगध को खतरा हो सकता था। बौद्ध साक्ष्य से

यह सूचना मिलती है कि अवन्ति के आक्रमण के डर से अजातशत्रु ने अपने नगर की किलेबन्दी करवायी। किन्तु उसके समय में दोनों राज्यों में युद्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सम्भवतः इस समय कोई युद्ध नहीं हुआ और दोनों राज्यों की सर्वोपरिता का प्रश्न भविष्य के लिए टल गया।

(घ) धर्म–अपनी धार्मिक नीति में वह अपने पिता के समान उदार जान पड़ता है क्योंकि उसे भी बौद्ध और जैन दोनों ही धार्मिक ग्रन्थ अपने-अपने धर्मों का अनुयायी बताते हैं। सांची स्तूप की वेदिका के एक अंकन में अजातशत्रु द्वारा बुद्ध के दर्शन करने जाने और अपना सम्मान प्रदर्शन करने की घटना दी गयी है। उसके समय में राजगृह में बौद्धों की प्रथम संगीति (भिक्षुओं का अधिवेशन) बुलाई गई थी जिसमें बुद्ध के वचनों का पहली बार संग्रह किया गया। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार, बुद्ध के परिनिर्वाण (देह त्याग) के बाद अजातशत्रु ने भी उनके शरीर के अवशेषों का एक भाग लिया और उस पर एक स्तूप का निर्माण करवाया।

उदायिन और उसके उत्तराधिकारी

सम्भवतःशासक बनने के पूर्व उदायिन भी अपने पिता के शासनकाल में अंग प्रदेश का प्रान्तीय शासक रह चुका था। उसके समय की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है उसके द्वारा पाटलिपुत्र नगर का बसाया जाना और उसे मगध की नई राजधानी बनाना। इस स्थान के सामरिक तथा कूटनीतिक महत्त्व को सबसे पहले अजातशत्रु ने पहचाना था। इस समय तक मगध राज्य का काफी विस्तार हो चुका था और जैसा कि डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी का विचार है, राज्य के केन्द्र में स्थित होने के कारण यह राजधानी के लिए उपयुक्त स्थान था। जैन ग्रन्थ परिशिष्टपर्वन में अवन्ति के शासक को उदायिन का शत्रु बताया गया है। यह स्वाभाविक ही था। इस समय तक अवन्ति के प्रद्योत के पुत्र पालक ने वत्स राज्य को अपने राज्य में मिला लिया था और इस प्रकार मगध और अवन्ति की राज्य सीमाएँ एक दूसरे से सट रही थी। दोनों राज्यों में मुठभेड़ अवश्यम्भावी था। किन्तु, यह शक्ति प्रदर्शन इस समय नहीं हुआ और भविष्य के लिए स्थगित रहा।

लंका में लिखे गए बौद्ध ग्रन्थों में उदायिन के बाद अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदासक को शासन करते हुए बताया गया है। ये सभी अपने-अपने पिता को मार कर राजा बने थे। इसके परिणामस्वरूप जनता ने क्रुद्ध होकर विद्रोह कर दिया और काशी के प्रान्तीय शासक शिशुनाग को राजा बनने के लिए आमंत्रित किया। इस प्रकार हर्यंक कुल के बाद शैशुनाग वंश की स्थापना हुई।

शैशुनाग वंश : साम्राज्यवाद के विकास का द्वितीय चरण

इस वंश का नाम इसके प्रथम शासक शिशुनाग के नाम पर आधारित है। उसके नाम से ऐसा जान पड़ता है कि शैशुनाग भी नागों की ही किसी शाखा से सम्बद्ध थे।

(क) शिशुनाग और मगध के अभ्युदय में उसका योगदान

शासक बनने के पूर्व शिशुनाग काशी का प्रान्तीय शासक था। नागदासक के विरूद्ध विद्रोह कर जनता ने उसे शासक बनने के लिए आमंत्रित किया। जनता का यह चयन सिद्ध करता है कि उसने पहले ही एक क्षमतावान और कुशल व्यक्ति होने की प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी।

इस समय अवन्ति का राज्य मगध का अकेला शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी बचा था। शिशुनाग ने शासक बनते ही अवन्ति के कांटे को दूर करने का निश्चय किया। पुराणों में उसे प्रद्योतों (अर्थात् प्रद्योत के वंशजों) का विनाश करने वाला कहा गया है जिससे यह

स्पष्ट है कि शिशुनाग ने अवन्ति को जीत कर उसे मगध राज्य में मिला लिया। उसका प्रतिद्वन्द्वी अवन्ति का शासक सम्भवतः अवन्तिवर्धन था। इस प्रकार उसके समय में मगध राज्य का विस्तार अब गंगा की घाटी से बाहर निकल कर अवन्ति तक पहुच गया। मगध के साम्राज्यवाद के विकास में यह विजय एक महत्त्वपूर्ण चरण था। ऐसा जान पड़ता है कि अवन्ति को जीतने के पहले ही उसने वत्स राज्य के प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया था। इसके समय में सम्भवतः कोसल भी मगध में आत्मसात् कर लिया गया। इस प्रकार मगध के राज्य ने पहली बार सही अर्थों में एक विशाल राज्य का रूप ग्रहण किया।

पश्चिम में जीते गए प्रदेशों पर ठीक से ध्यान रखने के उद्देश्य से उसने पुनः राजगृह को ही राजधानी बनाया। काशी में उसने अपने एक पुत्र को प्रान्तीय शासक नियुक्त किया। वैशाली उसके राज्य का दूसरा प्रशासकीय केन्द्र था। पंजाब और सीमान्त प्रदेश को छोड़कर अब सम्पूर्ण उत्तर भारत मगध राज्य के अन्तर्गत आ गया था। शिशुनाग ने अठारह वर्ष तक शासन किया।

(ख) शिशुनाग के उत्तराधिकारी

शिशुनाग के पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक शासक बना। उसका एक नाम काकवर्ण भी मिलता है। उसने फिर पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया जिसके बाद दीर्घ काल तक उसे यह गौरव प्राप्त रहा। कालाशोक के समय में वैशाली में बौद्धों की दूसरी संगीति सम्पन्न हुई।

बौद्ध साहित्य में कालाशोक के दस पुत्रों का नाम आता है जिन्होंने साथ-साथ शासन किया। पुराणों में केवल नन्दिवर्धन का नाम मिलता है। ये सभी नगण्य शासक थे।

इस शासन वंश के बाद नन्द वंश का शासन प्रारम्भ हुआ।

नन्द वंश : साम्राज्यवाद के विकास का तृतीय चरण

वंश परिचय

ब्राह्मण साहित्य के अनुसार नन्द वंश का प्रथम शासक महापद्म था। पालि साहित्य में उसका नाम उग्रसेन बताया गया है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध साक्ष्यों में विरोधी वृतान्त मिलते हैं। पुराणों के अनुसार, प्रथम नन्द शैशुनाग राजा की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ। (शूद्रागर्भोद्‌भव) पुत्र था। जैन ग्रन्थ उसे नाई का पुत्र बताते हैं जो एक वेश्या से उत्पन्न हुआ था। यूनानी लेखक कर्टियस द्वारा जैन परम्परा का समर्थन होता दिखाई पड़ता है। कर्टियस ने सिकन्दर के समकालीन नन्द शासक अग्रेमीज (विद्वानों ने अग्रेमीज को संस्कृत शब्द औग्रसैन्य = 'उग्रसेन का पुत्र' का यूनानी रूप माना है) के विषय में लिखा है कि उसका पिता नाई था जो अपनी सुन्दरता के कारण रानी का कृपापात्र बन गया। बाद में रानी के सहयोग से उसने राजा की हत्या कर दी और राजकुमारों का संरक्षक होने के बहाने से शासन करने लगा, बाद में उसने राजकुमारों को भी मार डाला। परवर्ती लेखक बाण के हर्षचरित में काकवर्ण नामक शैशुनाग राजा का अपनी राजधानी के समीप ही गले में छुरा भोंक कर वध होने का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः इसी वृतान्त का निरूपक है। सभी साक्ष्यों को देखने पर यह निश्चित होता है कि प्रथम नन्द निम्न कुल का था जो षडयंत्र द्वारा शासक बनने में सफल हुआ।

महापद्म नन्द

इस वंश का प्रारम्भ लगभग 355 ई.पू. में हुआ। इसमें कुल मिलाकर नौ शासक हुए जिनमें प्रथम शासक महापद्म नन्द ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पुराणों में उसे एक

लोभी किन्तु प्रतापी शासक बताया गया है। उसे सभी समकालीन क्षत्रिय शासन वंशों का विनाश करने वाला (सर्वक्षत्रान्तक) कहा गया है। इन शासन वंशों में इक्ष्वाकुओं, पांचालों, हैहयों, कलिंगों, शूरसेनों, अश्मकों तथा मैथिलों के नाम गिनाए गये हैं। उसे दूसरा परशुराम (परशुराम ने भी क्षत्रियों का विनाश किया था) के समान क्षत्रियों को नष्ट कर एकच्छत्र शासन करने वाला कहा गया है। पुराणों के अनुसार, हिमालय तथा विन्ध्य पर्वतों के बीच की सम्पूर्ण पृथ्वी पर उसका सर्वमान्य राज्य होगा। परिशिष्ट पर्वन में मिलने वाली जैन परम्परा में उसके एक मन्त्री द्वारा समुद्र तक के प्रदेश पर विजय प्राप्त करते हुए बताया गया है।

उसके द्वारा हैहयों की पराजय नर्मदा नदी तक उसका अधिकार सिद्ध करती है। उसके समय में पहली बार मगध का विस्तार कलिंग (उड़ीसा) तक हुआ। उसकी कलिंग विजय उड़ीसा के प्रथम शताब्दी ई. पू. के स्थानीय शासक खारवेल के लेख से भी प्रमाणित होती है। इस लेख में नन्दराज द्वारा एक नहर बनावाए जाने तथा किसी जैन प्रतिमा को ले जाने का उल्लेख मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नन्दराज महापद्मनन्द ही था। अश्मकों का निवास गोदावरी नदी के तट पर था। आज भी गोदावरी के तट पर नवनन्द देहरा नामक एक स्थान मिलता है और इस नाम में सम्भवतः नन्दों की याद छिपी हुई है। प्रायः विद्वानों का विचार है कि यदि अधिक नहीं तो कम से कम कृष्णा नदी तक निश्चित रूप से नन्दों का अधिकार था। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय जिस प्रथम भारतीय साम्राज्य की स्थापना हुई उसकी आधारशिला महापद्म नन्द ने रखी थी।

महापद्मनन्द की सैनिक शक्ति विशाल थी। उग्रसेन और महापद्म सम्भवतः दोनों उसकी उपाधियाँ है जो उसकी सेना की विशालता और अपार शक्ति की ओर संकेत करती हैं। जैसा कि हम अगले अध्याय में पढ़ेगें, जिस समय मगध में नन्दों का राज्य चल रहा था उसी समय यूनान के महान् विजेता सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। सिकन्दर ने व्यास नदी के पश्चिम तक के प्रदेशों को जीत लिया। पर व्यास के पूर्व के प्रदेश पर शक्तिशाली नन्द वंश का शासन था जिनके पास विशाल सेना थी। नन्द शासक की सैनिक शक्ति के बारे में सिकन्दर के सिपाहियों ने सुन रखा था और उन्होंने सिकन्दर के लाख समझाने पर भी आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। यूनानियों ने नन्दों की विशाल सेना का बार-बार उल्लेख किया है।

विविध साक्ष्यों में उसके विशाल धनकोष की भी चर्चा मिलती है। विशाखदत्त रचित संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस में नन्द शासक को 'नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वर' कहा गया है। कथासरित्यसागर में भी नन्द शासक को 990 कोटि सुवर्ण मुद्राओं का स्वामी बताया गया है। हर्ष के समय आये चीनी यात्री युवान च्यांग के काल तक नन्दों के असीम धन की अनुश्रुति चली आ रही थी और उसने उनके पांच रत्नकोशों का उल्लेख किया है। 355 ई. पू. में मृत्यु प्राप्त जेनोफन नामक यूनानी लेखक ने एक भारतीय शासक का हवाला दिया जो बड़ा धनवान था। यह नन्द शासक महापद्म की ओर संकेत करता जान पड़ता है।

महापद्म के उत्तराधिकारी

पुराणों में महापद्म के आठ पुत्र बताए गए हैं पर सभी के नाम नहीं मिलते। उन्होंने बारह वर्ष तक शासन किया। बौद्ध ग्रन्थ महाबोधिवंश में नौ नामों की सूची मिलती है जिनमें अन्तिम नाम धननन्द का है। यही यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर का समकालीन शासक था।

नन्द शासन वंश का अन्त

नन्द शासकों को लोभी बताया गया है जिन्होंने ऐसी वस्तुओं पर भी कर लगाया जिन पर पहले कभी भी कर नहीं लगाया गया था। सामाजिक दृष्टिकोण से भी वे निम्न कुलीन थे जिसे उस समय की जनता ठीक नहीं समझती थी। महापद्म नन्द ने क्षत्रिय शासन वंशों का विनाश किया जिससे क्षत्रिय वर्ग इस शासन वंश से खुश नहीं था। ऐसा जान पड़ता है कि नन्द जैन धर्मावलम्बी थे। अतः ब्राहमण वर्ग जो वैसे भी अपनी व्यवस्था में क्षत्रिय को ही शासन करने का अधिकारी मानते थे- भी उनसे असन्तुष्ट नहीं था। उनकी उग्र सैनिक नीति ने भी लोगों में असन्तोष पैदा किया होगा। इन सभी कारणों से से जनता उनसे घृणा करती थी। एक युवा के रूप में जब चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला तो उसने उससे नन्द शासक की इस अलोकप्रियता की चर्चा की (विस्तार से 'मौर्य साम्राज्य' शीर्षक अध्याय में)। अन्त में चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के साथ सहयोग कर नन्द राज्य पर आक्रमण कर दिया। सैनिक शक्ति में प्रबल होने पर भी आन्तरिक अशान्ति और अव्यवस्था के कारण नन्द शासक इस चुनौती का सामना नहीं कर सका और उत्साही युवा तथा वीर युवक चन्द्रगुप्त उसे पराभूत कर मौर्य शासनवंश की स्थापना करने में सफल हुआ।

सामाजिक दृष्टि से नन्द-वंशीय शासन निम्न वर्ग के उत्कर्ष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

नन्द-राजवंशीय शासकों को भारत का प्रथम साम्राज्य निर्माता कहा जाता है। उन्हें मगध का विशाल साम्राज्य विरासत में मिला था, किन्तु वे उतने से ही संतुष्ट न हुए। एक शक्तिशाली सेना तैयार करके उन्होंने सम्पूर्ण भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास किया, जिसमें उन्हें काफी हद तक सफलता प्राप्त हुई। भारत के विशाल भू-भाग को मगध-साम्राज्य के छत्र के नीचे लाकर उन्होंने भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने का सराहनीय प्रयास किया। इस विषय में डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी के शब्द उल्लेखनीय हैं। "नन्द-वंश के परवर्ती राजवंश (मौर्य) की शानशौकत के सम्मुख नन्द-वंश की चमक फीकी पड़ गयी।" लेकिन, यह स्मरणीय है कि नन्द-वंश के राजा अपने उत्तराधिकारियों और भावी पीढ़ियों के विरासत में क्या दे गये। डा. स्मिथ के शब्दों में 'उन्होंने परस्पर विरोधी राज्यों को इस बात के लिए विवश किया कि वे आपसी उखाड़-पछाड़ न करें और स्वयं को किसी उच्चतर नियामक सत्ता के हाथों में सौंप दें। उन्होंने ऐसी सेना तैयार की कि जिसका उपयोग मगध के परवर्ती शासकों ने विदेशी आक्रमणकारियों के हमले को रोकने में और बिम्बिसार तथा अजातशत्रु के द्वारा प्रवर्तित भारतीय सीमा में अपने राज्य का विस्तार करने की नीति को कार्यान्वित करने में किया।'

10

ईरानी और यूनानी आक्रमण

विदेशियों के साथ भारत का प्रारम्भिक सम्पर्क

भारतीय सभ्यता को विभिन्न सभ्यताओं का संगम कहा जा सकता है। यहाँ समय-समय पर कई विदेशी जातियाँ आई और भारतीय सभ्यता के निर्माण में अपना योगदान किया। विदेशियों के साथ प्राचीन भारत के सम्पर्क को हम दो भागों में रख कर देख सकते हैं। पहला भाग छठी से लेकर चौथी शताब्दी ई.पू. तक का है जिसमें भारत ईरानियों और यूनानियों के सम्पर्क में आया, और दूसरा भाग दूसरी शताब्दी ई.पू. के बाद प्रारम्भ होता है जिसमें इण्डो-ग्रीक, शक, पह्लव और कुषाण लोगों का यहाँ आगमन हुआ।

छठी से चौथी शताब्दी ई.पू. तक के काल में जब मगध में साम्राज्यवाद का क्रमिक विकास हो रहा था, पश्चिमोत्तर भारत इस साम्राज्यवादी धारा के प्रभाव के बाहर था। सारा पश्चिमोत्तर भारत इस समय कई छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। इनमें कुछ राज्य राजतन्त्रात्मक थे और कुछ में गणराज्य का प्रचलन था। उत्तरापथ के छोटे-छोटे राज्यों में कोई भी इतना शक्तिशाली नहीं था जो इस प्रदेश में राजनीतिक एकता स्थापित कर सकता। ये आपस में झगड़ते रहते थे जिसके कारण वे किसी भी विदेशी शक्ति से मिल कर मुकाबला नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में पहले ईरानियों ने और फिर यूनानी शासक सिकन्दर ने इस प्रदेश के ऊपर आक्रमण किया।

ईरान से भारत के अत्यन्त प्राचीनकाल से सम्बन्ध थे। संस्कृत के अनेक शब्द प्राचीन फारस की भाषा से मिलते हैं। ईरान के साथ भारत का सम्बन्ध अफगानिस्तान तथा बलोचिस्तान के द्वारा था। प्राचीन ईरान की पुस्तक अवेस्ता तथा भारतीय ग्रन्थ ऋग्वेद से भी, भारत व ईरान के मध्य सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। जातकों में भी भारत व ईरान के मध्य व्यापारिक सम्बन्धों का उल्लेख है।

ईरानी आक्रमण

छठी शताब्दी ईसा पूर्व में ईरान में हखमानी राजवंश ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और इसने पश्चिम और पूर्व दोनों ओर अपने राज्य की सीमाओं में फैलाया। पश्चिम की ओर इसकी सीमा यूनान तक पहुँच गई। पूर्व में इन्होंने वाह्लीक (=वल्ख) और गंधार प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया।

ईरानियों का पहला आक्रमण 550 ई.पू. में हुआ। इस समय ईरान का शासक कुरुष (Cyrus - समय 558-530 ई. पू) था। उसने मकरान के रास्ते होकर भारत पर आक्रमण किया। सिन्ध प्रदेश के राज्यों ने कुरुष का जम कर मुकाबला किया और उसे असफल होकर भागना पड़ा। पर कुरुष ने फिर दूसरी वार कावुल की घाटी से होकर आक्रमण किया। उसने कपिशा नगर को जीत कर उसे तहस-नहस कर दिया और आगे

बढ़कर अश्वकों और पक्थो (पश्नों बोलने वाले पठानों का इलाका) को भी जीत लिया। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि कुरुप इस प्रदेश से कर वसूल करता था।

दूसरा ईरानी आक्रमण दरायवोष (दार ; Darius - 522-486 ई.पू.) के समय में हुआ। 518 और 515 ई. पू. के बीच के उसके दो शिलालेखों में 'हि (न) दु' को उसके राज्य के अन्तर्गत बताया गया है। ' हिन्दू ' का वास्तविक भूखण्ड बताना कठिन है किन्तु संभवत: गंधार, कम्बोज, पश्चिमी पंजाब तथा सम्पूर्ण सिन्ध प्रदेश उसके अधिकार में था। प्राचीन यूनानी इतिहासकार हेरोडोट्स ने लिखा है कि 517 ई. पू. में दरायवोष ने सिन्धु घाटी की खोज के लिए स्काईलैक्स के नेतृत्व में एक नाविक अभियान भेजा था। उससे यह भी ज्ञात होता है कि दरायवौष के साम्राज्य में इक्कीस प्रान्त थे और भारत में जीते गये प्रदेशों से उसका एक प्रान्त बनता था। इन प्रदेशों के लिए एक 'क्षत्रप' (प्रान्तीय शासक) नियुक्त किया गया था जो कर वसूल कर भेजता था। भारत का प्रदेश उसके साम्राज्य का सबसे समृद्ध प्रान्त था और हेरोडोटस का कहना है कि ईरानी साम्राज्य को इस प्रदेश से सुवर्ण चूर्ण के 360 थैले कर में मिलते थे जो साम्राज्य में वसूली गई सम्पूर्ण कर राशि का एक तिहाई भाग था।

दरायवोष के पुत्र क्षहयार्ष (Xerxes- समय 483-465 ई.पू.) के समय में भी यह प्रदेश ईरान के हाथ में रहा। यूनानी लेखकों से पता चलता है कि उसके यूनान के साथ हुए युद्ध में सूती वस्त्र पहने और बेंत के धनुष और लोहे के बाण लिये हुए भारतीय सैनिक उसकी ओर से लड़े थे।

इसके बाद ये भारतीय प्रदेश किस सीमा तक ईरान के आधिपत्य में रहे यह बता सकना कठिन है। किन्तु, ऐसा लगता है कि क्षहयार्ष के बाद इस प्रदेश पर ईरानियों की पकड़ ढीली होती गई और 426 ई.पू. के लगभग इस प्रदेश के राज्य स्वतंत्र हो गये दिखाई पड़ते होते हैं। उसी समय यूनानी शासक सिकन्दर ने ईरानी साम्राज्य को पराभूत किया और भारत पर आक्रमण किया।

ईरानी आक्रमण का प्रभाव

राजनीतिक दृष्टि से ईरानी आक्रमण का कोई खास प्रभाव नहीं पड़ा। उनके शासन के बाद शीघ्र ही इस प्रदेश पर सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानियों का अधिकार हो गया। पर ईरानी आक्रमण ने एक प्रकार से भारत पर आक्रमण का दरवाजा खोल दिया और इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं यूनानियों को भारत पर आक्रमण की प्रेरणा उन्हीं से मिली।

पर इस सम्पर्क से भारत का पश्चिमी जगत के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान शुरू हुआ। कुछ विदेशी भारत के इस भाग में बस गए और वहाँ की जनता में उनके रक्त का मिश्रण हुआ। इस प्रदेश पर ईरानियों का अधिकार लगभग एक सौ वर्षों तक रहा जिसके परिणामस्वरूप सभ्यता के विविध पक्षों पर उनका प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव में खरोष्ठी लिपि का जन्म और विकास हुआ जो लम्बे समय तक इस प्रदेश में चलती रही। इस भाग की जनता के लिए लिखवाए गए अशोक के लेख इसी लिपि में हैं और बाद में यह लिपि कुषाणों के समय तक बनी रही। इस प्रदेश की भाषा पर भी ईरानी प्रभाव पड़ा। भवन निर्माण कला, मूर्तिकला तथा वेश-भूषा पर भी ईरानी प्रभाव पड़ा, और कुछ विद्वानों का मत है कि ईरानी सम्राट बड़ी शान शौकत से रहते थे जिसकी नकल मौर्य शासकों द्वारा की गई। भारतीय इतिहास में अशोक के पहले शिलालेख अथवा स्तम्भ लेख नहीं मिलते जब कि ईरानी सम्राट इस प्रकार के लेख खुदवाया करते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार, अशोक ने ईरानी शासकों से प्रेरणा लेकर ही अपने राज्य में शिलालेख

और स्तम्भलेख खुदवाए। ईरानियों का एक अन्य प्रभाव आर्थिक क्षेत्र में पड़ा। अब पश्चिमी जगत के साथ स्थल मार्ग से अधिक व्यापार होने लगा।

सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानी आक्रमण

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति

इस समय भी पश्चिमोत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति लगभग वैसी ही थी जैसी ईरानी आक्रमण के समय थी। देश का यह भाग कई छोटे- छोटे राज्यों में बंटा हुआ था जिनमें कुछ राजतंत्र और कुछ गणतंत्र थे।

यूनानी लेखकों ने कुल मिलाकर 25 से भी अधिक राज्यों के नाम गिनाए हैं जिनमें अश्वक (काबुल के उत्तर), गंधार (पश्चिमी पाकिस्तान में आधुनिक रावलपिण्डी तथा पेशावर के जिले; राजधानी तक्षशिला), पौरव (झेलम और चिनाव के बीच में), अभिसार (कश्मीर का पश्चिमी प्रदेश); कठ (रावी और व्यास के बीच में), क्षद्रक (कठों के पास) और मालव (रावी और चिनाव के संगम के ऊपर) प्रमुख थे।

इस प्रकार सारा पश्चिमोत्तर भारत तमाम राज्यों में विभक्त था। इनमें आपसी अनवन बनी रहती थी। राजतन्त्र राज्य गणतन्त्रों के विरोधी थे। पौरव राज्य तथा तक्षशिला के राजा आम्भी की आपसी शत्रुता का उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है। तक्षशिला और अभिसार में भी आपसी शत्रुता थी। पौरव और अभिसार का क्षुद्रकों और मालवों से झगड़ा लगा रहता था। इसी प्रकार सम्बोस और मूसिक एक दूसरे के शत्रु थे। ऐसी स्थिति में किसी भी विदेशी शक्ति का सफल होना स्वाभाविक था।

सिकन्दर का भारत आगमन

अरावेला की लड़ाई में हखमानी शासक को हराने के बाद सिकन्दर ने 327 ई.पू. में भारत की ओर रुख किया। सीस्तान और अफगानिस्तान को जीतता हुआ वह काबुल की घाटी में उतरा और वाह्लीकों तथा पास के भू-भागों को जीता। हिन्दुकश पार कर उसने अपनी सेना के दो भाग किए। एक भाग को उसने अपने दो सर्वोत्तम सेनापतियों हेफ्रीस्तियन और पर्दिक्कस के नेतृत्व में सिन्धु नदी पर पुल बनाने के लिए भेजा और दूसरे भाग को स्वयं लेकर भारत की ओर रवाना हुआ।

सिकन्दर और सीमान्त के राज्य

ऊपर बताई गई राजनीतिक अवस्था को देखते हुए यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि सिकन्दर को भारतीयों की संगठित सेना का सामना नहीं करना पड़ा ; बल्कि कुछ देशद्रोहियों ने उसे आक्रमण करने का निमंत्रण दिया। हिन्दुकश के उत्तर में शशिगुप्त (जिसे यूनानी लेखकों ने सिसिकोट्स कहा है) नाम का राजा था जो पहिले ईरानियों के साथ था पर अब सिकन्दर का मित्र बन गया था उसने सिकन्दर की सहायता की। जिस समय सिकन्दर अभी भारत के बाहर ही था, तक्षशिला के राजा आम्भी ने भी उसे आक्रमण करने का निमन्त्रण भेजा और अपनी सहायता देने का भी आश्वासन दिया।

किन्तु जहाँ शशिगुप्त और आम्भी जैसे देशद्रोहियों ने विदेशी आक्रमणकारी का साथ दिया, वहीं इस प्रदेश की कई लड़ाकू जातियों ने आक्रमणकारी का कड़ा प्रतिरोध कर भारत के इतिहास को गौरवान्वित किया। स्वयं यूनानी लेखकों की कृतियों में उनकी वीरता की कहानी सुरक्षित मिलती है।

सबसे पहले सिकंदर की मुठभेड़ अस्पसिओइ जाति के लोगों से हुई। यूनानी अस्पसिओइ संस्कृत अश्वक का विकृत रूप जान पड़ता है। प्राचीन यूनानी लेखक एरियन ने लिखा है कि इस जाति के लोगों ने तीखी लड़ाई लड़ी "न केवल इसलिए कि भूमि

पहाड़ी थी अपितु इस कारण कि भारतीय भू-भाग में अत्यन्त शूर योद्धा थे।" किन्तु अन्ततः सिकन्दर विजयी हुआ। उसने 40000 पुरुषों को बन्दी बनाया और उनके 2,30000 बैल छीन लिए। उनमें से सुन्दर बैलों को चुनकर उसने कृषि कार्य के लिए मकदूनिया भेज दिया।

इस विजय के बाद उसने नीसा के पर्वतीय राज्य पर आक्रमण किया। नीसा के लोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया, और साथ ही यह कह कर सिकन्दर के गर्व के तुष्टि प्रदान की कि वे स्वयं मूलतः यूनानी हैं।

तत्पश्चात् सिकन्दर का मुकाबला उस जाति से हुआ जिसे यूनानी लेखकों ने अस्सकेनोय कहा है। यह भी संस्कृत अश्वक ही जान पड़ता है। अस्पसिओइ और अस्सकेनोय संभवतः एक ही मूल के थे। अस्सकेनोय लोगों का दुर्ग मस्सग प्रकृति द्वारा भली भाँति सुरक्षित था। इसकी प्राकृतिक सुरक्षा की चर्चा करते हुए प्राचीन यूनानी लेखक कर्टियस ने लिखा है कि इसके पूर्व में खड़े किनारों वाली तीखी पहाड़ी नदी बहती थी और दक्षिण तथा पश्चिम में बड़े- बड़े चट्टानों के अम्बार थे, जिनके नीचे दलदल और गहरी दरारें थी। इस प्राकृतिक सुरक्षा के अतिरिक्त यहाँ के लोगों ने गहरी खाई और मोटी दीवार द्वारा दुर्ग को अतिरिक्त सुरक्षा प्रदान की थी। यहाँ के लोगों ने इस अजेय दुर्ग में रहकर ही सिकन्दर का प्रतिरोध करने का निश्चय किया। प्रतिरोध इतना प्रबल और प्रभावी था कि बार-बार आक्रमण करते हुए सिकन्दर स्वयं घायल हो गया। किन्तु दुर्ग के स्वामी अस्सकेनस की आकस्मिक रूप से बाण लगने से मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना के बाद युद्ध को निरर्थक मानकर उसकी पत्नी (इसका नाम क्लियोफिस बताया गया हैं। ने सिकन्दर के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इस युद्ध में मत्सग की ओर से 7000 वेतन भोगी सैनिकों ने भाग लिया था। सिकन्दर ने उन्हें यह कह कर प्राणदान देने का आश्वासन दिया था कि वे शीघ्र ही नगर से बाहर चले जायें। किन्तु वे जैसे ही नगर से बाहर आए, सिकन्दर अपनी सेना लेकर उन पर टूट पड़ा और बड़ी संख्या में उन्हें मौत के घाट उतार डाला। उन्होंने इस विश्वासघात का वीरता से सामना किया और उनकी स्त्रियों ने भी शस्त्र लेकर पुरुषों का साथ दिया। प्लूतार्क नामक लेखक के अनुसार "उनकी निर्भयता तथा वीरता ने शत्रु के दांत खट्टे कर दिये" वे लड़ते-लड़ते मारे गये। प्लूतार्क ने इस घटना पर आगे टिप्पणी की है कि यह सिकन्दर के "सामरिक यश पर एक काला धव्वा है।"

इसके बाद कुछ अन्य जातियों को हराता हुआ और उनके दुर्गों पर अधिकार करता हुआ सिकन्दर अपनी सेना के उस भाग से मिला, जिसे उसने सिन्धु पर पुल बनाने के लिए भेजा था। इस अवधि में उसकी सेना के इस भाग ने सिन्धु तक पहुंच कर ओहिन्द के पास (अटक से कुछ मील ऊपर की ओर नावों का पुल बना लिया था। सिकन्दर नदी को पार कर तक्षशिला पहुंचा, जहाँ आम्भी ने उसका स्वागत किया और उसे प्रभूत मात्रा में चांदी तथा बड़ी संख्या में भेड़ और बैल उपहार में दिया। सिकन्दर ने इन भेंटों को अपनी भेंट के साथ लौटा कर आम्भी से 5000 सैनिक प्राप्त किए। आम्भी पौरव राजा पुरु या पोरस से शत्रुता रखता था और उससे बदला लेने का इसने यह अच्छा मौका समझा।

पुरु या पोरस के साथ युद्ध

तक्षशिला में रहते हुए सिकन्दर ने पौरव राजा के पास दूत भेज कर अपनी अधीनता स्वीकार करने को कहा। पर पुरु एक वीर राजा था। उसने उत्तर में सिकन्दर को कहलाया

कि वह उससे युद्धभूमि में मिलेगा। झेलम नदी के दोनों किनारों पर दोनों सेनाऐं जुट गई। सिकन्दर को खुले में आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। एक बरसाती रात में उसने चुपके से नदी पार किया। पुरु ने अपनी सेना लेकर सिकन्दर का सामना किया। पुरु के पास हाथियों की विशाल सेना के अतिरिक्त पैदल तथा बड़ी संख्या में रथ थे। सिकन्दर के पस वल्लभमधारी और धर्नुर्धर घुड़सवारों की सेना थी। भीषण युद्ध शुरू हुआ और दोपहर तक तो ऐसा लगता था कि यूनानी हार जाएँगें। किन्तु भारतीयों का भाग्य खराब था। इस दिन अनवरत वर्षा हुई जिससे भूमि चिकनी होने के कारण भारतीय सेना के रथ व्यर्थ हो गये; घोड़े आगे बढ़ने में असमर्थ थे और रथ के पहिये जमीन में धंस जाते थे। भारतीय धर्नुर्धर भी अपना पराक्रम और कौशल न दिखा सके। भारतीय सैनिक अपने धनुष की एक नोंक को पैर से दबा कर तीर छोड़ते थे और बरसात के कारण उन्हें बड़ी कठिनाई हो रही थी। इसी बीच तीरों और भालों की चोट से घायल होकर पुरु के हाथी बौखला गए और पीछे मुड़ कर अपनी ही सेना को कुचलने लगे। भारतीय सैनिकों में हड़बड़ी फैल गई और युद्ध का पासा पलट गया। पर पुरु ईरानी शासक दरायवोष की तरह लड़ाई के मैदान से भागा नहीं। वह स्वयं एक ऊंचे हाथी पर बैठकर लड़ते हुए अपनी सेना का हौसला बढ़ाता रहा और कई गम्भीर चोटों के लगने पर भी युद्ध भूमि में डटा रहा। घायल होते हुए भी उसने देशद्रोही आम्भी पर भाला चलाया पर संयोग से वह बच गया। पुरु चारों ओर से शत्रु से घिर गया था पर वह अन्त तक लड़ता रहा। अन्त में लगभग मूर्च्छित अवस्था में उसे बन्दी बना कर सिकन्दर के सामने लाया गया। जब सिकन्दर ने उससे पूछा कि तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाए तो उसने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया "जैसा एक राजा को दूसरे राजा के साथ करना चाहिए।" सिकन्दर इस साहसिक और निडर उत्तर से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने पुरु को उसका राज्य वापस कर दिया। सिकन्दर के इस व्यवहार ने पुरु का हृदय जीत लिया और उसे मित्र बना लिया। पुरु की मित्रता से वह पीछे की ओर से निश्चिन्त होकर आगे बढ़ सकता था।

उत्तरी-पूर्वी पंजाब के राज्यों पर विजय

पुरु से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बना कर सिकन्दर आगे बढ़ा। उसने ग्लाउगनिकाई अथवा ग्लुचुकायन जाति के लोगों को हरा कर उनके 37 नगरों को जीता तथा चिनाव नदी पार कर पुरु के भतीजे कनिष्क पुरु को हराया। उसने अद्रिजों (अद्रैस्ठतै के दुर्ग पित्रमा पर भी अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने कठ जाति के लोगों के दुर्ग संगल पर अपना अधिकार स्थापित किया। किन्तु कठों को वह बड़ी कठिनाई से जीत सका। कठ अपने विशिष्ट साहस और रणकौशल के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे और उन्होंने भयंकर प्रतिरोध का परिचय दिया। यदि पुरु या पोरस 5000 भारतीय सैनिकों के साथ सिकन्दर की सहायता को न पहुच पाता तो युद्ध का परिणाम पता नहीं क्या होता और उसे न जाने कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ता। कठों के इस कड़े प्रतिरोध से सिकन्दर इतना क्रोधित हुआ कि उसने संगल के दुर्ग को सर्वथा नष्ट कर दिया। यहाँ से वह पूर्व में व्यास की ओर बढ़ा।

सिकन्दर की सेना द्वारा आगे बढ़ने से इन्कार

सिकन्दर व्यास नदी तक पहुंचा। वह आगे बढ़ना चाहता था, किन्तु उसकी सेना ने आगे बढ़ने से साफ मना कर दिया। सिकन्दर ने सैनिकों के सम्मुख एक ओजस्वी भाषण दिया और उन्हें हर प्रकार से समझाने बुझाने की चेष्टा की। किन्तु सिकन्दर के

सभी प्रयास असफल हुए। वह शर्म के मारे तीन दिन अपने खेमे से बाहर नहीं निकला और हार कर उसे वापस लौटने का निश्चय करना पड़ा।

किन्तु आखिर सिकन्दर की विश्वविजयिनी सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार क्यों कर दिया ? सिकन्दर के सैनिकों पर उसकी अभ्यर्थनाओं और जोशीले तथा उत्साहवर्धक वचनों का असर क्यों नहीं पड़ा ? इसके निम्नलिखित कारण दिए जा सकते हैं।

यूनानी ठंडे देश के रहने वाले थे और भारत की जलवायु उन्हें अनुकूल नहीं बैठ रही थी। यहाँ की भीषण गर्मी और बरसात से तमाम यूनानी सैनिक बीमार हो कर मर गये थे और बहुत से बीमार थे। साथ ही यूनानी सैनिक काफी दिनों से लड़ते हुए थक गये थे और वे अपने देश लौट जाने के लिए व्याकुल हो रहे थे। किन्तु इस प्रसंग में सबसे सबल कारण यूनानी सैनिकों का भारतीय युद्धों में अपना कटु अनुभव जान पड़ता है। भारत आने के पहले सिकन्दर ने कई महत्त्वपूर्ण विजयें की थीं। उसने पश्चिम एशिया, मिस्र, ईरान और बल्ख के देश जीते थे। पर उसे तथा उसके सैनिकों को जैसा अनुभव भारत में हुआ वैसा कहीं और नहीं हुआ था। उसके सैनिकों को पग-पग पर युद्ध करना पड़ा। स्वयं यूनानी भारतीयों के साहस के और रणकौशल से प्रभावित हुए थे। यूनानी लेखक एरियन ने लिखा है कि एशिया में उस समय बसने वाली सभी जातियों में भारतीय युद्ध कला में सबसे आगे थे। अश्वकों और गौरों ने उसका कड़ा प्रतिरोध किया था। पुरु की सेना ने यूनानी सैनिकों के छक्के छुड़ा दिए थे और कठों ने अपने प्रतिरोध में असाधारण साहस और वीरता दिखाई थी। विशेषरूपेण पुरु के साथ हुए युद्ध ने यूनानी सैनिकों का मनोबल काफी गिरा दिया था।

सेनानायक की सभी अभ्यर्थनाएँ और जोशीले वचन उन पर बेकार गए। व्यास नदी तक आकर वे पूर्व में बसे भारतीयों की असीम शक्ति के बारे में सुनने लगे थे। व्यास के पूर्व में नंदों का विशाल और शक्तिशाली राज्य था। सभी यूनानी लेखकों ने व्यास के पूर्व में स्थित भारतीय प्रदेश के राज्य की विशाल सेना का उल्लेख किया है जिसमें 20,000 घुड़सवार, 20,000 पैदल, 2000 रथ और 3000 (एक यूनानी लेखक के अनुसार, 6000) हाथी थे। इन खबरों से यूनानी सैनिक भयभीत हो गए थे और वे इतने हतोत्साहित थे कि सिकन्दर के समझाने बुझाने का उनके ऊपर कोई असर नहीं पड़ा। अन्त में निराश होकर उसे कहना पड़ा—"निस्सन्देह मेरे शब्द बहरे कानों से टकराते रहे हैं। मैं ऐसे कायरों को उत्साहित करता रहा हूं जिनके हृदय त्रास से भर गये हैं।" सेना के विद्रोह से मजबूर होकर उसने सैनिकों को वापस लौटने की आज्ञा दे दी। भारतीय युद्ध कला की प्रशंसा में एरियन ने लिखा है: "एशिया में उस काल में जितनी जातियाँ बसती थीं, भारतीय युद्धकला में सबसे आगे थे।"

सिकन्दर का प्रत्यागमन

सिकन्दर झेलम के मार्ग से वापस लौटा। लौटने से पूर्व उसने सोफाइटिज (सौभूति) को जीता। यह पंजाब में नमक की पहाड़ियों वाला प्रदेश का शासक था। मकदूनियायी नावों की सुरक्षा के लिए नदी के किनारों पर हेफिस्टयन और क्रातेरस नामक सेनानायक स्थल सेना को साथ लेकर चल रहे थे। इस प्रकार वह रावी और चिनाव के संगम पर पहुंचा। यहाँ सिबोइ (शिवि) और अग्लस्सी (अग्रेश्रणी) लोगों से मुठभेड़ हुई। सिबोई लोग तो शीघ्र ही विनष्ट कर दिए गए किन्तु अग्लस्सियों ने कड़ा प्रतिरोध किया और प्रारम्भ में सिकन्दर की सेना को पर्याप्त हानि पहुंचाई। बाद में सैनिकों के बल पर तथा उत्तम नेतृत्व के कारण सिकन्दर ने उन पर विजय पाई।

इसके बाद उसकी मुठभेड़ उन जातियों से हुई जिन्हें यूनानी लेखकों ने 'मल्लाई' और 'ऑक्सीड्रेकाई' कहा है। ये प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित मालव और क्षुद्रक थे। ये युद्धप्रिय लोग थे। अपने बच्चों और पत्नियों को दुर्गों में सुरक्षित कर वे स्वयं ही सिकन्दर से लोहा लेने के लिए कटिबद्ध थे। इनमें आपसी शत्रुता थी किन्तु इस अवसर पर वे मिल गये। उनकी सम्मिलित सेना में 20,000 पैदल, 10,000 अश्वारोही और 900 रथ थे। इस नई विपत्ति से सिकन्दर की सेना में फिर एक बार विद्रोह के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। पर इस बार सिकन्दर ने बड़ी मर्मस्पर्शी अभ्यर्थना करते हुए कहा 'मुझे मान के साथ वापस लौट जाने दो भगोड़े की तरह भागने पर मजबूर न करो।' इस बार उसकी अपील का असर पड़ा और उसकी सेना में साहस का संचार हुआ। मालवों और क्षुद्रकों के आपस में मिलने के पहले ही सिकन्दर ने मालवों पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण आकस्मिक था और इस कारण भारी संख्या में मालवों का वध हुआ। किन्तु हतोत्साहित हुए बिना मालव बड़ी वीरता से लड़े और उनके प्रमुख दुर्ग पर आक्रमण करते हुए स्वयं सिकन्दर बुरी तरह घायल हुआ और उसकी सेना शोक में डूब गई। यूनानी सैनिक अपने स्वामी के जीवन का महत्त्व जानते थे और उन्हें यह पता था कि स्वयं उनका जीवन उसके रहने से ही सुरक्षित रह सकता है। अतः वे नई शक्ति से तथा प्राणों का मोह छोड़ कर लड़े। मालवों का भीषण संहार हुआ और उन्होंने पुरुषों के साथ स्त्री तथा बच्चों का भी वध किया जो वीरों के लिए अशोभनीय क्रूरता का परिचायक है। मालवों के विनाश के बाद युद्ध करना निरर्थक समझ कर क्षुद्रकों ने संधि की याचना की जिसे सिकन्दर ने स्वीकार कर लिया। उसने इस प्रदेश पर फिलिप्स को क्षत्रप नियुक्त किया और सिन्धु के मुहाने की ओर बढ़ा।

सिंधु के मुहाने तक पहुंचने के पूर्व उसकी अन्य शक्तियों से मुठभेड़ हुई। ये सभी छोटे-छोटे राज्य थे पर इनमें से किसी ने बिना लड़े सिकन्दर की अधीनता नहीं स्वीकार की। इनमें मौसिकेनस, ऑक्सिकेनस तथा सम्बोस के राज्य प्रमुख थे।

325 ई.पृ. के सितम्बर मास में सिकन्दर ने यह देश छोड़ा। उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया। एक भाग को नियार्कस के नेतृत्व में समुद्र मार्ग से भेज कर वह स्वयं स्थल मार्ग से गया। वह काबुल पहुचा जहाँ विजयोत्सव मनाया गया। 324 ई. पृ. में वह ईरान में स्थित सूसा पहुंचा पर अपितु भारतीय अभियान में निरन्तर लड़ते-लड़ते सिकन्दर थक चुका था। उसे भीषण ज्वर हो आया और बत्तीस वर्ष का यह विश्वविजेता 323 ई. पृ. में यूनान पहुंचने के पहले मृत्यु को प्राप्त हो गया।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव

भारतीय दृष्टिकोण से सिकन्दर के आक्रमण का कोई खास महत्त्व नहीं था। सिकन्दर हवा के एक झोंके की तरह आया और उसे यहाँ से शीघ्र वापिस लौटना पड़ा। वह भारत में केवल उन्नीस मास ठहरा था। उसने केवल पश्चिमोत्तर भारत को जीता था और भारत का हृदय भाग उससे अछूता बच गया था। उसके लौटते ही भारत के राजनीतिक क्षितिज पर चन्द्रगुप्त मौर्य के रूप में एक नया चमकता नक्षत्र उग आया था। सिकन्दर अभी रास्ते में ही था कि भारतीयों ने उसके क्षत्रप फिलिप्स का वध कर दिया। चन्द्रगुप्त ने बचे विदेशी यूनानियों को अपनी मातृभूमि से खदेड़ कर बाहर कर दिया। यही कारण है कि किसी भी प्राचीन भारतीय ग्रंथ में सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख तक नहीं मिलता।

फिर भी इस घटना के कुछ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़े जो निम्नलिखित हैं:

1. सिकन्दर के आक्रमण ने भारतीयों की राजनीतिक कमजोरी को खोल कर रख

दिया और यह स्पष्ट कर दिया कि बंटकर छोटे-छोटे राज्य किसी संगठित विदेशी शक्ति का सामना नहीं कर सकते। सिकन्दर के व्यक्तित्व एवं कुशल नेतृत्व एवं उसकी कुशल एवं प्रशिक्षित सेना ने भी किसी भी राजा को सिकन्दर के सामने टिकने नहीं दिया। सिकन्दर से लड़ते समय विविध भारतीय जातियाँ और राज्य असीम साहस और शूरता से लड़े थे किन्तु पारस्परिक वैमनस्य के कारण वे विदेशी आक्रमणकारी का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सके थे। सिकन्दर के आक्रमण ने भारतीयों की युद्ध पद्धति और सैन्य रचना के दोषों को भी प्रकट किया। साथ ही पूर्वी भारत में स्थित विशाल नन्द साम्राज्य के शासक धननन्द ने भी उत्तर-पश्चिमी राज्यों की किसी प्रकार मदद नहीं की तथा इसके विपरीत सर्व घटनाओं से उदासीन रहा।

2. अपने जीते हुए प्रदेशों पर सिकन्दर ने कई यूनानी नगर वसाये और इन पर क्षत्रपीय शासन-व्यवस्था चलाई पर इस शासन व्यवस्था का मौर्य शासन व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसके लौटने के बाद पीछे छोड़ी हुई यूनानी सेना भी शीघ्र ही नष्ट हो गई किन्तु उसके द्वारा बसाए गये नगर लम्बे समय तक बने रहे।

3. यातायात और वाणिज्य को बढ़ावा मिला। वैसे भारत और यूनान एक दूसरे से पहले से ही परिचित थे और यात्री तथा व्यापारी आते जाते रहते थे, पर अब इसे और प्रोत्साहन मिला।

4. भारत में यूनानी शैली के सिक्कों का प्रचार हुआ। पुरु के ऊपर अपनी विजय की स्मृति में सिकन्दर ने एक सिक्का चलाया। एक सिक्का मिला है जिसमें एक ओर सिकन्दर की आकृति बनी है और दूसरी ओर हाथी पर भागते हुए पुरु और उसका पीछा करते हुए घुड़सवार की आकृति बनी है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वास्तविकता का सही चित्रण नहीं है।

सिकन्दर के आक्रमण का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। विन्सेन्ट स्मिथ नामक विद्वान् ने भी कहा है कि सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत अपरिवर्तित रहा और भारत का तनिक भी यवनीकरण नहीं हुआ। किसी भी प्राचीन भारतीय लेखक ने इस आक्रमण को इतना भी महत्त्व नहीं दिया कि इसका उल्लेख किया जाय।

11

मौर्य साम्राज्य

मौर्य इतिहास के स्रोत

मौर्य साम्राज्य की स्थापना भारतीय इतिहास में एक युगान्तकारी घटना मानी जाती है।*

इस काल के इतिहास को जानने के लिए हमारे पास विपुल साक्ष्य उपलब्ध है। पहले वर्ग में यूनानी लेखकों के विवरण आते हैं। इनमें से कुछ तो सिकन्दर के साथ आए थे। सिकन्दर के साथ आए यूनानियों में, जिन्होंने भारत के विषय में लिखा, नियार्कस, आनिसिक्राइटुस तथा अरिस्टोबुलस उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन लेखकों के लेखन उपलब्ध नहीं हैं, कर्टियस, स्ट्रैबो, एरियन तथा प्लूटार्क आदि परवर्ती लेखकों ने अपनी कृतियों में इन पूर्ववर्ती लेखकों की सूचनाओं को उद्धृत किया है और इस प्रकार सुरक्षित रखा है। यूनानी लेखकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मेगस्थनीज है जो चन्द्रगुप्त के दरबार में दूत बन कर आया था। साहित्यिक साक्ष्यों के अन्तर्गत सर्वप्रथम पुराणों का उल्लेख किया जा सकता है जिनसे कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। चूंकि मौर्य शासन वंश के एक सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को अपना विशेष संरक्षत्व प्रदान किया, अतः बाद के बौद्ध लेखकों ने इस शासन वंश में विशेष रुचि दिखाई जिसका प्रचुर लाभ आधुनिक काल के इतिहासकारों को मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में दिव्यावदान, महाबोधिवंश, महावंश और दीपवंश विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। जैन साहित्य में परिशिष्टपर्वन् एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। इसी प्रकार विशाखदत्त द्वारा लिखा गया मुद्राराक्षस नामक नाटक यद्यपि गुप्तकाल में लिखा गया तथापि इसमें परम्परा के रूप में चली आ रही कुछ सूचनाएँ सुरक्षित मिलती हैं एवं आधुनिक इतिहासकारों ने इनका उपयोग किया है। किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र है। इसके विषय में नीचे कुछ विस्तार से चर्चा की जाएगी। अन्त में मौर्य इतिहास के प्रमुख साधनों के रूप में स्वयं अशोक के लेख आते हैं। अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य में विविध स्थानों पर अपनी राजाज्ञाओं को शिलाओं और स्तम्भों पर खुदवाया। इन शिलालेखों और स्तम्भ लेखों में वह अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में बहुत कुछ बताता है। इसके अतिरिक्त इन लेखों से मौर्य प्रशासन तथा तत्कालीन जनजीवन के विविध पक्षों पर भी बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है। अपने आकार के कारण कुछ शिलालेख लघु-शिलालेख कहे जाते हैं।

* "The rise of the Mauryan Dynaoty ushers a new era in the political and cultural history of India. . . ."—B. N. Luniya

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र का ग्रन्थ है। 1905 में डा. आर. शामाशास्त्री को इस पुस्तक की पाण्डुलिपि मिली और उन्होंने 1914 में इसे प्रकाशित किया। तब से विविध विद्वानों ने इस ग्रन्थ के विषय में अपने मन्तव्य प्रस्तुत किए हैं।

भारतीय परम्परा में कौटिल्य (इसका एक और नाम चाणक्य मिलता है) को चन्द्रगुप्त का मुख्य सलाहकार या मन्त्री बताया गया है। स्वयं इस ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि इसकी रचना उसने की जिसने नन्दों के पास (उनके शूद्र होने के कारण) अनुचित रूप से चले गये शस्त्र, शास्त्र तथा भूमि का बलपूर्वक उद्धार किया। विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है कि अर्थशास्त्र को मौर्य इतिहास के लिए प्रामाणिक स्रोत माना जाये या नहीं। जॉली, कीथ, विन्टरनिट्ज, ओ. स्टीन, एफ. डब्ल्यू. टामस तथा ई. एच. जान्स्टन नामक विद्वान् इसकी प्रामाणिकता पर आपत्ति उठाते हैं और इसे बाद की रचना मानते हैं। इनके विविध तर्कों में एक तर्क यह है कि प्रशासन, धातु-ज्ञान और सैनिक संगठन आदि के विषय में जो विवरण अर्थशास्त्र में मिलता है वह मेगस्थनीज के विवरण से मेल नहीं खाता। साथ ही उनका यह भी कहना है कि अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे विषयों तथा लोगों की चर्चा है जिनके सम्बन्ध में भारतीयों को मौर्य काल में ज्ञान नहीं हो सकता था।

किन्तु, शामाशास्त्री, गणपतिशास्त्री, विन्सेन्ट स्मिथ, याकोबी, काशीप्रसाद जायसवाल, जे. जे. मेयर आदि विविध भारतीय तथा विदेशी विद्वान् उपरोक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार इस ग्रन्थ को मौर्य इतिहास के लिए एक प्रामाणिक साक्ष्य मानना चाहिए। इनका कहना है कि अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज के विवरणों में काफी समानताएँ मिलती हैं। फिर मेगस्थनीज के विवरण भी सन्देह से परे नहीं हैं। वह विदेशी था और यह सम्भव है कि उसने बहुत कुछ ठीक से न समझा हो अथवा जाने अनजाने में यूनानी प्रशासन की बहुतसी बातों और यूनानी अवधारणाओं को भारत में भी अस्तित्वमान मान लिया हो। उसकी पुस्तक भी अपने सम्पूर्ण रूप में प्राप्त न हो कर केवल उद्धरणों में प्राप्त है और यह सम्भव है कि अर्थशास्त्र में प्राप्त विविध विवरण जो हमें उसके प्राप्त उद्धरणों में नहीं मिलते उसकी पुस्तक के अनुपलब्ध भाग में रहे हों। अर्थशास्त्र की रचना मौर्य काल में या इसके बहुत अधिक निकट हुई। अर्थशास्त्र में बहुत सारी बातें हैं जो मौर्यकाल पर एकदम खरी उतरती हैं। इस ग्रन्थ की सहायता से हम मौर्य साम्राज्य की शासन-व्यवस्था, भू-व्यवस्था, कानून और समाज का पूरा चित्र बता सकते हैं।

मेगस्थनीज का विवरण

मेगस्थनीज वह यूनानी राजदूत था जिसे सिकन्दर के बाद उसके साम्राज्य के पूर्वी भाग पर शासन करने वाले यूनानी शासक सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा था। उसने भारत के विषय में 'इण्डिका' नामक पुस्तक लिखी। अब यह पुस्तक प्राप्त नहीं है पर बाद के यूनानी लेखकों ने इसमें से उद्धरण दिए हैं जिससे मौर्य इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। मेगस्थनीज ने भारत की भौगोलिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था सभी की चर्चा की है। उसने यहाँ की नदियों और पर्वतों के भी नाम दिए हैं। उसके अनुसार, यहाँ की सबसे बड़ी नदी गंगा है जो पर्वतीय प्रदेश से निकल कर मैदान में

जाती हुई 'पलिबोथरा' (पाटलिपुत्र) के निकट समुद्र में गिरती है। 'पलिबोथरा' या पाटलिपुत्र मौर्य साम्राज्य की राजधानी थी। उसके अनुसार 'पलिबोथरा' 80 स्टेडिया (9.5 मील) लम्बा और 15 स्टेडिया (1.75 मील) चौड़ा बसा हुआ था। इसके चारों ओर लगभग 600 फीट चौड़ी तथा 30 हाथ गहरी खाई थी। नगर के चारों ओर एक ऊंची दीवार थी जिसमें बुर्ज और द्वार बने हुए थे। उसने मौर्य राजप्रासाद का उल्लेख करते हुए कहा है कि भव्यता में सूसा और एकबटना के प्रासाद भी उसकी समता नहीं कर सकते।

मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय समाज 7 जातियों में बंटा हुआ था। 1. ब्राह्मण और दार्शनिक, 2. कृषक, 3. ग्वाले और शिकारी, 4. व्यापारी, 5. मजदूर, 6. निरीक्षक, 7. मन्त्री और सलाहकार। वास्तव में मेगस्थनीज भारतीय समाज के स्वरूप को ठीक से नहीं समझ पाया। वह गलती से व्यवसायों को जाति समझ बैठा। समाज में बहु विवाह की प्रथा थी। उसने ब्राह्मणों और श्रवणों का भी उल्लेख किया है। शिक्षा का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में था। वह बताता है कि लोग लिखना नहीं जानते। पर यह स्पष्ट रूप से गलत है। उसके अनुसार, भूमि उपजाऊ थी और कृषक साल में दो फसलें काटते थे। राज्य की ओर से खेतों की सिंचाई का ध्यान रखा जाता था। वह शासन व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है जिन्हें हम यथाप्रसंग देखेंगे।

मौर्यों का वंश परिचय

अब यह एक सुनिश्चित तथ्य के रूप में मान्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय कुल का था। किन्तु, चूंकि आधुनिक काल में कुछ समय पहले तक कुछ विद्वान् उसे नीच कुल में उत्पन्न मानते रहे हैं, अतः इस सम्बन्ध में उन साक्ष्यों का अवलोकन आवश्यक है जो कि इस समस्या पर प्रकाश डालते हैं।

ब्राह्मण साक्ष्यों में पुराण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और मौर्य काल के सबसे अधिक निकट हैं। पुराणों में नन्द शासक महापद्मनन्द को शूद्रा स्त्री से उत्पन्न बताया गया है, उसे क्षत्रियों का नाश करने वाला कहा गया है और फिर कहा गया है कि "इस समय से शूद्र राजा होंगे।" पुराण आगे कहते हैं कि "कौटिल्य नामक द्विज श्रेष्ठ (ब्राह्मण) उन सभी क्षत्रियों का उद्धार करेगा और चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बिठाएगा।"* यह उल्लेखनीय है कि पुराणों में कहीं भी चन्द्रगुप्त मौर्य और नन्द शासक में रक्त सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। "इस समय से शूद्र राजा होंगे" पुराणों के इस कथन को महापद्मनन्द के बाद आने वाले सभी शासकों के लिए सच नहीं माना जा सकता क्योंकि हमें निश्चित रूप से ज्ञात है कि मौर्यों के बाद के शुंग और कण्व शासनवंश ब्राह्मण शासनवंश थे। यह सोचना बड़ा ठीक और तर्कपूर्ण जान पड़ता है कि कौटिल्य जैसे ब्राह्मण ने निम्नकुलीन नन्द शासक के स्थान पर किसी क्षत्रिय को ही राजा बनाया होगा क्योंकि ब्राह्मण समाज व्यवस्था में राज्य करने का अधिकार क्षत्रिय को ही है। इस प्रकार पुराण निम्न तथ्य प्रस्तुत करते हुए

---

* पौराणिक कथन का मूल इस प्रकार है :
उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः।
कौटिल्यश्चन्द्रगुप्तं तु ततो राज्येऽभिषेक्ष्यति॥

प्रतीत होते हैं : 1. नन्द शासक निम्न कुल के थे, 2. कौटिल्य नामक ब्राह्मण ने पुनः क्षत्रियों का वैधानिक शासन प्रतिष्ठित किया तथा 3. उसने चन्द्रगुप्त को राजा बनाया (जो शूद्र नहीं हो सकता था)।

इस प्रसंग में दूसरा साक्ष्य विष्णु पुराण के टीकाकार रत्नगर्भ का है। यह चन्द्रगुप्त और नन्दों में रक्त सम्बन्ध जोड़ता है। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त मुरा का पुत्र था जो कि नन्द शासक की कई पत्नियों में एक थी। इसके साक्ष्य को दो कारणों से स्वीकार नहीं किया जा सकता : 1. रत्नगर्भ ने पुराणों पर टीका की है। स्वयं पुराणों में चन्द्रगुप्त का नन्दों से रक्त सम्बन्ध नहीं बताया गया है, 2. संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'मुरा' से 'मौरेय' बनेगा, मौर्य नहीं। मौर्य शब्द पुल्लिंगवाची 'मुर' से बनेगा जिसे पाणिनि ने एक सूत्र के गणपाठ में एक गोत्र का नाम कहा गया है।

संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त और नन्दों में सम्बन्ध जोड़ा गया है। साथ ही इस नाटक में नन्दशासक को 'प्रथितकुलज' और चन्द्रगुप्त को 'वृषल' और 'कुलहीन' कहा गया है। बाद के कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों में 'वृषल' शब्द शूद्र का पर्यायवाची है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह नाटक 600 ईसवी में लिखा गया और इस प्रकार यह घटना के बहुत बाद का है। इस ग्रन्थ में 'कुलहीन' शब्द का तात्पर्य केवल यह जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त सामान्य कुल में उत्पन्न हुआ था जब कि राजकुल में उत्पन्न होने के कारण नन्दशासक को 'प्रथितकुलज' कहा गया है। डा. राधाकुमुद मुकर्जी ने* 'वृषल' के विषय में कहा है कि नाटक में ही एक स्थान पर इस शब्द को प्रशंसात्मक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है—"वह जो राजाओं में वृष के समान है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है।" 18 वीं शताब्दी में हुए मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढिराज को बहुत बाद में होने के कारण प्रामाणिक साक्ष्य नहीं माना जा सकता।

ब्राह्मण साक्ष्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्र है। कौटिल्य ब्राह्मण व्यवस्था का कट्टर अनुयायी था और अर्थशास्त्र में वह राजा का उच्चकुलीन होना आवश्यक मानता था। शूद्र नन्दवंश का उन्मूलन करने के पश्चात् वह पुनः किसी शूद्र को राजा नहीं बना सकता था।

अब हम जैन और बौद्ध साक्ष्यों को लें। परिशिष्टपर्वन् में दी गई जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त मयूर-पोषकों के एक ग्राम-प्रमुख की पुत्री का पुत्र था। बौद्ध परम्परा स्पष्ट रूप से मौर्यों को क्षत्रिय बताती है। महावंश में चन्द्रगुप्त को मोरिय नामक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कहा गया है।** महाबोधिवंश में भी उसे 'नरिन्दकुलसंभव' (राजाओं के कुल में उत्पन्न) कहा गया है। दिव्यावदान में बिन्दुसार स्वयं को 'मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय' बताता है। मोरिय क्षत्रियों का इतिहास छठीं शताब्दी ई. पू. तक ढूंढा जा सकता है। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय*** में कहा गया है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद मोरिय क्षत्रियों ने भी उनके अस्थ्यवशेष में हिस्सा मांगा।

---

* चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स।
** मोरियानं खतियानं वसे जातं।
*** द. दीघनिकाय का 'महापरिनिब्बान सुत्त'

यूनानी लेखकों से भी चन्द्रगुप्त का क्षत्रियकुलीन होना प्रमाणित होता है। प्लूटार्क लिखता है कि युवा सैन्ड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) सिकन्दर से मिला और उसने उसे बताया कि निम्न कुल का होने के कारण नन्द शासक प्रजा में अलोकप्रिय है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि वह स्वयं निम्नकुलीन होता तो ऐसी बात नहीं कहता।

मौर्यों की जातीयता के सम्बन्ध में यह विवाद केवल इस कारण उत्पन्न हुआ कि बाद के कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त को शूद्र बताया गया है। वास्तव में मौर्य शासक ब्राह्मण धर्म तथा व्यवस्था को नहीं मानते थे। स्वयं चन्द्रगुप्त जैन धर्म का अनुयायी हो गया था और अशोक बौद्ध धर्म का मानने वाला था। इसी कारण बाद के परम्परावादी कट्टर ब्राह्मण लेखकों ने मौर्यों को व्रात्य (अर्थात् वैदिक धर्म के न मानने वाले पतित लोग) वृषल अथवा शूद्र कहा। ऐसा केवल उनकी मौर्यों के प्रति कटुता की भावना के कारण है। बौद्ध साक्ष्यों तथा पुराणों के साक्ष्यों को देखते हुए इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि मौर्य क्षत्रिय थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य

प्रारम्भिक जीवन

प्रथम भारतीय साम्राज्य के इस संस्थापक के प्रारम्भिक जीवन के विषय में हमें कुछ विशेष नहीं ज्ञात है। कालान्तर में इस इतिहास-पुरुष की जीवनी से सम्बन्धित विविध कथाएँ प्रचलित हुईं किन्तु उन सबको उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता; उनके सम्बन्ध में यह कह सकना भी कठिन है कि उनमें ऐतिहासिकता अथवा कल्पनाशीलता की मात्रता कितनी है। इतिहास में यह कहीं लिखा नहीं मिलता कि वह कब पैदा हुआ था। पर यूनानी साक्ष्य हमें यह बताते हैं कि 326-25 ई. पू. में वह एक युवक था जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसका जन्म 350 ई. पू. के आस-पास हुआ होगा। उसके ज्ञात जीवन से सर्वप्रथम पर्दा उस समय उठता है जब वह 326-25 ई. पू. में सिकन्दर से मिला। इसके पहिले उसके जीवन के विषय में केवल अनुश्रुतियां मिलती हैं। एक कथा के अनुसार नन्द राजा ने चाणक्य (कौटिल्य) नामक ब्राह्मण का अपमान कर दिया था। अपने अपमान का बदला लेने के मौके की तलाश में चाणक्य को कहीं बालक के रूप में चन्द्रगुप्त मिल गया। चाणक्य इस बालक को तक्षशिला ले गया, उसे शिक्षा दी और फिर उसकी सहायता से अपनी आकांक्षा पूरी करने में सफल हुआ। एक दूसरी कथा के अनुसार, स्वयं चन्द्रगुप्त नन्द राजा के यहाँ सेनापति था। वह किसी बात पर नन्द शासक से क्रुद्ध हो गया था और कौटिल्य से मिलकर उसने नन्द शासक का उन्मूलन किया।

चन्द्रगुप्त द्वारा शक्ति-अर्जन तथा उसका सत्ता में आना

यूनानी लेखकों से पता चलता है कि 326-25 ई. पू. में सैन्ड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) नामक युवक सिकन्दर से मिला तथा उसने सिकन्दर को नन्द शासक की लोकप्रियता के सम्बन्ध में बताया। किन्तु उसके उद्धत व्यवहार से क्रुद्ध होकर सिकन्दर ने उसे पकड़ने की आज्ञा दी किन्तु वह वहाँ से भाग निकलने में सफल हो गया। जस्टिन ने लिखा है कि इसके बाद उसने जंगल में जाकर सशस्त्र व्यक्तियों को इकट्ठा किया और भारतीयों

को 'वर्तमान शासन' को उखाड़ फेंकने के लिये प्रेरित किया। यहाँ वर्तमान शासन से तात्पर्य नन्द शासन से जान पड़ता है। आगे जस्टिन चन्द्रगुप्त के विषय में लिखता है—"सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त भारत ने पराधीनता का जुआ उतार फेंका और उसके प्रतिनिधि शासकों को मृत्यु के घाट उतार दिया। इस मुक्ति संग्राम का नेता सैन्ड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) था।"

अव प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों घटनाओं में कौनसी घटना पहले हुई। इस विषय पर विद्वानों का एक मत नहीं है। किन्तु अधिक सम्भव यही लगता है कि चन्द्रगुप्त ने पहिले मकदूनियायी सेनापतियों को हराया और उसके बाद नन्द शासन वंश का उन्मूलन किया। भारतीय परम्परा से भी इस अनुमान का समर्थन होता है। जैन परम्परा के अनुसार जव चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नन्द राजधानी पर आक्रमण किया तो वे बुरी तरह हारे और उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए भागना पड़ा। एक रात जव चन्द्रगुप्त एक झोंपड़ी के पास छिपा हुआ था तो उसने अन्दर एक बुढ़िया को अपनी बच्ची को इस पर डांटते हुए सुना कि वह रोटी पहिले किनारों की ओर से न खा कर बीच में खा रही थी जिस कारण उसका हाथ जल रहा था। उसने कहा कि उसका व्यवहार चन्द्रगुप्त की तरह है जिसने दूर के प्रदेशों को जीते बिना ही नन्द शासक के राज्य के केन्द्र पर आक्रमण किया और फलतः उसे हारना पड़ा। कथा में कहा गया है कि बुढ़िया की बात सुनकर चन्द्रगुप्त को अपनी गलती का पता चला और उसने पहले किनारों के प्रदेशों को जीत कर फिर नन्द सत्ता को हराया।

नन्द वंश के विनाश और चन्द्रगुप्त के सत्तारोहण से सम्बन्धित घटनाओं के क्रम में विषय के अधिक सूचना नहीं मिलती। पुराणों में तथा सिंहली बौद्ध ग्रन्थों में केवल यह कहा गया है कि नन्दों के विनाश के बाद चन्द्रगुप्त शासक बना। उन्होंने इसका श्रेय कौटिल्य अथवा चाणक्य को दिया है। अर्थशास्त्र में तो चन्द्रगुप्त का स्पष्ट नामोल्लेख तक नहीं है और मुद्राराक्षस में भी इस घटना का मुख्य श्रेय चाणक्य की कूटनीति को दिया गया है। भारतीय इतिहास की इस महत्त्वपूर्ण घटना का कोई समसामयिक साक्ष्य नहीं मिलता। किन्तु बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्हों में वास्तविक युद्ध का उल्लेख मिलता है जो बड़ा भयंकर था और जिसमें नन्द सेना को भद्रसाल के सेनापतित्व में लड़ते हुए बताया गया है।

सेल्यूकस के साथ युद्ध

ऊपर हम मकदूनियायी सेनापतियों के विरुद्ध चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में लड़े गए भारतीयों के मुक्ति-संग्राम की चर्चा कर चुके हैं। स्वयं सिकन्दर की 323 ई. पू. में मृत्यु हो गई थी। उसके बाद उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों में विभक्त हो गया और उसके साम्राज्य का पूर्वी भाग सेल्यूकस को मिला। सेल्यूकस ने पुनः भारतीय प्रदेशों पर विजय करनी चाही और पश्चिम के प्रदेशों में अपनी स्थिति सुदृढ़ करते हुए भारत की ओर बढ़ा। इस समय मगध राज्य की सीमा सिन्धु नदी तक विस्तृत हो गई थी।

सेल्यूकस काबुल नदी के रास्ते से आगे बढ़ा और लगभग 305 ई. पू. में उसने सिन्धु नदी पार की। किन्तु इस समय इस प्रदेश की राजनीतिक स्थिति सिकन्दर के समय

से सर्वथा भिन्न थी। अब यह प्रदेश छोटे-छोटे राज्यों में बंटा न हो कर चन्द्रगुप्त जैसे कुशल तथा शक्तिशाली शासक द्वारा शासित था जो इस प्रकार की किसी भी चुनौती का सफलतापूर्वक सामना करने में समर्थ था।

यह आश्चर्य का विषय है कि यूनानी लेखकों ने इस युद्ध का विस्तारपूर्ण विवरण नहीं छोड़ा है, किन्तु हमें जो कुछ उपलब्ध है उससे ही सारी बात स्पष्ट हो जाती है। इस युद्ध में चन्द्रगुप्त की विजय हुई। युद्ध की शर्तों का सबसे विस्तृत विवरण हमें स्ट्रैबो में मिलता है। उसके अनुसार, उसने अपने चार प्रान्त—एरिया (आधुनिक हेरात), एराकोसिया (आधुनिक कन्दहार), गेड्रोसिया (आधुनिक मकरान) तथा पैरापैनिसिडाइ (आधुनिक काबुल) —चन्द्रगुप्त को दिए और उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया (सम्भवतः विवाह में उसने कोई यूनानी राजकन्या दी)। बदले में चन्द्रगुप्त ने उसे 500 हाथी उपहार में दिए। सन्धि की शर्तों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युद्ध में किसे विजय मिली थी और कौन हारा था। स्ट्रैबो आगे बताता है कि दोनों में कूटनीतिक सम्बन्ध की स्थापना हुई जिसके परिणामस्वरूप मेगस्थनीज नामक राजदूत चन्द्रगुप्त के दरबार में आया।

चन्द्रगुप्त की भारत में विजयें

सेल्यूकस के विरुद्ध हुए युद्ध के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त मगध तथा बंगाल से लेकर सिन्धु प्रदेश तथा अफगानिस्तान तक के विस्तृत भू क्षेत्र का एक एकछत्र स्वामी बन गया। अब मगध का राज्य सही अर्थों में साम्राज्य बन गया था और यह भारत की प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं को लाँघ गया था। यूनानी लेखकों ने उसके भारत के आन्तरिक प्रदेशों के ऊपर की गई विजयों के विषय में अधिक नहीं लिखा है। प्लूटार्क ने केवल यह लिखा है कि उसने 600000 सैनिकों को लेकर सारे भारत को रौंद डाला और अपने अधीन कर लिया। किन्तु कुछ अन्य-साक्ष्यों की सहायता से हम उसके अधिकार क्षेत्र का चित्र बना सकते हैं। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में सुराष्ट्र प्रदेश के ऊपर इसके प्रतिनिधि शासक वैश्य पुष्यगुप्त के शासन का उल्लेख है जिसने यहाँ सुदर्शन नामक झील का निर्माण करवाया। यह गुजरात तथा अवन्ति प्रदेश के ऊपर चन्द्रगुप्त का स्वामित्व बताता है। कुछ मध्यकालीन लेखों में मैसूर के प्रदेशों पर उसका आधिपत्य बताया गया है। ये लेख बाद के हैं। किन्तु हम जानते हैं कि अशोक का साम्राज्य मैसूर तक फैला था और चूंकि स्वयं अशोक को केवल कलिंग विजय का श्रेय दिया जाता है, यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि इन प्रदेशों पर विजय चन्द्रगुप्त अथवा उसके पुत्र बिन्दुसार द्वारा की गई होगी। मुद्राराक्षस नाटक में प्राप्य भारतीय परम्परा इस वीर जननायक को 'सम्पूर्ण जम्बूद्वीप (= भारत) का राजा' बताती है।

चन्द्रगुप्त का व्यक्तिगत जीवन

चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारतीय अवधारणा के चक्रवर्ती राजा के आदर्श को मूर्त रूप प्रदान किया। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी जहाँ वह सम्पूर्ण राजकीय ऐश्वर्य के साथ रहता था। उसका राजप्रासाद भव्य था जिसे यूनानी साक्ष्य मकदूनियायी सूसा तथा एकबटना के राजप्रासादों से भी सुन्दर बताते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य में 'चन्द्रगुप्त-सभा' का उल्लेख हुआ है। उसकी रानियों के विषय में हम अधिक नहीं जानते—सेल्यूकस प्रदत्त

यूनानी राजकन्या इनमें एक रही होगी। जैन ग्रन्थ परिशिष्टपर्वन में बिन्दुसार की माता का नाम दुर्धरा बताया गया है। इसी ग्रन्थ में उसके बिन्दुसार और सिंहसेन नाम के दो पुत्रों का उल्लेख है। यूनानी लेखक एलियन राजप्रासाद में कई राजकुमारों की चर्चा करता है जो अन्दर बने तालाब में मछली का शिकार किया करते थे और नाव चलाना सीखा करते थे। स्वयं राजा की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। वह प्रायः प्रासाद में ही रहता था और उसकी सुरक्षा के लिए स्त्री अंगरक्षकों की व्यवस्था थी।

चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिन

चन्द्रगुप्त ने 24 वर्षों तक शासन किया। इस प्रकार इसकी लगभग 300 ई. पू. में मृत्यु हो हुई। जैन परम्परा के अनुसार, अपने अन्तिम दिनों में चन्द्रगुप्त ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था; वह राज्य को अपने पुत्र सिंहसेन को देकर साधु बन गया था और जैन साधु के रूप में मैसूर में श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर उसकी मृत्यु हुई थी। 900 ई. के दो लेखों में भी भद्रबाहु (चन्द्रगुप्त का जैन गुरु) तथा चन्द्रगुप्त मुनिपति का चन्द्रगिरि पर्वत (कलपभू पहाडी) पर आने का उल्लेख मिलता है। जैसा कि स्मिथ ने लिखा है, कोई विरोधी दावा न मिलने के कारण इस विषय में जैन परम्परा को ही प्रमाण मानना होगा।

चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पहली बार भारत में सही अर्थों में राजनीतिक एकता की स्थापना हुई। छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर अब एक साम्राज्य अस्तित्व में आया और भारत ने पहली बार बड़े पैमाने पर प्रशासनिक केन्द्रीयकरण का प्रयोग किया।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेखों दोनों से पता चलता है कि राजा का आदर्श एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करना था। अर्थशास्त्र में कहा गया है कि राजा को अपनी प्रजा में उसी प्रकार का भाव रखना चाहिए जैसा कि एक पिता का अपने पुत्र में होता है। अशोक भी अपने लेखों में कहता है कि "सर्वलोक हित से बढ़कर कोई कर्म नहीं है"* और "सारी प्रजा मेरी अपनी सन्तान की तरह है।"**

केन्द्रीय शासन

राजा राज्य का प्रमुख था। वह दण्डधर था अर्थात् नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित कर समाज में व्यवस्था बनाए रखना उसका प्रमुख दायित्व माना जाता था। मौर्य शासक 'देवानांप्रिय' (देवताओं को प्रिय) तथा 'प्रियदर्शन' (देखने में प्रिय) उपाधियाँ धारण करते थे। राजा के अधिकार असीमित थे और वह न्याय, विधि तथा कार्यकारिणी सभी का प्रमुख था। कौटिल्य ने राजा की बड़ी व्यस्त दिनचर्या बताई है जिसका मेगस्थनीज के विवरण से समर्थन होता है। कौटिल्य का कहना है कि राजा को कभी भी अपने पास अपनी बात कहने के लिए आए हुए लोगों को प्तीक्षा नहीं करवानी चाहिए क्योंकि इससे जनता में असन्तोष फैलता है। उसे लोगों की बातों को तुरन्त सुनना चाहये। स्ट्रैबो ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त उस समय भी जनता की बात को सुनता था

* नास्ति हि कमतरं सर्वलोकहितव्या।

** सवे मुनिसे पजा ममा।

जिस समय चार सेवक उसके शरीर की मालिश करते थे। अशोक भी लिखता है कि उसके दूत प्रजा से सम्बन्धित सूचनाओं से उसे तुरन्त अवगत करावें चाहे वह भोजन कर रहा हो, अन्तःपुर में हो या शयनगृह में हो। शरीर को चुस्त बनाए रखने के लिए राजा समय-समय पर विहार यात्राओं पर निकलता था। कौटिल्य के अनुसार, राजा के विहार के लिए सुरक्षित जंगल थे जिनके चारों ओर खाई थी और जिनमें नाखून और दांत निकाले हुए आपदविहीन पशु रखे जाते थे। मेगस्थनीज भी स्त्री अंगरक्षकों के साथ राजा के शिकार पर जाने का उल्लेख करता है। राजा की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था और कौटिल्य के अनुसार रानियों और राजपुत्रों आदि सभी पर नजर रखने के लिए गुप्तचर नियुक्त थे। अर्थशास्त्र में तीन समूचे अध्याय (निशान्तप्रणिधिः, आत्मरक्षिकम्, राजपुत्ररक्षणम्) राजा की सुरक्षा के विविध प्रावधानों से सम्बद्ध हैं। मेगस्थनीज भी बताता है कि सुरक्षा की दृष्टि से राजा रात में कई बार अपने सोने के कमरे को बदलता था।

चन्द्रगुप्त एक विशाल राज्य का स्वामी था और इसमें सुचारु शासन-व्यवस्था के लिए एक कुशल प्रशासन तन्त्र का होना आवश्यक था। कौटिल्य ने भी लिखा है कि जैसे गाड़ी एक पहिये से नहीं चल सकती वैसे ही राजकार्य राजा अकेला नहीं चला सकता; इसके लिए उसे सहायकों की आवश्यकता होती है। इसके लिए कई उच्चस्तरीय अधिकारी होते थे जिन्हें 'सचिव' अथवा 'अमात्य' कहा जाता था। उच्चस्तरीय प्रशासन से सम्बन्ध इस अधिकारी-वर्ग की तुलना आधुनिक इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव (सिविल) सर्विस के अन्तर्गत आने वाले अधिकारी-वर्ग के साथ की जा सकती है। इन अधिकारियों में सबसे महत्त्वपूर्ण वे अधिकारी होते थे जिन्हें 'मन्त्रिन्' कहा जाता था। अपने अभिलेखों में इन्हीं को अशोक ने 'महामात्र' कहा है। इन्हें उन अमात्यों में से चुना जाता था जो सभी प्रकार से परीक्षित और शुद्ध होते थे।* इन्हें राज्य में सबसे अधिक 48000 'पण' वार्षिक वेतन मिलता था। इन मन्त्रियों के अतिरिक्त राजा की एक अन्य मन्त्रिपरिषद् होती थी जो राजा को प्रशासन सम्बन्धी सभी विषयों पर सलाह देती थी। सभी प्रकार के अमात्यों में से मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को चुना जाता था। उनका वार्षिक वेतन 12000 'पण' था। कौटिल्य बड़े मन्त्रिपरिषद् का समर्थन करता है।

मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त प्रशासन का कार्य कई विभागों में बंटा हुआ था। इनकी देखभाल के लिए नियुक्त सर्वोच्च अधिकारी अमात्यों को कौटिल्य 'अध्यक्ष' कहता है। इन्हें विभाग की आवश्यकता के अनुरूप भली-भांति परीक्षा करने के बाद नियुक्त किया जाता था। उदाहरणार्थ, दीवानी और फौजदारी मुकदमों से सम्बन्धित अदालतों में नियुक्ति देते समय अधिकारी की न्यायबुद्धि और ईमानदारी की परीक्षा ली जाती थी; समाहर्ता (कर की वसूली से सम्बन्धित सर्वोच्च अधिकारी) तथा सन्निधाता (कोषाध्यक्ष) की नियुक्ति में यह ध्यान रखा जाता था कि वे घूसखोर न हों; इसी प्रकार, साहस की अपेक्षा रखने वाले विभागों में भयहीन तथा साहसी अमात्यों को रखा जाता था। अन्य अमात्यों को सामान्य विभागों में रखा जाता था—जैसे जंगल का विभाग, खानों

* सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्—अर्थशास्त्र।

का विभाग, सिक्का ढालने का विभाग, मवेशियों का विभाग, द्यूत या जुआ का विभाग, गणिका या वेश्याओं से सम्बन्धित विभाग, शुल्क (चुंगी) विभाग आदि।

प्रान्तीय शासन

अशोक के अभिलेखों तथा बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि प्रशासनिक सुविधा के लिए राज्य कई भागों में बंटा हुआ था जिन पर राजा द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि शासन करते थे। चन्द्रगुप्त के समय में प्रान्तों की वास्तविक संख्या क्या थी, यह कहा नहीं जा सकता। किन्तु उसके पौत्र अशोक के समय कम से कम ये पाँच प्रान्त थे :

1. उत्तरापथ—राजधानी तक्षशिला।
2. अवन्तिरट्ठ—राजधानी उज्जैनी।
3. दक्षिणापथ—राजधानी सुवर्णगिरी
4. कलिंग—राजधानी तोसाली।
5. प्राच्य—राजधानी पाटलिपुत्र

इनमें से प्रथम दो और अन्तिम चन्द्रगुप्त के समय में भी निश्चित रूप से विद्यमान थे। दूरस्थ प्रान्तों पर राजकुमारों को नियुक्त किया जाता था। इन्हें 'कुमार' कहते थे और इन्हें 12000 'पण' वार्षिक वेतन प्राप्त होता था। केन्द्रीय प्रान्त अर्थात् प्राच्य पर राजा का सीधा नियन्त्रण था जिस पर वह अपने महामात्रों की सहायता से शासन करता था।

ऐसा जान पड़ता है कि कुछ प्रदेशों पर राजकुल से इतर लोगों को भी प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया जाता था। रुद्रदामन् के जूनागढ़ अभिलेख में वैश्य पुष्यगुप्त को सुराष्ट्र प्रदेश का 'राष्ट्रिय' कहा गया है। यह सम्भव है कि पुष्यगुप्त यहाँ का क्षेत्रीय शासक रहा हो जिसे वहीं का प्रतिनिधि शासक नियुक्त कर दिया गया हो।

सेना और सैनिक-संगठन

चन्द्रगुप्त के पास विशाल सेना थी। यूनानी लेखक उसकी सेना में 6,00,000 पैदल, 30000 अश्वारोही, 1000 हाथी, और 8000 रथ बताते हैं। मेगस्थनीज के अनुसार सेना की देखभाल एक परिषद् के हाथ में थी जिसमें 30 सदस्य थे। ये 30 सदस्य पाँच-पाँच की 6 समितियों में विभक्त होते थे, और प्रत्येक समिति एक विभाग विशेष की देखभाल करती थी। ये विभाग थे : नौ सेना, सेना-यातायात और युद्ध हेतु आवश्यक वस्तुओं का विभाग, पैदल सेना, अश्व सैना, रथ-सेना, तथा गज-सेना। कौटिल्य केवल सेना के चार परम्परागत विभागों—पैदल, अश्व, रथ और हस्ति का उल्लेख करता है। प्रत्येक विभाग का अपना अपना अध्यक्ष होता था।*

नगर शासन

मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र की शासन-व्यवस्था का विस्तार से वर्णन किया है। यह माना जा सकता है कि अन्य बड़े नगरों में भी शासन व्यवस्था का लगभग यही स्वरूप रहा होगा। मेगस्थनीज के अनुसार, नगर का शासन पाँच-पाँच सदस्यों से बनी समितियों द्वारा संचालित होता था। पहली समिति का कार्य औद्योगिक शिल्पों का निरीक्षण था,

* हस्त्यश्वरथपदातमनेकमुख्यमवस्थापयेत्—अर्थशास्त्र।

अर्थात् यह देखना कि वस्तुओं को बनाने में उचित सामग्री का प्रयोग किया जाय, और शिल्पियों को उचित पारिश्रमिक प्राप्त हो। इस समिति पर शिल्पियों की रक्षा का भी दायित्व था; शिल्पी के अंगों की क्षति पहुँचाने वाले को प्राण दण्ड दिया जाता था। दूसरी समिति विदेशियों की गतिविधियों पर देखभाल रखती थी तथा उनकी आवश्यकताओं का प्रबन्ध करती थी। तीसरी समिति का कार्य जन्म-मरण का रजिस्ट्री करना था। इससे सरकार को जनसंख्या के विषय में निश्चित जानकारी रहती थी और कर आदि वसूलने में आसानी होती थी। चौथी समिति व्यापार का देखभाल करती थी। यह विक्रय की वस्तुओं की जाँच तथा दोषपूर्ण बाँट-बंटवारों की जाँच करती थी। पाँचवीं समिति कारखानों में हुए उत्पादनों से सम्बन्धित थी और इस बात पर अनुशासन रखती थी कि इसमें दोषपूर्ण वस्तुओं का उत्पादन और विक्रय न हो। छठी समिति बिकी हुई वस्तुओं पर कर वसूल करती थी।

यह उल्लेखनीय है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उनमें से किसी समिति का उल्लेख नहीं किया है। उसके अनुसार नगर का शासन 'नगरक' अथवा 'नगराध्यक्ष' नामक अधिकारी के हाथ में था। उसकी सहायता के लिए 'स्थानिक' और 'गोप' नामक अधिकारी होते थे। नगर के कुछ कुलों पर गोप नामक अधिकारी नियुक्त होता था और कई गोपों पर एक स्थानिक।

जनपद-शासन

ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम मूलभूत प्रशासनिक इकाई था। 5 से लेकर 10 ग्रामों के ऊपर एक गोप नियुक्त किया जाता था जो अपने अधिकार क्षेत्र में स्थित गाँवों की सीमाओं का निरीक्षण करता था, उसकी जनसंख्या का हिसाब रखता था, जमीन आदि की खरीद बेच आदि की जानकारी रखता था तथा उनकी अन्य भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करता था। कई गोपों पर एक स्थानिक होता था जिसका कार्यों का स्वरूप गोप के कार्यों के समान था। स्थानिक समाहर्त्ता के प्रति उत्तरदायी थे और समाहर्त्ता प्रदेष्ट्र के प्रति। प्रदेष्ट्र सम्भवतः आधुनिक कमिश्नर के स्तर का अधिकारी था।

अपराध सम्बन्धी दण्ड नीति

मौर्य शासनव्यवस्था के अन्तर्गत कठोर दण्ड दिए जाने का विधान था। मेगस्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ही साक्ष्यों से यही प्रमाणित होता है। हल्के अपराधों के लिए अपराधी को जुर्माने से दण्डित किया जाता था पर सामान्य रूप से कड़े दण्डों की व्यवस्था थी। शिल्पी के किसी अंग को क्षति पहुँचाने वाले एवं जान बूझ कर राज कर न देने वाले के लिए प्राणदण्ड का विधान था। कौटिल्य ने तो किसी राजकर्मचारी द्वारा हल्की चोरी करने के लिए भी प्राणदण्ड ही बताया है। कुछ अपराधों के लिए अंगच्छेद का विधान था। अपराध स्वीकार कराने के लिए अभियुक्त को विविध प्रकार की यातनाएँ भी दी जाती थीं।

राज्य के आय-व्यय के साधन

समाहर्ता कर-वसूली से सम्बन्धित सर्वोच्च अधिकारी था। भूमि पर लगाया कर राज्य की आय का प्रमुख साधन था। इसे 'भाग' कहते थे और इसकी सामान्य दर उपज

का 1/6 भाग था, किन्तु स्थानीय आर्थिक स्थिति के अनुरूप घटता-बढ़ता रहता था। जहाँ राज्य की ओर से सिंचाई की व्यवस्था थी वहाँ सिंचाई कर लिया जाता था। नगरों में गृह-कर लगता था। राजकीय भूमि, जंगलों और खानों से होने वाला लाभ, सीमाओं पर तथा नदियों के घाटों पर लगाई जाने वाली चुंगी, विक्रय की वस्तुओं पर लगाया गया कर, शिल्पियों से लिया जाने वाला शुल्क (फीस), दण्डित लोगों से वसूला गया जुरमाना, तथा सन्तानविहीन लोगों की सम्पत्ति की राज्य द्वारा जब्ती आय के विविध साधन थे। किसी आकस्मिक आवश्यकता के आ पड़ने पर प्रजा के ऊपर विशेष कर भी लगाये जाते थे। इस काल में भी ब्राह्मणों और धार्मिक संस्थानों को कर से मुक्ति या कर में छूट देने का प्रचलन था।

राजकोष में आये इस धन का कई मदों में व्यय होता था। इनमें मुख्य ये हैं : राजा, राज परिवार तथा उसके दरबारी; सैनिकों का वेतन तथा राज्य की सुरक्षा आदि से सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति; राजकर्मचारियों का वेतन; जन-सामान्य की आवश्यकताओं यथा सड़कें, पानी की व्यवस्था आदि पर लगने वाला धन; धार्मिक संस्थाओं को दान अथवा उनके हेतु करों में छुटकारा; शिल्पियों आदि को दिया जाने वाला पुरस्कार।

मेगस्थनीज का भारत वर्णन

यूनानी साम्राज्य के जो राजदूत भारत में आये उनमें मेगस्थनीज सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। मेगस्थनीज को सेल्यूकस ने अपना दूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में भेजा था। मेगस्थनीज ने भारत के विषय में 'इंडिका' नामक एक वृहद ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने भारत देश, भूमि, जलवायु, पशु, पक्षी, शासन पद्धति, धर्म तथा धार्मिक रीति-रिवाजों का वर्णन किया।

मेगस्थनीज के व्यक्तिगत जीवन के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इंडिका की रचना उसने अपने भारत में निवास के समय की थी अथवा पश्चिम लौटने पर, हमें इसकी भी जानकारी नहीं है। मेगस्थनीज की इंडिका की मूल प्रतिलिपि तो अब प्राप्त नहीं है किन्तु बाद के लेखकों में उसकी पुस्तक को अपनी रचनाओं में संकलित किया है।

भौगोलिक स्थिति

मेगस्थनीज के अनुसार भारत का आकार चतुर्भुज है। सिन्धु और हिमालय इसके पश्चिम व उत्तर में हैं एवं दक्षिण व पूर्व में समुद्र है। नदियों का विवरण करते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है "गंगा जैसी ही विशाल एक अन्य नदी सिन्धु है और गंगा के समान ही वह भी उत्तर से दक्षिण की ओर बहती है, यह नदी रास्ते में भारत की सीमा अंकित करती है" भारतीय जलवायु से प्रभावित हुए उसका कहना है कि भारतवासी स्वच्छ वायु में श्वांस लेते हैं व शुद्ध जल पीते हैं तथा भारत में ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक गर्मी, वर्षा ऋतु में अत्यधिक वर्षा होती है। वर्षा, ग्रीष्म व शीत ऋतुयें भी होती हैं।

पाटलीपुत्र-मेगस्थनीज के अनुसार भारत में अनेक छोटे बड़े नगर हैं जिनकी निश्चित गणना नहीं की जा सकती। समुद्र और नदियों के तट पर बसे नगरों के मकान अत्यधिक वर्षा व बाढ़ के कारण लकड़ी के बनते थे और ऊंची जगहों पर मकान ईंट व

मिट्टी से बनने थे। सबसे बड़ा नगर पाटलीपुत्र था। पाटलीपुत्र का वर्णन करते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है, गंगा तथा सोन नदी के संगम पर पाटलीपुत्र नगर बसा है यह नगर लम्बाई में आठ मील और चौड़ाई में डेढ़ मील है। इसका आकार समानान्तर चतुर्भुज के समान है, यह नगर चारों ओर काठ की दीवार से घिरा है इन दीवारों पर तीर चलाने के लिए छेद बने हुए हैं। यह नगर चारों ओर 600 फुट चौड़ी व 60 फुट गहरी खाई से घिरा है। इसमें 570 बुर्जिया और 64 दरवाजे हैं।*

राजप्रासाद–

पाटलिपुत्र में ही राजा का राजप्रासाद था जिसकी प्रशंसा में मेगस्थनीज कहता है, "यह संसार के राजकीय भवनों में सबसे सुन्दर है। इस प्रासाद के सामने सूसा और इकबताना के राजप्रासादों का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता है।"

धार्मिक स्थिति–

मेगस्थनीज यूनानी देवताओं का उल्लेख करते हुए लिखता है कि इनको भारतीय अपना देवता मानकर पूजते हैं; यूनान के देवता डियोनिसस तथा हिराकिल्स को वास्तव में वह भारतीय शिव और कृष्ण मानता है। मेगस्थनीज के अनुसार भारतीय पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं एवं यज्ञ और बलि पर विशेष बल देते थे। भारतीय मृतकों की याद में समाधियाँ भी बनाते थे।

आर्थिक स्थिति–

यह युग आर्थिक दृष्टि से काफी समृद्ध था तथा यहाँ की भूमि काफी उपजाऊ थी व वर्षा में दो फसलें उगाई जाती थी। भारतीयों को सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए सभी वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थीं। सिंचाई का व्यापक प्रबन्ध था। मेगस्थनीज के अनुसार भारत में उद्योग धंधे भी काफी विकसित थे परन्तु उसने उन व्यवसायों का उल्लेख नहीं किया है। उसके वर्णन से स्पष्ट है कि खनिज पदार्थों व खनिज विद्या का भी भारतीयों को ज्ञान था और अन्न के अतिरिक्त औषधियों में काम आने वाली वनस्पतियों की खेती भी की जाती थी।

सामाजिक दशा–

मेगस्थनीज ने भारतीयों का जीवन सुखद, सरल व मितव्ययतापूर्ण बताया है। उसके अनुसार भारतीयों का मुख्य भोजन चावल, दाल था। उनके जीवन का आदर्श चरित्र और उच्च नैतिकता थी।

मेगस्थनीज ने भारतीयों को सात श्रेणियों में विभाजित किया है जोकि निम्नलिखित थे : दार्शनिक, कृषक, गोप व शिकारी, मजदूर, क्षत्रिय, अध्यक्ष, मन्त्री तथा सभासद।

इस काल में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही जाति के व्यवसाय करने की अनुमति थी। विवाह भी साधारण तथा अपनी ही जाति में किये जाते थे। मेगस्थनीज के अनुसार भारत में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी परन्तु स्त्रियों का समाज में प्रतिष्ठित स्थान था। इस युग में पर्दा प्रथा व दहेज प्रथा प्रचलित नहीं थी। सती प्रथा का प्रचलन भी कुछ

---

* M'Crindle Ancient India – Megasthenese and Arian, pp. 65-69

ही जातियों तक सीमित था। स्त्रियाँ उच्च शिक्षा ग्रहण करती थीं व आवश्यकता पड़ने पर शासन भी करती थीं।

राजनीतिक दशा—

1. राजा—मेगस्थनीज के अनुसार राजा साम्राज्य का शासक, न्यायाधीश, सेनापति व धर्मप्रचारक होता था। राजा अपना सारा समय राजनीतिक कार्यों में व्यतीत करता था एवं प्राणों का खतरा बने होने के कारण रात्रि में अलग-अलग शयन कक्ष में विश्राम करता था।

2. नगर प्रशासन एवं सैन्य व्यवस्था—मेगस्थनीज के अनुसार सुचारू रूप से कार्य हेतु दोनों ही विभागों की व्यवस्था देखने के लिए पाँच-पाँच सदस्यों की 6 समितियाँ गठित की गयी थीं। नगर प्रशासन देखने के लिए पहली समिति उद्योग धंधों की देखभाल, दूसरी समिति विदेशियों का प्रबन्ध, तीसरी जन्म-मृत्यु का हिसाब, चौथी व्यापार नियन्त्रण, पाँचवी वस्तुओं में मिलावट की जाँच तथा छठी समिति वस्तुओं पर कर वसूल करने का कार्य करती थी।

सेना के विभिन्न अंगों का कार्य विभिन्न समितियाँ देखा करती थीं। पहली समिति नौसेना का प्रबन्ध करती थी, दूसरी आवश्यक सामग्री का, तीसरी पैदल सैना का, चौथी अश्व सैना का, पाँचवी रथ सेना का एवं छठी हस्ती सेना की देखभाल करती थी।

3. दण्ड व्यवस्था—मेगस्थनीज के अनुसार मौर्यकाल में अपराध बहुत कम हुआ करते थे। दण्डनीति अत्यन्त कठोर थी। वित्तीय जुर्माने के अतिरिक्त अंगभंग का दण्ड एवं प्राण दण्ड देने की व्यवस्था थी।

मेगस्थनीज के भारत वर्णन से तत्कालीन भारत के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है किन्तु उसमें कुछ बातें विश्वसनीय नहीं हैं, जैसे कि भारतीयों को लेखन ज्ञान न होना एवं भारतीयों का सात श्रेणी में विभाजन आदि। फिर भी परवर्ती लेखकों द्वारा उद्धृत मेगस्थनीज के वर्णन में चाहे कुछ गलतियाँ भी हो तो भी इसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। डा. बी. ए. स्मिथ ने इस विषय में लिखा है, "कुछ भी हो मेगस्थनीज की लेखनी विश्वसनीय है उसने जो कुछ देखा वही लिखा है।"

विन्दुसार

चन्द्रगुप्त की मृत्यु लगभग 300 ई. पू. में हुई जिसके वाद उसका पुत्र विन्दुसार शासक वना। यूनानी लेखकों ने सैन्ड्रोकोट्टस (चन्द्रगुप्त) के पुत्र का नाम अलिट्रोचेदीज या अमित्रचेतीज वताया है जो संस्कृत 'अभित्रघात' (शत्रु-हन्ता) अथवा 'अमित्रखाद' (शत्रुओं का भक्षक) का यूनानी रूप लगता है। यह उसकी उपाधि जान पड़ती है।

उनकी 'अमित्रघात' या 'अमित्रखाद' उपाधि से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने कुछ शत्रुओं पर विजय प्राप्त की होगी जिसके वाद ही उसने इस उपाधि को धारण किया होगा। किन्तु, किसी साक्ष्य में उसकी विजयों का विवरण नहीं प्राप्त होता। परवर्ती तिव्वती लेखक तारानाथ के अनुसार चाणक्य चन्द्रगुप्त के वाद भी जीवित रहा और उसने कुछ समय विन्दुसार के समय में भी मन्त्री का पद संभाला। उसने यह भी लिखा है कि उसने 16 नगरों के राजाओं और मन्त्रियों को नष्ट कर दिया तथा उसे पूर्वी

तथा पश्चिमी समुद्र के बीच में स्थित सम्पूर्ण भूमि का स्वामी बना दिया। तारानाथ के इस साक्ष्य के आधार पर स्मिथ और जायसवाल नामक विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया है कि मौर्य साम्राज्य के दक्षिणी प्रदेशों पर विजय बिन्दुसार ने की थी। इसके विपरीत रायचौधरी का कहना है कि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि चन्द्रगुप्त के समय में ही मौर्य साम्राज्य सुराष्ट्र से बंगाल तक फैला हुआ था। उनके अनुसार, तारानाथ का कथन नवीन विजयों की ओर नहीं अपितु विद्रोह के दमन की ओर संकेत करता है। जो भी हो यह स्पष्ट है कि बिन्दुसार एक कुशल और शक्तिशाली शासक था और यदि उसने नई विजयें नहीं भी कीं तो भी उत्तराधिकार में मिले विशाल साम्राज्य को उसने यथावत बनाये रखा और जो भी विद्रोह हुआ उनका उसने सफलतापूर्वक दमन किया।

तक्षशिला का विद्रोह

बौद्ध साक्ष्य बताते हैं कि बिन्दुसार ने अपने एक पुत्र अशोक को अवन्ति प्रान्त का प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। उसका ज्येष्ठ पुत्र सुसीम अथवा सुमन उत्तरापथ का प्रान्तीय शासक था जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। तक्षशिला में विद्रोह हो गया जिसे सुसीम नियन्त्रित नहीं कर सका। तब इस कार्य के लिये बिन्दुसार ने अशोक को भेजा। जब अशोक अपनी सेना के साथ तक्षशिला पहुँचा तो वहाँ के लोग स्वंयं नगर के बाहर निकल आये और उन्होंने कहा कि उनका राजकुमार से अथवा बिन्दुसार से कोई विरोध नहीं है बल्कि उन्हें दुष्ट अधिकारी तंग करते रहते हैं जिसके प्रति उनका आक्रोश है।

विदेशी शासकों के साथ सम्बन्ध

चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस के साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित किया था। बिन्दुसार के समय में भी यूनानी शासक भारतीय सम्राट के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखने के इच्छुक दिखाई पड़ते हैं। यूनानी साक्ष्य से पता चलता है कि सीरिया के शासक ने बिन्दुसार के दरबार में डेइमेकस नाम का एक राजदूत भेजा था। मिश्र के शासक टालमी द्वितीय फिलाडेल्फस (जिसने 285 ई. पू. से 247 ई. पू. के बीच में शासन किया) ने भी डियोनिसस नामक एक राजदूत भारतीय शासक के दरबार में भेजा था। अथेनेइओस नामक यूनानी लेखक सीरिया के शासक ऐन्टिओकस प्रथम तथा बिन्दुसार के बीच एक मित्रतापूर्ण पत्र-व्यवहार का हवाला देता है। भारतीय शासक ने सीरियायी शासक को मदिरा, सूखे अंजीर तथा यूनानी दार्शनिक खरीद कर भेजने को लिखा। इस अनुरोध के उत्तर में सीरियायी शासक ने लिखा। "हम आप के लिए मदिरा और अंजीर भेज देंगे किन्तु यूनान के कानून दार्शनिक बेचने की अनुमति नहीं देते।" इससे यह स्पष्ट होता है कि बिन्दुसार का इन विदेशी शासकों के साथ बराबरी के स्तर पर पत्र-व्यवहार था। साथ ही इस पत्र से यह भी स्पष्ट है कि उसकी दर्शन और दार्शनिकों में भी प्रभूत रुचि थी।

अशोक*

चन्द्रगुप्त का पौत्र तथा बिन्दुसार का पुत्र अशोक मौर्य शासन वंश का सबसे महत्त्वपूर्ण शासक है। इसकी गणना विश्व के महान् शासकों में होती हैं। इसके बौद्ध धर्म का संरक्षक होने के कारण बौद्ध परम्परा ने इसमें विशेष रूचि दिखाई है जिस कारण बौद्ध ग्रन्थों में उसके विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त अशोक के स्वयं के लेख जिन्हें उसने शिलाओं और स्तम्भों पर खुदवाये, हमें उसके विषय में बहुत कुछ बताते हैं।

राज्यारोहण और राज्याभिषेक

बौद्ध परम्परा के अनुसार बिन्दुसार ने 27 अथवा 28 वर्षों तक शासन किया। इस प्रकार, यदि बिन्दुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद 300 ई. पू. में गद्दी पर बैठा तो उसका शासन काल 273-272 ई. पू. तक रहा होगा।

अशोक के अतिरिक्त बिन्दुसार के और भी पुत्र थे। अपने पाँचवें शिलालेख में अशोक अपने कई भाईयों और बहिनों का उल्लेख करता है। दिव्यावदान में अशोक के दो भाइयों सुसीम और विगताशोक का उल्लेख है। सिंहली बौद्ध ग्रन्थों में इन्हीं को सुमन और तिष्य कहा गया है।

अपने अभिलेखों में अशोक अपने शासनकाल की घटनाओं का तिथ्यंकन अपने राज्याभिषेक के समय से करता है, राज्यारोहण के समय से नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसके राज्यारोहण और राज्याभिषेक में कुछ समय का अन्तर था। यह सामान्य रूप से माना जाता है कि अशोक राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी नहीं था। दिव्यावदान के अनुसार, बिन्दुसार अपने बड़े पुत्र सुसीम को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था, किन्तु उसके मन्त्री अशोक के पक्ष में थे। प्रधानमन्त्री राधगुप्त ने अशोक का समर्थन किया। सिंहली बौद्ध ग्रन्थ महावंश के अनुसार, अशोक अपने बड़े भाई की हत्या कर शासक बना। दीपवंश में भी अशोक द्वारा अपने 99 भाइयों की हत्या बताई गई है। विद्वानों की मान्यता है कि 273-72 ई. पू. में बिन्दुसार की मृत्यु के बाद अशोक को अपने भाई या भाइयों के विरोध का सामना करना पड़ा, और चार वर्षों के बाद 269-68 ई. पू. में उसका राज्याभिषेक हो सका।

अशोक का व्यक्तिगत जीवन

बौद्ध ग्रन्थों का कहना है कि अपने प्रारम्भिक जीवन में अशोक अत्यन्त क्रूर और दुष्ट प्रवृति का था। वह सुन्दर भी नहीं था और एक बार जब अन्तःपुर की रानियों ने उसकी कुरूपता की हंसी उड़ाई तो उसने उन सबको जिन्दा जलवा दिया। अपनी क्रूरता के कारण उसे चण्डाशोक नाम प्राप्त हुआ। उनका कहना है कि उसने पृथ्वी पर नरक को

* 1837 में प्रिंसेप द्वारा अशोक के अभिलेखों का अध्ययन प्रकाशित होने के बाद विविध विद्वानों ने अशोक पर काम किया। अशोक पर सबसे पहली पुस्तक स्मिथ ने 1901 में प्रकाशित की (स्मिथ, अशोक)। इसके अतिरिक्त अशोक पर लिखे गए अन्य महत्त्वपूर्ण शोध ग्रन्थ हैं : डा. डी. आर भण्डारकर, अशोक; मैकफेल, अशोक; आर. के. मुकर्जी, अशोक; बी. एम. बरुआ, अशोक एण्ड हिज इन्सक्रिप्शन्स; रोमिला थापर अशोक एण्ड द डिक्लाइन आव मौर्यन इम्पायर।

साकार रूप दिया जहाँ लोगों को विविध प्रकार की यातनाएँ देकर मारा जाता था। बाद में आए चीनी यात्री युवानच्वांग ने भी उस स्तम्भ का उल्लेख किया है जो अशोक के 'नरक' के स्थान पर खड़ा किया गया था। ये कथाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकती हैं। इनका एकमात्र तात्पर्य बौद्ध धर्म का गौरव बताना जान पड़ता है जिसके स्वीकरण से ऐसा दुष्ट व्यक्ति इतनी धार्मिक प्रवृत्ति का हो गया।[1]

विविध स्रोतों से उसके परिवार के कई सदस्यों के नाम ज्ञात होते हैं। उसके शासनकाल के बड़े भाग में असन्धिमित्रा उसकी प्रमुख रानी थी। यह अशोक से चार वर्ष पूर्व दिवंगत हुई जिसके बाद तिष्यरक्षिता प्रमुख रानी बनी। उसकी एक अन्य पत्नी कारुवाकी और उसके पुत्र तीवर का नाम तथाकथित 'रानी का लेख' में मिलता है जो इलाहाबाद के स्तम्भ पर खुदा हुआ है। ए. एल. बैशम का विचार है कि कारुवाकी तिष्यरक्षिता का ही व्यक्तिगत नाम था। दिव्यावदान में उसकी एक अन्य पत्नी पद्मावती का नाम मिलता है; यह प्रमुख रानी नहीं थी किन्तु उसका पुत्र कुणाल या धर्मविवर्धन शासन का उत्तराधिकारी राजकुमार था। राजतरंगिणी में उसके एक पुत्र जौलक का नाम मिलता है। सिंहली बौद्ध परम्परा में महेन्द्र और संघमित्रा को उसका पुत्र और पुत्री कहा गया है जिन्होंने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। महावंश के अनुसार, जब अशोक विदिशा में प्रान्तीय शासक था तब वह वहाँ के एक धनी वणिक् की कन्या से मिला। महेन्द्र और संघमित्रा उसकी सन्तान थे। नेपाल की बौद्ध परम्परा में उसकी एक पुत्री चारुमती का नाम मिलता है जिसने देवपाल 'क्षत्रिय' से विवाह किया था।

कलिंग युद्ध और अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का स्वीकरण

अशोक के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है उसके द्वारा कलिंग प्रदेश पर विजय। अपने तेरहवें शिलालेख में अशोक बताता है कि यह घटना उसके राज्याभिषेक के नौवें वर्ष में (अर्थात् राज्यारोहण के तेरहवें वर्ष में) घटी। लेख में वह इस युद्ध की विभिषिका का विस्तार से वर्णन करता है—'1,50,000 लोग बन्दी बनाए गए, 1,00,000 लोग मारे गये तथा इतने ही लोग बाद में युद्ध के परिणामस्वरूप कालकवलित हुए।' ये संख्याएँ केवल कलिंग के लोगों की हैं और स्वयं अशोक की सेना में हताहत सैनिक इसमें सम्मिलित नहीं हैं। कलिंग जैसे छोटे प्रदेश के लिए हताहतों की यह संख्या निश्चित रूप से बहुत बड़ी है। यह विजित प्रदेश उसके साम्राज्य का एक प्रान्त बना जिस पर राजकुल का एक राजकुमार तोसाली में रहते हुए अशोक के प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। यह मानने का कोई आधार नहीं मिलता कि कलिंग विजय के बाद भी अशोक ने कोई युद्ध किया। स्मिथ का कहना है कि 'यह सम्भव है कि कलिंग का युद्ध उसका प्रथम युद्ध न रहा हो पर निश्चित रूप से यह उसका अन्तिम युद्ध था।' भण्डारकर ने भी कहा है कि 'हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि अशोक ने उसके बाद कोई और विजय नहीं की।'

अशोक द्वारा कलिंग विजय की घटना उसके द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार किए जाने की घटना से सम्बन्धित है। टामस, भण्डारकर आदि अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि कलिंग विजय के शीघ्र पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रसंग में

भण्डारकर ने आठवें शिलालेख का हवाला दिया है जिसमें अशोक बताता है कि राज्याभिषेक के दशवें वर्ष में वह 'संबोधि गया' (अर्थात् उस स्थान पर गया जहाँ बुद्ध ने संबोधि=परम ज्ञान प्राप्त किया था; आधुनिक बोध गया)। इससे स्पष्ट है कि दसवें वर्ष में वह पहले से ही बौद्ध था। उसके प्रथम लघु शिलालेख से प्रमाणित होता है कि वह एक वर्ष पहले बौद्ध धर्म स्वीकार कर चुका था। यह लेख उसके अभिषेक के बारहवें वर्ष में जारी किया गया था और इसमें अशोक कहता है; "ढाई वर्षों से अधिक हुआ जबसे मैं बौद्ध उपासक हूँ, किन्तु एक वर्ष तक मैंने अधिक प्रगति नहीं की। अब एक वर्ष से अधिक समय से मैं भिक्षु संघ के अधिक निकट आ गया हूँ और अपेक्षाकृत अधिक उत्साही हो गया हूँ।"

इस सामान्य मत—कि कलिंग युद्ध की विभीषिका से प्रभावित होकर अशोक ने इसके शीघ्र पश्चात् बौद्ध धर्म अपना लिया—के विपरीत रोमिला थापर का विचार है कि बौद्ध धर्म के प्रति अशोक का रुझान क्रमिक रूप से सम्पन्न हुआ। उनका कहना है कि यदि अशोक ने बौद्ध धर्म का स्वीकरण कलिंग युद्ध से प्रभाव में किया होता तो सिंहली बौद्ध लेखकों ने इसका अवश्य उल्लेख किया होता और इन दोनों घटनाओं को जोड़ा होता, जबकि ऐसा नहीं मिलता।

अशोक और बौद्ध धर्म

अशोक ने अपने अभिलेखों तथा उसके विषय में उपलब्ध विविध अनुश्रुतियों से इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि उसका व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म था। दिव्यावदान तथा इत्सिग के वृत्तान्त के आधार पर कुछ विद्वान् यहाँ तक मानते हैं कि अशोक प्रव्रजित भिक्षु बन गया था। इत्सिग ने लिखा है कि उसने भिक्षु के वेश में अशोक की मूर्ति देखी थी। किन्तु, यह विचार ठीक नहीं जान पड़ता कि अशोक संसार तथा राजकार्य छोड़ कर भिक्षु हो गया था। इत्सिग नामक चीनी यात्री अशोक के बहुत बाद का है और उसके वृत्तान्त को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

किन्तु, इसमें कोई संदेह नहीं है कि बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद अशोक धर्म तथा संघ के सन्दर्भ में सदैव बड़ा सक्रिय रहा। मास्की तथा रूपनाथ के लघु लेखों में वह स्वयं को 'शाक्य' तथा 'बुद्ध-शाक्य' कहता है। भब्रू लेख में वह 'बुद्ध, धम्म, तथा संघ' में अपनी निष्ठा व्यक्त करता है और बौद्ध ग्रन्थों के कई स्थलों के विषय में यह इच्छा व्यक्त करता है कि उपासक और भिक्षु दोनों ही उनका ध्यान और अध्ययन करें। लेख में इन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं : विनय-समुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसुते, उपतिस-पसिन, तथा लाघुलोवाद। लघु शिलालेख सं. 1 में उसने बौद्ध धर्म में अपने विकास की अवस्थाओं का उल्लेख किया है।

बौद्ध धर्म के संरक्षक के रूप में अशोक ने संघ की आन्तरिक स्थिति को सुव्यवस्थित करने में विशेष रुचि दिखाई। सारनाथ, कौशाम्बी तथा सांची से प्राप्त लघु स्तम्भ-लेखों में उसने संघ-भेद करने वाले भिक्षुओं के विरुद्ध कुछ दण्डविधानों की घोषणा की है। लंका की बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार, उसके समय में तृतीय बौद्ध संगीति बुलाई गई जिसमें अशोक की सक्रिय भूमिका रही। इसके अनुसार, इस समय बौद्ध संघ में भारी संख्या में अवांछनीय लोगों का प्रवेश हो गया था जो संघ में रहते हुए भी

नियमों और सिद्धान्तों का आचरण नहीं करते थे। स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि पाटलिपुत्र में कई वर्षों से भिक्षुओं की उपोसथ सभा तक नहीं हुई थी। बहुत प्रयास के बाद अशोक ने अपने समय के प्रसिद्ध बौद्ध धर्माचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में तृतीय बौद्ध संगीति का आयोजन करवाया जिसमें एक बार फ़िर यह निर्णय किया गया कि प्रामाणिक रूप से बुद्ध के वचन क्या थे। अनुश्रुति के अनुसार, संगीति के पश्चात् कई भिक्षु-टोलियां बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अलग-अलग प्रदेशों में भेजी गई। स्वयं अशोक के पुत्र तथा पुत्री, महेन्द्र और संघमित्रा, लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु गए।

एक धर्मनिष्ठ बौद्ध के रूप में स्वयं अशोक ने कई बौद्ध तीर्थस्थलों की यात्राएँ कीं। अपने आठवें शिलालेख में अशोक कहता है कि उसके पहले के शासक अपने आमोद-प्रमोद के लिए विहार यात्राएँ किया करते थे; इनके स्थान पर उसने धर्म यात्राएँ करनी प्रारम्भ कीं। अपने राज्याभिषेक के दसवें वर्ष में उसने आधुनिक बोधगया की यात्रा की जहाँ बुद्ध को सम्बोधि की प्राप्ति हुई थी। चौदहवें वर्ष में उसने कनकमुनि बुद्ध के स्तूप का विस्तार करवाया और बीसवें वर्ष में स्वयं उस स्थान की यात्रा की। राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में वह बुद्ध की जन्मस्थली लुम्बिनी गया। यहाँ उसने एक स्तम्भ खड़ा करवाया और इस स्थान के लोगों को कुछ करों से मुक्त कर दिया।

परम्परा अशोक को एक महान् बौद्ध निर्माता के रूप में प्रस्तुत करती है। राजतरंगिणी के अनुसार, अशोक ने कश्मीर में श्रीनगर की स्थापना की और वहाँ 500 बौद्ध विहार बनवाए। युवानच्वांग, जो इससे भी पहिले का प्रमाण है, यहाँ चार अशोक निर्मित स्तूपों को देखने की बात कहता है। दिव्यावदान में कहा गया है कि उसने पर्वत-शिखरों के समान ऊंचे स्तूपों का निर्माण करवाया। सिंहली बौद्ध ग्रन्थ महावंश के अनुसार, अशोक ने 84000 बौद्ध विहारों का निर्माण करवाया। पुरातात्विकों का विचार है कि सांची का प्रसिद्ध स्तूप मूलतः अशोक के समय में ही निर्मित हुआ था। कनिंघम ने भारहुत स्तूप को भी मूलतः अशोक के समय का माना है। यह विश्वास किया जाता है कि सारनाथ के धमेख स्तूप का निर्माण भी अशोक ने ही करवाया था।

बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त ने अशोक को अत्यन्त प्रभावित किया। कलिंग युद्ध के रक्तपात ने उसके संवेदनशील मन को छू लिया था, और इस युद्ध के बाद उसने कोई भी अन्य सैनिक विजय का विचार नहीं किया। अपने चौथे शिलालेख में वह बताता है कि उसने 'भेरीघोष' के स्थान पर 'धर्मघोष' की नीति अपनाई। उसने अपने साम्राज्य में अनेकानेक पशुपक्षियों के वध को निषिद्ध घोषित कर दिया। उसने ऐसे यज्ञों को भी बन्द करवा दिया जिनमें भारी संख्या में पशुओं का वध होता था।

अशोक कोरा उपदेशक नहीं था। अहिंसा की इस नीति को उसने अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारने की चेष्टा की ताकि उसके आचरण का आदर्श अन्य लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने। अपने एक लेख में वह बताता है कि जहाँ पहले राजकीय पाकशाला में प्रतिदिन हजारों पशु मारे जाते थे, अब उसने आदेश दिया कि केवल तीन पशु—दो मोर और एक हिरन—मारे जाएँ और वह यह भी कहता है कि कालान्तर में ये पशु भी नहीं मारे जाएँगे। इस प्रकार अशोक ने अपनी प्रजा के सम्मुख व्यक्तिगत आदर्श उपस्थित

किया।

अशोक का 'धम्म' (धर्म)

अपने लेखों में अशोक बार बार 'धम्म' (धर्म) की बात करता है और इस बात की विशेष इच्छा व्यक्त करता है कि लोग उस 'धर्म' का आचरण करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह स्वयं बौद्ध धर्म मानता था, किन्तु जिस 'धर्म' का पालन वह सबके द्वारा चाहता है वह 'धर्म' क्या था? जैसा कि हम पीछे बौद्ध धर्म की चर्चा के प्रसंग में देख चुके हैं, इसमें 'चार आर्य सत्य' तथा 'अष्टांगिक मार्ग' प्रमुख सिद्धान्त थे तथा इसमें 'निर्वाण' को आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य बताया गया था। अशोक अपने लेखों में बौद्ध धर्म के इन पारिभाषिक और विशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं करता। अभिलेखों में चर्चित इस 'धर्म' के सम्बन्ध में फ्लीट का यह मत था कि यह 'राजधर्म' है जिसकी चर्चा मानव धर्मशास्त्र में हुई है।* जैसा कि भण्डारकर ने कहा है यह मत स्पष्टतः ठीक नहीं माना जा सकता। 'राजधर्म' केवल राजा तथा उसके अधिकारियों के लिए होता था सम्पूर्ण प्रजा के लिए नहीं; अशोक अपने अभिलेखों में जिस 'धम्म' की चर्चा करता है उसके लिए वह यह इच्छा व्यक्त करता है कि उसके राज्य की समस्त प्रजा उसका अनुपालन करे। जैसा कि हम नीचे देखेंगे, उसके धर्म में कहीं भी साम्प्रदायिकता का पुट नहीं मिलता अपितु इसमें केवल सामान्य नैतिक आचरण पर बल दिया गया है। इसी कारण अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि अशोक का यह धर्म 'सार्वभौम धर्म' था जिसमें सभी धर्मों का सार सम्मिलित था।** कुछ विद्वानों का विचार है कि अशोक का यह धर्म बौद्ध धर्म के ही प्रारम्भिक स्वरूप को निरूपित करता है—धर्म का वह पक्ष जिसे बुद्ध ने अपने गृहस्थ अनुयायियों के लिए प्रस्तुत किया था।*** यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि मूल बौद्ध धर्म में 'शील' अथवा नैतिक आचार-विचार पर विशेष बल था और जिन आदर्शों की बात अशोक करता है वे सभी उस मूल बौद्ध धर्म में विद्यमान दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार दूसरे वर्ग के विद्वानों के मत में भी काफी बल है।

इस विवाद में न पड़कर यह देखना अधिक उपयुक्त होगा कि स्वयं अशोक अपने 'धर्म' के स्वरूप के विषय में क्या विचार रखता था।

एक स्थान पर अशोक स्वयं यह प्रश्न करता है कि धर्म क्या है? और अपने प्रश्न का उत्तर देते हुए वह उन घटक अंगों को बताता है जो उसके द्वारा परिकल्पित 'धम्म' का निर्माण करते हैं। ये घटक अंग हैं : 1. साधुता या बहुकल्याण, 2. दया, 3. दान, 4. सत्य, 5. पवित्रता, 6. माधुर्य। अपने लेखों में विविध स्थानों पर उसने वे आचरण बताये हैं जिनसे इस 'धर्म' को कार्य रूप में लाया जा सकता है। ये आचरण हैं : 1. माता-पिता तथा गुरुजनों की सेवा, 2. गुरुजनों के प्रति सम्मान, 3. ब्राह्मण-श्रमणों,

---

* जर्नल आव द रायल एशियाटिक सोसायटी 1908 में प्रकाशित लेख।

** उदाहरणार्थ द्र. आर. के. मुकर्जी, अशोक; जे. एम. मैकफेल, अशोक; प्रबोध चन्द्रसेन का विश्वभारती क्यार्टरली जि. 9 भाग 3 में प्रकाशित लेख।

*** श्रीमती राइज डेविड्स, बुद्धिज्म; भण्डारकर, अशोक।

सम्बन्धियों, मित्रों और सेवकों-मजदूरों के प्रति उचित व्यवहार, 4. साधु-सन्यासियों, मित्रों, सम्बन्धियों और वृद्ध जनों के लिए दान, 5. पशुओं का वध न करना अथवा अहिंसा, 6. 'अपव्यता' अर्थात् फिजूलखर्ची न करना तथा 'अल्पभाण्डता' अर्थात् फालतू चीजें न जोड़ना। इन आचरण-नियमों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशोक के धर्म का मुख्य उद्देश्य सांसारिक जीवन एवं सामाजिक सम्बन्धों में पवित्रता लाना तथा सुव्यवस्था स्थापित करना था। अपने 'धर्म' में अशोक सम्बन्धी, मित्र, दास-सेवक आदि के साथ-साथ पशु-पक्षियों को भी सम्मिलित करता है।

नकारात्मक रूप में अशोक यह भी बताता है कि क्या धर्म नहीं है। मनुष्य को इनसे बचना चाहिए। इन अवांछनीय कर्मों के लिए वह 'आसिनव' शब्द का प्रयोग करता है। 'आसिनव' निम्न वृत्तियों से बनता है : 1. चण्डता अर्थात् क्रूर स्वभाव, 2. निष्ठुरता अर्थात् अन्य प्राणियों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति की भावना का अभाव, 3. क्रोध, 4. मान अथवा अहंकार और 5. ईर्ष्या। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि क्रोध, अहंकार और ईर्ष्या ही एक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों से अलग करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों में कटुता और पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न करते हैं। सामान्य रूप से मनुष्य दूसरे के दोषों को ही देखने में लगा रहता है और अपनी बुराइयों को देखने की चेष्टा नहीं करता। इसके निवारण के लिए अशोक यह आग्रह करता है कि व्यक्ति को आत्म निरीक्षण करते रहना चाहिए।

अशोक 'सर्वधर्म-समभाव' के सिद्धान्त को मानने वाला था। वह धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश देता है और कहता है कि अपने धर्म की प्रशंसा और दूसरे धर्म की निन्दा बुरी बात है। वह जानता था कि धार्मिक साम्प्रदायिकता इस कारण भी होती है कि लोग दूसरे मतों और धर्मों की अच्छाइयों से परिचित नहीं होते। उसके अनुसार, मनुष्य को 'बहुश्रुत' होना चाहिए अर्थात् सभी मतों के बारे में जानकारी रखनी चाहिए और दूसरे धर्मों के आदर्शों और विश्वासों को भी जानना चाहिए। इससे व्यक्ति अपने धर्म के संकीर्ण दायरे से निकल कर दूसरे के विचारों का भी आदर करना सीखेगा। अशोक का बारहवां शिलालेख धार्मिक सहिष्णुता का एक अप्रतिम मसौदा है जिसका मूल्य एवं महत्त्व सदैव बना रहेगा।

परलोक में विश्वास अशोक के 'धर्म' का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अपने कई लेखों में वह 'धर्म' का आचरण करने पर स्वर्ग की प्राप्ति और परलोक में सुख एवं आनन्द मिलने की बात करता है। स्वर्ग और उसके सुखों की कल्पना ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों धर्मों में समान रूप से थी। अपने चौथे शिलालेख में वह बताता है कि उसने स्वर्ग के सुखों को चित्रों में प्रदर्शित कर अपने प्रजाजनों को धर्माचरण द्वारा उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। उसने उन समाजों अथवा उत्सवों पर रोक लगा दी जिनमें केवल नृत्य, संगीत और पशुवध का बोलबाला रहता था। उसने 'धर्म-श्रावणों' का आयोजन प्रारम्भ किया जिनमें धर्म की चर्चा होती थी और जन-सामान्य इसे सुनता था और लाभ उठाता था।

स्पष्ट है कि अशोक का 'धर्म' कर्मकाण्डमूलक न होकर आचारमूलक था जिसमें

इस जीवन को सुन्दर तथा सुख-शान्तिमय बनाने का स्वप्न संजोया गया था। आज भी हमारे राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में इस प्रकार के 'धर्म' की अत्यन्त आवश्यकता है और हम उसके 'धर्म' से बहुत कुछ ग्रहण कर सकते हैं।

अशोक की शासन-व्यवस्था और उसके प्रशासनिक सुधार

यह न माने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता है कि अशोक के शासन का मूल ढाँचा वही था जो चन्द्रगुप्त के समय में था। अशोक के लेखों में विविध राज-कर्मचारियों के पदों के नाम और उसके दायित्वों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से चले आ रहे शासन-तन्त्र में अशोक ने कुछ नई बातें जोड़ी और अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुरूप कुछ सुधार किए।

प्रजा के पद को अशोक पितृत्व की भावना तथा आदर्श से जोड़ता था। अपने कलिंग लेख में वह कहता है : "सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं और जिस प्रकार मैं अपनी सन्तति के लिए यह कामना करता हूँ कि वे इस लोक तथा परलोक में सभी प्रकार की समृद्धि और सुख भोगें उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा के लिऐ समृद्धि और सुख की कामना करता हूँ।"

पूर्वकाल के समान इस समय भी राजा को परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् थी जिसका उल्लेख अशोक अपने छठे शिलालेख में करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मन्त्रिपरिषद् राजा के उपस्थित न रहने पर भी राज्य की नीतियों आदि पर विचार और चर्चा कर सकती थी और अपने सुझाव दे सकती थी। किन्तु सभी विषयों पर राजा का ही निर्णय अन्तिम होता था और उसकी अनुपस्थिति में हुई चर्चा को भी उसकी सूचना में लाना आवश्यक था।* साम्राजय कई प्रान्तों में विभक्त था जिन पर राजकुल के 'कुमार' शासन करते थे। अभिलेखों में तक्षशिला, उज्जैनी, तोसली (धोली) तथा सुवर्णगिरि की चर्चा इन कुमारों अथवा प्रान्तीय शासकों की राजधानियों के रूप में मिलती है। उसके समय में सौराष्ट्र प्रदेश की राजधानी गिरनार में तुषास्प यवन प्रान्तीय शासक था जिससे यह प्रमाणित होता है कि कुछ प्रदेशों में उस क्षेत्र से सम्बद्ध सामन्तों को ही प्रान्तीय शासक बना दिया जाता था।

राज्य के प्रमुख अधिकारियों में राजुक, प्रादेशिक, युक्त और व्यावहारिक नामक अधिकारियों की गणना की जा सकती है। राजुक भूमि और न्याय कार्य से सम्बद्ध अधिकारी था और जनपद-प्रशासन में उसका अत्यन्त उत्तरदायित्व-पूर्ण स्थान था। इन्हें 'लाखों लोगों के ऊपर' नियुक्त बताया गया है। चौथे स्तम्भ लेख के अनुसार, उसका कार्य लोगों में पारितोषिक और दण्ड का वितरण तथा व्यवहार और दण्ड की समता बनाए रखना था। प्रादेशिक की स्थिति आधुनिक कमिश्नर जैसे अधिकारी की जान पड़ती है

---

* डा. जायसवाल का विचार है (हिन्दू पालिटी) कि मन्त्रि-परिषद् को असीम अधिकार थे और यह राजा की नीति को भी तिरस्कृत कर सकती थी। किन्तु बरुआ (अशोक एण्ड हिज इन्सक्रिप्शन्स) ने कहा है कि डा. जायसवाल का विचार अशोक के लेख में आए 'निझति' शब्द की गलत व्याख्या पर आधारित है।

और इस प्रकार वे बड़े भू-खण्डों के प्रशासन से सम्बद्ध थे। युक्त अपेक्षाकृत एक छोटा अधिकारी था जो राजस्व और लेखा-जोखा के कार्य से सम्बद्ध था। ये राजुकों और प्रादेशिकों के साथ रहते थे। व्यावहारिक न्याय विभाग का अधिकारी था। इन सभी अधिकारियों को आदेश था कि वे सामान्य शासन-कार्य के साथ-साथ जनता के भौतिक और नैतिक स्तर को भी ऊंचा करने का भी प्रयत्न करें। ये प्रति पाँचवें वर्ष राज्य का दौरा करने और जनता के सीधे सम्पर्क में आते थे।

अशोक ने शासनतन्त्र में पहली बार धर्म-महामात्र नामक अधिकारियों की नियुक्ति की। यह नवीन कार्य अशोक ने अपने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में किया। इनकी नियुक्ति का मुख्य उद्देश्य धर्म की वृद्धि के लिए उपक्रम करना था। सभी धर्म और सम्प्रदाय इनके अधिकार क्षेत्र में आते थे और इसका मुख्य दायित्व धर्म का प्रचार एवं प्रसार करना था। यवन, गंधार, कम्बोज आदि दूर के प्रदेशों में धर्म का प्रचार करना तथा उनके कल्याण हेतु कार्य करना भी उन्हीं के अधिकार क्षेत्र में आता था। वे दासों, आर्यों, ब्राह्मणों, गृहस्थों सभी का ध्यान रखते थे। इनका यह भी कर्त्तव्य था कि वे स्थिति और आवश्यकता के अनुरूप बन्दियों को मुक्त करावें, उनकी सजा कम करावें तथा उन्हें अनावश्यक यन्त्रणा से बचाने का प्रयास करें।

अशोक अपनी प्रजा के सुख-दुःख के विषय में पूरी जानकारी रखने का इच्छुक था। इस कार्य के लिए उसने 'प्रतिवेदक' नामक अधिकारियों को नियुक्त किया जिनका काम था राजा को हर स्थान पर प्रजा की समस्याओं की जानकारी देना।

अशोक के पहले राजा लोग विहार यात्राओं पर जाया करते थे जिनके अन्तर्गत् ये लोग भोग विलास तथा शिकार आदि किया करते थे। अशोक ने इसके स्थान पर धर्मयात्राएँ शुरू कीं। उसने अपने समाज को भी सुधारने का प्रयत्न किया। पहले सामाजिक उत्सवों में मद्यपान, माँसभक्षण, और नृत्यगान पर जोर रहता था। इनको बन्द कर अशोक ने धार्मिक उत्सवों का प्रचलन आरम्भ किया जिनमें प्रजा को धर्म की शिक्षा देने के लिए धार्मिक दृश्य दिखाये जाते थे। उसने स्वयं शिकार आदि बन्द कर दिया और अपनी रसोई में भी धीरे-धीरे माँसाहारी भोजन बन्द करने की व्यवस्था की। उसके मन में सभी जीवों के प्रति दया और करुणा थी। उसने कुछ अवसरों पर पशुओं का वध बन्द करवा दिया और कुछ जीवों को अवध्य (न मारने योग्य) घोषित कर दिया। मनुष्यों के सुख के लिए उसने चिकित्सालय खुलवाये और औषधियों की व्यवस्था की। उसने शुभ अवसरों पर बन्दियों को छोड़ने की भी व्यवस्था की। चौथे स्तम्भ लेख के अनुसार, उसने प्राण-दण्ड पाये हुए अभियुक्तों को तीन दिनों का जीवनदान देने का भी प्रावधान किया।

सीमान्त पर बसे लड़ाकू और असभ्य लोगों के प्रति उसने दमन की नीति त्याग कर उनके प्रति उदारता की नीति अपनाई। उसने अपने राज-कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखें और उनकी नैतिकता का स्तर ऊंचा उठावें।

अशोक के शासन-सम्बन्धी सुधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह किस प्रकार का राजा था। उसने लोक-कल्याणकारी आदर्श की प्रतिष्ठापना की। वह अपनी प्रजा की भौतिक और नैतिक दोनों प्रकार की उन्नति चाहता था। स्वयं को वह प्रजा के पिता की

भाँति समझता था जिसका कर्त्तव्य था अपनी सन्तान के सभी हितों का पूरा ध्यान रखना। अपने लेखों में वह कहता है कि "सर्व लोक हित (=सभी लोगों का कल्याण) से बढ़ कर और कोई कर्म नहीं है। मैं प्रजा के लिए परिश्रम और काम करने से कभी नहीं अघाता।" उसने अपने सभी अधिकारियों को इस आदर्श को कार्य रूप में परिणत करने का आदेश दिया। वह थोथा आदर्शवादी नहीं था बल्कि स्वयं अपने जीवन में उसने सुधार किए ताकि प्रजा उसके उदाहरण से प्रेरणा ग्रहण कर सके।

साम्राज्य-विस्तार

अपने चौदहवें शिलालेख में अशोक कहता है कि "मेरा साम्राज्य सुविस्तृत है।" पाँचवें शिलालेख में भी वह अपना साम्राज्य सम्पूर्ण पृथ्वी पर बताता है। वास्तव में अशोक एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी था। स्वयं अशोक ने सम्भवतः केवल कलिंग पर विजय प्राप्त की थी जिसकी चर्चा वह स्वयं करता है। इस प्रान्त में धौली (पुरी जिला) तथा जौगड़ (गंजाम जिला) से उसके दो लेख प्राप्त होते हैं। किन्तु, उसे चन्द्रगुप्त और विन्दुसार से उत्तराधिकार में ही एक विशाल साम्राज्य थाती के रूप में मिला था। उसके अभिलेखों की प्राप्ति से उसके विस्तृत साम्राज्य का खाका प्राप्त होता है।

सेल्यूकस के साथ हुए युद्ध तथा सन्धि से एरिया (हेरात), एराकोसिया (कन्दहार), गेड्रोसिया (बलूचिस्तान) तथा पैरापैनिसडाइ (काबुल की घाटी) प्रदेश मौर्य साम्राज्य में जुड़ गए थे। ये प्रदेश अशोक के साम्राज्य में बने रहे, यह इस बात से भी पुष्ट होता है कि शहबाज गढ़ी (पेशावर जिला) तथा मानसेहरा (हजारा जिला) से अशोक के लेखों की प्राप्ति हुई है। चीनी यात्री युवानच्वांग के विवरण से भी यह प्रमाणित होता है। इस प्रदेश में उसने अशोक द्वारा निर्मित कई बौद्ध विहार तथा स्तूप देखे थे जिसमें कपिशा का 100 फीट ऊंचा प्रस्तर निर्मित स्तूप विशेषरूपेण उल्लेखनीय है।

इस बात का विपुल प्रमाण उपलब्ध है कि कश्मीर प्रदेश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। युवान च्वांग का वृत्तान्त तथा कल्हण की राजतरंगिणी इसके प्रमाण हैं। यहाँ उसने एक नगर (श्रीनगर) बसाया और कई भवनों तथा विहारों का निर्माण करवाया था।

लुम्बिनी तथा निग्लीव के स्तम्भ लेख नेपाल की तराई में उसका आधिपत्य प्रमाणित करते हैं। स्थानीय परम्परा से भी इसकी पुष्टि होती है। अनुश्रुति के अनुसार अपने धर्मगुरु उपगुप्त के साथ वह इस प्रदेश में तीर्थ-यात्रा के लिए निकला था और अपनी यात्रा की स्मृति में उसने एक नगर बसाया था जो आज का ललित पाटन (आधुनिक काठमाण्डू से लगभग दो मील पर दक्षिण-पूर्व में)। यहाँ उसने एक मन्दिर तथा चार स्तूप बनवाए जो आज भी विद्यमान हैं। इस यात्रा में उसकी कन्या चारुमती तथा जामाता देवपाल क्षत्रिय उसके साथ गये थे।

पूर्व में बंगाल उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। युवान च्वांग ने इस प्रदेश के विविध स्थानों पर अशोक निर्मित स्तूपों का हवाला दिया है। अनुश्रुति के अनुसार, अपने पुत्र महेन्द्र और कन्या संघमित्रा को सिंहल भेजने के लिए अशोक स्वयं ताम्रलिप्ति (तामलुक) तक गया था। महास्थल (बोगरा जिला) से प्राप्त एक स्तम्भ लेख से भी यह प्रमाणित होता है कि बंगाल मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत था। यह लेख मौर्य काल की ब्राह्मी लिपि

में है।

दक्षिणी पश्चिमी भारत में सौराष्ट्र उसके साम्राज्य में था। गिरनार और सोपारा से अशोक के अभिलेख मिले हैं। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में इस प्रदेश पर चन्द्रगुप्त के प्रतिनिधि शासक वैश्य पुष्यगुप्त तथा अशोक के प्रतिनिधि शासक यवनराज तुषास्य का उल्लेख हुआ है।

दक्षिण में अशोक के अभिलेखों की प्राप्ति पूर्वकालीन निजाम की रियासत में स्थित मास्की तथा इरागुडी तक और मैसूर के चितलद्रुग जिले में स्थित सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर तथा ब्रह्मगिरि तक हुई है। अशोक के दूसरे शिलालेख में इन स्थानों के दक्षिण में चोलों, पाण्ड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के स्वतन्त्र राज्य बताए गये हैं।

इस प्रकार अशोक वास्तव में एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था जिसकी सीमा उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान प्रदेश तक और पूर्व में बंगाल तक फैली हुई थी। सौराष्ट्र, कलिंग, काश्मीर और नेपाल तथा सुदुर दक्षिण को छोड़कर सम्पूर्ण दक्षिणी भारत उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। कामरूप अथवा आसाम का प्रदेश उसके साम्राज्य के बाहर स्थित जान पड़ता है; यह निश्चित रूप से उसके धार्मिक प्रचार क्षेत्र के बाहर था

अशोक के अभिलेख

अशोक के अध्ययन के प्रसंग में हमने स्थान-स्थान पर उसके अभिलेखों का हवाला दिया है। उनकी कुछ विस्तार से जानकारी होनी आवश्यक है।

अशोक के अभिलेख स्वयं में एक साहित्य है। इनमें उसके व्यक्तित्व, कार्यों, भावनाओं तथा उसके प्रशासन आदि के सम्बन्ध में विस्तृत सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। ये लेख शिलाओं पर, स्तम्भों पर तथा गुफा-भित्तियों पर अंकित मिलते हैं। लेखों में उस समय प्रचलित दो लिपियों का प्रयोग हुआ है। पश्चिमोत्त प्रदेश के शहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा से प्राप्त लेख खरोष्ठी लिपि में हैं जो दाहिनी से बाई ओर लिखी मिलती है। लेख की भाषा प्राकृत है। केवल कन्दहार से एक द्विभाषी लेख प्राप्त हुआ है जिसमें यूनानी और अरमेइक भाषाओं का प्रयोग मिलता है। यह उस क्षेत्र की यूनानी प्रजा को ध्यान में रख कर लिखा गया था। अपने लेखों में अशोक सर्वत्र स्वयं को 'देवानं पिय पियदसि राजा' (=देवताओं का प्रिय, प्रियदर्शी राजा) कहता है। केवल मास्की से प्राप्त लघु शिलालेख में उसका नाम 'अशोक' (देवानं पियस पियदसिन अशोकराजस) लिखा हुआ मिलता है।

1. **चतुर्दश शिलालेख**—ये शिलालेख चौदह हैं जो इन स्थानों से मिले हैं। शहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), मानसेहरा (हजारा जिला), गिरनार (जूनागढ़ के निकट), सोपारा (थाना जिला), कालसी (देहरादून में), धौली (पुरी जिला), जौगड़ (गंजाम जिला), इरागुडी (पूर्वकालीन निजाम की रियासत में)।

धौली और जौगड़ में ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें लेखों के स्थान पर दो नये लेख लिखे मिलते हैं; इस कारण इन्हें पृथक् कलिंग शिलालेखों के नाम से भी जाना जाता है।

2. **लघु शिलालेख**—ये संख्या में दो हैं। प्रथम लघु शिलालेख रूपनाथ (जबलपुर

जिला), सहसराम (आरा जिला), वैराट (जयपुर के निकट), मास्की, गवीमढ़, पल्कीगुण्ड् और इरागुड़ी (चारों स्थान दक्षिण भारत में पूर्वकालीन निजाम रियासत में) तथा सिद्धपुर, जटिंग रामेश्वर तथा ब्रह्मगिरि (तीनों स्थान मैसूर के चीतलद्रुग जिला में) से मिला है। द्वितीय लघु शिलालेख केवल अन्तिम तीन स्थानों से प्राप्त हुआ है।

3. भाब्रू शिलालेख—यह विशेषरूपेण अशोक की बौद्ध धर्म में रुचि से सम्बन्धित है।

4. स्तम्भ लेख—ये संख्या में सात हैं और निम्न स्थानों पर मिले हैं : तोपरा–दिल्ली (इसे फीरोज़ तुगलक अम्बाला जिले में तोपरा नामक स्थान से दिल्ली लाया था), मेरठ–दिल्ली (इसे फिरोज़ तुगलक मेरठ से दिल्ली लाया था), कौशाम्बी–इलाहबाद (यह सम्भवतः पहले कौशाम्बी या कोसम में था जहाँ से इलाहाबाद लाया गया था), लौरिया अरराज (चम्पारन जिला), लौरिया–नन्दनगढ़ (चम्पारन जिला वेतिया नामक स्थान के पास), रामपुरवा (चम्पारन

जिला)।

5. लुम्बिनी तथा निग्लीव के स्तम्भ लेख—ये दोनों स्थान नेपाल के तराई प्रदेश में हैं। लेख विशेषतः बौद्ध धर्म की रुचि वाले हैं।

6. लघु स्तम्भ लेख—ये, साँची कौशाम्बी–इलाहाबाद तथा सारनाथ के स्तम्भों पर खुदे मिलते हैं।

7. बराबर के गुहा-लेख—ये तीन लेख बराबर पहाड़ी की गुफाओं में मिले हैं। प्रथम दो में अशोक द्वारा आजीविक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के लिए गुफा दान में दिये जाने का उल्लेख है। तीसरा अपूर्ण है पर सम्भवतः इसका भी प्रयोजन वही था।

8. कन्दहार से प्राप्त द्विभाषी लेख—यह यूनानी और आरमेइक भाषाओं में है। इसे स्पष्टतः पश्चिमोत्तर प्रदेश की यूनानी तथा अन्य विदेशी प्रजा को ध्यान में रख कर लिखा गया था।

अशोक का मूल्यांकन

अशोक एक महान शासक था उसके शासन काल में प्रजा के सुख का सम्पूर्ण ध्यान रखा जाता था। उसने मानव जीवन के मूल्यों को समझा और आजीवन लोगों को जीवन का नैतिक संदेश दिया। इतिहास में अशोक को 6 प्रमुख व्यक्तियों में से एक माना गया है; इसके अतिरिक्त एच. जी. वेल्स ने ईसा, बुद्ध, अरिस्टोटल, बेकन व लिंकन को माना है। जिस प्रकार इतिहास में सिकन्दर, समुद्रगुप्त, नेपोलियन आदि महान् विजेता हुए हैं, उसी प्रकार अशोक न केवल महान् विजेता अपितु महान् धर्मप्रचारक के रूप में भी जाना जाता है। एच. जी. वेल्स ने अशोक के विषय में लिखा है, "प्रत्येक युग तथा प्रत्येक राष्ट्र ऐसे राजा को प्रस्तुत नहीं कर सकता। विश्व इतिहास में, आज तक भी अशोक की समता किसी से नहीं की जा सकती।"

अशोक की तुलना कांस्टेन्टाइन से की गयी है जो कि रोम का सम्राट था तथा एक विशाल साम्राज्य का अधिपति था। उसने भी अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ किया व ईसाई धर्म को स्वीकार करके उसे रोम का राजधर्म बनाया तथा उसका प्रचार प्रसार किया। इसके विपरीत डा. भंडारकर के कथनानुसार, "कांस्टेन्टाइन ने जीते हुए पक्ष का पोषण किया, जबकि अशोक ने ऐसे धर्म का नेतृत्व किया जिसकी बहुत कम प्रगति हुई थी। कांस्टेन्टाइन ने चालाक बुद्धि व दूरदर्शी होने के कारण ईसाई धर्म अपनाया जब कि अशोक की आत्मा विचारवान तथा सबके लिए करुणापूर्ण थी, तथा वह उच्च आदर्शों, सतत प्रयत्नों, एकान्तनिष्ठा व आश्चर्यजनक उपाय सम्पन्नता वाला व्यक्ति था।"*

कुछ यूरोपी विद्वानों का मानना है कि सिकन्दर, सीजर व नेपोलियन संसार के महानतम् सम्राट थे परन्तु एच. जी. वेल्स ने इसका विरोध करते हुए कहा है कि इन सम्राटों की मानव जाति के प्रति सेवाएँ प्रायः शून्य हैं जबकि अशोक को महान् इसलिए कहा जा सकता है कि उसने न केवल मानव जाति अपितु सम्पूर्ण प्राणी जगत के प्रति अपार सेवाएँ प्रदान कीं। डा. कोफ्लुस्टन ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि यदि किसी

---

* भंडारकर, अशोक पृ. 195-196

राजा से अशोक की तुलना करनी हो तो उसकी किसी एक राजा से नहीं अपितु तीन राजाओं के साथ तुलना की जानी चाहिए। "वह बौद्ध धर्म का कांस्टेन्टाइन ही न था, ग्रीस के स्थान पर बौद्ध धर्म से आविष्ठ सिकन्दर था, वह ऐसा निःस्वार्थ नेपोलियन था जो यश के स्थान पर कल्याण से प्रेरित था।"*

1. अशोक का व्यक्तित्व एवं आदर्शवादिता—अशोक बहुत ही योग्य एवं मेधावी था। प्रारम्भिक जीवन में अशोक अत्यन्त क्रूर शासक था एवं विलासिता पूर्ण जीवन व्यतीत किया करता था परन्तु कलिंग युद्ध के उपरान्त उसके व्यक्तित्व में आकस्मिक परिवर्तन आया जिसमें अशोक को विश्व का महानतम् सम्राट बना दिया। उसके राज्य में युद्ध भेरी के स्थान पर धर्म भेरी घोष सुनाई पड़ने लगे। उसका जीवन सरल, शान्त, पवित्र, त्यागमय और आदर्शमय हो गया।

अशोक ने सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक क्षेत्रों में महान आदर्शों का पालन किया तथा सामाजिक क्षेत्र में जन-कल्याण के कार्यों को करते हुए, सुख एवं समृद्धि के पथ पर चलते हुए 'विश्व शान्ति' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। धार्मिक क्षेत्र में अशोक एक उदार एवं सहिष्णु शासक था एवं राजनीतिक क्षेत्र में उसके आदर्श शान्ति एवं सद्भावना के थे तथा उसके निकटतम राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे और वह सच्चे अर्थों में प्रजा का सेवक था।

2. महान शासक एवं विजेता—अशोक एक महान शासक था। उसका शासन आध्यात्मिकता से परिपूर्ण था तथा उसने स्वयं उच्च आदर्श प्रस्तुत कर अपने अधिकारियों का नैतिक स्तर ऊंचा उठाया। अशोक ने शासन को कुशल व व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से कई महामात्यों की नियुक्ति की। उसने कई ऐसे कार्य बन्द करवाए जिनसे प्रजा का अहित होता था तथा उसने सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्सवों में मद्यपान, माँससेवन, नृत्य आदि को समाप्त कर धम्म यात्रायें प्रारम्भ की। अन्य शासकों की भाँति अशोक ने तलवार से नहीं अपितु शान्ति एवं अहिंसा से अपने साम्राज्य की वृद्धि की। कलिंग अभिलेख में अशोक ने लिखा है, "सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरी संतति इस व परलोक में सब प्रकार का सुख भोगे ठीक उसी प्रकार मैं अपनी प्रजा की सुख समृद्धि की कामना करता हूँ।" डा. स्मिथ ने इस विषय में लिखा है, "यदि अशोक योग्य न होता तो वह अपने विशाल साम्राज्य पर चालीस वर्ष तक सफलता पूर्वक शासन न कर सका होता तथा अपना ऐसा नाम न छोड़ पाता जिससे लोग 2000 वर्षों के पश्चात् भी नहीं भूले हैं।"**

3. राष्ट्रीय एकता प्रदान करना—चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा भारत को राजनीतिक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न अशोक ने पूरा किया। अशोक की धार्मिक नीति द्वारा एक प्रान्त दूसरे प्रान्त के सम्पर्क में आया तथा उसके द्वारा पाली भाषा को राष्ट्र भाषा बनाने से सम्पूर्ण देश में आचार व्यवहार में आदान प्रदान सम्भव हो सका जिससे राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ता

* Buddhism : Primitive and Present, P.166.

** Smith, V.A., The Oxford History of India, P.137.

प्राप्त हुई।

4. धार्मिक नीति एवं लोकहित कार्य—अपनी धार्मिक नीति एवं धार्मिक सहिष्णुता के कारण ही अशोक सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। अशोक एक शासक की अपेक्षा एक धर्म प्रचारक के रूप में अधिक जाना जाता है। अशोक ने बौद्ध के चार आर्य सत्य व अष्टांगिक मार्ग का सरलीकरण जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। अशोक ने मातापिता व गुरूजनों की सेवा करना, ब्राह्मणों, श्रमणों, सम्बन्धियों, मित्रों, वृद्धों के प्रति दान, दया तथा सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार करने को ही धर्म बताया। अपने धर्म को जनता तक पहुँचाने के लिए उसने धर्म महामात्यों व अन्य अधिकारियों को नियुक्त किया। अशोक बौद्ध धर्म का उपासक था पर उसने अन्य धर्मों का भी आदर किया।

अशोक ने अनेक लोकहित कार्य किये जिनका वर्णन कालसी शिलालेख से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ अशोक ने छायादार वृक्ष लगवाए, धर्मशालाएँ बनवायीं, कुएँ खुदवाए, मनुष्यों और पशुओं के लिए औषधियों और औषधालयों का भी निर्माण कराया।

5. कर्तव्यनिष्ठ शासक—अशोक में कर्तव्यनिष्ठा का प्रबल भाव था एवं कार्यों को सम्पूर्ण करने की असाधारण शक्ति थी। उसके लिए ऐश्वर्य व यश का वहीं तक मूल्य था जहाँ तक उनके द्वारा लोगों से सदाचार सद्भाव बढ़ाया जा सकता था। उसने घोषणा की थी, "मैं जो कुछ भी पराक्रम करता हूँ वह उस ऋण को चुकाने के लिए है जो सभी प्राणियों का मुझ पर है।"* वह अपने अधिकारियों को भी यही कहता था कि प्रजा की समुचित रक्षा करना मेरा धर्म है।

डा. राधा कुमुद मुकर्जी ने लिखा है कि "राजाओं के इतिहास में मनुष्य व शासक के रूप में किसी के रिकार्ड की तुलना अशोक से नहीं की जा सकती।" अशोक ही विश्व में ऐसा पहला सम्राट था जिसने प्रजा के नैतिक हितों की उन्नति को भी सरकार का उत्तरदायित्व माना तथा इसी उद्देश्य से अलग विभाग की भी स्थापना की।** डा. हेमराय चौधरी के शब्दों में, "अशोक भारतीय इतिहास के सर्वाधिक रोचक व्यक्तियों में से एक है। वह चन्द्रगुप्त के समान प्रबल, समुद्रगुप्त के समान प्रतिभा-सम्पन्न व अकबर के समान निष्पक्ष था। अपने प्रयासों में वह अथक तथा उत्साह में सुदृढ़ था। उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रजा की आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति के लिए लगादी जिसे वह अपने बच्चों के समान समझता था।"***

अशोक के उत्तराधिकारी और मौर्य साम्राज्य का पतन

अशोक के बाद मौर्य शासन वंश का इतिहास इतना स्पष्ट नहीं है और विभिन्न स्रोतों में उसके उत्तराधिकारियों के नामों में एकमत नहीं दिखाई पड़ता। अशोक की मृत्यु लम्बे समय तक शासन करने के बाद 232 ई. पू. में हुई और इसके पश्चात् शीघ्र ही साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। ऐसा लगता है कि अशोक की मृत्यु होते ही साम्राज्य का पश्चिमोत्तर भाग अलग हो गया और काश्मीर में अशोक का एक पुत्र जौलक स्वतन्त्र

* शास्त्री, नीलकण्ठ, पूर्वोक्त, पृ. 259.

** Mookerji, R. K., Ashokam. P.1

*** Ray Chaudhari, Pol. Hist. of India, P.346

शासक के रूप में राज्य करने लगा। उसका नाम राजतरंगिणी में मिलता है। मगध के सिंहासन पर कुणाल बैठा और साम्राज्य के पूर्वी भाग पर शासन करने लगा। मत्स्य पुराण के अनुसार, अशोक के बाद दशरथ और उसके बाद उसका पुत्र संप्रति सिंहासन पर बैठा। बौद्ध और जैन साहित्य संप्रति को कुणाल का पुत्र बताते हैं। नागार्जुनी की पहाड़ियों में दशरथ द्वारा आजीविकों (यह एक धार्मिक सम्प्रदाय था) को दान में दी गई गुफाएँ मिली हैं जिनमें दशरथ का नाम मिलता है। संप्रति के बाद शालिशूक राजा बना। इस वंश का अन्तिम शासक वृहद्रथ था। यह विलासी था और सेना के साथ इसका सम्बन्ध एक दम टूट गया था। जब एक बार वह सेना का निरीक्षण कर रहा था, सेना के सामने ही उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने उसकी हत्या करादी।

मौर्य वंश के पतन के कारण–

हर स्थापित राजवंश का पतन अवश्य होता है परन्तु मौर्य वंश का पतन कुछ तीव्रता से हुआ। इस वंश के पतन के कारण इस प्रकार हैं।

1. केन्द्रीय शासन का दुर्बल होना :—मौर्यों के पतन का मुख्य कारण अशोक के निर्बल एवं अयोग्य उत्तराधिकारियों को ठहराया है। राजतन्त्रीय शासन प्रणाली में राज्य की सफलता एवं विफलता, उसके शासक की योग्यता एवं अयोग्यता पर निर्भर करती है। अतः अयोग्य उत्तराधिकारी होने पर मौर्यों का पतन स्वाभाविक ही था। उत्तराधिकारियों के अयोग्य होने के साथ-साथ केन्द्रीय शासन का कमजोर होना भी स्वाभाविक ही था। प्रथम तीन मौर्य शासकों (चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार तथा अशोक) के समय में केन्द्र से ही पूरे साम्राज्य के शासनतन्त्र में शक्ति का प्रशासन होता था; सिर्फ एक योग्य शासक ही अपने व अपनी प्रजा के हित के लिए इसका प्रयोग करता था। निर्बल शासकों ने केन्द्रीय नियन्त्रण खो दिया और इस प्रकार क्षयकारी शक्तियों को इसे खण्डित व नष्ट करने का अवसर प्राप्त हो गया।•

2. साम्राज्य का विभाजन :—अशोक की मृत्यु के पश्चात्, अयोग्य शासक होने के कारण साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया : पूर्वी भाग एवं पश्चिमी भाग, जिनके राजा क्रमानुसार दशरथ और कुणाल थे। इसमें कहीं अतिश्योक्ति नहीं है कि इस विभाजन ने साम्राज्य की विभिन्न सेवाओं तथा राजनीतिक और प्रशासनिक संगठनों को तितर-बितर कर दिया जिसके फलस्वरूप मौर्य यवण आक्रमणों का सामना नहीं कर सके।

3. प्रान्तीय शासकों के अत्याचार :—मौर्य साम्राज्य अधिक विस्तृत होने के कारण प्रशासन की सुविधा के लिए अनेक भागों में विभक्त था जिन पर राजकुमार अथवा कुलीन वर्गों के लोगों की नियुक्ति राजा के रूप में स्वयं शासक के द्वारा की जाती थी। अशोक के उत्तराधिकारी प्रान्तपतियों को अपने नियन्त्रण में नहीं रख सके जिसके कारण प्रान्तीय राजा अत्याचारी हो गए एवं प्रान्तों में विद्रोह का उद्भव हुआ। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि जब तक्षिला में हुए विद्रोह को दवाने के लिए अशोक गया तो वहाँ की जनता ने उससे निवेदन किया कि—"न तो हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के परन्तु

• रोमिला थापड़, अशोक तथा मौर्य साम्राज्य का पतन, P. 197.

दुष्ट अमात्य हमारा अपमान करते हैं।"*

4. राष्ट्रीय भावना का अभाव :—कुछ विद्वानों का विचार है कि मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण तत्कालीन प्रजा में राष्ट्रीयता की भावना का न होना था। डा. रोमिला थापड़ ने लिखा है कि मौर्य काल में राजनीतिक दृष्टि से भारतीय एकता का विचार विद्यमान नहीं था, यह इस बात से प्रमाणित होता है कि यूनानियों का प्रतिरोध संगठित रूप से नहीं किया गया। डा. थापड़ ने पुनः लिखा है कि—"अतः मौर्यों के पतन का उत्तरदायित्व. . . . . राष्ट्रीय भावना के अभाव को दिया जाना चाहिये।"**

5. अशोक की अहिंसात्मक नीति :—कलिंग युद्ध के उपरान्त अशोक ने भविष्य में कोई युद्ध न करने का प्रण किया जिसका प्रभाव उसके शासनकाल में नहीं पड़ा क्योंकि वह कुशल शासक था परन्तु सैनिक दृष्टिकोण से राष्ट्र एकदम दुर्बल हो गया। डा. आर. सी. मजूमदार ने भी लिखा है कि जो साम्राज्य 'रक्त एवं लोहे' (Blood & Iron) नीति द्वारा स्थापित किया गया एवं इसी नीति के द्वारा वह सुरक्षित रखा जा सकता था परन्तु अशोक की शान्तिप्रिय नीति ने न केवल सैनिकों को दुर्बल बना दिया अपितु युद्ध में उनकी रुचि भी खत्म कर दी। जहाँ पहले राज्य द्वारा एकत्रित कर सैन्य व्यवस्था एवं संगठन पर व्यय होता था वहीं अब वह राशि धर्म के प्रचार व प्रसार में लगने लगी। अतः दुर्बल सेना बैक्ट्रीया की कहीं कम शक्ति की सेनाओं का सामना भी नहीं कर सकी।***

6. अशोक द्वारा ब्राह्मण विरोधी नीति का अपनाया जाना :—अशोक धर्म के क्षेत्र में सहिष्णु था तथापि उसकी अधिक रुचि बौद्ध धर्म में थी। उसने ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक क्रियाकलापों को व्यर्थ बताया तथा उनका कठोर वज्राघात किया जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण अशोक के विरोधी हो गए। पं. हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है—"अशोक की ब्राह्मण विरोधी नीति ने मौर्य साम्राज्य की नींव को खोखला कर दिया और अन्त में ब्राह्मण सेनापति ने इसका उन्मूलन कर दिया।" पं. हरप्रसाद शास्त्री ने अपने मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये है :

(अ) अशोक ने यज्ञों में पशु बलि पर प्रतिबन्ध लगाया जिससे ब्राह्मणों की शक्ति व प्रतिष्ठा पर आघात पहुँचा क्योंकि वह यज्ञ आदि के द्वारा मनुष्यों व देवताओं के मध्यस्था का कार्य करते थे।

(ब) ब्राह्मणों ने इसलिए भी विरोध किया कि ऐसा आदेश एक शूद्र राजा के द्वारा किया गया था।

(स) ब्रह्मगिरी की लघुशिला लेख के आधार पर पं. शास्त्री का कहना है कि ब्राह्मण धरती पर देवता समझे जाते थे तथा अशोक द्वारा उनका विरोध उचित नहीं था। धम्म महामात्रों ने ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा को नष्ट कर दिया।

---

* न वयं कुमारस्य विरुद्धम् नादिराज्ञः बिन्दुसारस्य, अपितुदुष्टामात्यः अस्माकं परिभव कुर्वन्ति।

** Romila Thapar, Ashoka and The Dedine of the Mauryas, PP. 211-212.

*** मजूमदार आर. सी., एन्शियन्ट इंडिया, P. 117-118.

(द) अशोक की मृत्यु के पश्चात् अयोग्य उत्तराधिकारियों का लाभ उठाते हुए ब्राह्मणों ने मौर्यों का विरोध किया। यह संघर्ष पुष्यमित्र के शक्ति ग्रहण तक जारी रहा जो कि स्वयं एक महान् ब्राह्मण विद्रोह का प्रतीक था।

7. दरबार के षड़यन्त्र :—मौर्य दरबार के सदस्य अनेक दलों में विभाजित थे तथा अपने हितों तथा पारस्परिक संघर्ष में वे राष्ट्रीय हित को भी नजरअन्दाज कर देते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण बृहद्रथ के शासनकाल में उसके सेनापति पुष्यमित्र द्वारा उसकी हत्या करना, दरबार में विद्यमान षड़यन्त्रों का प्रमाण है। कुणाल की आँखें उसकी विमाता तिष्यरक्षिता द्वारा फुड़वा देना भी एक ऐसा ही उदाहरण है। इस प्रकार दरबार में व्याप्त गुटबन्दी ने निःसन्देह मौर्यों के पतन में सहयोग दिया।

8. विदेशी आक्रमण :—चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में सेल्यूकस को परास्त करना भारत से यूनानी आक्रमण के भय को हटा देना था। परन्तु अशोक की मृत्युपरान्त यह भय पुनः उत्पन्न हो गया जिसका प्रमुख कारण अशोक की अहिंसावादी नीति के कारण मौर्य सेना का निष्क्रिय होना था। डा. भंडारकर लिखते हैं—"अशोक द्वारा विजय नीति के बजाय धर्म विजय की नीति अपनाने से यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत अच्छे परिणाम निकले परन्तु राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त दुष्परिणाम थे।"

9. आर्थिक कारण :—कुछ इतिहासकारों ने मौर्यकालीन अर्थव्यवस्था व आर्थिक स्थिति को मौर्यों के पतन के लिए उत्तरदायी माना है। प्रो. कोशाम्बी का मत है कि उत्तरकालीन मौर्यों के समय में अर्थव्यवस्था संकट ग्रस्त थी।* इसी कारण नए कर लगाए गए थे तथा इस काल के सिक्कों में भी मिलावट मिलती है। डा. रोमिला थापड़ ने इस तर्क का खण्डन किया है। उनके मतानुसार मौर्य सिक्कों में मिलावट का कारण शासन का क्षीण नियन्त्रण था।** मौर्यों के पतन के लिए करों की अधिकता को भी एक कारण माना जाता है जिसके फलस्वरूप प्रजा में रोष उत्पन्न हुआ। अशोक ने नए पदाधिकारियों को नियुक्त किया जिनकी आय व रख-रखाव पर खर्च करने से शाही खजाना खाली होता जा रहा था। एक अन्य कारण जंगलों को साफ करने से अधिक मात्रा में बाढ़ आना भी हो सकता है क्योंकि फसलें बरबाद होने लगी थीं व कर सही समय व सही मात्रा में नहीं वसूल हो पाते थे। धनाभाव में विशाल साम्राज्य को स्थिर रखना कठिन हो गया तथा इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के अन्तिम राजनीतिक विघटन का यह सबसे बड़ा कारण था।

मौर्यकालीन सामाजिक, साँस्कृतिक तथा आर्थिक अवस्था

मौर्य शासनवंश ने भारतीय मानव की राजनीतिक क्षेत्र में चिर अभिलिपित आकांक्षा को साकार रूप प्रदान किया। भारतीय इतिहास में पहली बार साम्राज्य की स्थापना हुई जिसमें एक शक्तिशाली केन्द्र द्वारा व्यवस्थित प्रशासनतन्त्र के माध्यम से एक विस्तृत भूखण्ड पर शासन होना प्रारम्भ हुआ। इसने वाणिज्य-व्यापार तथा सामाजिक-आर्थिक जीवन

---

* Kosambi, Introduction to the Study of Indian History, P.211.

** Romila Thapar, Ashoka and Decline of Mauryas, P.204.

के अन्य पक्षों को प्रभावित किया और कई नई बातों का सूत्रपात हुआ।

तत्कालीन समाज के विषय में जानकारी के लिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज का वृत्तान्त तथा अशोक के अभिलेख विशेष रूप में सहायक हैं।

समाज का स्वरूप तथा सामाजिक जीवन

मौर्य काल के पूर्व ही समाज में चातुर्वर्ण व्यवस्था सुप्रतिष्ठापित हो चुकी थी। मौर्य काल तक इस व्यवस्था में पर्याप्त कठोरता आ चुकी थी। चारों वर्णों में ब्राह्मण वर्ण का स्थान सर्वोपरि था। स्वयं अशोक के अभिलेखों से उनकी सम्माननीय स्थिति का पता चलता है। अर्थशास्त्र में भी ब्राह्मणों के कुछ विशेषाधिकारों को सहज रूप में स्वीकार किया गया है। अर्थशास्त्र राज्य के कार्यकलापों में पुरोहित की प्रमुख भूमिका की चर्चा करता है। इस समय जातिव्यवस्था का सिद्धान्त सर्वथा स्वीकृत दिखाई पड़ता है। चारों वर्ण कई जातियों में विभक्त थे और उनमें पारस्परिक खान-पान, विवाह आदि का सम्बन्ध प्रायः समाप्त हो गया था। मेगस्थनीज भारतीय समाज को सात वर्गों में विभक्त बताता है जो उसके अनुसार, इस प्रकार हैं : 1. दार्शनिक, 2. कृषक, 3. ग्वाले, 4. व्यापारी, मजदूर तथा शिल्पी, 6. निरीक्षक तथा 7. मन्त्री और सलाहकार। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मेगस्थनीज भारतीय समाज की संरचना को समझने में गलती कर बैठा है। उसने गलती से व्यवसायों को जाति मान लिया।

समाज में शूद्रों की स्थिति दयनीय जान पड़ती है। वे सामान्य रूप में औरों के लिए सेवा कार्य करते थे। कौसम्बी का विचार है कि इस समय कृषिकर्म शूद्रों द्वारा ही किया जाता था।*

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जिस समाज की परिकल्पना है उसमें स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में गौण स्थान प्राप्त है। स्त्रियों के प्रति ब्राह्मण ग्रन्थों का यह सामान्य दृष्टिकोण है। इसकी तुलना में बौद्ध दृष्टिकोण अधिक उदार है। स्त्रियाँ भिक्षुणी बन कर संघ में प्रवेश करने को स्वतन्त्र थीं। स्वयं अशोक की पुत्री संघमित्रा ने जीवन ग्रहण किया था। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि वे गुप्तचरों और अंगरक्षिकाओं का भी कार्य करती थीं। मेगस्थनीज ने भारतीयों द्वारा कई पत्नियाँ रखे जाने का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र से यह संकेतित होता है कि गाय अथवा बैल का जोड़ा विवाह के अवसर पर एक स्वीकृत स्त्री-मूल्य था। कुछ परिस्थितियों में पति-पत्नी के सम्बन्धविच्छेद की व्यवस्था थी। अभिजात वर्ग में सम्भवतः स्त्रियाँ पर्दा भी करती थीं। तत्कालीन समाज में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था और राज्य द्वारा उनकी देखभाल का प्रावधान था।

मेगस्थनीज ने अपने विवरण में लिखा है कि भारत में दासों का अस्तित्व नहीं था। ऐसा सम्भवतः उसने इस कारण लिखा है क्योंकि भारत की दास प्रथा यूनानी दास प्रथा से भिन्न थी। यूनानी दासों की तुलना में भारतीय दासों की स्थिति बड़ी अच्छी थी। वे सम्पत्ति रख सकते थे और अपनी सेवाओं के बदले में उन्हें वेतन प्राप्त होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दो प्रकार के दास बताए गए हैं : वे जो आजीवन दास होते थे

---

* डी. कोसम्बी, इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आव इण्डियन हिस्ट्री (बम्बई, 1956), पृ. 185, 218।

तथा वे जो किसी विशेष परिस्थिति में अल्पकाल के लिए दासता स्वीकार करते थे। अपना क्रय-मूल्य का भुगतान करके वे पुनः अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार, क्रय-मूल्य पा जाने पर भी दास को मुक्त न करने पर स्वामी पर जुर्माना किया जा सकता था। यदि कोई व्यक्ति स्वयं को बेच देता है तो उसकी सन्तान दास नहीं बनते थे। यदि कोई दासी अपने स्वामी से सन्तान को जन्म देती थी तो माता और शिशु दोनों ही दासता से मुक्ति पा जाते थे। अर्थशास्त्र अल्पकालीन दासों को गन्दा काम न दिए जाने का भी विधान करता है। अर्थशास्त्र से यह स्पष्ट है कि इस समय तक दासों की समस्या काफी महत्त्वपूर्ण हो चुकी थी जिस कारण राज्य भी उनसे सम्बन्धित मामलों में रुचि लेने लगा था।

जन-सामान्य में माँसाहार का प्रचलन था। अशोक के अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि पशु-पक्षी भोजन हेतु मारे जाते थे। अपने एक लेख में वह कई पशु-पक्षियों को मारे जाने का निषेध भी करता है। अर्थशास्त्र में कसाई-घरों तथा माँस बेचने वालों का उल्लेख मिलता है। इसमें भी कई पशुओं और पक्षियों की रक्षा की बात कही है। किन्तु, बौद्ध धर्म और जैन धर्म में प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त के प्रभाव में माँसाहार का प्रचलन धीरे-धीरे कम हो रहा था। लोगों में मदिरापान का भी प्रचलन था। अर्थशास्त्र के अनुसार, मदिरापान के लिए मदिरालयों की व्यवस्था थी। अर्थशास्त्र में विविध प्रकार की सुराओं को बनाने का विधान बताया गया है।

समाज में आमोद-प्रमोद के कई साधनों का अस्तित्व दिखाई पड़ता है। अशोक शासकों की विहार यात्राओं का उल्लेख करता है। समय-समय पर बड़े सामूहिक उत्सवों का आयोजन होता था जिन्हें 'समाज' कहा जाता था। इनमें नृत्य 'संगीत' पशु-वध और माँस भक्षण तथा मदिरापान की प्रधानता होती थी। अशोक ने ऐसे उत्सवों का स्वरूप परिवर्तन करने का प्रयास किया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नट-नर्तकों, रस्सी पर खेल दिखाने वाले मदारियों, तरह-तरह की बोली बोल कर दूसरों का मनोरंजन करने वाले कलाकारों, गायकों-वादकों आदि का उल्लेख मिलता है और राज्य को यह सावधानी बरतने का निर्देश दिया गया है कि वे गाँवों में कृषकों के कार्य में बाधा नहीं डालें।

आर्थिक जीवन

इस समय कृषि पर आधारित आर्थिक-संगठन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। जनसंख्या का सबसे बड़ा भाग कृषि पर निर्भरशील था। मेगस्थनीज द्वारा बताई गई सात जातियों में कृषकों का स्थान दूसरा है। राज्य कृषि कर्म के महत्त्व से परिचित था। मेगस्थनीज के अनुसार, युद्ध के समय में भी सेनाओं के आवागमन से कृषकों के कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती थी और कृषि को कोई हानि नहीं पहुँचायी जाती थी। कृषक गाँवों में रहते थे और प्रत्येक गाँव का एक प्रकार का संगठित तथा पारस्परिक घनिष्ठता से सम्पन्न सामूहिक जीवन होता था। प्रत्येक गाँव एक स्वतन्त्र तथा आत्मनिर्भरशील आर्थिक इकाई बनने का प्रयास करता था। खेती हर बैल से की जाती थी और कृषक साल में दो फसलें काटते थे। मेगस्थनीज का कहना है कि सम्पूर्ण भूमि पर राजा का स्वामित्व था, किन्तु यह एक विवादपूर्ण समस्या है और कई इतिहासकार मेगस्थनीज के इस कथन

को गलत मानते हैं।

राज्य की ओर से कृषकों से उपज का कुछ भाग कर के रूप में लिया जाता था। राज्य की ओर से सिंचाई की भी व्यवस्था की जाती थी। रुद्रदामन् के जूनागढ अभिलेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में सौराष्ट्र में उसके प्रतिनिधि शासक वैश्य पुष्यगुप्त ने सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। अर्थशास्त्र में सिंचाई के अन्य कई साधनों का भी उल्लेख मिलता है। सिंचाई का अलग से कर वसूल किया जाता था।

राजनीतिक स्थायित्व तथा इससे मिलने वाली विविध सुविधाओं से व्यापारिक गतिविधि में पर्याप्त विकास हुआ। इस समय चाँदी और ताम्बे के सिक्कों का व्यापक प्रचलन था। प्राप्त सिक्कों पर कई चिन्ह बने मिलते हैं और इन्हें 'आहत मुद्राओं' (अंग्रेजी 'पंच मार्क्ड क्वायन्स') की संज्ञा दी जाती है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मुद्राओं को सरकारी टकसालों में ढाला जाता था और सिक्कों की ढलाई तथा परिचलन की देखरेख के लिए राज्य की ओर से कई अधिकारी नियुक्त थे। 'कार्षापण' (चाँदी अथवा ताम्बे के), 'काकिनी' (ताम्बे के) तथा 'सुवर्ण' (सोने के) इस समय के कुछ सिक्के थे जो साहित्यिक स्रोतों में उल्लेखित मिलते हैं। व्यापारी दूर-दूर स्थानों से व्यापार करते थे। वे 'श्रेणियों' में संगठित थे। सामान्य रूप से इन श्रेणियों के आन्तरिक जीवन में राज्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता था। कौटिल्य ने इनके अपने नियमों, विधि-विधानों आदि में राज्य को दखल न देने की सलाह दी है। इन श्रेणियों की अपनी सेनाएँ होती थी जिनका उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में किया है। दूर दूर के स्थान सड़कों से जुड़े हुए थे जिन पर अशोक राज्य की ओर से छायादार वृक्ष लगवाये जाने तथा सराय बनाए जाने का उल्लेख करता है। कुछ मार्ग व्यापारिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। मेगस्थनीज एक राजमार्ग का उल्लेख करता है जो पश्चिमोत्तोर सीमा से पाटलिपुत्र तक आता था।

इस समय विविध शिल्प अत्यन्त विकसित अवस्था में थे। विशेष रूप से, वस्त्रनिर्माण कला* धातुनिर्माण कला तथा आभूषण निर्माण कला अत्यन्त विकसित थी। अर्थशास्त्र में कौटिल्य राजकीय कर्मशालाओं का उल्लेख करता है जिनमें शिल्पी विविध वस्तुओं का उत्पादन करते थे और जो पूर्णतया राज्य के निरीक्षण में कार्य करते थे। इनके अतिरिक्त शिल्पी स्वतन्त्र रूप से भी अपनी कर्मशालाओं में वस्तुओं का उत्पादन कर अपनी जीविका कमाते थे। गाँवों में कुम्भकार, बढ़ई तथा लुहार को विशेष महत्त्व प्राप्त होता था। इन शिल्पियों की अपनी 'श्रेणियाँ' होती थी। संगठित रूप में रहते हुए शिल्पी अपने हितों की रक्षा अधिक ठीक प्रकार से कर सकते थे और आर्थिक दृष्टि से भी यह अधिक लाभप्रद था। बौद्ध जातक ग्रन्थों में श्रेणि के नेता के लिये 'जेट्ठक' शब्द का प्रयोग हुआ है। मौर्य काल में श्रेणियों का संगठन पर्याप्त विकसित हो चला था। शिल्पियों की सुरक्षा राज्य का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व माना जाता था। अर्थशास्त्र के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्पी को शारीरिक क्षति पहुँचाता था तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था। शिल्पी का श्रम चुराने वाले को 100 'पणों' का भारी जुर्माना देना पड़ता था। शिल्पियों की

* वाराणसी, उज्जयिनी और मथुरा वस्त्रनिर्माण के अत्यन्त प्रसिद्ध केन्द्र थे। गन्धार ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था—अर्थशास्त्र।

मजदूरी उनके कार्य के गुण और उत्पादन मात्रा के अनुसार निर्धारित होती थी। पूर्व-निर्धारित परिमाण पर निश्चित मजदूरी देने का भी प्रचलन था। अवकाश के दिनों में किए गए काम पर अतिरिक्त मजदूरी दी जाती थी। उत्पादित वस्तु के गुण-दोष का पूरा निरीक्षण किया जाता था और धोखा देने वाले शिल्पी पर जुर्माना किया जाता था। यदि कोई शिल्पी दिए गए काम को पूरा नहीं करता था तो उसे केवल उस काम पर मजदूरी दी जाती थी जो उसने पूरा कर लिया था।

लोग कई धातुओं से परिचित थे और उन्हें खान से निकालने तथा उनसे विविध वस्तुओं को बनाने का विस्तृत विवरण अर्थशास्त्र में मिलता है। कई स्थानों पर हुई पुरातात्विक खुदाइयों में मौर्यकाल के स्तर से धातुनिर्मित कई वस्तुओं की प्राप्ति हुई है।* ऐसा लगता है कि मौर्य काल में लोहे की खपत और माँग बढ़ गई थी।** सोने और चाँदी का भी खूब काम होता था। कौटिल्य ने सुवर्णाध्यक्ष के कार्यों का विस्तार से उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में राजकोष में आने वाले बहुमूल्य रत्नों के निरीक्षण के लिए एक पूरा अध्याय मिलता है। पत्थर की कटाई और प्रस्तर निर्माण कला की उत्कृष्टता अशोक के स्तम्भों तथा उनके शीर्षकों के रूप में बनी पशु-मूर्तियों से भी भली-भाँति प्रमाणित होती हैं।

धार्मिक तथा नैतिक जीवन

इस काल में कई धार्मिक सम्प्रदाय थे। ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्ध, जैन और आजीवक धार्मिक सम्प्रदाय विशेषरूपेण लोकप्रिय थे।

ब्राह्मण धर्म के अन्तर्गत यज्ञों और कई कर्मकाण्डों का प्रचलन था। यज्ञ में पशुबलि दी जाती थी। अशोक की धार्मिक नीति के प्रभाव में हिंसात्मक यज्ञों में कमी आई होगी। तत्कालीन साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इस समय भक्तिभावना प्रधान भागवत धर्म पूरे विकास पर था। कृष्ण बलराम की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं और उनकी पूजा होती थी। अर्थशास्त्र और पतंजलि के महाभाष्य से भी मूर्तियों का निर्माण और उनकी पूजा प्रमाणित होती है। अर्थशास्त्र में कुशल मूर्ति बनाने वालों को 'देवताकार' कहा गया है, और शिव, ब्रह्मा, विष्णु, यम, जयन्त, श्री आदि कई देवी-देवताओं के नाम उल्लिखित मिलते हैं। इस काल में देवताओं के लिए मन्दिर भी बनने लगे थे। नदियों को पवित्र माना जाता था*** और तीर्थयात्रा का भी प्रचलन हो चला था। तीर्थयात्रियों से राज्य द्वारा कर भी वसूल किया जाता था।

सामान्य जन विविध लोक-देवताओं में विश्वास करते थे। बलि, सवर, बैरोचन ऐसे ही लोक-देवता थे। लोकदेवताओं में यक्ष-यक्षिणियों की कई मूर्तियाँ मिली हैं। साँची के स्तूप पर प्राप्त उकेरी चित्रों में भी कई लोकदेवताओं का अंकन प्राप्त होता है।

---

* उदाहरण के लिए, हस्तिनापुर तथा तक्षशिला से। रामपुरवा के अशोकस्तम्भ के शीर्षक पर प्राप्त काबला ('बोल्ट') एक अन्य उदाहरण है।

** द्र. रोमिला थापर, अशोक एण्ड द डिक्लाइन आव द मौर्यन इम्पायर (दिल्ली, 1973), पृ. 75।

*** मेगस्थनीज के अनुसार, भारतीय गंगा को अत्यन्त पवित्र मानते थे।

बौद्ध, जैन और आजीवक श्रमण परम्परा से सम्बद्ध धार्मिक सम्प्रदाय थे। इस समय श्रमणों अथवा सन्यासियों को बड़ा सम्मान प्राप्त था। अपने अभिलेखों में अशोक सदैव ब्राह्मणों और श्रमणों का साथ-साथ और उन्हें बराबरी के स्तर पर रखते हुए उल्लेख करता है। वह इनका आदर करता था। अपनी प्रजा से वह श्रमणों और ब्राह्मणों दोनों के प्रति सम्मान प्रदर्शन तथा उचित व्यवहार की अपेक्षा रखता था। श्रमणों और सन्यासियों का इस समय में बढ़ा हुआ प्रभाव इस तथ्यविशेष से भलीभाँति प्रमाणित होता है कि कौटिल्य, जो ब्राह्मण धर्म और व्यवस्था का प्रतिपोषक था, सन्यास वृत्ति पर नियन्त्रण लगाने की चेष्टा करता है। उसने लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति अपने पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह किए बिना ही सन्यास ग्रहण करता है तो राज्य को उसे दण्डित करना चाहिए।

इस समय जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही काफी उन्नत अवस्था में थे। चन्द्रगुप्त अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जैन धर्म का अनुयायी हो गया था और जैन परम्परा के अनुसार, अशोक का पौत्र सम्प्रति भी जैन मतावलम्बी था। स्वयं अशोक एक उत्साही बौद्ध था। इसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए विविध कार्य किये और बौद्ध संघ की बिगड़ी हुई स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। उसके समय में तीसरी बौद्ध संगीति बुलाई गई थी। इसके समय तक बौद्ध धर्म कई सम्प्रदायों में विभक्त हो चला था।

श्रमण धर्मों में आजीवक धर्म भी काफी महत्त्वपूर्ण था। अशोक ने अपने अभिलेखों में इसका उल्लेख किया है। उसने तथा दशरथ ने आजीवक भिक्षुओं के लिए गुफाएँ बनवा कर दान में दिया था।

सामान्य रूप में लोगों का नैतिक स्तर ऊंचा था। समाज में ब्राह्मणों और श्रमणों को पवित्रता, बौद्धिकता और नैतिकता के प्रतिमान के रूप में लिया जाता था। अशोक का 'धम्म' नैतिकता के विविध पक्षों को उजागर करता है और वह जन-सामान्य से उसके अनुपालन का आग्रह करता है। अशोक ने अपने व्यक्तिगत आचरण द्वारा अपनी प्रजा में नैतिकता की वृद्धि करने की चेष्टा की। अपने सातवें स्तम्भलेख में वह बड़े सन्तोष तथा विश्वास के साथ कहता है—"मैंने जो भी अच्छे कर्म किए हैं, लोगों ने उसका अनुमोदन किया है और उसका पालन किया है। इस प्रकार, माता-पिता के प्रति सम्मान में, वृद्धों के प्रति आदर में, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति तथा दुःखी-दरिद्र जनों, दासों और भृत्यों के प्रति सम्यक् व्यवहार में वृद्धि हुई है और आगे भी वृद्धि होगी।" अपने प्रारम्भिक रूप में बौद्धधर्म शीलपरक धर्म था और जैन धर्म में भी इस पर विशेष बल था।

मौर्य कला

तत्कालीन राजनीतिक स्थायित्व तथा समृद्धि ने कला के विकास में भी पूर्ण योगदान किया और अशोक ने अपने निर्माण कार्यों से इसे शिखरबिन्दु पर प्रतिष्ठित कर दिया। समय की दृष्टि से मौर्य कला पारसीक इतिहास में हखमानी काल की कला के अत्यधिक निकट है। कुछ विद्वानों ने मौर्य कला के विविध पक्षों पर पारसीक

कला का प्रभाव देखा है, किन्तु कई विद्वानों ने बड़े सबल रूप में इस मत का निराकरण किया है और मौर्य कला को पूर्णतया भारतीय कलाकारों की प्रतिभा की देन माना है।*

अशोक के पहले के मौर्य कलावशेष अत्यल्प हैं। किन्तु हम देख चुके हैं कि यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद के वैभव तथा कलात्मकता की बड़े प्रसंशापूर्ण शब्दों में चर्चा की है और सूसा एवं एकवेटना के राजप्रासादों को इसके सामने तुच्छ बताया है। यह राजप्रासाद फाह्यान नामक चीनी यात्री के समय में भी विद्यमान था जिसका उसने अशोक के राजप्रासाद के नाम से उल्लेख किया है। इसके सौन्दर्य तथा वैभव का अनुमान इससे ही लगाया जा सकता है कि उसने कहा है कि यह मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हो सकता और इसे अतिमानवीय शक्तियों ने बनाया है। पटना के पास कुमराहार नामक स्थान से इस राजप्रासाद के अवशेष प्राप्त हुए हैं। मौर्य प्रासाद सुनियोजित नगर-विन्यास का एक अंग था। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगरविन्यास का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इस नगर के परकोटे का घेरा 9 मील लम्बा था और इसके परकोटे में 63 द्वार तथा 570 बुर्ज थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तत्कालीन नगरविन्यास तथा दुर्गनिर्माण कला के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है।

अशोक कालीन मौर्य कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण उसके स्तम्भ हैं। ये कई स्थानों से मिले हैं जिनमें प्रमुख हैं : सारनाथ स्तम्भ; जिस पर चार सिंहों का शीर्षक है, रामपुरवा स्तम्भ; जिस पर बैल का शीर्षक है, लौरिया नन्दनगढ़ जिस पर सिंह शीर्षक है, संकिसा का स्तम्भ; जिस पर हाथी का शीर्षक है। इनमें सारनाथ का सिंह शीर्षक मौर्यकला का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। इसके विषय में मार्शल का अभिमत उद्धरणीय है : "यद्यपि सारनाथ का सिंहस्तम्भ श्रेष्ठ कला का अविकल उदाहरण नहीं है किन्तु ईसवीं शती पूर्व के संसार में इसके जैसी श्रेष्ठ कलाकृति कहीं नहीं मिलती। यह उस शिल्पी का बनाया हुआ है जिसके पूर्वजों ने सैकड़ों वर्षों तक कलात्मक लक्षण का पुष्कल अभ्यास किया था। ऊपरी सिंहों में जैसी शक्ति का प्रदर्शन है, उसकी फूली नसों में जैसी प्राकृतिकता है और उनकी माँसपेशियों में जो तनाव है और उनके नीचे उकेरी आकृतियों में जो प्राणवन्त वास्तविकता है उनमें कहीं भी आरम्भकालीन कला की छाया नहीं है। . . ."**

अशोक के स्तम्भों में अभूतपूर्व शिल्पकौशल और मौलिकता दिखाई पड़ती है। एकाश्मक (एक ही प्रस्तर खण्ड) इन स्तम्भों की ऊंचाई 40 फीट एवं 50 फीट तक हैं और उन पर सुन्दर ओप (पालिश) मिलती है जो अब भी चमकती है। यह अब तक रहस्य का विषय है कि इस चमक को लाने के लिए किन मसालों का प्रयोग किया जाता था। बलुहे पत्थर के बने इन स्तम्भों पर कुछ में ऊपर विविध

* मौर्य कला के उद्गम पर विस्तारपूर्ण चर्चा के लिए द्र. वासुदेव शरण अग्रवाल की भारतीय कला (वाराणसी, 1966), पृ. 140-146.

** वासुदेव अग्रवाल की भारतीय कला, पृ. 138 पर उद्धृत।

पशुओं के शीर्षक बने मिलते हैं जिनकी कलात्मक सुन्दरता कलाकारों का दीर्घकालीन अभ्यास तथा तक्षण कला में उनकी पटुता प्रमाणित करती है। इन स्तम्भों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है : 1. नीचे का बुनियादी पत्थर, 2. स्तम्भ की बीच की डंडी, 3. पूर्णघट से लहराती हुई नीचे की ओर लटकती हुई पंखुड़ियाँ, 4. गोल अण्ड (सारनाथ के स्तम्भ पर इस भाग में चार पशु-गज, अश्व, सिंह तथा वृषभ एवं चार चक्र बने है), तथा 5. पशु आकृति। रामपुरवा स्तम्भ को सिंहशीर्षक तक्षण कला का एक अनुपम उदाहरण है। इसी प्रकार सारनाथ स्तम्भ के सिंह—संघात (चार सिंह जो पीठ सटाए उकडू बैठे हुए हैं) में भी बड़ी कलात्मक निपुणता का दर्शन होता है।

अशोक को कई स्तूपों का निर्माता बताया गया है। चीनी यात्री युवान च्वांग ने अफगानिस्तान प्रदेश में तथा भारत के कई अन्य भागों में अशोक निर्मित कई स्तूपों को खड़ा देखा था। ये स्तूप अब नहीं मिलते। किन्तु, यह माना जाता है कि शुंगकालीन सांची और भरहुत के स्तूप मूलतः अशोक द्वारा बनवाए गए थे और बाद में इनका विस्तार किया गया था। स्तूप ईट अथवा पत्थर के ऊंचे टीले की तरह बने हुए बन्द स्मारक भवन हैं। इन्हें बुद्ध अथवा परमज्ञान प्राप्त किसी अन्य धार्मिक व्यक्ति का अवशेष सुरक्षित रखने के लिए बनाया जाता है। प्राप्त स्तूपों में सांची का महान् स्तूप सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

मौर्य काल में गुहानिर्माण कला का प्रारम्भ हुआ। अशोक और दशरथ ने आजीवक भिक्षुओं के लिए कुछ गुफाएँ बनवायीं। कुछ गुफाएँ गया से 16 मील उत्तर में बराबर की पहाड़ी में तथा कुछ नागार्जुनी पहाड़ी में बनी मिलती हैं और अथक परिश्रम तथा धैर्य की प्रतीक हैं। बराबर पहाड़ी की सुदामा गुफा अशोक के शासन काल के 12 वें वर्ष में बनवाई गई थी। इन गुफाओं की दीवारें सीसे की तरह चमकती हैं।

मौर्यकालीन मूर्तिकला की उत्कृष्टता अशोक के स्तम्भों के पशुशीर्षकों में तो मिलती ही हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन लोकधर्म से सम्बन्धित यक्षों और यक्षिणियों की स्वतन्त्र रूप में प्राप्त मूर्तियाँ भी मौर्य मूर्तिकला की अनुपम थाती हैं। ये मूर्तियाँ मथुरा, पटना, विदिशा, वाराणसी, आदि कई स्थानों से प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ अपनी मौर्य चमक के कारण इस काल से सम्बन्धित की जाती हैं। शैली की दृष्टि से डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने इनके निम्नलिखित लक्षण बताएँ हैं :*

1. ये विशालकाय हैं और इनमें माँसपेशियों की बलिष्ठता और दृढ़ता प्रत्यक्ष है।
2. ये पृथक् रूप में खड़ी हैं और उनके दर्शन का अभाव संमुखीन है।
3. इनके सिर पर पगड़ी, कंधों और भुजाओं पर उत्तरीय और नीचे धोती है जो कटि प्रदेश में मेखला से बंधी है।

---

* भारतीय कला, पृ. 149।

4. इनके कानों में भारी कुण्डल, गले में भारी कण्ठा, छाती पर चपटा तिकोना हार तथा वाहुओं पर भुजवन्द हैं।
5. मूर्तियाँ थोड़ी स्थूल या घटोदर हैं।

मथुरा जिले में परखम से मिली एक यक्ष मूर्ति पर लेख मिलता है जिसमें यक्ष का मणिभद्र नाम खुदा मिलता है। यह माना जाता है कि उत्तरकालीन बोधिसत्व, तीर्थंकर और विष्णु की मूर्तियाँ इन यक्ष मूर्तियों से प्रभावित हैं।

12

शुंग-सातवाहन काल

पुराणों में कहा गया है कि सेनानी पुष्यमित्र ने मौर्य शासक वृहद्रथ की हत्या की और स्वयं शासक बना। बाण रचित हर्ष चरित से इस सूचना की पुष्टि होती है। इसमें कहा गया है कि जिस समय प्रज्ञादुर्बल (=मन्द बुद्धि) मौर्य शासक वृहद्रथ अपनी सेना का निरीक्षण कर रहा था उस समय सेनानी (=सेनापति) ने उसका वध कर डाला। यह घटना 184 ई. पू. में घटी। हर्षचरित के वर्णनानुसार पुष्यमित्र ने वृहद्रथ की हत्या देश को यूनानियों के आधिपत्य में जाने से बचाने के उद्देश्य से की थी क्योंकि वृहद्रथ अत्यन्त दुर्बल शासक था तथा जनहित की रक्षा करने में असमर्थ था। यही कारण है कि यद्यपि पुष्यमित्र राजद्रोही व राजा की हत्या के लिए उत्तरदायी था तथापि, आधुनिक इतिहासकार उसे दोषी नहीं मानते, क्योंकि उनका विचार है कि देश की सुरक्षा के लिए राजा की हत्या करना पुष्यमित्र के लिए आवश्यक था।* हर्षचरित के विवरण से यह स्पष्ट है कि मौर्य शासक वृहद्रथ की सेना पूर्णतया सेनापति के प्रभाव में थी। अन्यथा सेना के सामने ही उसकी हत्या करने का साहस किसी में नहीं हो सकता था।

शुंगों का वंश-परिचय

शुंग नाम पर्याप्त प्राचीन है। यह वंश ब्राह्मण, आश्वलायन श्रौतसुत्र तथा पाणिनी की अष्टाध्यायी में उल्लिखित मिलता है। उपलब्ध साक्ष्यों से शुंग ब्राह्मण प्रतीत होते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में उन्हें आचार्य (शिक्षक) बताया गया है पाणिनी ने उन्हें भारद्वाज गौत्र का कहा है। तारानाथ भी पुष्यमित्र को ब्राह्मण तथा किसी राजा का पुरोहित बताता हैं; एक स्थान पर तो उसने स्पष्ट रूप से उसे 'ब्राह्मण राजा' कहा है।

इससे स्पष्ट है कि शुंग ब्राह्मण थे किन्तु इस समय वे शस्त्रविद्या द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। जैसाकि डा. आर. एस. त्रिपाठी ने कहा है,** ब्राह्मण शुंगों द्वारा शस्त्र ग्रहण करने में कोई विसंगत अथवा नवीन बात नहीं थी। इसके पहले भी परशुराम, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि के उदाहरण मिलते हैं जो ब्राह्मण होते हुए भी शस्त्र धारण एवं क्षत्रिय कर्म करते थे।*** यूनानी लेखकों के वृतान्तों से ज्ञात होता हैं कि सिन्धु

---

* "Pusyamitra was a traitoi and regicide, but some modern histonans have condoned his crime by holding it up as a neccosity for saving the country."– Majumdar R. C., Ancient India P. 116

** रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास (संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, दिल्ली, 1971) पृ 133-134 ।

*** सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ मनुस्मृतिः 12-100

की निचली घाटी में ब्राह्मणों ने सिकन्दर का सशस्त्र प्रतिरोध किया था। मनु के विधान में भी आवश्यकता होने पर ब्राह्मणों को शस्त्र धारण करने की अनुज्ञा दी गई है। इस मत के प्रतिपादकों के अतिरिक्त कुछ इतिहासकारों ने शुंगों को पारसीक अथा मौर्य भी माना है। इस मत के प्रतिपादक श्री हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार शुंग राजा अपने नाम के साथ "मित्र"शब्द (पुष्यमित्र, अग्निमित्र आदि) लगाते थे तथा मित्र (सूर्य की उपासना) चूंकि पारसीक राजा करते थे अतः शुंग शासक भी पारसीक रहे होगें। विद्वानों का इस तर्क पर एकमत नहीं था तथा कालान्तर में स्वयं हरप्रसाद शास्त्री ने भी श्रुंगों को ब्राह्मण ही माना है।

कुछ इतिहासकारों ने 'दिव्यावदान' ग्रन्थ के आधार पर शुंगों को मौर्य ही माना है क्योंकि दिव्यावदान में पुष्यमित्र को मौर्य कहा गया है किन्तु इस मत को भी स्वीकारा नहीं जाता हैं क्योंकि इस तथ्य के अनेक प्रमाण हैं कि वृहद्रथ ही अन्तिम मौर्य शासक था। सम्भवतः यह दिव्यवदान में भूल से अंकित कर दिया गया है।

पुष्यमित्र

इसे सभी साक्ष्यों में 'सेनानी' अथवा सेनापति की उपाधि दी गई है। यह अन्तिम मौर्य शासक वृहद्रथ का सेनापति था। हर्षचरित के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि उसे सेना का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। इसी कारण सेना के सामने ही उसने मौर्य शासक की हत्या कर दी और सेना द्वारा इसका कोई प्रतिरोध नहीं हुआ। पतञ्जलि के महाभाष्य में 'पुष्यमाणवों' का उल्लेख हुआ हैं।* डा. वासुदेव शरण अग्रवाल का विचार है कि'पुष्यमाणव' शब्द का प्रयोग उन सैनिकों के लिए हुआ है जो पुष्यमित्र के समर्थक थे।**

पुष्यमित्र का कार्यकाल 185-184 से लेकर 148 ई. पू. माना जाता है क्योंकि अन्तिम मौर्य शासक का वध करके वह 184 ई. पू. में शासक बना तथा पुराणों के अनुसार उसने 36 वर्ष तक शासन किया था।

भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है: "ब्राह्मण (पुष्यमित्र) का इतिहास रक्तरंजित है" पुष्यमित्र का सेना से प्रारम्भ से अन्त तक सम्बन्ध रहा। सेना से निरन्तर निकट सम्बन्ध होने के कारण ही पुष्यमित्र ने स्वयं को एक समृद्ध एवं विस्तृत साम्राज्य का शासक बनने के पश्चात् भी सेनापति ही कहा। उसके अपने अभिलेखों व साहित्य में उसके लिए सेनापति विरुद ही मिलता है।

(क) विदर्भ से युद्ध

पहले विदर्भ मगध राज्य का एक भाग था, किन्तु साम्राज्य के दुर्बल होने पर यह स्वतन्त्र हो गया था। कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् नाटक से पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र एवं विदर्भ (बरार प्रदेश) के बीच हुए युद्ध का विवरण मिलता है। पुष्यमित्र ने अपने साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से अवन्ति प्रान्त में अपने पुत्र अग्निमित्र को नियुक्त किया था, जो विदिशा को राजधानी बनाकर शासन करता था। इस समय विदर्भ राज्य की गद्दी के दो दावेदार थे– माधवसेन और यज्ञसेन। माधवसेन सिंहासन का वास्तविक दावेदार था किन्तु यज्ञसेन ने उससे राज्य छीन लिया था। यज्ञसेन का एक सम्बन्धी मौर्य दरबार में मन्त्री था। इसे शासक बनते ही पुष्यमित्र ने बन्दी बना लिया

---

* महाभाष्य, VII 223

** वी. एस. अग्रवाल,'ए नोट आन पुष्यमाणव',जर्नल आव दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, जिल्द VI, दिसम्बर-मार्च 1956-57।

था। जिस समय माधवसेन भाग कर अपनी बहन के साथ वर्धा नदी पार कर रहा था उसे यज्ञसेन ने बन्दी बना लिया। जब अग्निमित्र ने यज्ञसेन से माधवसेन को छोड़ने को कहा तो उसने मना कर दिया और बाद में यह शर्त रखी कि यदि उसका सम्बन्धी मन्त्री मुक्त कर दिया जावे तो वह माधवसेन को छोड़ देगा। इस पर क्रुद्ध होकर अग्निमित्र ने अपने सेनापति वीरसेन को यज्ञसेन के विरुद्ध प्रयाण करने का आदेश दिया। यज्ञसेन पराजित हुआ। बाद में समझौता हो गया, जिसके अनुसार विदर्भ राज्य का दो भागों में बंटवारा हो गया– एक भाग यज्ञसेन को और दूसरा माधवसेन को मिला। संभवतः दोनों ही शुंग साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करते थे। इस युद्ध से शुंगों का प्रभाव नर्मदा नदी के दक्षिण तक विस्तृत हो गया।

(ख) यवन आक्रमण

मौर्य साम्राज्य के दुर्बल होने से पश्चिमोत्तर में बैक्ट्रिया के यूनानियों द्वारा आक्रमण का खतरा बढ़ गया था। इस समय के साक्ष्यों से यूनानियों द्वारा भारत पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है। महाभाष्य में पतञ्जलि में अनद्यतन भूत क्रिया (अर्थात् भूतकाल की वह घटना जो लेखक के काल से पहले की हो किन्तु उसकी स्मृति में सुरक्षित हो) का उदाहरण देते हुए यवनों द्वारा मध्यमिका (चित्तौड़ के पास नगरी) तथा साकेत के घेरे जाने का उल्लेख किया है।* गार्गी संहिता में भी कहा गया है कि दुष्ट विक्रान्त यवन मथुरा, पंचाल तथा साकेत को जीत कर कुसुमध्वज या पाटलिपुत्र तक पहुँच जाएँगे। मालविकाग्निमित्रम् में भी यवन आक्रमण की घटना संकेतित है। इसके अनुसार, पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा करने वाली सेना का नेतृत्व उसका पौत्र वसुमित्र कर रहा था। सिन्धु नदी के तट पर उसका यवन सेना के साथ मुकाबला हुआ, जिसमें संभवतः यवन पराजित हुए (मालविकाग्निमित्रम् में वास्तविक युद्ध का कोई उल्लेख नहीं है)।

विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है कि इस यवन आक्रमण का नेता कौन था – डेमेट्रियस अथवा मिनैन्डर। इस पर विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी। मालविकाग्निमित्रम् से यह अवश्य ध्वनित होता है कि पुष्यमित्र की सेना ने यवनों को पराजित किया।

(ग) अश्वमेध यज्ञ

सार्वभौम प्रतापी सम्राटों द्वारा अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन वैदिक काल से चला आ रहा था। अश्वमेध सम्राट के यश और शक्ति का प्रतीक माना जाता था। पतञ्जलि के महाभाष्य से पता चलता है कि पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में स्वयं पतञ्जलि ने ऋत्विज का कार्य किया था। महाभाष्य में उनका वक्तव्य है- "यहाँ हम पुष्यमित्र का यज्ञ कराते हैं।" (इह पुष्यमित्रम् याजयामः)। धनदेव** के अयोध्या लेख में पुष्यमित्र को 'दो अश्वमेध यज्ञों का करने वाला' कहा गया है। कालिदास रचित मालविकाग्निमित्रम् में भी अश्वमेध का घोड़ा छोड़ने का उल्लेख है जिसकी रक्षा का भार उसके पौत्र वसुमित्र पर था। इस प्रसंग में शुंग सेना का सिन्धु नदी*** के 'दक्षिण' तट पर यवन सेना से मुठभेड़ हुई।

* अरुणद् यवनः साकेतम् अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।

** इसके सिक्के भी मिले हैं। यह कोशल का शासक था और इसे 'पुष्यमित्र का छठां_' (पुष्यमित्रस्य षष्ठेन) कहा गया है। यह पुष्यमित्र का छठा पुत्र हो सकता है।

*** रैप्सन ने इसका समीकरण कालीसिन्धु से किया जो चर्मणवती (चम्बल) की एक सहायक नदी है। डा. रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस समीकरण का खण्डन किया है। उनके अनुसार यह प्रसिद्ध सिन्धु नदी है। प्रायः सभी विद्वान् इसी समीकरण को स्वीकार करते हैं।

ऐसा लगता है कि पुष्यमित्र ने पहला अश्वमेध यज्ञ शासक होने के तुरन्त बाद और दूसरा यवनों को पराजित करने के बाद किया।

(घ) राज्य-विस्तार

पुष्यमित्र के शासक बनने के पहले ही मौर्य साम्राज्य विघटित हो गया था और उसके कई प्रदेश इसमें से निकल गए थे। पुष्यमित्र फिर मगध को पुराना रूप नहीं दे सका, पर साम्राज्य के एक बड़े भाग को उसने पुनः एकता के सूत्र में बांधा। इसके समय में भी पाटलिपुत्र मगध की राजधानी बनी रही, जहाँ वह स्वयं रहता था। विदिशा एक प्रान्तीय राजधानी थी जहाँ से उसका पुत्र अग्निमित्र शासन करता था। अयोध्या से मिले एक लेख से ज्ञात होता है कि इस पर उसका अधिकार था। दिव्यावदान तथा तारानाथ के विवरण से जलधर तथा सियालकोट पर उसका अधिकार सिद्ध होता है। दक्षिण में विदर्भ उसकी आधीनता स्वीकार करता था। इस प्रकार, पूर्व में मगध से लेकर पश्चिम में सियालकोट तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विदर्भ तक का प्रदेश उसके अधिकार में था।

(ङ) पुष्यमित्र और बौद्ध धर्म

बौद्ध साहित्य में पुष्यमित्र को बौद्ध धर्म का विरोधी और बौद्ध धर्म के अनुयायियों का उत्पीड़न करने वाला बताया गया है। दिव्यावदान के अनुसार, उसने शाकल (सियालकोट) में यहाँ तक घोषणा की कि जो उसे श्रमण (बौद्ध भिक्षु) का एक सिर देगा वह उसे एक सौ दीनार (सोने का सिक्का) देगा। तारानाथ ने भी कहा है कि पुष्यमित्र बौद्ध विरोधी था और उसने बौद्ध विहार जलवा दिए तथा बौद्ध भिक्षुओं का वध किया। इस आधार पर, कुछ विद्वान्* पुष्यमित्र को बौद्ध धर्म का उत्पीड़क मानते हैं। पर पुरातात्विक साक्ष्य से उल्टी बात सिद्ध होती है। विदिशा के पास भरहुत तथा सांची के स्तूप और वेदिकाओं के रूप में प्राप्त बौद्ध स्मारक शुंग काल के हैं। ऐसा जान पड़ता है कि बौद्धों के प्रति उसके विरोध का कारण राजनीतिक था। वह स्वंय ब्राह्मण था जबकि मौर्य शासकों का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर था। उसके शासक बनने पर पश्चिमोत्तर के बौद्धों ने संभवतः चिढ़कर यूनानियों को सहयोग दिया। इसी कारण उनको दण्डित करने के लिए उसने वहाँ उनका दमन किया। यदि इस विरोध का कारण धार्मिक होता तो वह अपने गृहराज्य के पास के बौद्ध केन्द्रों को पहले नष्ट करता, जो उसने नहीं किया।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

पुराणों के अनुसार, पुष्यमित्र ने 36 वर्षों तक राज्य किया और इस प्रकार वह लगभग 148 ई. पू. में मरा। उसके बाद उसका पुत्र अग्निमित्र शासक बना। पुष्यमित्र के समय वह विदिशा का प्रान्तीय शासक था। उसका शासन केवल आठ वर्षों तक रहा। उसके बाद सुज्येष्ठ शासक हुआ, जिसने सात वर्षों तक शासन किया। यह संभवतः अग्निमित्र का ज्येष्ठ पुत्र था। इसके बाद वसुमित्र शासक बना। यह अग्निमित्र का पुत्र था जिसने पुष्यमित्र के अश्वमेध के समय अश्वमेध के घोड़े की रक्षा का भार संभाला था और इस प्रसंग में यवनों को पराजित किया था। भागवत इस वंश का नवां शासक था। वेसनगर स्तम्भ लेख में काशीपुत्र भागभद्र नामक शासक का उल्लेख मिलता है जो

---

* उदाहरण के लिए, रैप्सन, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया; एन. एन. घोष, प्रोसीडिंग्स आव दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1943

संभवतः भागवत ही था। इसके दरवार में तक्षशिला के यवन राजा ऐन्टियालकिडास का राजदूत हेलियोडोर आया था। इसने भागवत धर्म (वैष्णव धर्म का एक प्रकार विशेष) स्वीकार किया और उक गरुड़-स्तम्भ स्थापित किया। इस वंश का अन्तिम शासक देवभूति था, जिसका उसके मन्त्री वासुदेव कण्व ने वध करवा दिया।

शुंगकालीन धर्म, कला और साहित्य

प्राचीन वैदिक धर्म नन्दों और मौर्यों के आने के बाद राजकीय संरक्षण से सर्वथा वंचित हो गया था। पुष्यमित्र द्वारा ब्राह्मण राजवंश स्थापित होने पर वैदिक धर्म को पुनः प्रोत्साहन मिला और वैदिक यज्ञ, हवन आदि शुरू हुए। स्वयं पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किए, जिसका उल्लेख पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में भी किया हैं। इस समय भागवत धर्म का विशेष प्रचार था जिसे, जैसा कि हेलियोडोर के बेसनगर स्तम्भ लेख से ज्ञात होता हैं, विदेशी भी अपना सकते थे। उसने ब्राह्मण समाज संगठित किया तथा ब्राह्मणों को उच्च पदों पर आसीन किया। ब्यूलर के अनुसार मनु भी इसी काल में उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने कि मनुस्मृति की रचना कर ब्राह्मण-धर्म को सुव्यवस्थित रूप में जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया।

जैन एवं बौद्ध धर्मों के व्यापक प्रचार से वर्णाश्रम व्यवस्था में काफी शिथिलता आ गई थी। श्रमण प्रवृत्ति के कारण सामाजिक कर्त्तव्यों तथा साधारण कार्यों में दुरव्यवस्था उत्पन्न हो रही थी। इसको तत्कालीन प्रभाव से रोकने के लिए आश्रम व्यवस्था पर पुनः जोर दिया गया, प्रतिलोम विवाह पर प्रतिवन्ध लगाए गए एवं वैवाहिक नियम और कठोर किये गये। मनु के अनुसार, "विवाह आजीवन मरणोपरान्त तक चलने वाली संस्था है। पति-पत्नी का परस्पर त्याग नही हो सकता।"मनु की दृष्टि में विधवा विवाह उचित न था, परन्तु फिर भी वे स्त्री का आदर करते थे तथा परिवार में उसे उचित सम्मान प्राप्त था मनु के कथनानुसार जिस घर में नारी की पूजा होती है, वहीं देवता निवास करते हैं।

कला के क्षेत्र में भरहुत और साँची के स्तूप इस काल की कला के सुन्दर उदाहरण हैं। भरहुत स्तूप की एक वेदिका पर 'सुगनं रजे' (=शुगों के राज्य में) लिखा मिलता हैं। इसी प्रकार फूशे नामक विद्वान् का मत है कि साँची के तोरण द्वार– जिन पर बड़ी सुन्दर उकेरी कला मिलती है– इस समय में वने थे। इन तोरण द्वारों व स्तम्भों और वेदिकाओं की सूचियों में अंकित प्रस्तर मूर्तिकला के कुछ सुन्दर प्राकृतिक व जातक कथाओं के दृश्य देखे जा सकते हैं। जनजीवन के चित्रों का यथार्थ प्रस्तुतिकरण, सशक्त विश्वास के साथ पाषाणों द्वारा एक मधुर स्वर में बोलता हुआ प्रतीत होता है। शुंगवंशीय शासक कला के पारखी एवं उसके आश्रयदाता थे। बेसनगर का गरुड़-ध्वज भी उस काल की कला का सुन्दर नमूना है।

प्रसिद्ध वैयाकरण पतञ्जलि पुष्यमित्र का समकालीन था और उसके एक अश्वमेध यज्ञ में उसने ऋत्विज का कार्य किया था। उसने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर एक भाष्य लिखा जो 'महाभाष्य' नाम से जाना जाता है। यह व्याकरण का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

कण्व वंश

शुंगों ने कुल मिलाकर 112 वर्ष तक शासन किया था। वाण के हर्षचरित से पता चलता है कि इस वंश के व्यसनी शासक देवभूति की उसके अमात्य वासुदेव ने हत्या करवा दी, जिनके बाद कण्व वंश प्रारम्भ हुआ। शुंगों के समान कण्व भी ब्राह्मण थे। इस वंश में केवल चार शासक हुए– वासुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मन्। कण्वों ने 72 ई. पू. से 27 ई. पू. तक अर्थात् कुल मिलाकर 45 वर्षों तक राज्य किया। कण्वों

के समय में मगध राज्य काफी सिकुड़ गया था और इनके अधिकार में मगध और पड़ोस के कुछ प्रदेश रह गये थे।

आन्ध्र-सातवाहन वंश

पुराण साहित्य में कण्व शासन-वंश को समाप्त करने का श्रेय आन्ध्रजातीय सिन्धुक अथवा सिमुक को दिया गया है। आन्ध्र एक प्राचीन जाति के लोग थे जिनका वासस्थान कृष्णा तथा गोदावरी नदियों के बीच में था। आन्ध्र जाति के लोगों की गणना अशोक ने अपने राजनीतिक प्रभाव में स्थित जातियों के अन्तर्गत किया है। यह अनुमान युक्तियुक्त जान पड़ता है कि मौर्य साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ होने पर ये लोग स्वतन्त्र हो गये। इस प्रकार, जिस समय मगध में शुंग और कण्व राजवंशों का और फिर पश्चिमोत्तर, उत्तरी और पश्चिमी भारत में शक, पह्लव और कुषाण जातियों का आवागमन और शासन चल रहा था (इस विषय में हम विस्तार से अगले अध्याय में चर्चा करेंगें), उसी समय दक्षिणी भारत में आन्ध्र-सातवाहन वंश राज्य कर रहा था।

वंश परिचय

पुराणों में इन्हें 'आन्ध्रजातीय' तथा 'आन्ध्र-भृत्य' (भृत्य=सेवक) कहा गया है। सम्भवतः वे आन्ध्र जाति के थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये मूलतः आन्ध्र देश के नहीं थे, पर जिस समय पुराण लिखे जा रहे थे उस समय ये इस प्रदेश पर राज्य कर रहे थे, और इसी कारण गलती से पुराणकारों ने इन्हें आन्ध्र जाति का मान लिया। इनके पूर्वज मगध साम्राज्य में नौकरी करते रहे होंगे, जिसके कारण उन्हें भृत्य (=सेवक) कहा गया हैं। स्वयं इस वंश के राजा अपने को 'सातवाहन' अथवा 'शातकर्णि' कहते थे। यह शब्द सम्भवतः संस्कृत 'सप्तवाहन' (=सूर्य) का विगड़ा हुआ (प्राकृत भाषा का) रूप हैं। शायद ये राजा अपने को सूर्यवंशी मानते थे।* 'शातकर्णि' उनका नामान्त जान पड़ता है। शुंगों और कण्वों की तरह यह राजवंश भी ब्राह्मण राजवंश था। नासिक के अभिलेख में इस वंश के शासक गौतमीपुत्री को 'एक ब्राह्मण' (अर्थात् विशिष्ट ब्राह्मण) तथा 'क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करने वाला' कहा गया है। इसके नामों के पूर्व 'गौतमीपुत्र', 'वासिष्ठीपुत्र' आदि शब्द ब्राह्मणों के गोत्र-नाम हैं। इनसे उनका ब्राह्मणवंशी होना प्रमाणित होता है।

मूल निवास स्थान और तिथि

आन्ध्र-सातवाहनों के मूल स्थान के वारे में विद्वानों में वड़ा मतभेद है। डा. सुक्थंकर के अनुसार, वे मूलतः बेलारी जिला के रहने वाले थे। डा. राय चौधरी उन्हें मध्य देश के ठीक दक्षिण की भूमि का रहने वाला बताते हैं। वी. वी. मीराशी के अनुसार उनका मूल स्थान बरावर प्रदेश था। अधिकतर विद्वान् उनका मूल स्थान महाराष्ट्र में मानतें है क्योंकि इसी प्रदेश से सातवाहनों के सबसे अधिक लेख मिले हैं। यदि यह विचार ठीक है तो यह मानना होगा कि जब शकों ने इन्हें महाराष्ट्र से खदेड़ दिया तब वे आन्ध्र प्रदेश में जाकर बस गए और तभी से इन्हें आन्ध्र कहा जाने लगा।

इनके उदय की तिथि के वारे में भी विद्वानों में एकमत नहीं है। स्मिथ और रैप्सन ने मत्स्य पुराण में इस कथन के आधार पर–कि आन्ध्रों ने साढ़े चार सौ वर्ष राज्य किया सातवाहन वंश के प्रारम्भ को तृतीय शताब्दी ई. पू. के अन्तिम चरण में रखा है। किन्तु अधिकांश विद्वान् इस वंश का उदय प्रथम शताब्दी ई. पू. में मानते हैं। पुराणों में अन्तिम

---

* के. गोपालाचारी द्वारा सातवाहनों पर लिखा गया अध्याय, कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द 2, पृ. 299।

शासक सुशर्मन् को उखाड़ फेंकने का श्रेय सातवाहन कुल के प्रथम शासक सिमुक को दिया गया है। कण्वों ने 72 ई. पू. में शासन प्रारम्भ किया और 45 वर्षों तक शासन किया। इस प्रकार कण्व वंश की अन्तिम तिथि 27 ई. पू. ठहरती है। इसी समय से अथवा इसके कुछ पहले से सातवाहन वंश का प्रारम्भ माना जा सकता है।

हाथीगुम्फा अभिलेख में (नीचे खारवेल के सन्दर्भ में हम इस पर विचार करेंगे) एक शातकर्णि का उल्लेख है जो कलिंग राजा खावेल द्वारा पराजित हुआ था। इस अभिलेख को सामान्यतया प्रथम शताब्दी ई. पू. के अन्तिम चरण में रखा जाता है और इसमें उल्लिखित शातकर्णि का समीकरण सातवाहन कुल के तृतीय शासक शातकर्णि प्रथम से किया जाता है। शातकर्णि और सिमुक के बीच अधिक अन्तर नहीं है और इस आधार पर भी इस कुल का प्रारम्भ प्रथम शताब्दी ई. पू. में ही रखा जा सकता है।

प्रारम्भिक शासक

पुराणों के अनुसार इस राजवंश का संस्थापक सिन्धुक था। कुछ पुराणों में इसका नाम सिमुक तथा शिप्रक भी मिलता है। इसके नाम के साथ भृत्य (=सेवक) शब्द के प्रयोग के कारण यह अनुमान किया जाता है कि स्वतन्त्र होने के पहले वह कोई सामन्त (अधीन शासक) रहा होगा। उसने कण्व वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा को मार कर मगध में कण्व शक्ति को उन्मूलित किया। मध्य भारत तथा दक्षिण बिहार में शुंगों के कुछ वंशज छोटे-छोटे राजाओं के रूप में राज्य कर रहे थे; उनका भी उसने अन्त किया। गोदावरी नदी के तट पर प्रतिष्ठान अथवा पैठन उसकी राजधानी थी। पुराणों के अनुसार, उसने 23 वर्ष तक शासन किया। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार उसने जैन तथा बौद्ध मन्दिर बनवाये किन्तु बाद में वह दुष्ट हो गया। सम्भवतः अपने शासनकाल के प्रारम्भ में उसने इनको बढ़ावा दिया था, और बाद में उसका झुकाव ब्राह्मण धर्म की ओर हो गया।

सिमुक के बाद उसका भाई कन्ह या कृष्ण राजा बना। कुछ लोग उसे सिमुक का पुत्र मानते हैं, पर यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। नासिक के एक लेख में ज्ञात होता है कि उसके शासन काल में किसी व्यक्ति ने वहाँ एक गुफा का निर्माण करवाया। इससे सिद्ध होता है कि उसके समय में सातवाहन प्रभुता इस प्रदेश पर स्थापित हो चुकी थी। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि कृष्ण ने दक्षिण में विशाल साम्राज्य की स्थापना करके अपने आपको 'दक्षिणापति' की उपाधि से अलंकृत किया था एवं पुष्यमित्र की भाँति इसने भी एक अश्वमेध यज्ञ किया था।

कृष्ण के बाद सातवाहन वंश का प्रथम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति शातकर्णि प्रथम शासक बना। नानाघाट अभिलेख में उसे 'सिमुक सातवाहन के वंश को बढ़ाने वाला' कहा गया है। उसने महाराष्ट्र के 'महारथी' त्रणकयिरो की कन्या नागनिका से विवाह कर अपनी शक्ति बढ़ाई। नागनिका द्वारा लिखाए गये नानाघाट लेख में उसे 'शूर', 'वीर' और 'दक्षिणपथपति' कहा गया है जिससे लगता है कि उसने कुछ और विजयें कर अपने राज्य का विस्तार किया था। उसके राज्य में मालवा, नर्मदा नदी के दक्षिण का प्रदेश, विदर्भ, मध्य भारत, उत्तरी कोंकण, काठियावाड़ और उत्तरी दक्कन का प्रदेश सम्मिलित थे। अपनी विजयों के उपलक्ष्य में उसने दो अश्वमेध तथा एक राजसूय यज्ञ किया। उसे कई अन्य यज्ञों को करने का श्रेय भी दिया गया है जिनमें उसने दक्षिणा के रूप में प्रभूत धन दान में दिया।

शातकर्णि के समय कलिंग (उड़ीसा) में खारवेल नाम का एक शक्तिशाली राजा राज्य कर रहा था (इसके विषय में हम इसी अध्याय में आगे विस्तार से चर्चा करेंगे)।

खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में शातकर्णि का उल्लेख है जिसे विद्वान् सातवाहन वंश का तीसरा राजा शातकर्णि प्रथम मानते हैं। यह माना जाता है कि शातकर्णि खारवेल से पराजित हुआ था। पर सातवाहनों पर इस आक्रमण का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा।

शातकर्णि की मृत्यु के समय उसके दो राजकुमार वेदश्री और शक्तिश्री छोटी उम्र के थे, अतः राजमाता नागनिका ने उनकी संरक्षिका के रूप में राज्य किया।

सातवाहन वंश का अन्धकार युग

शातकर्णि प्रथम के वाद काफी समय तक सातवाहन शासकों का इतिहास अधिक ज्ञात नहीं है। पुराणों में इसके पश्चात् सत्रह राजाओं के नाम प्राप्त होते हैं किन्तु किसी शासक के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। इसी कारण इस काल को सातवाहन वंश का अन्धकार युग कहा जाता है। इसी समय पश्चिम में शकों का क्षहरात वंश स्थपित हुआ। उन्होंने सातवाहन राज्य पर आक्रमण किया और महाराष्ट्र सातवाहनों के हाथ से निकल गया। प्रथम शताब्दी के अन्तिम वर्ष सातवाहन राजवंश के दुर्भाग्य के दिन थे और उनकी शक्ति काफी क्षीण हो गई थी।

प्रथम शताव्दी के अन्त में इस वंश में हाल नामक राजा हुआ। इसकी किसी राजनीतिक उपलब्धि के विषय में कुछ पता नहीं है किन्तु भारतीय साहित्य में इसकी स्मृति में एक विद्वान् तथा साहित्य-प्रेमी शासक के रूप में सुरक्षित मिलती है। उसने गाथा सप्तशती नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की। एक परम्परा के अनुसार उसने इस ग्रन्थ के सभी श्लोकों को स्वयं नहीं लिखा था बल्कि अपार धन खर्च कर विभिन्न विद्वान् कवियों के श्लोकों को इकट्ठा किया था।* जो भी हो इससे इसका साहित्य प्रेम प्रकट होता है। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और इसमें प्रेम, प्रणय, नीति, धर्म और दर्शन सभी विषयों से सम्बन्धित श्लोक मिलते हैं।

सातवाहन वंश का पुनरुद्धार : गौतमीपुत्र शातकर्णि

गौतमीपुत्र शातकर्णि इस राजवंश का सबसे प्रतापी और महत्त्वपूर्ण शासक था। पुराणों के अनुसार, वह इस वंश का तेईसवां शासक था। प्रायः उसका राज्य 106 ई. से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। उसकी मृत्यु के वाद उसकी माता गौतमी बलश्री ने (उसके पुत्र वाशिष्ठी पुत्र पुलुमायि के शासनकाल में) नासिक में एक लेख खुदवाया जिससे गौतमी पुत्र शातकर्णि की विजयों तथा चरित्र और कार्यों के बारे में पता चलता है।

(क) प्रतापी शासक

इस लेख में उसे निम्नलिखित उपाधियाँ दी गई हैं—

'क्षत्रियों के घमण्ड और मान को चूर करने वाला।'

'शक' यवन और पह लव का नाश करने वाला।'

'क्षहरात वंश को निर्मूल करने वाला।'

'सातवाहन कुल के यश की प्रतिष्ठापना करने वाला।'**

इसी लेख में उसे 'समस्त राज्यों के ऊपर राज्य करने वाला', 'कभी न पराजित हुआ', 'युद्ध में अनेक शत्रुओं को जीतने वाला', 'वह जिसके वाहनों ने तीनों समुद्रों का

---

* मेरुतुंग का **प्रबन्ध चिन्तामणि**; इसके अनुसार उसने चार गाथाओं को चालीस करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ देकर खरीदा था।

** खतियदपमानमदनस सकयवनपह् लवनिसूदनस . . . . खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस . . . ।

जल पिया' (अर्थात् जिसने बीच के सारे प्रदेशों को जीता था) कहा गया है। इन उपाधियों से पता चलता है कि वह एक पराक्रमी और प्रतापी राजा था।

(ख) गौतमीपुत्र शातकर्णि की विजयें और राज्य विस्तार

गौतमी पुत्र शातकर्णि ने सम्पूर्ण दक्षिणापथ और मध्य भारत को जीता। इस लेख में उन प्रदेशों के नाम दिये गये हैं जिन पर उसका अधिकार था। वे इस प्रकार हैं:

असिक—गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच प्रदेश।
असक (अश्मक) —गोदावरी नदी का तटवर्ती प्रदेश।
मूलक—पैठन के चतुर्दिक का क्षेत्र।
सुरठ (सुराष्ट्र) —दक्षिणी कठियावाड़।
कुकुर—उत्तरी काठियावाड़।
अपरान्त—बम्बई प्रदेश का उत्तरी भाग।
अनूप—नर्मदा नदी के तट पर स्थित निमाड़ जिला।
विदभ (विदर्भ) —बरार प्रदेश।
आकर—पूर्वी मालवा।
अवन्ति—पश्चिमी मालवा।

ऊपर के विवरण से पता चलता है कि गौतमी पुत्र शातकर्णि के दक्षिण के राज्यों, गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र, मध्य भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

(ग) शकों के साथ युद्ध

गौतमी बलश्री के नासिक लेख में गौतमी पुत्र शातकर्णि को शक, पह्लव तथा यवनों का नाश करने वाला कहा गया है। क्षहरातों ने सातवाहन कुल की प्रतिष्ठा को समाप्त कर दिया था। गोतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरातों का विनाश कर अपने कुल की प्रतिष्ठा को फिर से स्थापित किया। नासिक जिला में जोगलथम्बी नामक स्थान से मिले सिक्कों के ढेर से अभिलेख के इस कथन का समर्थन होता है। इस ढेर में नहपान में बहुत से चांदी के सिक्के मिले हैं जो दुबारा गौतमी पुत्र की मुद्रा से अंकित किये गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने नहपान को पराजित कर इस प्रदेश पर अधिकार किया था और अपनी मुद्राएँ चलाई थीं। नासिक अभिलेख से पता चलता है कि उसने शकों की शक्ति समाप्त करने के पश्चात् पह्लवों की शक्ति को भी क्षति पहुँचाई। गौतमीपुत्र द्वारा परास्त ग्रीक और पार्थियन राजाओं की पहिचान करना संभव नहीं है परन्तु यह अभिलेख इसकी पुष्टि अवश्य करता है कि उसने कई ग्रीक व पार्थियन नरेशों को भी परास्त किया था।

(घ) आदर्श शासक और वैदिक व्यवस्था का संस्थापक

गौतमीपुत्र शातकर्णि विजेता होने के साथ-साथ एक कुशल शासक भी था। गौतमी बलश्री के लेख में कहा गया है कि "वह अपनी प्रजा के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझता था. . . . . . वह सभी कुटुम्बियों की उन्नति करने वाला था–वह प्रजा के ऊपर धर्म के अनुसार कर लगाता था और अपराधियों के साथ नर्मी का व्यवहार करता था।" लेखों से उसकी शासन-व्यवस्था पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उसे 'एकब्राह्मण' (विशिष्ट ब्राह्मण) तथा 'वेदों का आश्रय' कहा गया है। वह वैदिक धर्म का अनुयायी था और उसने वर्णाश्रम व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयत्न किया। गौतमीपुत्र एक उच्चकोटि का विजेता तथा प्रशासक था। इसके अतिरिक्त वह दयालु भी था। वह वास्तव में प्रजावत्सल शासक था तथा प्रजा के आनन्द के लिए उत्सव आयोजित करता था। वह वेदों में आस्था रखने

वाला व ब्राह्मण धर्म का प्रबल पोषक था। वह धार्मिक क्षेत्र में भी सहिष्णु था।

वासिष्ठिपुत्र श्री पुलुमावि

एक अभिलेख के विवरण के अनुसार, गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अपने शासन के 24वें वर्ष में कुछ साधुओं को भूमि दान दिया। इस प्रकार उसने कम से कम 24 वर्ष शासन किया। उसके पुत्र वासिष्ठिपुत्र श्री पुलुमावि का शासन 130 ई. के आस-पास शुरू हुआ। टॉलमी ने एक 'सिरोपोलेमायु' को पैठन (प्रतिष्ठान) का राजा बताया है। इसको समीकरण वासिष्ठिपुत्र श्री पुलुमाहि से किया जाता है। इस समय उज्जयिनी में शकों का राजवंश रुद्रदामन् के आने के उपरान्त फिर शक्तिशाली हो गया था। रुद्रदामन् के लेख में कहा गया है कि उसने दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार हराया पर निकट सम्बन्धी होने के कारण छोड़ दिया। कन्हेरी (थाना जिला) के एक लेख से पता चलता है कि वासिष्ठिपुत्र पुलुमावि का विवाह महाक्षत्रप रुद्र (=रुद्रामन्) की कन्या से हुआ था। वासिष्ठिपुत्र एक शक्तिशाली शासक था और यद्यपि उज्जयिनी और गुजरात तथा मध्य भारत के कुछ प्रदेश उसके हाथ से निकल गये थे फिर भी अन्य प्रदेशों पर उसका आधिपत्य बना रहा। उसे 'दक्षिणापथपति' तथा'दक्षिणपथेश्वर' कहा गया है। उसने लगभग 24 वर्षों तक शासन किया और लगभग 155 ई. में मरा।

वासिष्ठिपुत्र के बाद कुछ छोटे राजा गद्दी पर आये, जिनके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

यज्ञश्री शातकर्णि

यह सातवाहन वंश का अन्तिम महत्त्वपूर्ण शासक था। पुराणों का कहना है कि गौतमीपुत्र के 35 वर्ष बाद शासक बना। इस प्रकार उसका शासनकाल 165 ई. में प्रारम्भ हुआ था। उसे 27 वर्ष तक राज्य करते हुए बताया गया है। उसने सातवाहन वंश की क्षीण होती हुई शक्ति को फिर से सम्भाला। शकों ने उसके पूर्वजों से जिन प्रदेशों को छीन लिया था, यज्ञश्री ने उन्हें फिर से जीत कर अपने अधिकार में किया। उसकी मुद्राएँ गुजरात, काठियावाड़, पूर्वी और पश्चिमी मालवा तथा मध्यप्रदेश और आंध्रप्रदेश से मिली हैं जो इन प्रदेशों पर उसका आधिपत्य सिद्ध करती हैं। उसके एक सिक्के पर दो मस्तूल वाले जहाज का चित्र मिलता है जिससे समुद्र पर भी उसका आधिपत्य प्रमाणित होता है। उसके शासनकाल में व्यापार की प्रगति हुई।

यज्ञश्री इस वंश का अन्तिम महान् शासक था। इसके बाद कुछ शासकों ने बरार, पूर्वी दक्खन तथा कनारी प्रदेश पर शासन किया। पर ये शक्तिहीन शासक थे और धीरे-धीरे सातवाहन शक्ति क्षीण होती गई।

सातवाहन वंश का पतन

तीसरी शताब्दी तक आते-आते सातवाहन शक्ति एकदम चुक गई थी और लगभग 225 ई. में यह राजवंश समाप्त हो गया। इसके पतन में कई शक्तियों ने योगदान दिया। पश्चिम में नासिक के आसपास के क्षेत्र पर अमीरों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। पूर्वी प्रदेश (कृष्णा-गुन्तूर) में इक्ष्वाकुओं ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। चुटु लोगों ने दक्षिण पश्चिमी भाग पर आधिपत्य स्थापित कर लिया और उत्तर तथा पूर्व में भी अपनी शक्ति बढ़ाई। दक्षिणी पूर्वी प्रदेश का क्षेत्र पल्लवों ने अपने अधिकार में कर लिया।

सातवाहन काल की सभ्यता और समाज

इस काल की सभ्यता और सामाजिक जीवन के विषय में हमें किसी साहित्यिक

साक्ष्य की सहायता नहीं मिलती किन्तु सातवाहन अभिलेखों से हमें तत्कालीन जनजीवन तथा प्रशासन आदि के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाऐं मिल जाती हैं।

(क) प्रशासन

सातवाहन राजाओं के मातृसूचक नाम मिलते हैं किन्तु उत्तराधिकार क्रम पुरुष परम्परा में ही चलता था। यद्यपि इनमें से कुछ शासक महान् विजेता थे किन्तु शासक के लिए वे 'राजन' की सामान्य उपाधि से ही सन्तुष्ट थे। गौतमी बलश्री ने अपने अभिलेख में अपने पुत्र गौतमीपुत्र शातकर्णि के लिए 'राजातिराज' तथा उसके और उसके पुत्र दोनों के लिए 'महाराज' उपाधियों का भी प्रयोग किया है। राजा सेना का प्रमुख था और युद्ध में सेना का स्वयं नेतृत्व भी करता था। राजकुमार 'कुमार' कहलाते थे। राजा स्वयं राजधानी प्रतिष्ठान में रहता था, किन्तु प्रशासनिक सुविधा के लिए राज्य 'आहार' अथवा 'जनपथ' नामक प्रशासनिक इकाइयों में विभक्त था।

राजकीय पदाधिकारियों में महाभोज, महारठी और महासेनापति प्रशासनिक इकाइयों में अधिपति जान पड़ते हैं। 'महाभोज' और 'महारठी' उपाधियाँ वंशानुगत थीं। 'अमात्य' उच्च पदाधिकारियों के लिए प्रयुक्त सामान्य शब्द था। एक सातवाहन लेख से 'राजामात्य' शब्द भी आता है जो इसी श्रेणी में उच्च वर्ग का अधिकारी जान पड़ता है। ग्राम-प्रशासन पूर्ववत ग्राम-प्रमुखों के सरंक्षण में होता था।

(ख) समाज

सातवाहन वंश ब्राह्मण राजवंश था और ब्राह्मण वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपोषक था। गौतमीपुत्र शातकर्णि को चारों वर्णों के दूषण को रोकने वाला * कहा गया है। मालाकार (माली), वर्धकी (बढ़ई), सुवर्णकार (सोनार), दासक (धीवर) आदि विविध सामाजिक इकाइयों के नाम लेखों से प्राप्त होते हैं। कुल का मुख्य 'कुटुम्बिन' या 'गृहपति' कहलाता था और घर में उसकी सत्ता सर्वोपरि तथा सर्वमान्य थी। नारी का समाज में सम्मानपूर्ण स्थान था। वह अपने पति के साथ धार्मिक कार्य सम्पन्न करती थी। पति के मृत्यु उपरान्त स्त्री एक पवित्र एवं यंत्रणारहित जीवन व्यतीत करती थी। अन्तर्जातीय विवाह उस समय सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे जाते थे परन्तु सहिष्णु होने के नाते स्वयं सातवाहन नरेशों ने अब्राह्मण कन्याओं से विवाह किए थे।

(ग) धर्म

सातवाहन शासक स्वयं ब्राह्मण धर्म मानते थे, किन्तु वे सहिष्णु थे। इस काल में बौद्ध धर्म की भी उन्नति हुई। धर्मशील व्यक्ति भिक्षुओं के लिए गुफाएँ बनवाकर दान में देते थे और श्रेणियों के पास धन जमा कर देते थे ताकि उसके ब्याज से उनका निर्वाह होता रहे।

इस काल में वैदिक धर्म और कर्मकाण्ड का पुनरुद्धार हुआ। सातवाहन लेखों में इन्द्र, वरुण, चन्द्र, सूर्य आदि वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। कुबेर और वासव का नाम भी मिलता है। इनके शासनकाल में अश्वमेध, राजसूय, अग्न्याधेय, आप्तोर्याम, दशातिरात्र, गवामयन आदि कई वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया गया, ब्राह्मणों को खूब दान और दक्षिणायें दी जाती थीं। वैदिक कर्म-काण्ड तथा ब्राह्मण-धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्मों का भी विकास हुआ। वैदिक देव-मण्डल के साथ ही धर्म, शिव, कुबेर, लोकपाल आदि पौराणिक और वासुदेव-संकर्षण आदि पाँच वैष्णव सम्प्रदाय के नेताओं

---

* विनिवर्तितचातुर्वणसंकरस्य।

के नाम भी तत्कालीन लेखों में पाए गए हैं। वैष्णव धर्म धीरे-धीरे लोकप्रिय बनता जा रहा था और विदेशी भी इसे अपना रहे थे। सातवाहन नरेश पक्के ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। परन्तु जनता को धार्मिक स्वतन्त्रता थी। वह अपनी इच्छानुसार धर्म पर आचरण करती थी। इस काल में विदेशी लोग भी ब्राह्मण अथवा बौद्ध धर्म स्वीकार कर रहे थे, जिसकी विस्तृत चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी।

(घ) आर्थिक स्थिति

इस काल में विविध शिल्पों और व्यवसायों में लगे हुए लोग श्रेणियों में संगठित थे। लेखों में कई व्यवसायों की श्रेणियों की चर्चा मिलती है : धन्जिक (अन्न बेचने वाले), कुम्हार, जुलाहे (कोलिक), तिलपिषक (तेली), कासाकर (कांसा में काम करने वाले) श्रेणियाँ बैंक का काम भी करती थीं। लोग इनके पास धन (अक्षय नीवी) जमा करा देते थे, जिन पर ब्याज प्राप्त होता था। व्यापार विकसित था। भड़ोच, सोपारा और कल्याण इस काल के प्रमुख पत्तन (वन्दरगाह) थे जहाँ पश्चिम से विविध वस्तुओं से भरे जहाज आते थे। ताम्बे और सोने दोनों के सिक्के प्रचलित थे जिन्हें क्रमशः 'कार्षापण' एवं 'सुवर्ण' कहते थे।

शातकर्णि प्रथम का समकालीन कलिंग का शासक खारवेल

हम पहले देख चुके हैं कि अशोक ने कलिंग के ऊपर विजय प्राप्त की थी जिसके वाद वह मौर्य साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया था। अशोक की मृत्यु के पश्चात् कलिंग के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। कुछ समय के पश्चात् हम कलिंग में एक शक्तिशाली शासक का अस्तित्व देखते हैं।

इस शासक के विषय में हमारी जानकारी का आधार भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी में हाथीगुम्फा अभिलेख है। यह लेख चेत-कुल के तीसरे शासक खारवेल की विजयों, कार्यों और चरित्र का विवरण तो प्रदान करता ही है, साथ ही इसमें प्रसंगवश कई अन्य महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। इस लेख में कोई निश्चित तिथि नहीं दी हुई है और प्रारम्भिक विद्वानों में इस लेख के तिथ्यांकन के विषय में बड़ा विवाद रहा है। लेख सभी भागों में सर्वथा स्पष्ट नहीं है और इस कारण कुछ महत्त्वपूर्ण भागों के पाठ पर विद्वानों में मतभेद भी रहा है। कुछ विद्वानों का विचार है कि लेख की सोलहवीं पंक्ति में मौर्य काल (अर्थात् मौर्य संवत्) का वर्ष 165 उल्लिखित है, किन्तु अन्य विद्वानों ने इसे अस्वीकार किया है। लेख की छठी पंक्ति में 'तिवससत' शब्द द्वारा नन्दराज से खारवेल की दूरी वताई गई है। यह नन्दराज महापदमनन्द ही रहा होगा, और इस प्रकार 'तिवससत' का अर्थ स्पष्ट हो जाने पर खारवेल के समय का पता चल सकता है। कुछ विद्वानों ने तिवससत का अर्थ 103 वर्ष किया जिसके अनुसार खारवेल तीसरी शताब्दी ई. पू. में रखा जायेगा, यदि मोटे तौर पर महापद्म का समय 350 ई. पू. मान लिया जाय। किन्तु अधिकांश विद्वानों का विचार है कि 'तिवससत' का अर्थ 103 नहीं, 300 वर्ष है।* इस प्रकार खारवेल प्रथम शताब्दी ई. पू. के मध्य के वाद किसी समय हुआ होगा।

लेख में खारवेल को चेत अथवा चेदि वंश का तीसरा शासक कहा गया है बचपन में उसे वडी अच्छी शिक्षा मिली और वह कई विद्याओं में निपुण हो गया। 15 वर्ष की आयु में वह युवराज बना और 9 वर्ष तक युवराज के रूप में उसने शासन कार्य में

---

* द्रष्टव्य हेमचन्द्र राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आव अन्श्येन्ट इण्डिया (सातवां संस्करण, कलकत्ता) पृ. 370।

सहायता की। 24 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर उसका राजपद पर अभिषेक हुआ। लेख में उसके तेरह वर्षों के शासन काल का वृत्तान्त दिया गया।

अपने शासन काल के पहले वर्ष में उसने अपनी राजधानी के दुर्गों, प्राचीरों और भवनों की मरम्मत कराई। इसके बाद वह विजय कार्य में प्रवृत्त हुआ। दूसरे वर्ष उसने शातकर्णि की परवाह न करते हुए पश्चिम में एक विशाल सेना भेजी और सम्भवतः शातकर्णि पराजित हुआ। यह शातकर्णि सातवाहन वंश का तीसरा शासक माना जाता है। तीसरे वर्ष उसने राजधानी में संगीत, नृत्य, उत्सव आदि का आयोजन किया; वह स्वयं संगीत विद्या में निपुण था, ऐसा कहा गया है। चौथे वर्ष उसने 'भोजिकों' और 'रटिकों' राष्ट्रिकों को पराजित किया। पांचवें वर्ष वह तनसुलि नामक स्थान से उस नहर को राजधानी तक ले आया, जिसे 300 साल पहले नन्द राजा ने खुदवायी थी। छठे वर्ष उसने प्रजा को सुखी बनाने के विविध कार्य किए। आठ वें वर्ष उसने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया और उसकी सेनाएँ गोरथगिरि तक (गया के निकट बराबर पहाडियाँ) बढ़ आई। नवें वर्ष उसने प्राची नदी के तट पर एक राजप्रासाद का निर्माण करवाया। दसवें वर्ष उसने फिर उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। ग्यारहवें वर्ष उसने दक्षिणपथ पर आक्रमण किया। बारहवें वर्ष उसने फिर एक बार उत्तरी भारत पर आक्रमण किया। मगध नरेश बृहस्पतिमित्र ने उसके सामने आत्म-समर्पण कर दिया। जायसवाल नामक विद्वान् के अनुसार, खारवेल पुष्यमित्र शुंग का समकालीन था उन्होंने बृहस्पति मित्र को पुष्यमित्र का ही नाम माना है। किन्तु अधिकांश विद्वान् खारवेल को प्रथम शताब्दी के अन्त में रखते हैं और बृहस्पति मित्र को मगध का कोई स्थानीय शासक मानते हैं। इस आक्रमण में खारवेल को बहुत-सा धन हाथ लगा और वह साथ में जिन (जैन तीर्थंकर) की वह मूर्ति वापस लाया, जिसे नन्दराज पहले ले गया था।

खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। वह मेधावी विद्वान् उदार और दानी शासक था। उसने जैन साधुओं के लिए कई गुफायें बनवायी।

जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, खारवेल एक प्रतापी शासक था। अपने समय की राजनीतिक स्थिति में उसने उथल-पुथल मचा दिया। पर उसके उदय का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपने राजवंश का अकेला महत्त्वपूर्ण शासक था और उसके बाद उसके राजवंश के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

13

विदेशियों के आक्रमण का दूसरा चरण: इण्डो-ग्रीक, शक, पह्लव तथा कुषाण

हम पहले पढ़ चुके है कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारत के पश्चिमोत्तर भाग के छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होने के कारण और उनमें राजनीतिक एकता का अभाव होने के कारण पहले ईरानियों ने और फिर सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानियों ने आक्रमण किया था। सिकन्दर के जाने के तुरन्त बाद चन्द्रगुप्त ने नन्दों का विनाश कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। सिकन्दर के क्षत्रपों को उसने खदेड़ बाहर किया और पहली बार उत्तरापथ मगध साम्राज्य का अंग बना। जब तक मौर्य साम्राज्य शक्तिशाली रहा, किसी भी विदेशी शक्ति को इधर आँख उठाने का साहस नहीं हुआ बल्कि यूनानी शासक सेल्यूकस को (जो पहले सिकन्दर का सेनापति था और सिकन्दर की मृत्यु के बाद जिसे साम्राज्य का पूर्वी भाग मिला था) अपने राज्य के ही चार प्रान्त चन्द्रगुप्त मौर्य को देने पड़े थे। किन्तु मौर्य साम्राज्य के अन्तिम दिनों में निर्बल शासकों के सत्ता में आने पर एक बार पुनः विदेशयों ने भारत पर अधिकार करने के प्रयत्न शुरू किए।

1. इण्डो ग्रीक शासक

'इण्डो-ग्रीक' से तात्पर्य

यह पहल बैक्ट्रिया के यूनानी शासकों ने किया और उनके बाद शक, पह्लव और कुषाण जातियाँ आई। ये जातियाँ यहीं आकर बस गई और इनका पूर्ण भारतीयकरण हो गया। बैक्ट्रिया के यूनानी शासक भी अपने पूर्ववर्ती यूनानियों के मुकाबले में भारतीय संस्कृति और धर्म से अधिक प्रभावित थे। उनमें से अधिकांश ने केवल भारतीय प्रदेशों पर ही शासन किया और बहुत से यूनानियों ने भारतीय धर्मों को स्वीकार किया। इस कारण उस समय का बैक्ट्रिया का इतिहास भारतीय इतिहास का एक अंग है, और इसी कारण इन शासकों को 'इण्डो-ग्रीक', (इण्डो = भारतीय, ग्रीक = यूनानी) अर्थात् भारतीय यूनानी कह कर पुकारा जाता है।

बैक्ट्रिया का यूनानी उपनिवेश

सिकन्दर एक महान् विजेता ही नहीं, अपितु यूनानी संस्कृति का प्रचारक भी था। उसने जहाँ-जहाँ विजयें की वहाँ उपनिवेशों की स्थापना की। इसी प्रकार के एक उपनिवेश की स्थापना उसने बैक्ट्रिया में भी की; अपने भारत-विजय की योजना को उसने यहीं से कार्यान्वित किया था। इस प्रदेश को जीतने के बाद यहाँ उसने अपने 20,000 रुग्ण तथा घायल सैनिकों को बसाया था। 323 ई. पू. में उसकी मृत्यु के पश्चात इन्होंने विद्रोह

किया तथा वे स्वदेश लौट जाना चाहते थे। 321 ई. पू.में जब उसके सेनापतियों के बीच त्रिपार्दिसस की सन्धि हुई, तब स्टेसनार को इस क्षेत्र का प्रान्तीय शासक नियुक्त किया गया। 312 ई. पू. में सेल्यूकस ने पूर्व में अपना अभियान किया और सभी अविनीत एवं विद्रोही प्रान्तों को अपनी अधीनता स्वीकार करवायी जिसमें बैक्ट्रिया भी शामिल था। यद्यपि चन्द्रगुप्त के साथ हुए युद्ध में सेल्यूकस को अपने चार प्रान्त उसे देने पडे, किन्तु यह निर्विवाद जान पड़ता है कि बैक्ट्रिया के प्रदेश पर उसका आधिपत्य पूर्ववत बना रहा। सेल्यूकस के बाद इस प्रदेश पर उसके पुत्र ऐन्टियोकस प्रथम (280-261 ई. पू.) का आधिपत्य था। इसकी शक्तिहीनता के परिणामस्वरूप संभवतः इसके समय में फारस स्वतंत्र हो गया। इसके उत्तराधिकारी एन्टियोकस द्वितीय (261-246 ई. पू.) के समय में सीरियायी साम्राज्य को गंभीर क्षेत्रीय हानियाँ हुई और 249-48 ई. पू. में पार्थिया तथा हिरेकनिया के क्षेत्र साम्राज्य से अलग हो गए। इसी समय बैक्ट्रिया ने भी स्वतन्त्र होने का प्रयास किया।

बैक्ट्रिया का स्वतंत्र होना और डियोडोटस वंश

250 ई. पू. में जब भारत में अशोक का शासन चल रहा था, उस समय सीरिया का राजा एक्ट्रियोकस द्वितीय था। उसके समय में बैक्ट्रिया में उसका प्रान्तीय शासक डियोडोटस (प्रथम) था।* यह एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और इसने विद्रोह कर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। यह विद्रोह लगभग 256 ई. पू. में हुआ था। उसके कुछ सिक्कों पर ऐन्टियोकस का नाम अब भी जारी मिलता है जिससे लगता है कि वह नाम-मात्र रूप में सेल्यूकस साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करता था।

डियोडोटस प्रथम के बाद उसका पुत्र डियोडोटस द्वितीय शासक बना। इसने भी कुछ समय तक अपने पिता की सावधानीपूर्ण नीति अपनाते हुए अपने सिक्कों पर ऐन्टियोकस द्वितीय का नाम तथा शीर्ष भाग का अंकन जारी रखा, किन्तु बाद में उसने इसके स्थान पर अपना शीर्ष भाग अंकित करना प्रारम्भ कर दिया। उसने पार्थिया के शासक आर्सेकीज से समझौता कर लिया और सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। अब पार्थिया का क्षेत्र उसके अपने राज्य तथा सेल्यूसिड राज्य के बीच एक मध्यवर्ती राज्य के रूप में स्थापित था जिस कारण बैक्ट्रियायी राज्य निश्चिन्तता के साथ अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने में लग सकता था।

यूथिडेमस और उसका वंश

मैगनेशिया निवासी यूथिडेमस नामक व्यक्ति ने डियोडोटस का वध कर एक नए राजवंश की स्थापना की। डियोडोटस द्वितीय का शासन काल 212 ई. पू. के कुछ पहले समाप्त हो गया था। 212 ई. पू. में सेल्यूकस के वंशज ऐन्टियोकस तृतीय ने पुनः बैक्ट्रिया

---

* डियोडोटस नामधारी प्राप्त सिक्कों के आधार पर डियोडोटस नाम के दो शासकों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—डियोडोटस प्रथम और डियोडोटस द्वितीय। कुछ सिक्कों पर शासक की आकृति एक अपेक्षाकृत वृद्ध व्यक्ति की है जबकि कुछ पर एक युवा व्यक्ति की। मैक्डोनेल (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, जि. 1) टार्न (दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया) तथा ए. के. नारायण (दि इण्डो-ग्रीक्स) दो डियोडोटस का होना मानते हैं। इसके विपरीत नेवेल (द क्वायनेज आव दि ईस्टर्न सेल्यूसिड मिन्ट्स), ए. एन. लाहिरी इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द 33 डियोडोटस नामक एक ही शासक का अस्तित्व मानते हैं। इनका कहना है कि कुछ सिक्कों पर युवा आकृति बाद में किए गए आदर्शीकरण के कारण है। लेकिन जस्टिन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि डियोडोटस की मृत्यु के बाद उसका पुत्र शासक बना, जिसका नाम भी डियोडोटस था।

पर अपना अधिकार जमाना चाहा और पूर्व में विजय करते हुए आगे बढ़ा। उसने बैक्ट्रिया को घेर लिया। यूथेडेमस ने अपने दूत द्वारा ऐन्टियोकस तृतीय को यह कहलवाया कि वह विद्रोही नहीं है वल्कि वह स्वयं विद्रोहियों को मौत के घाट उतार शासक बना है। साथ ही उसने कहलवाया कि बैक्ट्रिया के कमजोर होने पर वर्बर शक केवल बैक्ट्रिया को ही नहीं, सीरिया को भी तहस-नहस कर देंगे। ऐन्टियोकस तृतीय को यह बात जमी और उसने समझौता कर लिया। उसने बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली और साथ ही यूथिडेमस के पुत्र डेमेट्रियस, जिसके व्यक्तित्व से वह अत्यन्त प्रभावित हुआ था—के साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया। इसके बाद 207–206 ई. पू. में ऐन्टियोकस तृतीय ने हिन्दुकुश पार कर भारत पर आक्रमण किया। सोफागसेनस् (सुभागसेन) ने उसके प्रति आत्म-समर्पण कर दिया। सोफागसेनस् सम्भवतः उस वीरसेन का उत्तराधिकारी था जो तारानाथ के अनुसार, अशोक की मृत्यु के बाद गन्धार में स्वतन्त्र शासक बन गया था।

स्वयं यूथिडेमस ने बैक्ट्रिया राज्य को दृढ़ बनाया। दक्षिण-पूर्व में उसने पैरोपैनिसिडाइ, अराकोसिया (ये प्रदेश इसके पहले मौर्य साम्राज्य में थे) तथा सीस्तान के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। कनिंघम आदि कुछ विद्वानों का मत है कि भारत के भी कुछ भाग पर यूथिडेमस का आधिपत्य था। अपने मत के समर्थन में वे रावलपिंडी से मिली यूथिडेमस की कुछ मुद्राओं का हवाला देते हैं। पर कुछ अन्य विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते और उनका कहना है कि ये मुद्राएँ यहाँ उसके पुत्र द्वारा चलाई गयीं होंगी। इस प्रकार, भारत में यूथिडेमस के शासन का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। सबसे पहला आक्रमण, जिसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है, यूथिडेमस के पुत्र डेमेट्रियस का आक्रमण था।

डेमेट्रियस

यूथिडेमस लगभग 190 ई. पू. में मरा, जिसके बाद डेमेट्रियस शासक बना। डेमेट्रियस एक कुशल सैनिक और युद्धवीर शासक था। इस समय भारत में नर्बल शासकों के बाद मौर्य साम्राज्य का अन्त हो गया था और शुंगों का नया राजवंश अपनी जड़ नहीं जमा पाया था। अतः भारत की राजनीतिक स्थिति डेमेट्रियस की विचारवादी नीति के अनुकूल थी।

183 ई. पू. के लगभग डेमेट्रियस ने हिन्दूकुश पार किया और पंजाब के एक बड़े भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। यूनानी लेखक स्ट्रैवो ने भारत की विजय का श्रेय आंशिक रूप से डेमेट्रियस को और आंशिक रूप से अन्य शासक मिनैण्डर को (जिसके बारे में हम आगे पढ़ेंगे) को दिया है। आधुनिक विद्वानों में भी इस विषय पर मतभेद है कि इस समय हुए यवन आक्रमण का नेता डेमेट्रियस था अथवा मिनैण्डर।

पुष्यमित्र शुंग के समय यूनानी आक्रमण का उल्लेख भारतीय साहित्य में भी मिलता है। पतञ्जली के महाभाष्य में लिखा मिलता है कि 'यवन ने साकेत (अयोध्या) को घेरा, यवन के मध्यमिका (राजस्थान में चित्तौड़ के निकट) नगरी को घेरा।' गार्गी संहिता के युग पुराण में हम यह लिखा हुआ पाते हैं, 'दुष्ट यवन साकेत, पांचाल, मथुरा को रौंदते हुए कुसुमध्वज (पाटलीपुत्र का एक अन्य नाम) पहुंचेंगे।' इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि यवन मध्यदेश में अधिक दिन नहीं ठहरेंगे क्योंकि उनमें पारस्परिक वैमनस्य के कारण आपस में भयंकर युद्ध होगा। ऐसा लगता है कि पुष्यमित्र शुंग के शासन काल के प्रारम्भ में हुए यवन आक्रमण का नेता डेमेट्रियस ही था, यद्यपि कुछ विद्वानों के अनुसार, इस आक्रमण का नेता मिनैण्डर था। टार्न नामक विद्वान् ने यह मत प्रकट किया है* कि आक्रमण का वास्तविक नेता

---

* द ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया।

डेमेट्रियस था पर अपोलोडोटस एवं मिनैण्डर उसके दो कुशल सेनापति थे। डेमेट्रियस स्वयं व्यास नदी तक आया; सिन्ध की विजय के लिए उसने अपोलोडोटस को भेजा और पूर्व के प्रदेशों की विजय मिनैण्डर के सेनापतित्व में हुई।

यवन सेना विजय करती हुई पाटलिपुत्र तक पहुँच तो गई पर वहाँ अधिक दिन ठहर नहीं सकी। अपने देश में विद्रोह के अलावा एक कारण शुंगों की शक्ति भी थी। मध्यप्रदेश, राजस्थान और पूर्वी पंजाब में यवन नहीं टिक सके किन्तु पश्चिमी पंजाब, सिन्ध प्रदेश तथा सीमान्त पर डेमेट्रियस ने अपना अधिकार जमा लिया जहाँ उसके उत्तराधिकारियों ने लम्बे समय तक शासन किया। भारतीय प्रदेशों के लिए डेमेट्रियस ने दो भाषाओं वाले सिक्के चलाये, जिनपर एक ओर यूनानी भाषा और लिपि लिखी है और दूसरी ओर उसी बात को भारतीय प्राकृत भाषा एवं खरोष्ठी लिपि में लिखा गया है।*

यूक्रेटाइडीज

जिस समय डेमेट्रियस भारत विजय में लगा था, उसी समय उसके पैतृक राज्य बैक्ट्रिया में यूक्रेटाइडीज का विद्रोह हुआ। डेमेट्रियस फिर उससे अपना पैतृक राज्य वापस नहीं कर सका। जस्टिन ने यूक्रेटाइडीज को एक साहसी और कुशल सेनानायक बताया है। जस्टिन ने उसके विषय में एक रोचक घटना बताई है कि कैसे एक बार वह अपने केवल 300 सैनिकों के साथ डेमेट्रियस के 60,000 सैनिकों द्वारा घेर लिया गया किन्तु उसने न केवल चार महीनों तक इस घेरे को सहन किया अपितु डेमेट्रियस की सेना को इतना परेशान किया कि उसे मजबूर होकर अपना घेरा उठा लेना पड़ा।** डेमेट्रियस के अन्तिम दिनों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। या तो वह बैक्ट्रिया में लड़ते हुए मारा गया अथवा वह यूक्रेटाइडीज से पैतृक राज्य वापस पाने के लिए अपने असफल प्रयास के बाद भारतीय प्रदेश में ही मरा।

जस्टिन ने लिखा है यूक्रेटाइडीज ने बैक्ट्रिया में अपने नाम पर यूक्रेटाइडीज नामक नगर बसाया, 'भारत पर विजय की तथा हजार नगरों का स्वामी बन गया।' उसके सिक्के बैक्ट्रिया, सीस्तान, पैरोपैनिसिडाइ, कपिशा तथा गंधार प्रदेश से प्राप्त हुए हैं जिससे ज्ञात होता है कि उसने यूथिडेमस राजकुल से कुछ पूर्वी प्रदेशों को जीता था।

इस प्रकार भारत में यूनानी राज्य के दो भाग हो गये : 1. पूर्वी भाग पर यूथीडेमस के वंशजों का राज्य था और जिसकी राजधानी शाकल (आधुनिक सियालकोट) थी; और, 2. पश्चिमी भाग जिस पर यूक्रेटाइडीज के वंशजों का शासन था और जिस भाग की राजधानी तक्षशिला थी। इन दोनों यूनानी राजवंशों के लगभग चालीस शासकों ने इस प्रदेश पर शासन किया। इन यूनानी शासकों के विषय में हम मुख्यतया सिक्कों की सहायता से जानते हैं।

यूक्रेटाइडीज के पश्चात् लगभग 155 ई. पू. में उसका पुत्र हेलिओक्लीज शासक बना।*** उसके प्राप्त सिक्कों के आधार पर विद्वानों ने उसके विषय में कई महत्त्वपूर्ण

---

* मुख भाग पर यूनानी भाषा में लेख है : बेसिलिऑस अनीकेताउ डेमेट्रिआउ; पृष्ठ भाग पर प्राकृत लेख है : महरजस अपरजितस देमेत्रियस। यह उल्लेखनीय है कि उसके बैक्ट्रियायी सिक्कों पर कहीं भी 'अनीकिताउ' (अपराजित) लेख नहीं मिलता।

** टार्न को इस कथा की सत्यता में विश्वास नहीं है।

*** कुछ लोगों का विचार है कि वह अपने पिता का हत्यारा था। टार्न ने इस विचार का निराकरण किया है। उनके अनुसार, यूक्रेटाइडीज की हत्या किसी दिवनगत यूथिडेमस—कुल के राजा के पुत्र द्वारा हुई थी, जो सम्भवतः डेमेट्रियस द्वितीय हो सकता है (ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया)।

निष्कर्ष निकाले हैं। सम्भवतः यह अन्तिम शासक था जिसने कुछ दिनों तक बैक्ट्रिया और भारतीय देश दोनों पर शासन किया। ऐसा लगता है कि स्वयं उसे बैक्ट्रिया पर अपना अधिकार छोड़ना पड़ा था क्योंकि उसके सिक्कों में अधिक-तौल (जो बैक्ट्रिया में चलते थे) के सिक्के नहीं हैं।

मिनैण्डर

इण्डो-ग्रीक शासकों में सबसे महत्त्वपूर्ण शासक मिनैण्डर था। ये यूथीडेमस राजवंश से सम्बन्धित था। इसने डेमेट्रियस की पुत्री ऐगेथोक्लेइया से विवाह किया। यह डेमेट्रियस का कनिष्ठ समकालीन था। मिनैण्डर एक विशाल राज्य का शासक था। वह एक कुशल और योग्य सेनानायक था। मथुरा उसके राज्य की पूर्वी सीमा थी। उसके सिक्के गंधार प्रदेश से लेकर मथुरा तक प्राप्त हुए हैं, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर उसका अधिकार था। सिन्धु प्रदेश तथा बुन्देलखण्ड से भी उसके सिक्के प्राप्त हुए हैं जो इन प्रदेशों पर उसका अधिकार सिद्ध करते हैं। मिलिन्दपञ्हो में उसकी राजधानी शाकल (सियालकोट) बताई गई है।

पर भारतीय साहित्य में मिनैण्डर विजेता के रूप में नहीं, बल्कि बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के कारण ज्ञात है। मिलिन्दपञ्हो नामक बौद्ध ग्रन्थ से उसका बौद्ध धर्मानुयायी होना सिद्ध होता है।* इस पुस्तक में उसके किए गए प्रश्नों का बौद्ध आचार्य नागसेन द्वारा उत्तर दिया है। उसके सिक्के भी उसे बौद्ध धर्मानुयायी सिद्ध करते हैं। उन पर 'धर्मचक्र' बना हुआ मिलता है जो बौद्ध धर्म का पवित्र प्रतीक है। कुछ अन्य मुद्राओं पर उसके लिए 'ध्रमिकस' (धार्मिकस्य) उपाधि का भी प्रयोग हुआ है। 'धामिक' उपाधि भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। मिनैण्डर का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि राजनीतिक शक्ति के दृष्टिकोण से अपेक्षाकृत दुर्बल होने पर भी इस समय भारतीय संस्कृति विजेताओं को जीतने की क्षमता रखती थी।

मिनैण्डर के बाद इस प्रदेश पर उसके कई उत्तराधिकारियों ने शासन किया पर उनमें से कोई भी महत्त्वपूर्ण नहीं था।

ऐन्टियालकिडस

इसके विषय में हम एक भारतीय शिलालेखीय साक्ष्य से जानते हैं। यह साक्ष्य बेसनगर का गरुड़ध्वज लेख है। लेख में यह लिखा हुआ मिलता है : 'देवदेव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज तक्षशिला के निवासी, दिय के पुत्र भागवत धर्म मानने वाले हेलियदोर ने बनवाया जो कि तक्षशिला के महाराज अन्तलिकित का राजदूत होकर राजा काशीपुत्र भागभद्र के पास आया जबकि उनके शासनकाल का चौदहवाँ वर्ष चल रहा था।' काशीपुत्र भागभद्र का समीकरण सामान्यतया शुंग राजवंश के नवें शासक भागवत के साथ किया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे इसी राजवंश का पांचवां शासक ओद्रक मानते हैं। लेख के अनुसार, अन्तलिकित अथवा ऐन्टियालकिडस तक्षशिला का शासक था। लेख से यह भी स्पष्ट होता है कि इस काल में भागवत धर्म (वैष्णव धर्म) इतने जोर पर था कि विदेशी भी इसे स्वीकार कर रहे थे।

---

* टार्न का विचार है कि स्वयं विजेता राजकुल का होने के कारण वह विजित लोगों का धर्म नहीं स्वीकार कर सकता था। किन्तु, यह ऐसा सबल तर्क नहीं है कि परम्परा में सुरक्षित सूचना को तिरस्कृत कर सके।

हर्मियस और इण्डो-ग्रीक राज्य का पतन

पहली शताब्दी ई. पू. में काबुल घाटी पर यूक्रेटाइडीज राजकुल के वंशज हर्मियस का शासन चल रहा था। इस समय इण्डो-ग्रीक शक्ति निर्बल हो चली थी और इनका राज्य काफी सीमित हो गया था। उत्तर की ओर शक, पह्लव, कुषाण आदि जातियों का दवाव बढ़ता जा रहा था और अन्त में कुषाण आक्रमणकारी कुजुल कैड्फिसेज ने इण्डो ग्रीक शक्ति को अन्तिम आघात पहुँचाया। हर्मियस के बाद भारत से यूनानी अधिकार सदा के लिए समाप्त हो गया।

2. शक शासक

शकों का प्रारम्भिक इतिहास

मध्य एशिया के चरागाह प्रदेश तथा इससे सटे प्रदेशों में ऐसी कई जनजातियाँ निवास करती थीं, जिनकी कोई विशिष्ट सभ्यता अथवा संस्कृति नहीं थी। ये संक्रमणशील और लड़ाकू जनजातियाँ थी। दूसरी शताब्दी ई. पू. मध्य एशिया में बड़े उथल-पुथल का समय था, जिसका विवरण हमें कुछ चीनी ग्रन्थों में प्राप्त होती है।* यूंकि ये चीनी ग्रन्थ अपेक्षाकृत समसामयिक हैं अतः इनमें प्राप्त सूचनाओं को प्रमाणिक माना जा सकता है। इन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इस समय ये लड़ाकू जातियाँ आपस में लड़ रही थीं और अपने लिए नए-नए जगहों की तलाश में बाहर निकल रही थीं। इसी प्रक्रिया में युएह-चि (=कुषाण) लोगों से परास्त होकर शकों को अपना मूल स्थान (इस समय ये सर दरिया के उत्तर में बसे हुए थे) छोड़ कर दक्षिण की ओर बढ़ना पड़ा। इन्होंने पश्चिमी अफगानिस्तान और बलूचिस्तान के सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया। यहाँ से शक बोलन दर्रे से होकर लगभग 71 ई. पू. में भारत में आए।

भारतीय परम्परा और शकों का प्रथम आक्रमण

भारतीय ग्रन्थों में शकों का प्राचीनतम उल्लेख पतञ्जली के 'महाभाष्य' में मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि ये आर्यावर्त क्षेत्र के बाहर यवनों के साथ रहे थे। महाभाष्य दूसरी शताब्दी ई. पू. का ग्रन्थ है। महाभारत इन्हें शाकल (आधुनिक सियालकोट) से आगे सूदूर उत्तर-पश्चिम में पहलवों, किरातों, बर्बरों तथा यवनों के साथ रखता है। रामायण में भी शक बस्तियों को सूदूर उत्तर में कम्बोजों तथा यवनों के साथ रखा गया है। ऐसा लगता है कि ईसवी सदी के प्रारम्भ के पूर्व ही भारत के सूदूर पश्चिमोत्तर तथा पश्चिमी सीमाओं में शकों का आगमन प्ररम्भ हो गया था और इनके विषय में भारतीयों का प्राथमिक ज्ञान शकों की इन्हीं सीमावर्ती बस्तियों पर आधारित था।

भारत पर इनके आक्रमण की परम्परा मध्ययुगीन जैन ग्रन्थ कालकाचार्य कथानक में मिलती है। इसके अनुसार कालक नामक जैन आचार्य मालव-शासक गर्दभिल्ल से क्रुद्ध था। वह सगकुल (शक-कुल) गया तथा शक सरदारों को हिन्दुक देश (सिन्धु देश) पर आक्रमण करने को प्रेरित किया। शकों ने पहले सिन्धु प्रदेश को जीता और फिर उन्होंने सुराष्ट्र प्रदेश को जीतकर वहाँ शक शासन की स्थापना की। वहाँ बरसात विताकर शकों

* ये चीनी ग्रन्थ हैं : प्रसिद्ध चीनी इतिहासकार सु-मा-चियेन (लगभग 90 ई. पू.) द्वारा लिखित शिकि (अध्याय 123) जिसमें चीनी सम्राट द्वारा पश्चिम में मित्र राज्यों की खोज में भेजे गये चीनी राजदूत चुग-किएन का विवरण दिया गया है; पान-कु (मृत्यु का समय 92 ई.) लिखित त्सियेन-हान-शु जिसमें प्रारम्भिक हान वंश (206 ई. पू. से 24 ई.) का इतिहास दिया गया है; फान-ये का हो-हान-शु, जिसमें परवर्ती हान वंश (25 ई. से लेकर 220 ई. तक) का इतिहास दिया गया है।

ने उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल पर आक्रमण किया। गर्दभिल्ल हार गया और उसे अपना राज्य छोड़कर भागना पड़ा। इस युद्ध के 14 वर्षों के बाद (57 ई. पू.) गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने अपनी शक्ति को संगठित किया और शकों को मालवा प्रदेश से खदेड़ दिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने एक संवत् चलाया जो विक्रम संवत् के नाम से आज भी प्रसिद्ध और प्रचलित है। यह कह सकना कठिन है कि यह विवरण कितना ऐतिहासिक है किन्तु इस परम्परा का प्रामाणिक होना सर्वथा असम्भव नहीं है।

भारत में शकों के राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ को सर्वथा सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत कर सकना अत्यन्त कठिन है तथा विद्वानों में इस समस्या पर काफी मतभेद दिखाई पड़ता है। किन्तु, प्राप्त मुद्राओं और लेखों से यह स्पष्ट है कि इनकी एक शाखा ने उत्तरापथ और मथुरा में अपना आधिपत्य जमा लिया और कालान्तर में वे धीरे-धीरे अवन्ति, सुराष्ट्र और महाराष्ट्र में भी फैल गये। देश के विभिन्न भागों पर समय-समय पर विभिन्न शक शासकों ने शासन किया।

(क) तक्षशिला के शक शासक

तक्षशिला की खुदाई में मिली सामग्रियों का अध्ययन कर मार्शल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यहाँ के शक शासकों में सबसे पहला शासक मावेज था। यद्यपि कुछ विद्वान् इसे पह्लव जाति का मानते हैं, पर अधिकांश विद्वानों के अनुसार मावेज शक जातीय था। तक्षशिला से एक ताम्र पत्र प्राप्त हुआ है जिस पर खुदे लेख में मोग नामक शासक का नाम दिया गया है। इसे 'महाराज' (महरय) और 'महान्' (महन्त) कहा गया है। प्रायः सभी विद्वान् इस महाराज मोग को मावेज मानते हैं।* लेख में 'वर्ष 78' की तिथि दी गई है किन्तु यह नहीं ज्ञात है कि यह किस संवत् की तिथि है। यह तिथि किस संवत् में है, विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है किन्तु अधिकांश विद्वान् इसे विक्रम संवत् की तिथि मानते हैं।** जिसके अनुसार मावेज की तिथि 20 ई. पू. में ठहरती है।

डा. अल्तेकर ने यह विचार प्रकट किया है कि मावेज प्रारम्भ में पह्लव (पार्थियन) साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करता था और प्रारम्भ में उसने उनके मुद्रा-प्रकारों की नकल की तथा केवल 'राजा' की उपाधि धारण की। किन्तु, तक्षशिला ताम्रपत्र के लिख जाने के समय वह एक सर्वथा स्वतन्त्र शासक था, लेख में उसे 'महाराज' कहा गया है तथा उसके क्षत्रप (प्रान्तीय शासक) का नाम दिया गया है। वह निश्चित रूप से एक शक्तिशाली शासक था और उसके राज्य में पंजाब, गंधार प्रदेश और कश्मीर का कुछ हिस्सा शामिल था। पंजाब से उसकी कुछ मुद्राएं मिली हैं जो यूनानी मुद्राओं की नकल पर है और इन पर खरोष्ठी लिपि में 'रजति रजस महतस मोअस' (राजाधिराज महान् मोअ का) लिखा हुआ मिलता है। सम्भवतः तक्षशिला को उसने यूक्रेटाइडीज वंश के किसी राजा से जीता था। यह बता सकना कठिन है कि पूर्व में उसका राज्य-विस्तार कहाँ तक था। कोनोव नामक विद्वान् ने 'मथुरा-सिंह-शीर्षक' (कथुरा लायन कैपिटल) में 'मुक्ति' नाम पढ़ा है, और इसका समीकरण मावेज के साथ स्थापित किया है। यदि यह पाठ और समीकरण ठीक माना जाय, तो उसका प्रभुत्व-क्षेत्र मथुरा तक मानना होगा। किन्तु यह पाठ अनिश्चित है और इस पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता, साथ ही मथुरा पर एक स्वतन्त्र शक शासन वंश का आधिपत्य दिखाई पड़ता है।

---

* फ्लीट नामक विद्वान् ने इस समीकरण को स्वीकार नहीं किया है।

** विस्तृत चर्चा के लिए डा. सुधाकर चट्टोपाध्याय की पुस्तक 'द शकज'।

मावेज के बाद एजेज तक्षशिला का शासक बना। सिक्कों के अध्ययन के आधार पर कुछ विद्वानों का विचार है कि एजेज नाम के दो शासक हुए। उनके अनुसार, मावेज के बाद एजेज प्रथम, एजेज प्रथम के बाद एजिलिसेज और एजिलिसेज के बाद एजेज द्वितीय शासक बना। तक्षशिला में शक शक्ति का विनाश पह्लवों द्वारा हुआ।

(ख) मथुरा के शक

मथुरा के शकों के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य 'मथुरा-सिंह शीर्षक' पर प्राप्त लेख है। इनमें यहाँ पर शासन कर रहे शासकों की वंशावली के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। यह बता सकना कठिन है कि मथुरा में शकों का आगमन किस प्रकार और किन परिस्थितियों में हुआ था। टार्न का विचार है कि मथुरा के शक मालवा से होकर आए थे। कोनोव नामक विद्वान् ने भी यह मत प्रस्तुत किया है कि मथुरा में शक शक्ति की स्थापना उन शक सरदारों ने की थी जिन्हें (58–57 ई. पू. में) मालवा में विक्रमादित्य के उत्कर्ष के कारण वहाँ से चले जाने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इन दोनों विद्वानों का मत कालकाचार्य कथानक पर आधारित है, जिसके विवरण को वे प्रधानतः ऐतिहासिक मानते हैं।

इन शकों ने इस प्रदेश को नामतः अस्तत्वमान शुंग और कण्व राजाओं से छीना होगा। हग्रामश और हगान मथुरा के प्रारम्भिक शक क्षत्रप थे। इनके बाद खरओस्त और राजुवुल ने शासन किया। मथुरा से प्राप्त 'सिंह-शीर्षक-लेख' में राजवुल को महाक्षत्रप कहा गया है। खरओस्त अथवा खरोष्ठ को कुछ लोग राजुवुल का श्वसुर मानते हैं और कुछ लोग राजुवुल का पुत्र मानते हैं, जिसने केवल क्षत्रप के रूप में शासन किया और अपने पिता के जीवन काल में ही मर गया। राजुवुल के बाद सोडाश महाक्षत्रप बना। महाक्षत्रप होने के पूर्व वह क्षत्रप रह चुका था। इसकी मुद्राएँ पूर्वी पंजाब से मिली हैं जो यह प्रदर्शित करती हैं कि इसके समय में मथुरा के शकों ने पूर्वी पंजाब तक अपनी सीमा का विस्तार कर लिया था। मथुरा में शक-शक्ति का विनाश कुषाणों द्वारा हुआ।

(ग) पश्चिमी भारत में शकों का क्षहरात वंश

प्राप्त साक्ष्यों से पश्चिमी भारत में दो शक शासन वंशों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। इनमें से एक—जिसके भूमक तथा नहपान नामक केवल दो शासक ज्ञात हैं—क्षहरात वंश कहलाता है तथा दूसरा शासक वंश—जिसकी स्थापना चष्टन ने की—सुराष्ट्र तथा मालवा के शक-क्षत्रप वंश नाम से जाना जाता है।

क्षहरात वंश के शक शासकों ने सातवाहनों से कुछ प्रदेश जीते और महाराष्ट्र, काठियावाड़ और गुजरात पर शासन किया। डा. डी. सी. सरकार का विचार है कि पश्चिमी राजस्थान और सिन्ध प्रदेश भी इनके अधिकार में रहे होंगे। रैप्सन ने क्षहरातों को पह्लव बताया है किन्तु सामान्यतया विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं। इस विषय में सामान्य विचार यह है कि क्षहरात शक मूलतः तक्षशिला तथा मथुरा में थे जहाँ से वे पह्लव शासकों के दबाव के कारण अन्ततः दक्षिण में आकर बस गए। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है* कि पश्चिमी भारत के शक शासकों की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर अंकित तीर, वज्र और चक्र हमें मावेज तथा अजेज प्रथम के कुछ सिक्कों का स्मरण दिलाते हैं, तथा भूमक की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर 'सिंह-शीर्षक' का अंकन क्षहरातों को मथुरा के शक कुल के साथ सम्बन्धित करता है।

---

* द्र. इनकी पुस्तक द शकज।

मुद्राओं की बनावट आदि से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भूमक और नहपान में भूमक पहले सत्तारूढ़ हुआ। उनका पारस्परिक सम्बन्ध सर्वथा स्पष्ट नहीं है। भूमक की मुद्राएँ गुजरात, काठियावाड़ तथा मालवा प्रदेश से मिली हैं। यदि यह मान लिया जाय कि दक्षिण में शकों का आगमन पह्लवों के दबाव के परिणामस्वरूप हुआ तो भूमक के शासन काल के प्रारम्भ को लगभग 50 तथा 60 ई. पू. के बीच रखना होगा।

भूमक के बाद क्षहरातवंश का दूसरा शासक नहपान था। नहपान का नाम आठ गुहाभिलेखों में मिलता है। इनमें से छः नासिक के पास स्थित गुफा में, एक काले के निकट और एक जुन्नर के निकट स्थित गुफा में मिला है इन अभिलेखों में 41, 42, 45 तथा 46 तिथियाँ दी गई हैं किन्तु यह ज्ञात नहीं है कि ये किस संवत् की तिथियाँ हैं। जहाँ कुछ विद्वान् इन तिथियों को शक संवत् में (जो 78 ई. पू. से प्रारम्भ होता है) रखने का आग्रह करते हैं,* कुछ अन्य विद्वान्** इन्हें नहपान की शासकी तिथियाँ मानते हैं।

नहपान का राज्य उत्तर में अजमेर तक विस्तृत था और इसमें काठियावाड़, गुजरात, पश्चिमी मालवा, उत्तरी कोंकण तथा नासिक और पूना के जिले शामिल थे। इनमें से काफी प्रदेश पहले सातवाहन शासकों के आधिपत्य में थे और इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नहपान ने इन्हें सातवाहन शासकों से छीना होगा। नासिक की एक गुफा से उसके दामाद उषवदात का एक लेख मिला है, जिसमें उसके (उषवदात) द्वारा पुष्कर (अजमेर के निकट तीर्थ स्थान) में दान देने का उल्लेख मिलता है। इस राज्य-विस्तार को देखते हुए यह स्पष्ट है कि नहपान एक शक्तिशाली शासक था। पेरिप्लस के साक्ष्य में नहपान की राजधानी मिन्नगर बताया गया है। इस स्थान की ठीक-ठीक स्थिति बता सकना कठिन है।*** पेरिप्लस से ही यह ज्ञात होता है कि नहपान के समय में भारत तथा पश्चिमी देशों के बीच समृद्ध व्यापारिक सम्बन्ध था। इसके अनुसार, बेरीगाजा (आधुनिक भड़ौंच) में ओजेन (उज्जयिनी), पेथन (पैठन) तथा नगर (तेर) ये वस्तुएँ आती रहती थीं। साथ ही शासक के लिए बाहर से कीमती चांदी के बर्तन, गाने में कुशल लड़के, अन्तःपुर के लिए सुन्दर स्त्रियाँ, मदिरा, सुन्दर कपड़े आदि मंगाए जाते थे।

ऐसा लगता है कि अन्त में नहपान को पराजय का मुंह देखना पड़ा और उसके बाद ही क्षहरात वंश विनष्ट हो गया। जोगलथम्बी नामक स्थान से दो तिहाई सिक्कों का सातवाहन शासक गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा पुनर्मुद्रण हुआ है। इससे यह प्रमाणित होता है कि ये दोनों समसामयिक थे और नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा पराजित हुआ था। यह उल्लेखनीय है कि गौतमी बलश्री के नासिक लेख में गौतमी पुत्र शातकर्णि को 'क्षहरात वंश का उन्मूलक' (खखरातवसनिरवसेसकरस) तथा 'सातवाहन वंश' के यश का 'पुनरस्थापक' (सातवाहन कुलयस-पतिशापनकरस) कहा गया है। चूंकि इस मुद्रा भण्डार में गौतमीपुत्र शातकर्णि द्वारा पुनर्मुद्रित कराए गये सिक्कों में एक भी किसी अन्य शासक का नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है कि नहपान इस वंश का अन्तिम शासक था।

(घ) उज्जयिनी तथा काठियावाड़ का शक शासनवंश

चष्टन—उज्जयिनी में शक राजवंश की स्थापना चष्टन ने की थी। इस राजवंश के

* रैप्सन, राय चौधरी, डी. सी. सरकार आदि विद्वान् इस मत के पक्षधर हैं।

** उदाहरणार्थ, सुधाकर चट्टोपाध्याय

*** विविध विद्वानों ने कई समीकरण प्रस्तुत किए हैं : भगवान लाल इन्द्रजी—जूनागढ़, डा. भण्डारकार—मन्दसोर (आधुनिक दसोर); फ्लीट—जुन्नर। डा. जायसवाल का विचार है कि नहपान के शासन का केन्द्र भड़ौंच था।

शासकों ने अपने लेखों तथा मुद्राओं पर शक संवत् का प्रयोग किया है। ये तिथियाँ 130 ईसवी से 388 ईसवी तक मिलती हैं। पुराणों में आन्ध्र-सातवाहनों के उत्तराधिकारियों के रूप में 18 शक शासकों का उल्लेख हुआ है। यह निश्चित माना जा सकता है कि ये चष्टन वंशीय शक शासक थे। अभिलेखों में चष्टन को घ्समोतिक का पुत्र कहा गया है। 'घ्समो' शक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'भूमि' होता है। इस आधार पर लेवी तथा कोनोव नामक विद्वानों ने उसका समीकरण भूमक से किया है। रैप्सन ने इस विचार का खण्डन किया है। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने कहा है कि यह असम्भव नहीं कि वह अवन्ति प्रदेश में गौतमीपुत्र शातकर्णि का अधीनस्थ शासक रहा हो।

जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं चष्टन एक स्वतन्त्र शासक था। उसके सिक्के जूनागढ़ और गुजरात से मिलते हैं। उसके सिक्कों पर प्राप्त तथाकथित उज्जयिनी प्रतीक एवं टालमी के विवरण से प्रमाणित होता है कि उसकी राजधानी उज्जयिनी (उज्जैन) थी।

चष्टन का पुत्र जयदामन था। उसके जो सिक्के मिले हैं उन पर उसे केवल क्षत्रप कहा गया है। ऐसा लगता है कि वह अपने पिता के जीवन काल में ही मर गया और कभी महाक्षत्रप नहीं हो पाया।• इस प्रकार चष्टन के बाद उसका पौत्र तथा जयदामन् का पुत्र रुद्रदामन् महाक्षत्रप बना। 130 ई के अर्धौ अभिलेख से यह प्रदर्शित होता है कि चष्टन ने अपने पौत्र रुद्रदामन् के साथ सम्मिलित रूप में शासन किया था।

रुद्रदामन्—रुद्रदामन् इस राजवंश का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण शासक है। इसके इतिहास का प्रमुख स्रोत उसका जूनागढ़ लेख है। जिस शिला पर रुद्रदामन् का लेख लिखा है उसी पर अशोक का भी एक लेख प्राप्त है। लेख में 72 तिथि दी गई हैं जो शक संवत् की मानी जाती हैं जिसके अनुसार, रुद्रदामन् का समय 150 ईसवी ठहरता है।

लेख के अनुसार, वह अपनी प्रजा द्वारा संरक्षक चुना गया था तथा उसने अपने लिए स्वयं ही 'महाक्षत्रप' पद उपार्जित किया था। हमें ज्ञात है कि चष्टन के शासनकाल में वह 'क्षत्रप' रह चुका था और इस प्रकार प्रजा द्वारा उसका निर्वाचन होने का प्रश्न नहीं उठता। उपरोक्त कथन से केवल यह तात्पर्य निकलता है कि अपने पितामह चष्टन द्वारा उसके चयन का प्रजा द्वारा स्वागत किया गया।

लेख में उन प्रदेशों के नाम गिनाए गये हैं, जिनके लोग उसके प्रति भक्तिभाव रखते थे (अर्थात् जिन प्रदेशों पर उसका आधिपत्य था)। ये प्रदेश हैं : पूर्वी तथा अपर आकरावन्ति (पूर्वी और परचमी मालवा), अनूप-निवृत (महिष्मती प्रदेश, मान्धाता अथवा महेश्वर), आनर्त (द्वारका के आस-पास का प्रदेश), सुराष्ट्र (जूनागढ़ के आसपास का प्रदेश), स्वभ्र (साबरमती नदी का तटवर्ती प्रदेश), मरु (मारवाड़ प्रदेश), कच्छ सिन्धु-सौवीर (सिन्धु घाटी), कुकुर (सिन्धु नदी और परियात्र पर्वत के बीच का प्रदेश), अपरान्त (उत्तरी कोंकण), निषाद (विन्ध्य पर्वतों में स्थित प्रदेश) इत्यादि। हम देख चुके हैं कि नासिक के सातवाहन अभिलेख में गौतमीपुत्र शातकर्णि को अस्मिक, असक, मूलक, सुरठ, अपरान्त, अनूप, विदर्भ तथा आकरावन्ति का शासक कहा गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वापराकरावन्ति, सुराष्ट्र, कुकुर, आनर्त, अनूप-निवर्त प्रदेशों को रुद्रदामन् ने गौतमीपुत्र शातकर्णि के किसी उत्तराधिकारी से छीना था। यह उत्तराधिकारी कौन था? स्वयं जूनागढ़ लेख में यह कहा

• शक शासन व्यवस्था में शासक को 'महाक्षत्रप' कहा जाता था। राज्य का उत्तराधिकारी शासन में उसे सहयोग करता था। और उसके लिए 'क्षत्रप' उपाधि का प्रयोग होता था।

गया है कि उसने किसी 'दक्षिणापथपति' शातकर्णि को युद्ध में दो बार हराया किन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसे छोड़ दिया गया। कुछ लोगों के अनुसार, यह 'दक्षिणापथपति' सातवाहन शासक वासिष्ठिपुत्र पुलुमावि था। किन्तु कुछ उसे उसके बाद का कोई अन्य शासक मानते हैं। उसके साम्राज्य में सिन्धु-सौवीर की गणना यह प्रदर्शित करता है कि इस प्रदेश को उसने कुषाण शासक कनिष्क के किसी उत्तराधिकारी से जीता होगा। उसने यौधेय गणराज्य के साथ भी युद्ध किया था; यौधेयों ने सम्भवतः उत्तर में उसकी शक्ति को चुनौती दी होगा।

लेख में रुद्रदामन् के समय हुए सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार कार्य का उल्लेख हुआ है। गिरिनगर (गिरनार) और आस-पास के प्रदेशों में सुदर्शन झील से सिंचाई होती थी। लेख के अनुसार, इस झील को चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उसके अधीनस्थ वैश्य राष्ट्रीय पुश्यगुप्त ने बनवायी थी और बाद में अशोक के प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने इसमें और कार्य करवाया था। रुद्रदामन् के समय सिकता और पलाशिनी नदियों में आई बाढ़ के पानी से झील का बांध टूट गया और इस जल प्लावन को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से उसके प्रान्तीय शासन सुविशाख के संरक्षकत्व में झील का पुनरुद्धार कर्म किया गया। लेख में कहा गया है कि इस कार्य में लगे सम्पूर्ण व्यय का भार रुद्रदामन् के निजी कोष द्वारा वहन किया गया और इस कार्य हेतु उसने प्रजा पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया।

लेख में और भी कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। सम्पूर्ण राज्य कई प्रान्तों में बंटा हुआ था, जिन पर स्वामिभक्त प्रान्तीय शासकों को नियुक्त किया जाता था। राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होती थी जो दो विशिष्ट वर्गों में बंटी हुई थी : 'मतिसचिव' जो परामर्श देने वाला वर्ग था, एवं 'कर्मसचिव' जो नीतियों का क्रियान्वयन करते थे।

रुद्रदामन् ने लेख में गर्वपूर्वक कहा है कि उसने अपनी प्रजा पर अन्यायपूर्ण कर नहीं लगाए किन्तु तो भी उसका राजकोष कणक (सोना), रजत (चांदी) वज्र तथा वैदूर्य से भरा था। लेख के अनुसार, वह व्याकरण, राजनीति, संगीत तथा तर्क विद्या का अच्छा ज्ञाता था, तथा उसे गद्य और पद्य रचना में पर्याप्त कुशलता प्राप्त थी* स्वयं यह लेख संस्कृत गद्य का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है।

रुद्रदामन् के उत्तराधिकारी और शक शक्ति का अन्त—रुद्रदामन् के पश्चात् शक क्षत्रपों के इतिहास में कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं है। उसके बाद के शासकों के विषय में जानकारी के स्रोत बहुत कम हैं और केवल मुद्राओं से उनकी तिथियों के विषय में तथा उसके पूर्वानुपर क्रम के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। उज्जयिनी में शकों ने सौ वर्षों से ऊपर शासन किया और यहाँ 388 ई. तक इनका शासन चलता रहा।

रुद्रदामन् के बाद उसका पुत्र दामजद शासक बना। वह अपने पिता के समय क्षत्रप रह चुका था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके भाई रुद्रसिंह प्रथम ने तथा उसके पुत्र जीवदामन् ने 199 ई. तक शासन किया। मुद्राओं से कुछ और शासकों के नाम भी मिलते हैं। 495 ईसवी तथा 340 ईसवी के बीच में शक शासन के किसी महाक्षत्रप का नाम नहीं मिलता है। मुद्राओं से प्रदर्शित होता है कि चेष्टन का शासन-वंश 305 ईसवी में समाप्त हो गया तथा इस समय के बाद विविध अन्य क्षत्रप और महाक्षत्रप उभरते दिखाई पड़ते हैं। यहाँ के शक शासकों में अन्तिम नाम रुद्रसिंह नामधारी शासक का है जिसकी

* गद्यपद्यकाव्यानां प्रवीणेन।

मुद्राओं पर 310 (३८८ ई. तिथि) मिलती है। इसी समय इस प्रदेश पर गुप्त साम्राज्य का आधिपत्य स्थापित हुआ। संभवत: रुद्रसिंह ही वह शासक था, जिसे उन्मूलित कर गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस प्रदेश पर गुप्त सत्ता स्थापित की थी।

3. पह्लव शासक

भारत में शकों और पह्लवों (पार्थियन) का इतिहास परस्पर घनिष्टरूपेण सम्बन्धित मिलता है। स्वयं शक पार्थिया से होकर भारत आये थे जिस कारण शकों के ऊपर पह्लवों की भाषा और आचार-विचारों का प्रभाव पड़ा था। यह प्रभाव इतना अधिक है कि प्राय: विद्वान् इस बात पर ही एक दूसरे से अलग मत रखते हैं कि अमुक राजा (मावेज, एजेज, एजिलिसेज—सभी के ऊपर यह मतभेद मिलता है) शकजातीय है अथवा पह्लव जाति का है। पर ऊपर लिखित राजाओं को अधिकांश विद्वान् शक मानते हैं और पह्लव शासकों के अन्तर्गत निम्नलिखित नाम माने जाते हैं।

भारतीय प्रदेशों पर शासन करने वाला पह्लव जाति का प्रथम शासक वोनोनीज था। उसने सीस्तान तथा अराकोसिया तक के प्रदेश पैर आधिपत्य स्थापित किया। वह सम्भवत: शक शासक मावेज का समकालीन था। कुछ ही समय में उसने काबुल, गंधार और सिन्धु प्रदेश को भी जीत लिया था। उसने महाराजाधिराज उपाधि धारण की थी। कुछ सिक्कों पर उसके भाई स्पेलेहोरीज तथा स्पेलिराइसिज के नाम भी पाए जाते हैं जो सम्भवत: उसके अधीन प्रान्तीय शासकों के रूप में शासन करते थे।

पह्लव जाति का सबसे प्रतापी शासक गोंडोफरनीज था। उसके शासनकाल का एक लेख तख्त-ए-बाही से मिला है। उसने पश्चिमोत्तर प्रदेश में राज्य किया और तक्षशिला में शक सत्ता को अन्मूलित किया। यह लगभग 190 ईसवी में शासक बना था और उसने कम से कम 45 ईसवी तक शासन किया था। उसने शक शासक एजेज द्वितीय के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, जैसा कि क्षत्रीय शासक अस्पवर्मन् के सिक्कों से प्रमाणित होता है। अस्पवर्मन् पहले एजेज द्वितीय का 'स्ट्रैटेगस' (अधीनस्थ प्रान्तीय शासक) था पर बाद में उसने गोंडोफरनीज की अधीनता स्वीकार कर ली थी। एक ईसाई अनुश्रुति के अनुसार, गोंडोफरनीज "सम्पूर्ण भारत का राजा" था और सन्त टामस उसके दरबार में आए थे।

गोंडोफरनीज के कुछ ही समय बाद इस प्रदेश पर कुषाणों का आक्रमण और अधिकार हो गया और इसके साथ ही भारतीय इतिहास के रंगमंच से पह्लव वंश विलुप्त हो गया।

4. कुषाण वंश

कुषाणों का भारत में आगमन के पूर्व का इतिहास

शकों की चर्चा के प्रसंग में हम बता चुके हैं कि दूसरी शताब्दी ई. पू. में मध्य एशिया की विविध लड़ाकू जातियों में भारी उथल-पुथल हो रही थी और ये नए-नए जगहों की तलाश में बाहर निकल रही थीं। इस उथल पुथल का इतिहास हमें प्राचीन चीनी ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन घुमक्कड़ और लड़ाकू जातियों में हियुंग-नु (=हूण), वू-सुन, सइ (=शक) और युएह-चि (तोखारी, तुरुष्क जिन्हें भारत में कुषाण नाम से जाना जाता है) प्रमुख थीं। चीनी ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि 165 ई. पू. में कान-सु (पश्चिमोत्तर चीन) प्रान्त में युएह-चि नाम की जाति रहती थी। पड़ोस की हियुंग-नु जाति ने उन्हें पराजित कर वहाँ से निर्वासित कर दिया। युएह-चि लोग वहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर चले। रास्ते

में इली नदी की घाटी में उनहोंने वू-सुन जाति को हराया और उनके राजा को मार डाला। पर वे स्वयं दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ते रहे और सीर दरिया की घाटी में पहुंच कर उन्होंने शकों को हराया और शक लोग दक्षिण की ओर भाग कर भारत में आ गये। इसी बीच वू-सुन जाति के मृत राजा के लड़के ने हियंग-नु जाति की सहायता से युएह-चि लोगों को खदेड़ दिया। युएह-चि जाति के लोगों ने आगे बढ़ कर ताहिया प्रदेश को जीत लिया। इसके बाद उन्होंने बैक्ट्रिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। यहाँ के लोग यूनानी, शक, पह्लव तथा रोमी संस्कृतियों के सम्पर्क में आए और उनसे प्रभावित हुए। यहाँ आकर युएह-चि जाति पांच शाखाओं में बंट गई। ये पांच शाखाएँ थीं—हियू-मी, कुआँग-मी, कुएइ-चुआँग, हि-थुन तथा तु-मी। कालान्तर में इस विभाजन के लगभग 100 वर्षों के बाद कुएइ-चुआँग शाखा ने अन्य शाखाओं को पराजित कर एक सम्मिलित राज्य की संस्थापना की। इसी कुएइ-चुआँग शाखा के शासकों ने भारत पर राज्य किया और इन्हीं को कुषाण कहा गया है।

कुजुल कदफिसेज

कुएइ-चुआँग शाखा ने जिस व्यक्ति के नेतृत्व में अन्य चारों शाखाओं को परास्त किया और जो स्वयं इस सम्मिलित राज्य का स्वामी* बना उसका नाम क्यू-त्सि-किओ बताया गया है। इस क्यू-त्सि-किओ का समीकरण सिक्कों के कुजुल कदफिसेज के साथ किया गया है। चीनी साक्ष्य से पता चलता है कि उसने अपने अन्य प्रतिद्वन्द्वी युएह-चि शाखाओं को हराया और उसके बाद हिन्दूकुश पार कर काबुल (काओ-फु) घाटी और कपिशा (कि-पिन) पर अधिकार स्थापित किया। सिक्कों के साक्ष्य से लगता है कि कुजुल कदफिसेज प्रारम्भ में या तो इण्डो-ग्रीक शासक हर्मियस का सहयोगी था अथवा नामतः उसकी अधीनता स्वीकार करता था और बाद में स्वतन्त्र हो गया। इन सिक्कों में कुछ पर एक ओर खरोष्ठी लिपि में कुजुल कस का नाम और दूसरी ओर यूनानी लिपि में कोजोलो कडफेस और हर्मियस का नाम लिखा हुआ मिलता है, पर बाद में अन्य सिक्कों पर हर्मियस का नाम हट गया है। इससे स्पष्ट है कि पहले इन दोनों व्यक्तियों में मित्रता और पारस्परिक सहयोग था पर बाद में कुजुल कदफिसेज ने यूनानी सत्ता को उन्मूलित कर अपनी स्वतन्त्रता स्थापित की। उसने सम्भवतः सोने की मुद्राएँ नहीं चलाई और केवल ताम्र-मुद्राए चलाई। उसने पूर्वी गंधार जीत कर पह्लव शक्ति को समाप्त किया। सारा अफगानिस्तान और गंधार प्रदेश उसके अधिकार में था। उसके सिक्कों पर रोम का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। उसने 'महाराज', 'महन्त' तथा 'महाराजाधिराज' की ऊँची उपाधियाँ धारण की थीं। उसकी एक उपाधि 'सत्य धर्मस्थित' है** जिससे पता चलता है कि वह पूर्णतया भारतीय संस्कृति के प्रभाव में था।

विम कदफिसेज

कुजुल के बाद उसका पुत्र विम कदफिसेज राजा बना। चीनी ग्रन्थों में उनका नाम येन-काओ-त्येन बताया गया है। उसने सारे पंजाब, कश्मीर, सिन्धु प्रदेश और वर्तमान उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग तक अपना राज्य बढ़ा लिया। स्टेन कोनोव और स्मिथ नामक विद्वानों का विचार है कि वह शक संवत् का संस्थापक था, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि उसके लेखों और सिक्कों पर कोई भी तिथि नहीं मिलती, जिसे इस संवत् में रखा जा

---

* राजा के लिए चीनी भाषा में 'वांग' शब्द का प्रयोग किया गया है।

** 'सत्य धर्म' से तात्पर्य यहाँ सम्भवतः बौद्ध धर्म से है।

सके सामान्यतः विद्वानों द्वारा इस संवत् की स्थापना का श्रेय कनिष्क को दिया जाता है। उसने सोने की मुद्राएँ भी चलाई; उसकी सोने और ताम्बे की द्विभाषी मुद्राएँ मिलती हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि कुजुल भारतीय संस्कृति के प्रभाव में था और बौद्ध हो गया था। विम के सिक्कों पर त्रिशूल, नन्दी (शिव का वाहन वृषभ) और शिव की आकृति बनी है। साथ ही उसकी उपाधियों में एक उपाधि 'महेश्वर' है जिससे भी प्रमाणित होता है कि उसने शैव धर्म अंगीकार किया था।

कनिष्क

ऊपर उल्लिखित कदफिसेज वर्ग के दो शासकों के अतिरिक्त, भारतीय अभिलेखों में, तिथियों के साथ, कुछ कुषाण शासकों के नाम उल्लिखित मिलते हैं जो इस प्रकार हैं : कनिष्क प्रथम (तिथि 1 से 23), वासिष्क (24–28), हुविष्क (28–60), वाझेष्क का पुत्र कनिष्क द्वितीय (41) तथा वासुदेव (67–98)। यह माना जाता है कि हुविष्क, वाझेष्क तथा कनिष्क द्वितीय का उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में हुष्क, जुष्क तथा कनिष्क नाम से किया है जिन्होंने साथ-साथ शासन किया था। हम देखते हैं कि कनिष्क द्वितीय की तिथि 41 हुविष्क की तिथि (28–60) के बीच में पड़ती है जिससे कल्हण के विवरण का पुष्टिकरण होता है।*

यद्यपि कुछ विद्वान् ऐसा नहीं मानते,** किन्तु सामान्यतः विद्वान् कनिष्क वर्ग के शासकों को कदफिसेज वर्ग के शासकों के बाद रखते हैं। विम कदफिसेज और कनिष्क के बीच क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित रूप से पता नहीं है। यह कुषाण वंश का सबसे महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली शासक था और भारतीय इतिहास में इसे एक विशेष स्थान प्राप्त है।

कनिष्क की तिथि पर विचार

कनिष्क ने किस समय राज्य किया, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। यहाँ हम केवल कुछ प्रमुख विद्वानों के मतों की संक्षेप में चर्चा करेंगे। फ्लीट और केनेडी कनिष्क को प्रथम शताब्दी ई. पू. में रखते हैं। उनके अनुसार, कनिष्क कदफिसेज वर्ग के शासकों के पहले हुआ था और कनिष्क 58 ई. पू. में प्रारम्भ होने वाले उस संवत् का संस्थापक था जो बाद में विक्रम संवत् नाम से प्रसिद्ध हुआ। टामस और मार्शल ने इस मत का सबल खण्डन किया है और अब इस मत को कोई नहीं मानता। मार्शल और स्मिथ कनिष्क के राज्यारोहण का समय 125 ई. मानते हैं। पर जैसाकि ऊपर देखा जा चुका है, कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों ने अपने लेखों में किसी एक संवत् का प्रयोग किया है। चूंकि दूसरी शताब्दी में प्रारम्भ होने वाला कोई संवत् ज्ञात नहीं है अतः इस मत को मानना कठिन है। साथ ही इस मत को मानने में एक और कठिनाई आती है : कनिष्क के सुई विहार लेख से पता चलता है कि सिन्धु की निचली घाटी पर उसका आधिपत्य था। उधर एक महाक्षत्रप रुद्रदामन् के जूनागढ़ में उसे सिन्धु सौवीर का अधिपति बताया गया है। रुद्रदामन् ने निश्चित रूप से 130 ई. से 150 ई. तक शासन किया। इन दो स्वतन्त्र शासकों को एक साथ एक प्रदेश पर शासन करते हुए कैसे माना जा सकता है? स्पष्टतः इन दोनों को समकालीन नहीं माना जा सकता। डा. रमेश चन्द्र मजूमदार ने

---

* द्र. राय चौधरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आव ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृ. 411।

** फ्लीट, केनेडी और ओटो फ्रांक नामक विद्वान् दोनों कदफिसेज नामधारी शासकों को कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों के बाद हुआ मानते हैं।

कनिष्क को 248 ई. में प्रारम्भ होने वाले त्रैकूटक-कलचुरि-चेदि संवत् का संस्थापक माना है, पर तिथिक्रम की कठिनाइयों के कारण इस मत को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस राजवंश के अन्तिम शासक वासुदेव का शासनकाल कनिष्क के 100 वर्ष बाद समाप्त हुआ और विविध अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उसने मथुरा पर शासन किया। यह निश्चित है कि 350 ई. के लगभग इस प्रदेश पर यौधेयों और नागों का आधिपत्य था और अन्ततः गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त द्वारा पराभूत होने के पूर्व उन्होंने इस प्रदेश पर कम से कम एक शताब्दी तक शासन किया था। फरगुसन, टामस, राखालदास बनर्जी, रैप्सन, लोहुइजेन-द-लिउ आदि कई विद्वानों का मत है कि कनिष्क 78 ई. में गद्दी पर बैठा। 78 ई. से शक संवत् की शुरूआत होती है और अधिकांश विद्वान् कनिष्क को इस संवत् का संस्थापक मानते हैं।

कनिष्क की विजयें और साम्राज्य-विस्तार

कनिष्क की राजधानी गंधार प्रदेश में पुरुषपुर (पेशावर) थी। सम्पूर्ण गंधार प्रदेश, कश्मीर, पूरा पंजाब और संभवतः पटना तक गंगा घाटी का प्रदेश कनिष्क के अधिकार में था। तिब्बती और चीनी बौद्ध परम्परा में उसके साकेत और पाटलिपुत्र पर आक्रमण का उल्लेख मिलता है और यह कहा गया है कि वहाँ से वह प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और दार्शनिक अश्वघोष को अपना साथ लाया। उसके शासनकाल की तिथियों से युक्त लेख पेशावर, माणिकिआल (रावलपिण्डी के निकट), सुइ विहार (सिन्ध प्रदेश में बहावलपुर से लगभग 196 मील दक्षिण-पश्चिम), मथुरा, श्रावस्ती तथा सारनाथ (वाराणसी के निकट) से प्राप्त हुए हैं। दक्षिण में उसने उत्तरी सिन्ध और सम्भवतः मालवा तक अपने राज्य का विस्तार किया। पश्चिमोत्तर में उसका राज्य काशगर, यारकंद और खोतान तक फैला था। मथुरा और वाराणसी उसके अधिकार में थे। उसके सिक्के उत्तर प्रदेश में गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर से बिहार में रांची, वैशाली, राजगिर, सुल्तानगंज से और बंगाल प्रदेश से मिले हैं जो उसके राज्य-विस्तार को बताते हैं। भारतीय विजयों को कर लेने के बाद उसने चीनियों के विरुद्ध युद्ध किया जिसके परिणामस्वरूप काशगर, यारकन्द और खोतान पर उसका आधिपत्य स्थापित हुआ। प्रसिद्ध चीनी सेनापति पान-चाओ के नेतृत्व में चीनियों ने पश्चिम की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया था जिससे कनिष्क को चिन्ता होनी स्वाभाविक थी। उसने चीनी सेनापति के पास अपना दूत भेजा और चीन के सम्राट को अधीनता स्वीकार करने को कहा। इसे अपना और अपने सम्राट का अपमान समझ कर पान-चाओ ने दूत को बन्दी बना लिया। कनिष्क ने चीन के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया और अपने दस हजार घुड़सवार सैनिकों को लड़ने के लिए भेजा। शुरू में उसे सफलता नहीं मिली, किन्तु पान-चाओ के मरने के बाद उसका पुत्र पानयाँग कनिष्क से हार गया। इस विजय से काशगर, यारकन्द और खोतान के प्रदेश उसे प्राप्त हुए। दो चीनी राजकुमार उसके दरबार में बन्धक के रूप में रखे गये। यह कनिष्क की बहुत शानदार विजय थी जिसने कनिष्क के साम्राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया।

कनिष्क और बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म मानने वाले राजाओं में अशोक के बाद कनिष्क का ही नाम आता है। सम्पूर्ण उत्तरी बौद्ध साहित्य उसे बौद्ध धर्म का अनुयायी बताता है। वैसे उसके सिक्कों पर बुद्ध के अतिरिक्त यूनानी, जरथस्त्री, वैदिक आदि सभी प्रकार के धर्मों से सम्बन्धित देवताओं की आकृतियों का अंकन मिलता है जिससे सिद्ध होता है कि धार्मिक मामलों में वह उदार था। पर बौद्ध साहित्य के साक्ष्य तथा उसके द्वारा बौद्ध स्तूपों और विहारों

का निर्माण और—जैसा कि हम नीचे देखेंगे—चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन सभी से यह सिद्ध होता है कि उसका व्यक्तिगत धर्म बौद्ध धर्म था।

कनिष्क ने चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन किया।* एक बौद्ध परम्परा के अनुसार इस संगीति का स्थान कश्मीर में कुण्डलवन नामक स्थान था। एक दूसरी बौद्ध परम्परा संगीति का होना गंधार अथवा जालन्धर में बताती है। पहली परम्परा को अधिक ठीक माना जाता है। अश्वघोष के गुरु वसुमित्र इस संगीति के अध्यक्ष थे और स्वयं अश्वघोष इसके उपाध्यक्ष बनाए गए।

इस संगीति में बुद्ध के वचनों (त्रिपिटक) का प्रामाणिक पाठ तैयार किया गया और उन पर 'महाविभाषा' नामक भाष्य लिखा गया। यह सभी ताम्रपत्रों पर संस्कृत भाषा में लिखा गया और फिर उन्हें पत्थर की मंजूषा में रख कर स्तूप में स्थापित कर दिया गया। यह संगीति बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवादिन् शाखा से सम्बन्धित थी। इस संगीति को बौद्ध धर्म के इतिहास में एक विशिष्ट चिन्हांकन माना जा सकता है क्योंकि इसके बाद बौद्ध धर्म स्पष्ट रूप से हीनयान और महायान दो वर्गों में बंट गया।

शासन व्यवस्था

कनिष्क की शासन व्यवस्था के विषय में बहुत अधिक जानकारी नहीं मिलती। चीनी साहित्य से यह ज्ञात होता है कि जीते हुए प्रदेशों पर शासन करने के लिए वह अपने प्रतिनिधि अथवा प्रान्तीय शासक रखता था। सारनाथ (वाराणसी के निकट) के लेख से पता चलता है कि मथुरा में महाक्षत्रप खरपल्लान और बनारस में क्षत्रप परस्पर उसके प्रान्तीय शासकों के रूप में शासन करते थे। ऐसा जान पड़ता है कि उसका साम्राज्य कई प्रान्तों में बंटा हुआ था, जिन पर 'क्षत्रप' कहे जाने वाले प्रान्तीय शासक रखे जाते थे।

साहित्य और कला का संरक्षक

कनिष्क साहित्य और कला का संरक्षक था। उसके दरबार में अश्वघोष नामक विद्वान् और साहित्यकार था जिसने बुद्धचरित और सौन्दारानन्द नामक काव्य ग्रन्थों की रचना की। अश्वघोष एक दार्शनिक भी था; चीनी परम्परा में इसे महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र नामक ग्रन्थ का लेखक बताया गया है।** पार्श्व, वसुमित्र नामक बौद्ध दार्शनिक भी कनिष्क के दरबार में थे। बौद्ध धर्म के शून्यवाद सम्प्रदाय को चलाने वाले नागार्जुन और आयुर्वेद के प्रसिद्ध लेखक चरक को भी कनिष्क का आश्रय प्राप्त हुआ बताया गया है किन्तु इन अनुश्रुतियों की प्रामाणिकता का कोई सर्वथा निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

कनिष्क एक महान् निर्माता भी था। पुरुषपुर में उसने एक टावर बनवाया, जिस पर लोहे का एक छत्र स्थापित किया गया था। इसी के पास उसने एक बौद्ध विहार (बौद्ध भिक्षुओं के रहने का स्थान) बनवाया। उसे पुरुषपुर तथा कनिष्कपुर नामक दो नगरों के बसाने का श्रेय भी दिया जाता है। उसके समय में बुद्ध की मूर्तियों का बनना प्रारम्भ हो गया और इस समय गंधार और मथुरा मूर्तिकला के दो अत्यन्त विकसित केन्द्र थे। गंधार की मूर्तिकला पर यूनानी प्रभाव मिलता है और इसे गंधार कला शैली कहते हैं (नीचे

---

* यह उल्लेखनीय है कि इस संगीति की चर्चा केवल उत्तरी बौद्ध परम्परा में मिलती है। लंका के बौद्ध ग्रन्थों में इसका सर्वथा अनुल्लेख है।

** प्रो. ताकाकुसु और विन्टरनित्ज़ अश्वघोष को इस ग्रन्थ का रचयिता नहीं मानते। किन्तु प्रसिद्ध जापानी विद्वान् प्रो. सुजुकी (द्र. उनकी पुस्तक दि अवेकेनिंग आव फेथ इन महायान) ने सबल तर्कों से चीनी परम्परा की सत्यता प्रमाणित की है।

विस्तार से देखें)। मथुरा की कला शैली देशी कला शैली थी।

कनिष्क का अन्त

कनिष्क ने लगभग 23 वर्षों तक शासन किया। कुछ अनुश्रुतियों में उसका शासनकाल 45 वर्षों का बताया गया है। उसका अन्त बड़ा दुःखद बताया गया है। वह युद्ध प्रेमी था और जीवन भर लगातार युद्ध करता रहा। इससे उसके मन्त्री और स्वजन दुःखी हो गये थे। एक बार जब वह बीमार पड़ा तो उसके मन्त्रियों ने उसे लिहाफ ओढ़ा कर पीट-पीट कर मार डाला।

कनिष्क के उत्तराधिकारी

कनिष्क के उत्तराधिकारियों के विषय में हमें विशेष ज्ञात नहीं है। सांची से दो अभिलेख मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वासिष्क 24 वें और 25 वें वर्ष में इन प्रदेशों का शासक था। इसका कोई सिक्का नहीं मिला है। इसके बाद हुविष्क शासक बना जिसका शासनकाल कनिष्क संवत् के वर्ष 31 से वर्ष 60 तक मिलता है। पेशावर जिले में आरा नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख में एक वाझेष्क पुत्र कनिष्क का नाम मिलता है जिसकी तिथि 41 हुविष्क की इन दो तिथियों के बीच में पड़ती है और फिर इस समस्या का समाधान आवश्यक हो जाता है कि आरा अभिलेख का कनिष्क कौन था? यदि यह कनिष्क महान् से भिन्न है तो या तो वह हुविष्क का समकालीन कोई स्वतन्त्र शासक था अथवा उसका कोई प्रतिनिधि शासक। यदि वह कनिष्क महान् ही है तो उस स्थिति में यह मानना होगा कि 1. वसिष्क और हुविष्क कनिष्क महान् के प्रतिनिधि शासक थे, 2. वासिष्क कनिष्क के समय में ही दिवंगत हो गया, और 3. हुविष्क वर्ष 41 के पश्चात् ही पूर्ण सत्ता का अधिपति बन सका।* जो भी हो हुविष्क एक शक्तिशाली शासक था और उसने अपने पिता के राज्य को सर्वथा सुरक्षित रखा। उसके कई प्रकार के सिक्के मिलते हैं। इससे यह जान पड़ता है कि उसके राज्य में शान्ति और समृद्धि थी। कश्मीर में उसने हुष्कपुर अथवा हविष्कपुर नामक नगर बसाया तथा अनुश्रुतियों के अनुसार उसने मथुरा में एक बौद्ध विहार और मन्दिर का निर्माण करवाया।

वासुदेव इस राजवंश का अन्तिम प्रसिद्ध शासक था। उसकी तिथियाँ वर्ष 67 (145 ई.) से वर्ष 98 (176 ई.) तक मिलती हैं। वासुदेव बौद्ध नहीं जान पड़ता। उसके सिक्कों पर शिव और नन्दी की आकृतियाँ मिलती हैं। इस आधार पर उसे शैव मतावलम्बी माना जाता है। उसके सिक्के केवल पंजाब और उत्तर प्रदेश से मिले हैं और उनके प्रकार भी कम हैं। उसके अभिलेख केवल मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि उसके समय तक सिन्धु के पश्चिम का भाग कुषाण साम्राज्य से जाता रहा था और कुषाण शक्ति सिकुड़ कर मथुरा और आस-पास के इलाकों तक सीमित रह गई थी। वासुदेव के साथ कुषाणों का मुख्य राजवंश समाप्त हो गया।

कुषाण साम्राज्य का पतन तथा इसके कारण

कनिष्क ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी पर साम्राज्य का संगठन ठोस और स्थाई नहीं था। कनिष्क के बाद आने वाले शासक इतने बड़े साम्राज्य को चला सकने में समर्थ नहीं थे। पश्चिम में इस समय सासानी साम्राज्य का उदय हो रहा था और कुषाण इस नई शक्ति का सामना नहीं कर सके। आर्दशिर बाबगान (225-241

---

* रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास (संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, दिल्ली, 1971), पृ.168।

ई. के लगभग) नामक सासानी शासक ने सरहिन्द तक बढ़कर कुषाणों की शक्ति को तोड़ दिया। भारत की स्थानीय शक्तियों ने इस स्थिति का लाभ उठाया। पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में यौधेय और कुणिन्द गण्जातियों ने कुषाण सत्ता को समाप्त कर दिया। मथुरा और मध्य भारत के नागवंशी भारशिवों ने मथुरा और आसपास के इलाकों में कुषाणों की शक्ति को नष्ट कर दिया। इस प्रकार पूर्व में भारशिवों और पश्चिम में यौधेयों ने कुषाण शक्ति को समाप्त किया।

द्वितीय शताब्दी ई. पू. से तृतीय शताब्दी तक की भारतीय सभ्यता और संस्कृति में नवीन तत्त्वों का उत्कर्ष

सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में इस युग का कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व है। इस काल में भारतीयों का विभिन्न विदेशी जातियों के साथ घनिष्ट सम्पर्क हुआ। ये जातियाँ आक्रमण करके लौट नहीं गयी, बल्कि यहीं की होकर रह गई। भारतीय संस्कृति पर इनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। आन्तरिक क्षेत्र में भी इस काल में विभिन्न भारतीय धर्मों में कुछ महत्त्वपूर्ण विकास हुए।

(क) विदेशियों का भारतीयकरण और उन पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

यह काल बड़े पैमाने पर विदेशी आक्रमण का काल है। पर ये विदेशी भारतीय संस्कृति और समाज में पच गये। यहीं पर बस जाने के कारण यहाँ के लोगों और उनमें मिश्रण प्रारम्भ हुआ और वे भारतीय समाज के अंग बन गये। पश्चिम भारत के शक क्षत्रपों के नाम पूर्णतया भारतीय दिखाई पड़ते हैं, जैसे जयदामन्, रुद्रदामन् जीवदामन् रुद्रसिंह आदि। उन्होंने यहाँ वैवाहिक सम्बन्ध भी किये। रुद्रदामन् ने अपनी कन्या का विवाह ब्राह्मण सातवाहन वंश के शासक के साथ किया। नागार्जुनीकोण्डा के एक लेख से पता चलता है कि इक्ष्वाकु वंश के राजा वीर-पुरुषदत्त ने उज्जैन के शक राजा की कन्या रुद्रभट्टारिका से विवाह किया था।

इसी तरह इन विदेशी शासकों ने यहाँ बस जाने पर भारतीय धर्मों को अपनाया। यूनानी मिनैण्डर बौद्ध धर्म मानता था और बौद्ध आचार्य नागसेन का शिष्य था। हेलियोडोर के बेसनगर अभिलेख से पता चलता है कि यूनानी राजदूत हेलियोडोर ने भागवत् धर्म स्वीकार कर लिया था और इस धर्म में अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए उसने एक गरुड़ स्तम्भ खड़ा करवाया। रुद्रदामन्, रुद्रसेन, रुद्रसिंह नाम शायद यह संकेतित करते हैं कि ये शक राजा शैव धर्म का आदर करते थे। कुषाण नरेशों ने तो भारत में सम्बन्ध स्थापित होते ही भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लिया था। कुजुल कदफिसेज ने 'सत्यधर्मस्थित' उपाधि धारण की थी जिससे उसका बौद्ध धर्मानुयायी होना सिद्ध होता है। विम कदफिसेज शैव धर्म मानता था। उसने न केवल 'महेश्वर' उपाधि धारण की थी बल्कि उसके सिक्कों पर शिव, त्रिशूल और नन्दी (शिव का वाहन वृषभ) की आकृतियाँ बनी मिलती हैं। इसी प्रकार, यद्यपि कनिष्क के सिक्कों पर कई धर्मों के देवी-देवता अंकित मिलते हैं पर यह निश्चित है कि उसका निजी धर्म बौद्ध धर्म था और इसके लिए उसने बहुत से कार्य किए। वासुदेव का नाम शुद्ध संस्कृत नाम है जो कुषाणों का पूर्ण भारतीयकरण सिद्ध करता है। वह भी अपने सिक्कों के आधार पर शैव धर्म का अनुयायी जान पड़ता है।

(ख) भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर यूनानी प्रभाव की समस्या

यूरोप की संस्कृति यूनान की संस्कृति की बहुत ऋणी है और इसी कारण यूरोपीय लोगों के मन में इस विचार ने जोर पकड़ लिया कि संसार की किसी सभ्यता में जो कुछ

सुन्दर और अच्छा है वह यूनान से आया होगा। इसी कारण शुरू में कुछ विद्वानों ने भारतीय संस्कृति की बहुत-सी बातों का मूल यूनानी संस्कृति में खोजा और भारतीय साहित्य, कला, ज्योतिष, विज्ञान आदि को यूनान से प्रभावित माना। पर इस मत में कभी-कभी बड़ी अतिशयोक्ति दिखाई पड़ती है और इसे आँख मूंद कर नहीं मान लेना चाहिए जैसा कि कुछ विद्वानों ने किया है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि सिकन्दर भारत में केवल 19 महीने रहा था और यह अवधि उसने युद्ध करने में ही बिताई थी। युद्ध की व्यस्तता में वह प्रभावी रूप में यूनानी संस्कृति का प्रचार कर ही नहीं सकता था। सेल्यूकस को अपने आक्रमण में अपने ही साम्राज्य के चार प्रान्त गंवाने पड़े थे। 206 ई. में हुआ एन्टियोकस तृतीय का आक्रमण अत्यन्त सीमित स्वरूप का था और वह केवल सोफ गसेनस (सुभागसेन) नामक भारतीय राजा का आत्म-समर्पण स्वीकार कर वापस लौट गया था। वाद के यूनानी आक्रमणकारी (यथा, डेमेट्रियस, यूक्रेटाइडीज, मिनैण्डर) अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी हुए थे और उनके वंशजों ने पंजाब और सीमावर्त्ती प्रदेशों पर लगभग 150 वर्षों तक शासन किया था। किन्तु, इन प्रदेशों पर भी यूनानी सभ्यता का प्रभाव बहुत अधिक नहीं दिखाई पड़ता। वास्तव में भारतीय सभ्यता पर यूनानी प्रभाव की समस्या पर सन्तुलित दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा लगता है कि सत्य अतिवादी विचारों के बीच में है; अर्थात् न तो यह कहा जा सकता है कि भारत सर्वथा यूनानी प्रभाव के बहाव में बह गया और न यह कि यूनानी संस्कृति के साथ सम्पर्क ने भारतीयों को बिलकुल ही प्रभावित नहीं किया।

कुछ लोगों ने प्रारम्भ में रामायण को होमर के महाकाव्य इलियड से प्रभावित माना। इस मान्यता के पीछे सन्त क्रिस्टोमस (समय 117 ई.) का यह कथन भी था कि भारतीय होमर का काव्य गाते हैं जिसका उन्होंने अपनी भाषा में अनुवाद कर लिया है। रामायण और इलियड की कहानी में कुछ समताएँ मिलती हैं पर इतने से रामायण को इलियड की नकल अथवा उससे प्रभावित नहीं माना जा सकता। भारतीय साहित्य में बहुत कम शब्द यूनानी भाषा के मिलते हैं। वेबर नामक विद्वान् के अनुसार, संस्कृत के नाटकों का उदय यूनानी नाटकों के प्रभाव से हुआ, किन्तु अधिकांश विद्वान् इसे नहीं मानते। यूनानी नाटकों में गद्य की प्रधानता मिलती है पर संस्कृत के नाटकों में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग होता था। यूनानी नाटकों में दुःखान्त नाटकों की प्रमुखता दिखाई पड़ती है, जबकि भारतीय नाटक सुखान्त मिलते हैं। कुछ लोगों ने पर्दे के लिए काम में आने वाले 'यवनिका' शब्द को यूनानी माना, पर कुछ भारतीय विद्वानों ने इसे यूनानी मानने में संदेह व्यक्त किया है। कुछ लोगों ने यह विचार व्यक्त किया है कि यूनानी राजाओं ने जिन प्रदेशों पर अधिकार किया था वहाँ यूनानी भाषा बोली और समझी जाती थी, पर यह ठीक नहीं जान पड़ता। यूनानी सिक्कों पर एक ओर यूनानी भाषा और लिपि मिलती है पर दूसरी ओर प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि दी गई है जिससे पता चलता है कि जनसाधारण द्वारा प्राकृत भाषा और खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया जाता था।

यह कहा जा सकता है कि सिक्के ढालने की कला में भारतीयों ने यूनानियों से बहुत कुछ सीखा। ऐसा लगता है कि पहले यहाँ चिन्हांकित सिक्के चलते थे। बाद में सिक्कों की आकृति और मुद्रण में सुधार हुआ। भारतीय 'द्रम्म' शब्द यूनानी 'द्रख्म' (एक सिक्का) से लिया गया जो अपभ्रंश में बिगड़ कर 'दाम' हो गया। अब सिक्के सुडौल और कलापूर्ण बनने लगे और उन पर लेख लिखे जाने लगे। कुषाण, गुप्त और अन्य राजवंशों ने उनकी नकल की।

ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में भारतीयों ने यूनानियों से काफी सीखा। भारतीय ज्योतिष में होडाचक्र, रोमक और पोलिस सिद्धान्त यूनान और रोम के ज्योतिष शास्त्र से लिए गये हैं। उनके ज्योतिष ज्ञान के कारण गार्गी संहिता में उन्हें देवताओं की तरह आदरणीय कहा गया है। 'केन्द्र', 'लिप्त', 'होडा' आदि शब्द यूनानी शब्दों के और मेष, वृषभ आदि राशियां यूनानी ज्योतिष की राशियों के रूपान्तर हैं।

जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, भारतीयों ने यूनानियों को अधिक प्रभावित किया। हेलियोडोर ने वैष्णव धर्म, मिनैण्डर ने बौद्ध स्वीकार किया था। मेगस्थनीज ने लिखा है कि हिमालय में डायोनिसस और मथुरा में हेराक्लीज नामक देवताओं की पूजा की जाती थी। पर वास्तव में ये क्रमशः शिव और विष्णु नामक भारतीय देवता थे। धर्म के क्षेत्र में भारतीयों के ऊपर यूनानियों का कोई प्रभाव पड़ता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, यूनानी सम्पर्क से यूनानी दार्शनिकों में भारतीयों की अभिरुचि होने लगी थी। बिन्दुसार द्वारा अपने समसामयिक यूनानी शासक से यूनानी दार्शनिक मांगने का उल्लेख मिलता है।

यूनानियों के साथ सम्पर्क में आने पर व्यापार की अवश्य प्रगति हुई। भारत और पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान बड़े पैमाने पर शुरू हुआ।

(ग) कुषाण काल की गंधार कला शैली

गंधार प्रदेश ऐसी जगह पर था जहाँ भारत में आने के पहले सभी विदेशी जातियाँ आईं और बसीं। ईरानी, यूनानी, रोमी तथा शक कुषाण आदि सभी संस्कृतियों का यहाँ संगम हुआ। इन सभी विदेशी संस्कृतियों में यूनान की संस्कृति सबसे अधिक प्रभावशाली थी। सिकन्दर के बाद प्रथम यूनानी आक्रमण के बाद यह प्रदेश काफी दिनों तक मौर्य साम्राज्य के अधिकार में रहा। ऐसी स्थिति में यूनानी और भारतीय दोनों संस्कृतियों में परस्पर मिलन हुआ। इस मिलन ने एक कला शैली को जन्म दिया। जिसमें दोनों ही जगहों की कलाओं के तत्त्व देखे जा सकते हैं। यह स्थान बौद्ध धर्म के प्रभाव में था और यहाँ से कला के जो अवशेष मिले हैं, वे मुख्यतया बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें शिल्प और तकनीक तो यूनानी है पर विषय और कला-प्रतीक सर्वथा भारतीय है।

अब महायान बौद्ध धर्म का उदय हो चुका था जिसमें भक्ति भावना का प्राधान्य था। इस कारण पूजा के विषय के रूप में बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनने लगी थीं। इसके पहले जातक कथाओं आदि के दृश्य तथा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का अंकन होता था। (उदाहरण के लिए शुंगकालीन भरहुत और सांची के स्तूपों की वेदिकाओं और तोरण द्वारों पर), किन्तु बुद्ध की प्रतिमा नहीं बनाई जाती थी और न ही उनकी आकृति उकेरी जाती थी। जहाँ बुद्ध को दिखाना होता था वहाँ उनका कोई प्रतीक चिन्ह-छत्र, चरण-चिन्ह, बोधिवृक्ष आदि अंकित कर दिया जाता था। पर अब भारी संख्या में बुद्ध की मूर्तियों का बनना प्रारम्भ हुआ। इस पर भक्तिप्रधान भागवत धर्म का प्रभाव माना जा सकता है। भागवत धर्म के भक्ति आन्दोलन का इस समय काफी जोर था जिसमें वासुदेव (कृष्ण) और संकर्षण (बलराम) की पूजा प्रमुख थी। मथुरा इसका केन्द्र था। इस समय इन देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगी थीं और इनके लिए देवगृहों का निर्माण भी शुरू हो गया था। कुछ विद्वानों के अनुसार, बुद्ध की पहली मूर्ति गंधार में बनी और तभी से बुद्ध की मूर्तियाँ बननी प्रारम्भ हुईं, पर कुछ अन्य विद्वान् यह नहीं मानते। इसी समय मथुरा कला का दूसरा विकसित केन्द्र था और कुछ विद्वानों का विचार है कि बुद्ध की मूर्तियाँ पहले यहाँ बनीं।*

* विस्तार से विचार के लिए द्र. वासुदेव शरण 'अग्रवाल' भारतीय कला, पृ. 285 इ.।

जहाँ तक मूर्तिकला का प्रश्न है गंधार में बुद्ध, बोधिसत्वों की मूर्तियाँ यूनानी राजाओं और देवताओं की मूर्तियों के अनुसरण पर बनाई गई। उनकी वेशभूषा तथा शृंगार और सजावट भी यूनानी है। ये सभी मूर्तियाँ काले रंग के पत्थर की बनी हैं। तीन प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं--बैठी हुई, खड़ी मूर्तियाँ और लेटी मूर्तियाँ। बुद्ध की मूर्ति को देखकर लगता है जैसे किसी यूनानी राजकुमार की मूर्ति है। प्रायः बुद्ध की मूंछ भी दिखाई है। सर्वथा देशी भारतीय कला में प्रतीकवाद और भावनाओं को उभारने पर अधिक जोर दिया जाता था। कलाकार का ध्यान इस बात पर अधिक होता था कि बुद्ध के व्यक्तित्व की अवधारणा में जिस आध्यात्मिक सुख और शान्ति की परिकल्पना है वह बुद्ध की मूर्ति और मुखमुद्रा में अभिव्यक्त होनी चाहिये। पर यूनानी कला के प्रभाव में बनीं गंधार मूर्तियों में शरीर की सुन्दरता और अंगों के सन्तुलित अनुपात पर अधिक बल दिया गया है। बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को कथा-रूप में अंकन-पट्टियों पर उभारा गया है। इनमें प्रकृति के सौन्दर्य को भी बड़े सुन्दर ढंग से कला में उतारने की चेष्टा की गई है।

जहाँ तक वास्तुकला का प्रश्न है इसके अवशेष बहुत अधिक नहीं मिलते। पर तक्षशिला से भवनों के कुछ अवशेष मिले हैं जिन पर यूनानी प्रभाव दिखाई पड़ता है और इनके खम्भे और दीवारें यूनानी ढंग की हैं। गंधार कला के प्रभाव में बने स्तूपों (सभी ओर से बन्द स्मारक जिनमें बुद्ध के अवशेष रखे होते हैं और बौद्ध इनकी पूजा करते हैं) की विशेषता यह है कि इनकी ऊँचाई बहुत अधिक है। भरहुत और सांची तथा अन्य भारतीय प्रदेशों में बने स्तूप अर्धगोलाकार मिलते हैं। गंधार के स्तूप मूर्तियों से सजे होते थे। ये ऊंचे चबूतरे पर बनाये जाते थे और इन तक पहुंचने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थीं।

(घ) कुषाणकाल में महायान बौद्ध धर्म का उदय

बौद्ध धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं : हीनयान और महायान। यह नामकरण महायानियों का किया हुआ है। 'यान' का अर्थ होता है 'सवारी'। महायानियों की मान्यता है कि उसके सिद्धान्त बड़ी सवारी की तरह हैं जिस पर बैठ कर अधिक लोग दुःख से निवृत्ति पा सकते हैं; जबकि हीनयान (हीन=लघु; यान=सवारी) के सिद्धान्त से कुछ लोग ही। स्वयं हीनयानी अपने को 'स्थविरवादी' कहते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से हीनयान प्राचीन है और महायान का उदय बाद में हुआ। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि महायान के सभी सिद्धान्त एकदम नए हैं। ये सिद्धान्त बौद्ध धर्म में बीज रूप में पहले से थे। पर महायान में इनमें से कुछ पर ज्यादा जोर दिया गया और कुछ प्राचीन सिद्धान्तों की नई व्याख्यायें रखी गई।

हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि कनिष्क के समय चौथी बौद्ध संगीति बुलाई गई थी जिसमें वसुमित्र अध्यक्ष और अश्वघोष उपाध्यक्ष थे। इस समय तक बौद्ध धर्म के छः - सात सौ वर्ष पूरे हो चुके थे और यह जनसाधारण में खूब फैल चुका था। अशोक के समय से यह एशिया के और देशों में भी फैला था। गंधार प्रदेश में यह बहुत अधिक प्रभावशाली था जहाँ विभिन्न देशों और संस्कृतियों से आने वाले लोगों ने इसे अपनाया था। महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों ने विविध मत प्रस्तुत किए हैं, किन्तु यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि कई कारणों से बौद्ध धर्म में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी था और नैतिक पक्ष पर विशेष बल देता था। यद्यपि बुद्ध को एक असाधारण व्यक्ति माना जाता था पर उनकी पूजा का विधान नहीं था और

न ही भक्तिभावना के लिए प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में कोई विशेष स्थान था।

यह काल भक्ति भावना के प्रभाव का काल था। ब्राह्मण धर्म में शिव, विष्णु, कृष्ण, बलराम आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं और इनकी पूजा की जाती थी। इनके प्रभाव में बुद्ध की भी मूर्तियाँ बनने लगीं। बुद्ध को भगवान की तरह पूजा जाने लगा। बुद्ध के अतिरिक्त बहुसंख्यक बोधिसत्वों की कल्पना की गई। बोधिसत्व उस व्यक्ति को कहते हैं जिसने अपने सुन्दर कर्मों से ज्ञान प्राप्त कर लिया है और निर्वाण के सुख को भोगने का अधिकारी है पर वह तब तक इस सुख को अपने लिए नहीं चाहता, जब तक सभी लोगों को मुक्ति न मिल जाय। महायान में इस प्रकार के कई बोधसत्वों में विश्वास किया गया और यह माना गया कि वे भाँति-भाँति के उपायों से लोगों को मुक्ति दिलाने का प्रयास करते रहते हैं। इस धर्म में बुद्ध के प्रति भक्ति और प्रेम को मोक्ष का सबसे सुगम उपाय माना गया। इसके अनुसार बुद्ध केवल मार्ग बताने वाले शिक्षक और अच्छे मित्र ही नहीं है, बल्कि उन्हें ईश्वर के स्थान पर बिठा दिया गया, जो भक्त पर कृपा करते हैं। उनके लिए उपहार चढ़ाये जाने लगे और बौद्ध धर्म में कर्मकाण्ड और पूजा पद्धति का विकास हुआ। हीनयान की तुलना में महायान अधिक सरल और उदार धर्म था। हीनयान आचार-विचार पर बहुत जोर देता था और इस प्रकार इनमें वह रस नहीं था जो जनसाधारण को आकर्षित करता है। महायान ने भक्ति का प्रवेश कर इस कमी को पूरा किया।

हीनयान में व्यक्ति के अपने निर्वाण पर जोर दिया गया था। महायान व्यक्तिगत निर्वाण के स्थान पर संसार के सभी प्राणियों के निर्वाण पर बल देता है। इस सम्प्रदाय का महायान नाम इसी अन्तर पर आधारित है। महायानियों के अनुसार उनका 'यान' (सवारी) बहुत से लोगों के मोक्ष को ध्यान में रखता है जबकि दूसरे 'यान' में केवल एक व्यक्ति के मोक्ष का लक्ष्य होता है। इसलिए इस दूसरे सम्प्रदाय को उन्होंने 'हीनयान' (छोटा यान) कहा।

अपने को हीनयान से अलग करने के लिए महायानियों ने बुद्ध के वचनों को अपने लिए स्वतन्त्र रूप से लिखा। ये ग्रन्थ सूत्र कहलाये। प्रज्ञापारमिता सूत्र, गण्डव्यूह सूत्र, लंकावतार सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र महायान बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। हीनयान बौद्ध धर्म के ग्रन्थ पालि भाषा में थे। महायान के सूत्र संस्कृत भाषा में लिखे गए।

(ङ) वैष्णव धर्म और शैव धर्म का विकास

विष्णु और शिव दोनों वैदिक देवता थे। इस समय तक विष्णु और शिव के ऊपर अलग-अलग सम्प्रदाय स्थापित हो गए थे। इस काल में इन दोनों धर्मों का पर्याप्त विकास हुआ।

इस काल में वैष्णव धर्म भागवत धर्म के नाम से अधिक लोकप्रिय था, और मथुरा, राजस्थान और मध्य भारत में इस धर्म का विशेष प्रचार था। इसमें वासुदेव कृष्ण को 'भगवान्' (भगवत) मानकर पूजा जाता था जिस कारण इसका नाम भागवत धर्म पड़ा। कृष्ण के साथ-साथ वृष्णि कुल के चार अन्य वीरों-संकर्षण (बलराम) प्रद्युम्न, शाम्ब, और अनिरुद्ध की भी पूजा की जाती थी। बेसनगर का गरुड़ध्वज लेख इस धर्म से सम्बन्धित सबसे महत्वपूर्ण लेख है। यह शुंगकाल का लेख है जिसमें हेलियोडोर नामक यूनानी राजदूत के भागवत धर्म स्वीकार करने और गरुड़ध्वज स्थापित करने की बात कही गई है। इससे पता चलता है कि इस काल में भागवत धर्म इतना लोकप्रिय हो रहा था कि विदेशी भी इसकी ओर आकर्षित हो रहे थे। राजस्थान में घोसुन्डी नामक गांव (चित्तौड़

से सात मील दूर) से एक लेख मिला है जिसमें संकर्षण (बलराम) और वासुदेव (कृष्ण) नामक देवताओं की पूजा से सम्बन्धित 'नारायण वाटिका' नामक स्थान के चारों ओर पत्थर की चारदीवारी ('शिला प्रकार') खड़ा कराने का उल्लेख मिलता है। मथुरा से भी इस धर्म से सम्बन्धित लेख मिले हैं। भागवत धर्म में भक्ति पर विशेष बल दिया जाता था और भक्त द्वारा ईश्वर के प्रति असीम प्रेम को मोक्ष का सबसे उत्तम उपाय माना जाता था।

शैव धर्म दूसरा प्रमुख सम्प्रदाय था और इस काल में इसका विशेष विकास हुआ। शिव की पूजा मूर्ति रूप में आर लिंग के रूप में दोनों प्रकार से की जाती थी। इस काल की कई शिव लिंग की मूर्तियाँ मिली हैं। विदेशियों में शैव धर्म विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। पह्लव शासक गोंडोफरनीज के सिक्कों पर शिव की खड़ी मूर्ति बनी मिलती है। कुषाण राजवंश का दूसरा शासक विम कदफिसेज शैव था और उसके सिक्कों पर त्रिशूल, नन्दी और शिव बने मिलते हैं। कनिष्क के सिक्कों पर शिव को 'ओएशो' कहा गया है और शिव की आकृति बनी हुई है। कुषाण शासक वासुदेव भी शैव था। इस काल में लकुलीश नामक आचार्य ने शैव धर्म का विशेष प्रचार एवं प्रसार किया। ऐसा माना जाता है कि कुषाण काल तक आते-आते शिव के साथ-साथ त्रिमूर्ति बनाने की कल्पना साकार हो चुकी थी। पेशावर संग्रहालय में कुषाण काल की एक त्रिमूर्ति प्रतिमा रखी हुई है जिसमें बीच में शिव और दोनों ओर ब्रह्मा और विष्णु बनाये गए हैं। ब्रह्मा को आसानी से उनकी दाढ़ी से पहचाना जा सकता है।

(च) मनुस्मृति और हिन्दू समाज

स्मृतियाँ हिन्दू समाज के गठन, व्यक्ति के आचार-विचार एवं कर्त्तव्यों को निर्धारित करने के लिए प्रमुख आधार मानी गई हैं। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित कार्यकलापों का वर्णन इनमें मिलता है। हिन्दू समाज के आदर्शों और मान्यताओं का सबसे अधिक विस्तृत विवरण मनुस्मृति में मिलता है। यह अन्य सभी स्मृतियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और बाद की स्मृतियाँ इससे प्रभावित हैं। मनुस्मृति को 'मानव धर्मशास्त्र' भी कहते हैं। इस ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं। मनुस्मृति का रचनाकाल दूसरी शताब्दी ई. पू. और दूसरी शताब्दी ई. के बीच में रखा जाता है, यद्यपि यह सम्भव है कि इसकी रचना और भी पहले हुई हो।

मनुस्मृति के अनुसार, समाज के चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रस्रष्टा के चार अंगों से निकले हैं और इनके कर्त्तव्य और व्यवसाय निर्धारित हैं। ब्राह्मण मुख से निकला है और उसे पठन-पाठन और धार्मिक कर्म, यज्ञ आदि में लगना चाहिए। क्षत्रिय वर्ण भुजाओं से निकला है और इसका कार्य है समाज की रक्षा करना और शासन। वैष्य वर्ण जंघों से निकला है और इसके लिए कृषि कर्म, वाणिज्य और व्यापार बताया गया है। शूद्र पैरों से उत्पन्न हुआ है और इसके लिए अन्य वर्णों की सेवा करते हुए जीवन यापन करने का विधान बताया गया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि यद्यपि इस समय प्रत्येक वर्ण की सदस्यता जन्म पर आधारित मानी जाती थी और एक वर्ण के पिता से उत्पन्न पुत्र अपने पिता के ही वर्ण का माना जाता था, फिर भी मनुस्मृति में यह विचार भी मिलता है कि व्यक्ति के वर्ण के निर्धारण में उसके कर्म का महत्त्व होता है। एक स्थान पर मनु ने स्पष्ट रूप में कहा है कि कर्म ठीक न होने पर ब्राह्मण भी शूद्रता की स्थिति प्राप्त करता है और सुन्दर कर्मों से शूद्र भी ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करता है।

इस समय समाज कई जातियों में बंटा हुआ था। कुछ व्यवसायों ने जातियों का रूप ग्रहण कर लिया था; साथ ही, पहले की कुछ असभ्य और जंगली जनजातियाँ भी–यथा

निषाद, चाण्डाल आदि–जो अब भारतीय समाज में मिल गई थीं अब जातियों के रूप में संगठित हो गई थीं। कई विदेशी जातियाँ भी आकर भारत में बस गई थीं और समाज में उन्हें क्या स्थान दिया जाय, यह प्रश्न सामने था। मनुस्मृति में समाज को संगठित स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। इसमें जातियों को 'वर्णसंकर' (वर्णों के मिश्रण) से उत्पन्न बताया गया है। वर्ण केवल चार हैं पर जब एक वर्ण का पुरुष अपने वर्ण से अलग किसी कन्या से विवाह कर लेता है तो उससे पैदा होने वाली सन्तान से एक तीसरी जाति बनती है। इस प्रकार के अन्तर्वर्णीय विवाह सम्बन्ध में यदि पुरुष ऊँचे वर्ण का है और कन्या नीचे वर्ण की तो इस विवाह को 'अनुलोम विवाह' कहा जाता है। यदि पुरुष निम्न वर्ण का है और कन्या उच्च वर्ण की तो इसे 'प्रतिलोम विवाह' कहेंगे। इसी प्रकार के वर्णों के 'संकर' (मिश्रण) से विविध जातियों की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक जाति किसी न किसी वर्ण के अन्तर्गत आएगी। यद्यपि विद्वान् प्रायः जाति के विषय में मनु के सिद्धान्त को ऐतिहासिक नहीं मानते हैं पर ऐसा लगता है कि कुछ जातियाँ इस प्रकार बनी होंगी।

इस ग्रन्थ में विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। इसमें चारों वर्णों के धर्म (कर्त्तव्य) और संस्कार बताए गए हैं। गृहस्थ द्वारा प्रतिदिन किए जाने योग्य कार्य, विवाह, जीवन की विभिन्न अवस्थाओं (जिसे चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास कहते हैं) पर विस्तार से विचार किया गया है। राजधर्म (राजा के कर्त्तव्य) और प्रशासन पर अलग-अलग अध्याय हैं। ग्रन्थ में यह भी बताया गया है कि किन कर्मों से मनुष्य पाप का भागी होता है और फिर उनके प्रायश्चित्त भी बताए गए हैं।

मनुस्मृति में प्रतिपादित विषयों में सबसे महत्त्वपूर्ण 'धर्म' का विचार है। 'धर्म' का अर्थ है धारण करना अथवा सहारा देना। जिस पर समाज अपने सभी अंगों के साथ टिका रहता है वह धर्म है। धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के धार्मिक, सामाजिक नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी पक्ष आते हैं। इस प्रकार सभी स्थानों, समयों और परिस्थितियों में मनुष्य का जीवन धर्म द्वारा नियन्त्रित होता है। इस प्रकार धर्म का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है : देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, राजधर्म, पुरुष धर्म, स्त्री धर्म, गुरु धर्म, शिष्य धर्म और इसी रूप में मनुष्य जिस भी स्थिति में है उस स्थिति में उसके कुछ कर्त्तव्य होते हैं, उस कर्त्तव्य का पालन करना ही उसका धर्म है। मनु के अनुसार धर्म का मुख्य आधार वेद हैं; पर आचार (अर्थात् जो रीति-रिवाज काफी दिनों से प्रचलित है और समाज द्वारा स्वीकृत है) को भी मनु ने स्वीकार किया है। जब तक समाज में लोग अपने-अपने धर्म निभाते हैं समाज में व्यवस्था और शान्ति बनी रहती है। ऐसा न होने पर समाज में गड़बड़ी और अव्यवस्था आ जाती है।

14

गुप्त साम्राज्य एवं गुप्तकालीन संस्कृति

गुप्तों के उदय के समय भारत की राजनीतिक स्थिति

चौथी शताब्दी ईसवी से भारतीय इतिहास में महान् गुप्त नरेशों का युग प्रारम्भ होता है। इसी युग में भारतीय संस्कृति ने अपना परिनिष्ठित स्वरूप प्राप्त किया। कुषाणों के पतन और गुप्तों के उदय के बीच के समय का इतिहास हमें सुचारुरूपेण विदित एवं क्रमबद्ध रूप में नहीं प्राप्त है और इस कारण इस काल को भारतीय इतिहास का 'अन्धकार युग' भी कहा जाता रहा है।* किन्तु, विविध अभिलेखों एवं मुद्राओं के अध्ययन के आधार पर अब इस काल की राजनीतिक स्थिति के बारे में एक सामान्य चित्र बनाया जा सकता है। इस काल के बारे में जो सामग्री मिलती है उससे जान पड़ता है कि कुषाण सत्ता के पतन के बाद उसके स्थान पर कई छोटे-छोटे राज्यों का उदय हो गया था। इनमें कुछ राजतन्त्र थे और कुछ गणतन्त्र। अफगानिस्तान एवं सिन्धु घाटी का प्रदेश कुषाणों के हाथ से निकल कर फारस के ससानी साम्राज्य के अधिकार में चला गया, यद्यपि कुषाणों की एक शाखा अधीनस्थ होकर गुप्त के समय तक चलती रही। इस शाखा के शासकों को 'उत्तर कुषाण' या 'किदार कुषाण' (संस्थापक किदार के नाम पर) कहा जाता है और इन्होंने पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाई थी। गुप्त शासक समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में 'दैवपुत्र शाहिशाहानुशाहि' शासक द्वारा उसे भेंट-उपहार प्रदान करने की चर्चा मिलती है। 'दैवपुत्र' उपाधि स्पष्टतः कुषाणों की ओर संकेत करती है और यहाँ सम्भवतः कुषाणों की यही शाखा अभिप्रेत है।

पूर्वी पंजाब और पूर्वोत्तर राजस्थान में कई गणराज्यों ने कुषाण शक्ति पर प्रहार किया और अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। इसमें यौधेयों का गण सबसे अधिक प्रभावशाली था। यौधेयों की सत्ता काँगड़ा, देहरादून, सहारनपुर, रोहतक और दिल्ली के चतुर्दिक प्रदेश पर स्थापित दिखाई पडती है। यौधेयों की प्राचीन मुद्राओं पर 'बहधान्यक यौधयानाम्' लेख प्राप्त होता है जिससे ज्ञात होता है कि वे बहुधान्यक नामक नगर से सम्बन्धित थे। इस नगर का अस्तित्व रोहतक प्रदेश में माना जाता है। इनकी कुछ ताम्र मुद्राएँ चतुर्थ शताब्दी ईसवी की हैं जिन पर 'यौधेय गणस्य जयः' (=यौधेय गण की जय) लिखा मिलता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में यौधियों का नामोल्लेख हुआ है। राजस्थान में आधुनिक भरतपुर तथा अलवर प्रदेश पर आर्जुनायन गण का राज्य था। सिकन्दर के आक्रमण के समय ये उत्तर-पश्चिम भारत में थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में इनका भी उल्लेख मिलता है। राजस्थान में ही अजमेर, टोंक और मेवाड़ के इलाके में मालवों का गणराज्य

---

* उदाहरण के लिए द्र. रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 170।

था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इनका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है जहाँ इन्हें 'आयुधजीवी संघ' के अन्तर्गत रखा गया है। सिकन्दर के आक्रमण के समय ये लोग पंजाब में थे जहाँ से कालान्तर में ये राजस्थान में आकर बस गये थे। पहले यह उज्जैन के शक क्षत्रपों और कुषाण साम्राज्य के बीच में दबा हुआ शक्तिहीन गण था पर इस काल में अवसर पाकर यह फिर शक्तिशाली हो गया था। चित्तौड़ के आसपास के प्रदेशों से प्राप्त कुछ मुद्राओं पर 'मझमिकाय शिविजनपदस' (मध्यमिकाया: शिविजनपदस्य = मध्यमिका का शिवि जनपद) लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि चित्तौड़ का प्राचीन नाम मध्यमिका था और यहाँ शिवि गण का राज्य था। इनके अतिरिक्त इस समय कुणिन्द, आभीर, लिच्छवि, मद्रक, औदुम्बर, काक, सनकानिक, खरपरिक आदि कई अन्य गणराज्यों का अस्तित्व प्रमाणित होता है जिनमें से अन्तिम तीन का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में हुआ है। प्रयाग प्रशस्ति में ही समुद्रगुप्त स्वयं को 'लिच्छवि-दौहित्र'* कहता है; चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर 'लिच्छवय:' लेख मिलता है। इन साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि इस समय लिच्छवियों ने फिर एक बार पर्याप्त शक्ति अर्जित कर ली थी। कुणिन्दों का गण सम्भवत: हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में स्थित था; इनकी मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं जिन पर 'कुणिन्द' तथा 'कुणिन्दगण' लेख उत्कीर्ण मिलता है।

मथुरा, गंगा का दोआब, बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड के प्रदेश पर नागवंशी शासकों ने कुषाणों की सत्ता का विनाश किया था। गुप्तों के उदय के समय इनकी दो प्रमुख शाखाएँ थीं : 1. पद्मावती (ग्वालियर के निकट पवाया) तथा 2. मथुरा; तथा पुराणों का कहना है कि जिस समय गुप्तों का उदय हुआ उस समय तक पद्मावती में नौ तथा मथुरा में सात नागवंशी शासक राज्य कर चुके थे। पद्मावती के नागवंशी शासक 'भावशिव' कहलाते थे क्योंकि वे अपने कन्धे पर शिवलिंग धारण करते थे। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण शासक भवनाग (लगभग 305 से 340 ई.) था जिसे गंगा नदी के तट पर दस अश्वमेध यज्ञों का सम्पादन करने वाला कहा गया है। यह वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम का नाना था और सम्भवत: इसने अपने नाती को कोई महत्त्वपूर्ण सहायता दी थी।** पद्मावती और मथुरा दोनों ही स्थानों के नाग वंशों का शासन दूसरी शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में प्रारम्भ हुआ था।*** नागवंशी शासकों की स्वतन्त्र सत्ता समुद्रगुप्त के समय तक बनी रही। प्रयाग प्रशस्ति में उसके द्वारा पराजित कुछ नाग शासकों के नाम (अच्युत, नागदत्त, गणपतिनाग) मिलते हैं।

मालवा और सुराष्ट्र में शक क्षत्रपों का राज्य अभी चल रहा था पर वे बिल्कुल शक्तिहीन हो गये थे।

दक्षिण में भी इस समय कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये थे। विन्ध्य पर्वत के उत्तर में विन्ध्यशक्ति नामक व्यक्ति ने 250 ई. के आसपास वाकाटक वंश की स्थापना की जो धीरे-धीरे एक शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित हुआ। इस वंश का सबसे प्रतापी राजा प्रवरसेन था जिसने 280 ई. से 340 ई. तक शासन किया। इसके समय में

* यह लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी का पुत्र था। ऐसा ध्वनित होता है कि स्वयं को 'लिच्छवि-दौहित्र' कहने में उसे गर्व का अनुभव होता था। यह उल्लेखनीय है कि सामान्य रूप से राजकीय लेखों में माता के कुल का उल्लेख नहीं मिलता।

** द्र. रमेशचन्द्र मजूमदार तथा अल्तेकर द्वारा सम्पादित वाकाटक-गुप्त युग (हिन्दी संस्करण, दिल्ली 1968), पृ. 25-27।

*** वही, पृ. 25।

वाकाटक राज्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण मध्य प्रदेश, बरार, मालवा और उत्तरी महाराष्ट्र शामिल था। गोदावरी और महानदी के बीच के प्रदेश में इक्ष्वाकु वंश का आधिपत्य था। सुदूर दक्षिण में इस समय पल्लव, पाण्ड्य और चोल शासन कर रहे थे।

गुप्त इतिहास के अध्ययन के साधन

मौर्यों के पतन के पश्चात् नष्ट हुई भारत की राजनीतिक एकता को गुप्त शासकों ने पुनः अर्जित किया। इस काल में भारत ने राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक, साहित्यिक व कला के क्षेत्र में उन्नति विशेष उल्लेखनीय है। इस युग का प्रमुख योगदान विदेशी लेखकों द्वारा भी प्रशंसित है। इसके अतिरिक्त इस युग की प्रमुख देन–सुखी एवं समृद्ध समाज की स्थापना वृहत्तर भारत की अवधारणा की क्रियान्विति एवं धर्म-सहिष्णुता है। सांस्कृतिक उन्नति के कारण इस युग के विषय में जानने के लिए अत्यधिक सामग्री उपलब्ध है।

(क) साहित्यिक स्रोत

पुराण गुप्तकाल पर विशेष प्रकाश डालते हैं जिनमें विष्णुपुराण, वायुपुराण व ब्राह्मण पुराण विशेष उल्लेखनीय हैं। पुराणों से गुप्तकाल के प्रारम्भिक इतिहास, सीमानिर्धारण तथा सांस्कृतिक कार्यकलापों के विषय में जानकारी मिलती है।

गुप्तकाल में सम्भवतः बृहस्पति, व्यास आदि स्मृतियों की रचना हुई थी तथा इस काल में रचित धर्मशास्त्रों से भी गुप्तकालीन धर्म संस्कार स्त्रियों की दशा तथा नैतिक आदर्श के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है।

गुप्तकाल में अनेक काव्यों व नाटकों की रचना हुई, जिनमें कौमुदी महोत्सव गुप्तवंश की उत्पत्ति के विषय में जानकारी देता है, कालीदास द्वारा रचित रघुवंश व अभिज्ञान शाकुन्तलम् गुप्तकाल पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं, विशाखदत्त द्वारा रचित देवीचन्द्रगुप्तम् नामक नाटक रामगुप्तशासक की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालता है, विशाखदत्त एक अन्य नाटक 'मुद्राराक्षस' के रचयिता भी हैं जो कि मुख्यतः मौर्यकालीन है किन्तु गुप्तवंश की स्थापना की जानकारी भी देता है। इसी प्रकार शूद्रक के नाटक मृच्छकटिकम् के इस काल के न्याय, दण्ड विधान तथा सामाजिक स्थिति के बारे में पता चलता है। वात्सायन के प्रसिद्ध ग्रन्थ कामसूत्र से तत्कालीन वेश-भूषा, आभूषण, सुगन्धित द्रव्य, संगीत एवं वाद्य यंत्र तथा जनसाधारण के मनोविनोद के साधनों के विषय में भी पता चलवा है।

विदेशी यात्रियों के वृत्तान्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये वर्णन निष्पक्ष हैं। इन वृत्तान्तों में फाह्यान जोकि चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत आया था, उस समय की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति के विषय में विवरण देता है। ह्वेनसांग यद्यपि हर्षवर्धन के शासनकाल में भारत आया था परन्तु गुप्तकाल के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी देता है।

साहित्यिक स्रोतों के अतिरिक्त गुप्तवंश के इतिहास के निर्माण में अभिलेखीय स्रोत भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये अभिलेख शिलाओं स्तम्भों व ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण हैं जिनकी भाषा संस्कृत है। ये अभिलेख शासकों की वंशावलियों, साम्राज्य की सीमा निर्धारण में सर्वाधिक प्रमाणिक स्रोत माने जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमुख प्रयाग व ऐरण अभिलेख महरौली व उदयगिरि गुहा अभिलेख, मन्दसौर व भीतरी तथा कहौम अभिलेख हैं जो कि समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, कुमारगुप्त व स्कन्दगुप्त के काल में लिखे गये।

गुप्तकाल से भारतीय मुद्रा के इतिहास में नवीन युग का प्रारम्भ हुआ क्योंकि इस

युग में स्वर्ण, रजत व ताम्र मुद्राओं का निर्माण हुआ। मुद्राओं के प्राप्ति स्थान के आधार पर साम्राज्य की सीमा निर्धारण में भी सहायता मिलती है। इन मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्रों से सम्राटों की शारीरिक बनावट, व्यक्तित्व, शक्ति व रुचि का पता चलता है।

गुप्तकाल के अनेक स्मारक व प्राप्त कलाकृतियाँ तत्कालीन, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति पर विशेष प्रकाश डालते हैं। इन स्मारकों से गुप्तकाल में भारत की सांस्कृतिक उन्नति तथा राजा और प्रजा की धार्मिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति भी हो जाती है। मंदिरों में शिखर बनाने की परम्परा भी गुप्तकाल से प्रारम्भ हुई जिसका प्रतिदर्श (नमूना) भूमरा के शिव मंदिर, तिगवा के विष्णु मंदिर, नचना के पार्वती मंदिर में झलकते हैं। चित्रकला की दृष्टि से अजन्ता व बाघ की गुफाओं के चित्र अनुपम हैं।

अतः गुप्तकाल पर प्रकाश डालने वाले अनेक स्रोत हैं जिनके आधार पर गुप्तकाल के प्रामाणिक इतिहास का निर्माण किया जा सकता है।

गुप्तों का वंश-परिचय*

अपने लेखों में गुप्तों ने कहीं अपनी जाति का उल्लेख नहीं किया है। तथापि चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता, जो वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय को ब्याही थी, अपने ताम्रपत्र लेखों में स्वयं को 'धारण' का गोत्र बताती है। चूंकि स्वयं वाकाटक नरेशों को गोत्र विष्णुवृद्ध था, अतः विद्वानों का विचार है कि प्रभावती गुप्ता ने इनमें अपने पितृकुल के गोत्र का उल्लेख किया है। इस आधार पर गुप्तों का गोत्र 'धारण' माना जा सकता है। इन शासकों का नाम 'गुप्त' में समाप्त होने के कारण कुछ लोगों ने यह अनुमान किया कि ये वैश्य थे क्योंकि स्मृतियों में कहा गया है कि ब्राह्मण की उपाधि शर्मा, क्षत्रिय की वर्मा, वैश्य की गुप्त अथवा भूति और शूद्र की दास होनी चाहिए।** पर यह उल्लेखनीय है कि व्यवहार में सदैव ऐसा नहीं होता था। कई ब्राह्मणों के नाम भी ब्रह्मगुप्त, विष्णुगुप्त, भवभूति, देवभूति आदि मिले हैं और केवल इस आधार पर उन्हें वैश्य नहीं कहा जा सकता। डा. काशी प्रसाद जायसवाल ने कौमुदी महोत्सव के आधार पर उन्हें मूलतः जाट उत्पत्ति का माना है, पर प्रायः इस मत को नहीं माना जाता। ओझा, सुधाकर चट्टोपाध्याय वासुदेव उपाध्याय आदि विद्वानों ने गुप्तों को क्षत्रिय वर्ण का माना है। डा. राजबली पण्डेय ने लिखा है, "इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि गुप्त प्रारम्भ में वैश्य रहे हों और पीछे वर्ण बदल कर क्षत्रिय हो गए हों।" कुछ विद्वानों ने गुप्तों को ब्राह्मण वर्ण का बताया है।*** इस प्रसंग में उन्होंने गुप्त शासकों के विविध ब्राह्मण कुलों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों को आधार बनाया है। जहाँ एक ओर ब्राह्मणवंशी कदम्ब शासक काकुस्थवर्मन् ने अपनी कन्या गुप्त कुल में दी थी वहीं गुप्त राजकन्या प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मण वाकाटक राजवंश के रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। इस प्रकार गुप्त नरेशों के धारण गोत्रीय ब्राह्मण होने की सम्भावना काफी प्रबल है।

गुप्तों का आदि राज्य

गुप्तों के उदय के मूल स्थान के प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। डा. डी. सी.

* विविध विद्वानों के मतों पर समीक्षात्मक चर्चा के लिए द्र. श्रीराम गोयल, स्टडीज इन द पोलिटिकल हिस्ट्री आव द इम्पीरियल गुप्तज (1966), पृ. 74-81।

** डा. अल्तेकर, आयंगर, वी. वी. मीराशी आदि विद्वान् गुप्तों को वैश्य मानते हैं।

*** इस मत के समर्थन में डा. श्रीराम गोयल ने विविध तर्कों को बड़े सबल रूप में रखा है द्र. पूर्वोद्धृत, पृ. 78–81, अपरञ्च, उदय नारायण राय, गुप्त सम्राट और उनका काल (इलाहाबाद, 1971), पृ. 47-52।

गागुली के अनुसार, गुप्तवंश के प्रारम्भिक शासक बंगाल में आधुनिक मुर्शिदाबाद के पास कहीं राज्य करते थे। डा. रमेशचन्द्र मजूमदार का भी विचार है कि मूल गुप्त राज्य में बंगाल का भी कुछ भाग शामिल था। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने बंगाल के माल्दह जिले के निकटवर्ती प्रदेशों को गुप्तों के मूल राज्य का स्थान माना है। इसके विपरीत, अल्तेकर, वासुदेव उपाध्याय आदि विद्वानों का विचार है कि गुप्तों का मूल राज्य मगध ही था। डा. गोयल ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों को आदि गुप्त नरेशों का मूल स्थान माना है। पुराणों के आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्य विस्तार साकेत तथा प्रयाग से मगध तक प्रस्तुत दिखाई पड़ता है। प्रयाग साकेत क्षेत्र को ही गुप्तों का आदि स्थान मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

गुप्तों का उदय : श्रीगुप्त और घटोत्कच

गुप्त लेखों में गुप्त शासन वंशावली श्रीगुप्त नामक व्यक्ति से प्रारम्भ होती है जिसे 'महाराज' कहा गया है। किन्तु स्मिथ, ऐलन, जायसवाल आदि का विचार है कि उसका नाम केवल गुप्त था और 'श्री' नाम के पहले केवल सम्मान प्रदर्शनार्थ लगाया गया है। उसकी और उसके उत्तराधिकारी घटोत्कच की 'महाराज' उपाधि के आधार पर प्रायः विद्वानों की यह मान्यता है कि वे एक साधारण सामन्त राजा थे।* पर वे किस शक्ति के अधीन थे? इस पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। फ्लीट एवं आर. डी. बनर्जी के अनुसार श्रीगुप्त और घटोत्कच शकों के अधीन थे। सुधाकर चट्टोपाध्याय ने उन्हें मुरुण्डों का अधीनस्थ शासक माना है, जबकि स्मिथ और डा. काशीप्रसाद जायसवाल का विचार था कि वे लिच्छवियों के अधीन थे। अन्तिम मत अधिक ग्राह्य जान पड़ता है।

इन दोनों शासकों के विषय में कोई विशेष सूचना उपलब्ध नहीं है। चीनी यात्री इत्सिंग ने** एक राजा चे-लि-कितो का उल्लेख किया है जिसने मृगशिखावन में चीनी भिक्षुओं के लिए एक मन्दिर बनवाया और इसका खर्च चलाने के लिए इसके साथ 24 गाँव लगा दिए। इस चे-लि-कि-तो का समीकरण श्रीगुप्त से किया गया है किन्तु इसे सर्वथा निश्चित नहीं माना जा सकता।

प्रथम गुप्त नरेश गुप्त अथवा श्रीगुप्त का शासनकाल 275 ई. से 300 ई. तक माना जाता है। घटोत्कच का समय 300 से 320 ई. तक था। घटोत्कच का भी श्रीगुप्त के समान कोई अलग अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। डॉ. मजूमदार के अनुसार घटोत्कच अपने पिता से अधिक प्रभावशाली रहा होगा क्योंकि सुपिया से प्राप्त लेख में गुप्त वंश को घटोत्कच-वंश कहा गया है, किन्तु इस आधार पर निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है

चन्द्रगुप्त प्रथम

गुप्तों की शक्ति घटोत्कच के पुत्र चन्द्रगुप्त (प्रथम) के समय से बढ़ी। यह 320 ई. में राजा बना। चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के समय उसके द्वारा एक नवीन संवत् शुरू होता है और प्रायः इसे गुप्त संवत् का संस्थापक माना जाता है। इस संवत् की स्थापना लगभग 319-320 ई. में हुई थी। यह पहला गुप्त शासक है जिसने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। उसने लिच्छवि राजकन्या कुमारदेवी से विवाह किया जिसकी जानकारी हमें एक विशेष प्रकार की सुवर्ण मुद्राओं से मिलती है। इन पर मुख भाग पर राजा और

---

* डा. गोयल इसे नहीं स्वीकार करते। उनके अनुसार इस काल में 'महाराज' उपाधि सार्वभौम एवं स्वतन्त्र स्थिति की परिचायक है।

** यह 671 ई. से लेकर 695 ई. क भारत में रहा था।

रानी की आकृति बनी है और चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के नाम लिखे हुए हैं, पृष्ठ भाग पर सिंहासनासीन देवी की आकृति बनी है और 'लिच्छवयः' लेख मिलता है। इसकी पुष्टि प्रयाग प्रशस्ति में भी होती है जिसमें समुद्रगुप्त को 'लिच्छवि-दौहित्र' कहा गया है। लिच्छवियों के साथ हुआ यह विवाह सम्बन्ध राजनीतिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व का था। इस वैवाहिक सम्बन्ध के महत्त्व को रेखांकित करते हुए डा. रायचौधरी ने कहा है कि जिस प्रकार पहले बिम्बिसार ने लिच्छवियों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ की थी उसी प्रकार चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बनाकर मगध साम्राज्य की आधारशिला रखी। ऐसा माना जाता है कि इस सम्बन्ध से चन्द्रगुप्त को लिच्छवियों द्वारा शासित प्रदेश भी मिल गया तथा मगध के पास के कुछ और जीतने में भी उसे सहायता मिली। गुप्त राज्य में इस समय पुराना वत्स राज्य (प्रयाग), कोशल प्रदेश (साकेत) तथा बिहार का पश्चिमोत्तर और दक्षिणी पश्चिमी भाग सम्मिलित था। पुराणों एवं प्रयाग-प्रशस्ति से चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य विस्तार के विषय में प्रकाश पड़ता है तथा यह स्रोत भी मानते हैं कि चन्द्रगुप्त का राज्य पश्चिम में प्रयाग जनपद से लेकर पूर्व में मगध अथवा बंगाल के कुछ भागों तक व दक्षिण में मध्य प्रदेश के दक्षिण-पूर्वी भाग तक विस्तृत था। चन्द्रगुप्त प्रथम को ही गुप्त वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक माना जाता है तथा उसने ही सर्वप्रथम गुप्त साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न किया।

समुद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद समुद्रगुप्त राजा बना। कौशाम्बी में अशोक द्वारा खड़े कराए गए स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति मिलती है। इसे हरिषेण ने लिखा है जो समुद्रगुप्त का एक उच्च पदाधिकारी (कुमारामात्य एवं सांधिविग्रहिक) था। इस समय यह स्तम्भ प्रयाग (इलाहाबाद) में है, इस कारण इसे प्रयाग प्रशस्ति कहते हैं। लेख संस्कृत भाषा की चम्पू शैली (जिसमें गद्य और पद्य दोनों होता है) में लिखा हुआ है। पहले के भाग पद्य में हैं और उत्तरार्ध गद्य में लिखा हुआ है। पूर्वार्द्ध के आठ श्लोकों में केवल तीसरे और चौथे श्लोक पूर्ण सुरक्षित रूप में मिलते हैं: अन्य श्लोकों की कई पंक्तियाँ नष्ट हो गई हैं। लेख में कोई तिथि नहीं मिलती; यह हो सकता है कि क्षतिग्रस्त पंक्तियों में कहीं तिथि भी दी गई रही हो। इससे समुद्रगुप्त का विस्तृत इतिहास ज्ञात होता है। एरण अभिलेख भी एक महत्वपूर्ण स्रोत है। गया व नालन्दा के ताम्रपत्रों से भी समुद्रगुप्त के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से समुद्रगुप्त की मुद्राएँ भी अत्यन्त उपयोगी हैं, जिससे कि समुद्रगुप्त की अभिरुचि सांस्कृतिक उपलब्धियों, साम्राज्य सीमा, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति के विषय पर प्रकाश पड़ता है।

उसकी मुद्राओं पर उसके लिए 'पराक्रम', 'व्याघ्रपराक्रम' तथा 'पराक्रमांक' उपाधियाँ प्रयुक्त हुई हैं। कुछ विद्वानों ने काच नामधारी सुवर्ण मुद्राओं को समुद्रगुप्त का माना है। इन पर मुख भाग पर राजा की आकृति बनी है और 'कर्मभिः उत्तमैः' (उत्तम कर्मों द्वारा स्वर्ग को जीतता है) लिखा मिलता है। पृष्ठ भाग पर 'सर्वराजोच्छेत्ता' लिखा मिलता है जो उसकी उपाधि है। इन विद्वानों का विचार है कि काच समुद्रगुप्त का मूल नाम था और समुद्रगुप्त नाम सम्भवतः उसने अपने दिग्विजय के बाद ग्रहण किया था।•

• एलन, फ्लीट, स्मिथ, रायचौधरी इस समीकरण के समर्थक विद्वान् हैं। किन्तु काच के समीकरण की समस्या बड़ी विवादास्पद है। डा. भण्डारकर तथा अल्तेकर ने इसका समीकरण चन्द्रगुप्त द्वितीय के बड़े भाई रामगुप्त से किया है। फादर हेरास और डा. गोयल का विचार है कि काच समुद्रगुप्त का विद्रोही भाई था।

(क) पिता द्वारा उत्तराधिकारी चुना जाना

प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि चन्द्रगुप्त ने भरी सभा में उसे अपना उत्तराधिकारी चुना, जिसका उसके सभासदों ने स्वागत किया, पर भाई-बन्धुओं के मुख म्लान हो गए। इस वर्णन से ऐसा जान पड़ता है कि समुद्रगुप्त अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, पर अपनी योग्यता के कारण वह उत्तराधिकारी चुना गया। कुछ विद्वानों के अनुसार काच नामधारी सिक्कों का काच समुद्रगुप्त का प्रतिस्पर्धी भाई था। डा. रमेशचन्द्र मजूमदार का विचार है कि चन्द्रगुप्त ने स्वयं गद्दी छोड़ दी थी और समुद्रगुप्त को राजा के रूप में अभिषिक्त कर दिया था।* रैप्सन तथा हेरास का विचार है कि राज्याभिषेक के बाद समुद्रगुप्त को अपने भाइयों के साथ गृह-युद्ध लड़ना पड़ा था जिसमें अन्ततोगत्वा समुद्रगुप्त विजयी हुआ।

(ग) प्रारम्भिक विजयें

इस समय मथुरा और पद्मावती (ग्वालियर के निकट पवाया) में नागों का शासन था। प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि उसने अच्युत और नागसेन को उखाड़ फेंका (निर्मूल्य) और फिर 'कोटकुलज' को परास्त कर पुष्पपुर में विश्राम किया। डा. जायसवाल का विचार था कि कोटकुल का उस समय पाटलिपुत्र पर आधिपत्य था और उनके अनुसार, इस कुल के शासक को परास्त कर समुद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र (पाटलिपुत्र का एक प्राचीन नाम पुष्पपुर भी था) पर आधिपत्य स्थापित किया था। 'कोटकुलज' के समीकरण के बारे में डा. मजूमदार ने पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली के आसपास से मिली कुछ मुद्राओं की ओर ध्यान दिलाया है जिन पर 'कोत' शब्द लिखा मिलता है। उनके अनुसार, समुद्रगुप्त द्वारा पराभूत 'कोटकुलज' इसी राजवंश का शासक रहा होगा, जिस अभियान के पश्चात् समुद्रगुप्त ने विजयोत्सव मानते हुए अपनी राजधानी में प्रवेश किया हो। यदि जायसवाल का समीकरण ठीक है तो पाटलिपुत्र विजय समुद्रगुप्त के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना रही होगी। पाटलिपुत्र शताब्दियों से मगध की राजधानी रह चुका था और इस पर अधिकार होने से समुद्रगुप्त के मन में और भी प्रदेशों को जीतने और राज्य-विस्तार करने की इच्छा जगी होगी।

(ग) समुद्रगुप्त की दिग्विजय

प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजयों का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है। इस स्रोतानुसार सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की योजना बनाई, जिनका ध्येय 'धरणि-बन्ध' (भू-मण्डल को बाँधना) था। प्रशस्ति में दिए गये वर्णन के क्रम के अनुसार, उसने पहले अच्युत, नागसेन और कोटकुलज को पराभूत किया और फिर दक्षिणापथ के राजाओं को जीतने के पश्चात् पुनः आर्यावर्त के कुछ राजाओं (जिनके नाम दिए गये हैं और जिनमें फिर अच्युत नागसेन के नाम गिनाए गये हैं) को परास्त किया। किन्तु, इस वर्णन क्रम को यथारूप स्वीकार करना ठीक नहीं जान पड़ता। उत्तरी भारत में अपने विरोधी शासकों को सर्वथा उन्मूलित किए विना दक्षिणापथ का अभियान व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं लगता। उत्तरी भारत में निश्चित होकर ही समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण विजय की योजना बनाई होगी। समुद्रगुप्त की विजयें इस क्रम में हुई होंगी।

1. आर्यावर्त के राजाओं पर विजय

सबसे पहले समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त अर्थात् उत्तर भारत के नौ राजाओं को हराया।

---

* वाकाटक गुप्त युग पृ. 136।

इन राजाओं के नाम लेख में इस प्रकार दिए गये हैं : रुद्रदेव, मातिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपतिनाग, नागसेन, नन्दिन, अच्युत और बलवर्मा। इनमें नागदत्त, गणपतिनाग, नागसेन और नन्दिन नागवंशी शासक जान पड़ते हैं। विद्वानों का विचार है कि इनमें गणपतिनाग सबसे अधिक शक्तिशाली था। यह विदिशा अथवा मथुरा का नागवंशी शासक था। नागसेन पद्मावती का नागवंशी शासक था। नागदत्त और नन्दिन के अधिकार क्षेत्रोंको निश्चित रूप से बता सकना कठिन है।

इस सूची में उल्लिखित रुद्रदेव का तादात्म्य डा. के. एन. दीक्षित तथा डा. के. पी. जायसवाल ने वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम के साथ किया है। महामहोपाध्याय वी. वी. मीराशी ने भी यही समीकरण प्रस्तुत किया है और कहा है कि उत्तर भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिवेश में गुप्त-वाकाटक संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया था और इसमें समुद्रगुप्त ने रुद्रसेन प्रथम को पराभूत कर वाकाटक शक्ति को गहरा आघात पहुंचाया था। इस तादात्म्य को मानने में गम्भीर कठिनाइयाँ हैं। लेख में रुद्रदेव की गणना आर्यावर्त के शासकों में की गई है जबकि वाकाटक वंश दक्षिणापथ का राजवंश था; यदि यह शासक वाकाटक वंश का रुद्रसेन प्रथम होता तो हरिषेण ने उसका नाम दक्षिणापथ के राजाओं की सूची में दिया होता। पुनः लेख के अनुसार समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राजाओं को उन्मूलित कर दिया था जबकि वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम के बाद वाकाटक शक्ति कई पीढ़ियों तक बनी रही, जिसमें आगे चलकर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह किया। अतः रुद्रदेव को उत्तरी भारत का कोई क्षेत्रीय शासक मानना अधिक उचित जान पड़ता है। डा. उदय नारायण राय ने इसे कौशाम्बी का क्षेत्रीय शासक मानते हैं। मातिल के प्रदेश का निर्धारण नहीं किया जा सकता। चन्द्रवर्मन् का शासन-क्षेत्र सम्भवतः पश्चिमी बंगाल में आधुनिक बांकुड़ा जिले के आसपास था। इसका तादात्म्य सुसुनिया पहाड़ी पर उत्कीर्ण एक लेख में उल्लिखित चन्द्रवर्मा से किया गया है। अच्युत सम्भवतः अहिच्छत्र (आधुनिक बरेली जिला में रामनगर नामक स्थान) प्रदेश पर शासन करने वाला कोई नाग शासक था। बलवर्मा के बारे में भी कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता।

लेख में इन शासकों के संदर्भ में 'प्रसभोद्धरण' (=बल पूर्वक जीत लेना) शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त ने इन राजाओं को परास्त कर उनकी प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया था। कुछ विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया है कि समुद्रगुप्त ने इन सभी शासकों को किसी एक ही युद्ध में हराया होगा। पर इन शासकों की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। इनके राज्य ग्वालियर से लेकर बंगाल तक फैले हुए दिखाई पड़ते हैं; इन सबका संघ बना सकना संभव नहीं जान पड़ता। समुद्रगुप्त ने इन्हें अलग-अलग युद्धों में हराया होगा।

2. विन्ध्य प्रदेश के जंगली (अटवी) राज्यों पर विजय

उत्तरी भारत के राज्यों को अपने राज्य में मिला चुकने के बाद समुद्रगुप्त का ध्यान दक्षिण की ओर गया। दक्षिण भारत पर विजय करने के पहले मध्यभारत के विस्तृत जंगली प्रदेश में स्थित राज्यों को जीतना आवश्यक था। लेख में कहा गया है कि समुद्रगुप्त ने इन आटविक (जंगली) राजाओं को जीत कर इन्हें अपना सेवक बनाया।•

• परिचारकीकृत सर्वाटविकराजस्य—प्रयाग प्रशस्ति

3. दक्षिणापथ की विजय

आटविक राज्यों को जीतकर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ की ओर अभियान किया। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार, उसने दक्षिणापथ के बारह राजाओं को पराजित किया। हरिषेण ने प्रयाग प्रशस्ति में इन राजाओं के नामों के साथ-साथ उनके राज्यों अथवा राजधानियों के नाम भी दिए हैं। ये नाम इस क्रम में दिए गए हैं;

(1) **कोसल का महेन्द्र**—कोसल से तात्पर्य यहाँ स्पष्टरूपेण दक्षिण कोसल से है। इसमें आधुनिक विलासपुर, रायपुर और सम्भलपुर के जिले सम्मिलित थे।

(2) **महाकान्तार का व्याघ्रराज**—इसका समीकरण वाकाटक नरेश पृथ्वीषेण के सामन्त शासक व्याघ्रदेव से किया जाता है, जिसके दो लेख प्राप्त हुए हैं। इनमें उसे पृथ्वीषेण का भक्त (अर्थात् अधीनस्थ) बताया गया है। डा. मजूमदार का विचार है कि महाकान्तार का समीकरण उड़ीसा में स्थित जयपुर में वनमय प्रदेश से करना चाहिये।

(3) **कोराल का मण्टराज**—स्थान के नाम को केरल, कौराल, कुराल तथा कौराड़ भी पढ़ा गया है और विद्वानों में इसके समीकरण पर पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे कोलेयर अथवा कोलेरु कासार नामक स्थान मानते हैं, जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने इसका समीकरण उडीसा के गजाम जिला में स्थित कोलाड़ नामक स्थान से किया है। डा. रायचौधरी का विचार है कि यह दक्षिण भारत में स्थित कोराड़ नाम कोई आधुनिक ग्राम हो सकता है।

(4) **पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि**—इसे आधुनिक गोदावरी जिला में स्थित पीठापुरम नामक स्थान माना जाता है। पिष्टपुर का उल्लेख पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोल अभिलेख में भी हुआ है।

(5) **कोट्टूर का स्वामिदत्त—इसका समीकरण गंजाम जिले में स्थित कोठूर से किया जाता है।**

(6) **इरण्डपल्ल का दमन**—फ्लीट इसे खानदेश में स्थित एरण्डोल मानते हैं। डूब्रे नामक विद्वान ने इसका तादात्म्य उड़ीसा के समुद्र तट पर बसे एरण्डपल्ली से किया है।

(7) **कांची का विष्णुगोप**—कांची आधुनिक कांजीवरम् नामक स्थान है। विष्णुगोप संभवतः पल्लव राजवंश का शासक था।

(8) **अवमुक्त का नीलराज**—इसकी ठीक-ठीक पहचान नहीं प्रस्तुत की जा सकी है। डा. रायचौधरी का कहना है कि नीलराज 'नीलपल्ली' का स्मरण दिलाता है जो गोदावरी जिले के समुद्रतट पर स्थित एक बन्दरगाह था; यह ब्रह्म–पुराण में उल्लिखित अभिमुक्त क्षेत्र का भी स्मरण दिलाता है जिसे गोदावरी तट स्थित बताया गया है।

(9) **वेगी का हस्तिवर्मा**—वेंगी का समीकरण कृष्णा एवं गोदावरी नदियों के बीच में स्थित वेगी अथवा पेड्डवेगी से किया जाता है। सालकायन नरेशों की वंशावली में हस्तिवर्मा का नाम आता है। प्रयाग प्रशस्ति के हस्तिवर्मा को सालकायन नरेश हस्तिवर्मा से समीकृत किया जाता है।

(10) **पालक्क का उग्रसेन**—इसे नेलोर जिला का पलक्कड़ नामक स्थान माना जाता है। पल्लव अभिलेखों में इस स्थान का नाम उल्लिखित मिलता है।

(11) **देवराष्ट्र का कुबेर**—स्मिथ ने इसका समीकरण महाराष्ट्र से किया था, किन्तु अधिकांश विद्वानों को यह समीकरण स्वीकार्य नहीं है। हेमचन्द्र रायचौधरी, रमेशचन्द्र मजूमदार, दिनेशचन्द्र सरकार आदि विद्वानों ने इसकी पहचान विजगापट्टम जिले के येल्लामॉचिली नामक स्थान से किया है।

(12) कुस्थलपुर का धनञ्जय—यह सम्भवतः उत्तरी आर्काट में स्थित कुट्टलूर नामक स्थान था। यह बार्नेट द्वारा सुझाई गई पहचान है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित सभी स्थानों और उनके शासकों का सर्वथा निश्चित समीकरण नहीं हो पाया है और विविध विद्वानों का इस विषय पर परस्पर भिन्न मत है। किन्तु, यह स्पष्ट है कि अपने दक्षिणापथ विजय के अभियान में समुद्रगुप्त सुदूर दक्षिण में काञ्ची तक पहुंच गया था। ऐसा लगता है कि मध्य भारत के आटविक राज्यों को परास्त करने के बाद समुद्रगुप्त ने उड़ीसा प्रदेश के कुछ नरेशों को हराया और फिर पूर्वी दक्कन प्रदेश की विजय करता हुआ दक्षिण की ओर बढ़ा।

कुछ विद्वानों का विचार है कि दक्षिणापथ के राजाओं ने समुद्रगुप्त संगठित प्रतिरोध किया था। डा. जायसवाल का विचार है कि इस संगठन के नेता कोराल का मण्टराज और काञ्ची का विष्णुगोप थे। उनके अनुसार, केवल कोसल और महाकान्तार के राजा इस संगठन के बाहर थे, तथा यह युद्ध 315-346 ई. में कोलेरू झील के निकट हुआ था। डा. दण्डेकर ने दक्षिणापथ के सभी बारह नरेशों के संगठित प्रतिरोध की बात कही है जिसे समुद्रगुप्त ने कोलेयर-कासार के तट पर हराया। डूब्रे का तो यह कहना है कि समुद्रगुप्त इस संगठन से हार गया था और उसे वापस लौटना पड़ा था। डा. दिनेश चन्द्र सरकार ने भी समुद्रगुप्त के पराभूत होने का सुझाव रखा है। किन्तु ये मत उपयुक्त नहीं जान पड़ते। स्वयं प्रयाग प्रशस्ति में न तो किसी संगठन की चर्चा है और न ही समुद्रगुप्त की असफलता की। उसके पराभूत होने की बात सर्वथा इस मत के प्रतिपोषक विद्वानों की कल्पना पर आश्रित है।

इन सुदूर स्थित राज्यों के प्रति समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राज्यों से विपरीत नीति अपनाई। इन्हें परास्त करने के बाद उसने उन्हें उनके प्रदेश लौटा दिये (ग्रहणमोक्ष की नीति)। पाटलिपुत्र से इतने दूर तक शासन कर सकना कठिन था। अतः उसने उन्हें अधीन बनाकर छोड़ दिया और राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया।

4. सीमावर्ती राज्यों और गणराज्यों पर विजय

समुद्रगुप्त की आर्यावर्त और दक्षिणापथ की विजयों के बाद कुछ सीमावर्ती राज्यों और गणराज्यों ने स्वयं ही उसकी अधीनता स्वीकार करली थी। प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि ये राज्य सभी प्रकार के कर-दान (सर्वकर) द्वारा, आज्ञापालन करते हुए (आज्ञाकरण) और प्रणाम-आगमन (दरबार में आकर प्रणाम करना) द्वारा समुद्रगुप्त को प्रसन्न करते थे। इनमें पाँच प्रत्यन्त (सीमावर्ती) और नौ गणराज्य थे। ये चौदह राज्य क्रम से इस प्रकार हैं:

समतट—गंगा का मुहाना अर्थात् समुद्र तक फैला हुआ पूर्वी बंगाल।

डवाक—फ्लीट के अनुसार, यह आधुनिक ढाका के आसपास का क्षेत्र था। एन.के.भट्टसाली ने इसका समीकरण आसाम के नवगांव जिला में स्थित डबोक से किया है।

कामरूप—आसाम का गोहाटी जिला।

नेपाल—आधुनिक गण्डक और कोसी के बीच स्थित प्रदेश।

कर्तृपुर—कुमाऊं, गढ़वाल और रुहेलखण्ड का इलाका।

मालव—अजमेर, टोंक और मेवाड़ का इलाका।

आर्जुनायन—अलवर, पूर्वी जयपुर।

यौधेय—इनका मुख्य स्थान रोहतक प्रदेश में जान पड़ता है। विजयगढ़ लेख से ज्ञात होता है कि इनका राज्य भरतपुर तक फैला था।

मद्रक—रावी और चिनाव के बीच का इलाका।

आभीर—सुराष्ट्र और मध्यप्रदेश में पार्वती और बेतवा के बीच का क्षेत्र।

प्रार्जुन—मध्य प्रदेश में नरसिंहपुर के पास का क्षेत्र।

सनकानिक—भिलसा (विदिशा) के पास। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुहा-लेख से ज्ञात होता है कि ये गुप्तों की अधीनता स्वीकार करते थे।

काक—भिलसा के पास आधुनिक सांची। कुछ प्राचीन लेखों से पता चलता है कि सांची का प्राचीन नाम 'काकनाद बाट' था।*

खरपरिक—मध्य प्रदेश में दमोह के पास।

5. विदेशी राज्यों के साथ सम्बन्ध

समुद्रगुप्त की विजयों से उसका यश दूर-दूर तक फैला। पड़ोस के विदेशी राज्यों में भी किसी में उसका विरोध करने की सामर्थ्य नहीं थी, और उन्होंने भयभीत होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। प्रयाग प्रशस्ति की तेईसवीं पंक्ति में इन विदेशी शक्तियों के नाम गिनाए गये हैं जो इस प्रकार हैं :

देवपुत्र-शहि-शाहानुशाहि—इस पद से सम्भवतः उत्तर कुषाणों का शासनकुल अभिप्रेत है। यह उल्लेखनीय है कि 'देवपुत्र महाराज राजातिराज' सुविज्ञात कुषाण कुल के शासकों की प्रिय उपाधि थी और यहाँ उल्लिखित 'देवपुत्र-शाहि-शाहानुशाहि' उसका रूपान्तरण-सा लगता है। डा. अनन्त सदाशिव अल्तेकर का विचार है कि समुद्रगुप्त के समय उत्तर-कुषाणकुल में किदार नामक नरेश का शासन था जो पुरुषपुर (पेशावर) में राज्य करता था। किदार ससानी नरेश शापुर द्वितीय की अधीनता स्वीकार करता था। डा. अल्तेकर ने अनुमान किया है कि लगभग 367-368 ई. में उसने समुद्रगुप्त की सहायता लेकर स्वयं को शापुर द्वितीय की अधीनता से मुक्त कर लिया होगा।

शक—शकों के विषय में हम पीछे विस्तार से पढ़ चुके हैं। यहाँ उत्तरपश्चिमी भारत और अवन्ति प्रदेश पर राज्य कर रहे शक क्षत्रप अभिप्रेत हैं। इस समय तक शक्ति निर्वल हो चली थी। डा. अल्तेकर के अनुसार, समुद्रगुप्त का समकालीन शक शासक रुद्रसेन तृतीय था जिसके शासनकाल का विस्तार 348 ई. से 378 ई. तक मिलता है।

मुरुण्ड—स्टेन कोनोव नामक विद्वान् ने यह विचार व्यक्त किया है कि लेख में 'मुरुण्ड' शब्द शकों से पृथक किसी अन्य विदेशी जाति के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है। उनके अनुसार, यह चीनी शब्द 'वांग' (=स्वामी) का सम्मानार्थक है; सुराष्ट्र और उज्जयिनी के शक शासक 'क्षत्रप' (=स्वामी) उपाधि धारण करते थे; यहाँ प्रयुक्त 'मुरुण्ड' इसी तथ्यविशेष का परिचायक है। स्टेन कोनोव के इस मत को सामान्यतया नहीं स्वीकार किया जाता और 'मुरुदण्ड' को 'शक' जाति से पृथक् शक्ति का परिचायक माना जाता है। टॉलमी के साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि समुद्रगुप्त से कुछ शताब्दी पूर्व मुरुण्ड शक्ति का अस्तित्व गंगा घाटी में था। जैन साक्ष्य प्रभावक चरित में यह विवरण मिलता है कि किसी समय मुरुण्ड कुल का पाटलिपुत्र पर आधिपत्य था। अपने ज्ञान की वर्तमान स्थिति

---

* चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का एक लेख साँची से मिला है जिसमें इस स्थान पर स्थित एक बौद्ध विहार का उल्लेख है—'काकनादवाद-श्रीमहाविहार'। यह अनुमान किया जा सकता है कि इस स्थान का यह नाम कार्कों से सम्बन्धित होने के कारण पड़ा होगा।

में हम केवल यह कह सकते हैं कि यह कोई विदेशी जाति थी जो गंगा घाटी में कहीं विद्यमान थी।

'सिंहलद्वीपवासी'—'सर्वद्वीपवासी'—सिंहल लंका का नाम है और 'सर्वद्वीपवासियों' से प्रशस्ति के लेखक का तात्पर्य दक्षिण पूर्व एशिया के अन्य हिन्दू उपनिवेशों से है। चीनी साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का समकालीन सिंहल नरेश मेघवर्ण था जिसने समुद्रगुप्त के पास बहुमूल्य उपहारों के साथ एक दूत मण्डल भेज कर उससे चीनी तीर्थयात्रियों की सुविधा हेतु बोध-गया में एक विश्राम-गृह बनवाने की आज्ञा प्राप्त की थी। प्रयाग-प्रशस्ति के लेखक हरिषेण ने जब सिंहल नरेश द्वारा प्रार्थना पत्र उपहार आदि देने की बात कही तो सम्भवतः उसके मस्तिष्क में यह घटना थी। अन्य हिन्दू उपनिवेशों ने भी अपनी मातृभूमि के प्रतापी सम्राट से अच्छा सम्बन्ध बनाना श्रेयस्कर समझा होगा। जावा के एक ग्रन्थ के अनुसार, वहाँ का इक्ष्वाकुवंशी राजा ऐश्वर्यपाल स्वयं को समुद्रगुप्त का वंशज मानता था।•

लेख के अनुसार, इन विदेशी राज्यों को ये शर्तें माननी होती थीं : 1. आत्म निवेदन अर्थात् आत्म-समर्पण; 2. अपनी राजकुमारियों को विवाह में देना, 3. उपहार भेजना, 4. अपने देशों में शासन करने के लिए गरुड़ के चिन्ह से अंकित गुप्त राज्य की मुद्रा का प्रयोग। इन शर्तों से स्पष्ट है कि इन राज्यों का समुद्रगुप्त के साथ सम्बन्ध बराबरी का नहीं था बल्कि ये अधीन मित्र के समान थे।

(घ) अश्वमेध यज्ञ

समुद्रगुप्त सही अर्थों में एक चक्रवर्ती राजा था। इन विजयों के बाद शक्ति और सार्वभौमता को प्रदर्शित करने वाले अश्वमेध यज्ञ को करना उसके लिए उचित ही था। गुप्त अभिलेखों में उसे 'चिरकाल से न होने वाले अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला' (चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तः) कहा गया है। यह निश्चित रूप से एक अतिशयोक्ति पूर्ण कथन है क्योंकि हम जानते हैं कि उसके पहले भारशिव नागों ने और वाकाटक नरेश प्रवरसेन प्रथम ने भी अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। चूंकि प्रयाग प्रशस्ति में उसके द्वारा सम्पादित अश्वमेध का उल्लेख नहीं है, अतः यह स्पष्ट-सा है कि उसने यज्ञ का सम्पादन प्रशस्ति में वर्णित विजयों तथा इस प्रशस्ति के लिखे जाने के बाद ही किया होगा। इस अवसर पर उसने नये प्रकार के सिक्के चलाये जिनमें मुख भाग पर यज्ञ-यूप (यज्ञ-स्तम्भ) से बंधे हुए अश्व का चित्र मिलता है और 'अश्वमेधपराक्रमः' (= अश्वमेध यज्ञ के योग्य पराक्रम वाला) लिखा है।

(ङ) समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व

प्रयाग प्रशस्ति तथा उसके सिक्कों से समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व तथा चरित्र के बारे में बहुत-सी बातों का पता चलता है। वह एक पराक्रमी और वीर शासक था। प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि 'उसे सदैव अपनी भुजाओं के बल और पराक्रम का ही सहारा रहता था' (स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः)। मुद्राओं पर उसे 'कृतान्तपरशु' (= यमराज का परशु), 'सर्वराजोच्छेत्ता' (= सभी राजाओं को निर्मूल करने वाला), 'व्याघ्रपराक्रमः' (= व्याघ्रसम पराक्रमी) और 'अश्वमेध पराक्रम' (= अश्वमेध के योग्य पराक्रम वाला) कहा गया है। ये सभी उपाधियाँ उसके पराक्रम और शौर्य को रेखांकित करती हैं। प्रयाग प्रशस्ति का लेखक तो उसे 'देव' और 'अचिन्त्य पुरुष' तक कहता है; उसके अनुसार, वह केवल लौकिक कर्मों

• द्र. उदयनारायण राय, गुप्त सम्राट और उनका काल पृ. 137।

के करने के कारण ही मनुष्य था (अन्यथा उसमें सभी देवोचित गुण और विशेषताएँ थीं)।

उसकी राजनीतिक बुद्धि और दूरदर्शिता का परिचय उसके जीते गए राज्यों के प्रति अपनाई गई नीतियों से मिलता है। जहाँ उसने उत्तर भारत के राज्यों को निर्मूल कर उन प्रदेशों को स्वशासित राज्य में मिला लिया, दक्षिणापथ के दूरस्थ नरेशों के प्रति उसने 'ग्रहण-मोक्ष' की नीति अपनाई, क्योंकि इन पर शासन नहीं किया जा सकता था। एक कुशल एवं दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के रूप में वह इस यथार्थ स्थिति से अवगत था कि दूर स्थित आसाम, नेपाल के क्षेत्रों, सीमान्त गणराज्यों तथा विविध विदेशी शक्तियों को बल प्रयोग द्वारा सर्वथा निर्मूल नहीं किया जा सकता। उसने इन्हें अपना सेवक बना कर छोड़ दिया।

युद्ध में कुशल होने के साथ-साथ वह शास्त्रों का भी ज्ञान रखता था और साहित्य, कला, संगीत आदि में उसकी गहरी पैठ थी। प्रयाग प्रशस्ति में लिखा है "शास्त्रों की जानकारी में वह देवताओं के गुरु वृहस्पति को और संगीत के ज्ञान में नारद और तुम्बुरु को भी लज्जित करता था।" वह कविता भी करता था और प्रशस्ति के अनुसार, 'कविराज' की उपाधि से प्रसिद्ध था ('प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य')। उसे अपनी कविताओं द्वारा कीर्ति रूपी राज्य का भोग करने वाला कहा गया है। उसके एक सिक्के पर उसे वीणा बजाते हुए दिखाया गया है जो उसका संगीत प्रेम सिद्ध करता है। वह साहित्यकारों और कलाकारों का आदर करता था और लेख में कहा गया है कि उसने अपने पुरस्कारों से सरस्वती और लक्ष्मी के भेद को मिटा दिया था। डा. राधाकुमुद बनर्जी ने समुद्रगुप्त की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "समुद्रगुप्त एक महान् सम्राट था, सम्भवतः वह गुप्त-वंश का सबसे महान् शासक था। उसे अपने पिता से छोटा-सा राज्य प्राप्त हुआ था किन्तु उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए विशाल साम्राज्य छोड़ा। उसने शासन व सरकार की पद्धति में सुधार किया। उसके द्वारा चलायी गई शासन-पद्धति कुछ आवश्यक परिवर्तनों के साथ मुसलमानों के द्वारा उत्तरी भारत की विजय के समय तक चलती रही।"*

लेख में उसे शास्त्रों द्वारा बताए गये मार्ग पर चलने वाला और धर्म की मर्यादा बांधने वाला (अर्थात् जो धर्मानुसार ही काम करता था) कहा गया है। साथ ही वह दीन-दुःखियों और दरिद्रों तथा पीड़ितों की सहायता के लिए सदैव तत्पर रहता था। संसार के ऊपर 'अनुग्रह' (=कृपा) रखना वह अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता था।

प्रयाग प्रशस्ति में उसके अधीनस्थ सामन्तों को उसके गरुडांक से चिन्हित आज्ञा-पत्र की प्राप्ति का अभ्यर्थी बताया गया है। गरुड विष्णु का वाहन है। इससे स्पष्ट है कि उसका निजी धर्म वैष्णव धर्म था। प्रयाग प्रशस्ति का 'अचिन्त्यपुरुष' पद भी भगवद् गीता में वर्णित कृष्ण के स्वरूप का स्मरण कराता है। डा. आर. सी. मजूमदार के शब्दों में, "उसके सिक्कों और अभिलेखों के अध्ययन से हमारे समक्ष एक ऐसे वज्रदेह शक्तिशाली सम्राट की मूर्ति आ खड़ी होती है जिसके शारीरिक ओज के अनुरूप बौद्धिक एवं आर्थिक सम्पन्नता ने उस नवयुग का सूत्रपात किया जिसमें आर्यावर्त ने, नवीन राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय एकात्मकता पाँच सदियों के राजनीतिक विघटन और परकीय आधिपत्य के बाद पुनः उपलब्ध की और नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक और भौतिक समृद्धि की वह उच्चता अधिगत की, जिसने इसे भारत का स्वर्णयुग बना दिया—ऐसा स्वर्णयुग जिसकी ओर अगणित भावी पीढ़ियाँ मार्ग-दर्शन और प्रेरणा के लिए सदा देखने वाली थी।"

---

* The age of imperial gahatas. Page- 25.

(घ) मृत्यु-तिथि

समुद्रगुप्त का शासन काल पर्याप्त लम्बा था। मथुरा से प्राप्त एक लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय की पूर्वतम ज्ञात तिथि 380 ई. मिलती है। इस आधार पर यह लगभग निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त ने 375 ई. तक शासन किया होगा।

रामगुप्त

गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का नाम आता है और 1923-24 तक यही माना जाता था कि समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त (द्वितीय) शासक बना। किन्तु, कालान्तर में कई विद्वानों द्वारा कुछ नए साहित्यिक तथा पुरातात्विक साक्ष्य प्रकाश में लाए गये और यह सम्भावना व्यक्त की गई कि इन दोनों शासकों के बीच में रामगुप्त नामक एक अन्य गुप्त शासक हुआ था। इस सम्बन्ध में प्रमुख साक्ष्य इस प्रकार हैं:

1. विशाखदत्त रचित देवीचन्द्रगुप्तम् नामक नाटक इस प्रसंग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। यह नाटक अब प्राप्त नहीं है किन्तु इसके अंश रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र (12 वीं शताब्दी) रचित नाट्य दर्पण में उद्धृत मिलते हैं। 11 वीं सदी के लेखक भोज ने अपने शृंगार प्रकाश में भी इसके उद्धरण दिए हैं। इस नाटक के अनुसार, रामगुप्त एक कायर शासक था। उसके प्रतिद्वन्द्वी 'शकाधिपति' ने उसके ऊपर आक्रमण किया और रामगुप्त एक स्थान पर घिर गया। अपनी प्राण रक्षा के लिए उसने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त को यह बहुत अपमानजनक लगा और उसने ध्रुवदेवी का वेश बनाकर शकाधिपति के शिविर में जा कर उसकी हत्या कर दी। इसके बाद वह पागल की तरह विचरण करने लगा और इसी रूप में राजमहल में घुस कर उसने रामगुप्त को भी मार डाला। फिर ध्रुवदेवी से विवाह कर वह स्वयं शासक बना।

2. बाण (7 वीं शताब्दी) ने अपने हर्षचरित में लिखा है कि कामिनी वेषधारी चन्द्रगुप्त ने दूसरे की पत्नी के लिए कामुक शकपति को शत्रु के नगर में ही मार डाला।•

3. राजशेखर (10 वीं शताब्दी) ने काव्य मीमांसा में उदाहरण के रूप में दिए गये एक श्लोक में यह उल्लेख किया है कि शर्मगुप्त नामक शासक ने अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को 'खसाधिपति' को देने का वादा किया था।

4. डा. अल्तेकर ने मुजमल-उत-तवारीख नामक एक अरबी भाषा के ग्रन्थ की ओर ध्यान आकर्षित किया जिसका लेखक अबुल हसन अली (1126 ई.) है। इसमें रव्वाल और बर्कमारिस नामक दो भाइयों की कथा दी गई है जो देवी चन्द्रगुप्तम् में प्राप्त कथा से बड़ी समानता रखती है।

5. पुरातात्विक साक्ष्यों में दो अभिलेख उल्लेखनीय हैं। पहला लेख राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष का संजन का लेख है जिसकी तिथि 871 ई. है। इसके अनुसार कलियुग के एक दानी गुप्तकुलीन शासक ने अपने भाई को मार कर उसके राज्य तथा पत्नी का अपहरण कर लिया था। दूसरा लेख राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द चतुर्थ के समय का कैम्बे या खम्भात का लेख (930 ई.) है। इस लेख में कहा गया है कि गोविन्द चतुर्थ केवल त्याग और अपरिमित साहस के कारण ही 'साहसांक' (एक उपाधि) बना था तथा भाई के प्रति क्रूर व्यवहार एवं परस्त्रीगमन आदि कलंकपूर्ण कार्यों से उसने कोई अपयश नहीं कमाया था। प्रो. मीराशी आदि विद्वानों का विचार है कि यहाँ व्यंजना से चन्द्रगुप्त द्वितीय की

• अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनी वेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।

ओर संकेत है।

रामगुप्त ऐतिहासिक व्यक्ति था अथवा नहीं? इस पर दीर्घ काल तक विद्वानों में मतभेद रहा है। सिलवां लेवी ने, जिन्हें सर्वप्रथम देवीचन्द्रगुप्तम् नाटक को प्रकाश में लाने का श्रेय है, रामगुप्त के कथानक को सर्वथा अनैतिहासिक माना है। विन्सेंट स्मिथ भी इसे कोरी मानते हैं। डा. रायचौधरी का भी विचार है कि देवी चन्द्रगुप्तम् को किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष का प्रामाणिक आधार नहीं माना जा सकता। डा. रमेशचन्द्र मजूमदार ने भी यही कहा है कि किसी निश्चित प्रमाण के मिले विना इस विषय पर कोई अन्तिम समाधान नहीं दिया जा सकता।

इन विद्वानों के विपरीत आर. डी. बनर्जी, अल्तेकर, भण्डारकर, जायवाल, मीराशी आदि कई विद्वानों ने रामगुप्त की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया है। फादर हेरास ने यह विचार व्यक्त किया कि रामगुप्त का नाम गुप्त वंशावली से उसके कलंकपूर्ण कार्य के कारण निकाल दिया गया। कुछ विद्वानों ने इस प्रसंग में इस ओर ध्यान दिलाया कि गुप्त वंशावलियाँ पिता-पुत्र के क्रम से चलती हैं; चूंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय समुद्रगुप्त का पुत्र था, अतः रामगुप्त का नाम नहीं दिया गया। जायसवाल और अल्तेकर के अनुसार वे सिक्के, जिन पर 'काच' नाम मिलता है रामगुप्त के सिक्के हैं। डा. पी. एल. गुप्त तथा प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी ने कुछ वर्षों पूर्व ऐसे सिक्कों का प्रकाशन किया है जिन पर 'मगुप्त' अथवा 'रामगुप्त' लिखा हुआ मिलता है। प्रो. वाजपेयी को विदिशा-एरण से प्राप्त कई मुद्रा-प्रकार मिले हैं जिन पर रामगुप्त का नाम मिलता है। किन्तु, ये सिक्के केवल पूर्वी मालवा प्रदेश से मिले हैं जबकि साहित्यिक साक्ष्य में रामगुप्त साम्राज्य का शासक कहा गया है इसी कारण डा. दिनेशचन्द्र सरकार आदि कुछ विद्वानों का कहना है कि ये मालवा के किसी स्थानीय शासक के सिक्के हैं, गुप्त राजवंश के किसी शासक के नहीं।*

अधिकांश विद्वान् रामगुप्त की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हैं। रामगुप्त नामक शासक की मुद्राओं पर 'सिंह' 'गरुड़' के चिन्हांकन निश्चित रूप से उसका गुप्तवंशी होना प्रमाणित करते हैं। प्रो. वाजपेयी ने इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित किया है। डा. श्रीराम गोयल का विचार है कि रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का ज्येष्ठ भाई था और समुद्रगुप्त के समय पूर्वी मालवा का प्रान्तीय शासक था। पिता की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय उत्तराधिकार क्रम के नियम को तोड़ कर किसी प्रकार साम्राज्य के बड़े भाग पर अधिकार कर लेने में सफल हुआ जबकि रामगुप्त केवल पूर्वी मालवा पर आधिपत्य बना सका। इस समय मालवा के पश्चिम में शकों का अस्तित्व था और गुप्त साम्राज्य को इनसे खतरा था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के वाद शकों ने मालवा पर आक्रमण किया। इस बहाने को लेकर चन्द्रगुप्त ने पूर्वी मालवा पर अधिकार कर लिया और इस युद्ध में रामगुप्त मारा गया।**

चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य'

शासन की प्रारम्भिक एवं अन्तिम तिथि

रामगुप्त का अस्तित्व अत्यन्त अल्पकालिक रहा होगा। अपने भाई रामगुप्त को मार कर चन्द्रगुप्त गद्दी पर बैठा। वह समुद्रगुप्त का दत्तदेवी नामक रानी से उत्पन्न हुआ

* डा. सरकार का विचार है कि इन सिक्कों के रामगुप्त ने, जो कि एक क्षेत्रीय शासक था, गुप्तों के पतन के बाद पांचवीं शताब्दी ई. में इस क्षेत्र पर शासन किया होगा।

** श्रीराम गोयल, स्टडीज इन द पोलिटिकल हिस्ट्री आव दि इम्पीरियल गुप्तज, पृ. 231।

पुत्र था। मथुरा से मिले एक स्तम्भ-लेख के आधार पर उसके शासन काल के प्रथम वर्ष की तिथि प्राप्त होती है। यह लेख गुप्त संवत् 61 (=380 ईसवी; 61+319) में तिथ्यंकित है तथा उसके शासन काल के पांचवें वर्ष में उत्कीर्ण हुआ था। इस प्रकार उसके शासन काल का प्रारम्भ 375 ई. में बैठता है। उसके पुत्र कुमारगुप्त की पहली ज्ञात तिथि गुप्त संवत् 96 (=415 ई) है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन काल 375 ई. से 414 ई. तक था।

अन्य नाम तथा उपाधियाँ

चन्द्रगुप्त द्वितीय के चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त कुछ और भी नाम थे। सांची से प्राप्त लेख में 'देवराज'* उसका एक अन्य प्रिय नाम बताया गया है। वाकाटक अवरसेन द्वितीय के चम्मक लेख में प्रभावती गुप्त** को महाराजाधिराज श्री देवगुप्त की सुता कहा गया जिससे स्पष्ट है कि इसका एक अन्य नाम देवगुप्त भी था। उसके कुछ सिक्कों पर उसे देवश्री कहा गया है। उसके सिक्कों के कई प्रकार प्राप्त होते हैं जिन पर उसकी विविध उपाधियाँ दी गई मिलती हैं। 'सिंह-चन्द्र', 'नरेन्द्र-सिंह', 'नरेन्द्र चन्द्र', 'विक्रम', 'सिंह-विक्रम', 'विक्रमांक', 'रूपाकृति' आदि उसकी विविध उपाधियाँ थी। 'विक्रमादित्य' उसकी प्रिय एवं लोकविश्रुत उपाधि जान पड़ती है।

वैवाहिक सम्बन्ध

अपने पिता समुद्रगुप्त के समान चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक कुशल नीतिज्ञ था। जहाँ एक ओर उसने शस्त्र और युद्ध के सहारे अपने विभिन्न शत्रुओं को पराभूत किया, वहीं दूसरी ओर वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा अपने समकालीन राजवंशों को अपना मित्र भी बनाया। वस्तुतः इनमें से कुछ वैवाहिक सम्बन्धों ने उसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में विशेष सहायता दी होगी, यह बिना किसी हिचकिचाहट के कहा जा सकता है।

उसने नागवंश की राजकन्या कुबेरनागा से विवाह किया। पूना से प्राप्त ताम्रलेख में*** कुबेरनागा 'कोनागकुलसंभूता' (नाग कुल में उत्पन्न) कहा गया है। समुद्रगुप्त ने अपने समय के कुछ नागवंशी नरेशों को हराया था, किन्तु नागवंश सर्वथा निर्मूल नहीं हुआ था और उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा शेष थी। डा. रमेश चन्द्र मजूमदार के अनुसार, यह विवाह-मैत्री 'अभिनव-स्थापित गुप्तों की अधीश्वरी सत्ता को शक्तिशाली बनाए रखने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई होगी।' इसी नाग राजकन्या के साथ हुए विवाह से उसकी प्रभावती गुप्ता नामक पुत्री उत्पन्न हुई, जिसका विवाह उसने वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ किया। विद्वानों का विचार है कि इस सम्बन्ध से उसे शकों पर विजय प्राप्त करने में बड़ी सुविधा हुई थी। वाकाटक राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि शकों से मिल जाने पर वे गुप्त साम्राज्य के लिए सिरदर्द खड़ा कर सकते थे। उन्हें वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपना मित्र बना कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने गहरी राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय दिया। वाकाटक इतिहास में भी इस वैवाहिक सम्बन्ध का बड़ा स्थायी महत्त्व रहा। वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय कम उम्र में ही दिवंगत हो गया था। इस समय

---

* महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य देवराज इति नाम्नः।

** महाराजाधिराज श्रीदेवसुतायां प्रभावतीगुप्तायाम्।

*** यह लेख प्रभावतीगुप्ता द्वारा उत्कीर्ण कराया गया था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री थी और जिसका विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय के साथ हुआ था। इस लेख में वाकाटक वंश वृक्ष के स्थान पर गुप्त वंश वृक्ष उल्लिखित है।

उसके दो पुत्र दिवाकर सेन और दामोदरसेन क्रमशः पांच और दो वर्ष के थे जिस कारण प्रभावतीगुप्ता को लगभग 20 वर्षों तक संरक्षिका के रूप में राजकार्य चलाना पड़ा था। प्रभावतीगुप्ता ने अपने अभिलेखों में जिस आदर के साथ अपने पिता का नाम लिया है उससे यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि राजकार्य चलाने में उसे अपने पिता से पर्याप्त सहायता मिली होगी।

शान्तिवर्मा के तालगुण्ड स्तम्भ लेख में कहा गया है कि कदम्ब वंश के शासक काकुत्स्थवर्मा की राजकन्या गुप्त कुल में ब्याही गई थी। काकुत्स्थवर्मा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समसामयिक था। हो सकता है, उसने अपनी एक राजकन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के साथ किया हो। कदम्ब वंश ब्राह्मण राज वंश था जिन्हें प्राचीन साहित्यिक साक्ष्यों में कुन्तल प्रदेश का शासक कहा गया है। इस प्रदेश का प्रतिनिधित्व आधुनिक कनाड़ी जिले करते हैं। भोज के श्रृंगार प्रकाश के अनुसार (चन्द्रगुप्त) विक्रमादित्य ने कालिदास को कुन्तलाधिपति के पास राजदूत बनाकर भेजा था। कुन्तल के इस दक्षिण भारतीय राजवंश के साथ विवाह सम्बन्ध द्वारा चन्द्रगुप्त द्वितीय का यश दक्षिण भारत में भी फैला होगा।

शकों पर विजय

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी उसकी शकों पर विजय। उसके पिता समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में कहा गया है कि शक 'कन्योपायनदान' आदि द्वारा उसकी अभ्यर्थना करते थे। किन्तु, साहित्यिक साक्ष्य उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद रामगुप्त को किसी शकाधिपति की अत्यन्त अपमानजनक शर्तों को मानने को बाध्य हुआ बताते हैं, जिसका प्रतिकार चन्द्रगुप्त ने नारी वेश में इस शक नरेश के वध द्वारा किया था; बाद में अपने भाई को भी मार कर वह स्वयं राजा बना था।

शासक बनने के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को पराभूत करने के लिए व्यापक स्तर पर तैयारी की। इस समय शकों का आधिपत्य गुजरात, काठियावाड़ तथा पश्चिमी मालवा प्रदेश पर था। पूर्वी मालवा गुप्त सत्ता के अन्तर्गत था। पूर्वी मालवा से सटे पश्चिम में शकों का राज्य शुरू हो जाता था और इस प्रकार शकों का अस्तित्व गुप्त प्रभुसत्ता के लिए एक स्वाभाविक सरदर्द था। सम्भवतः शकों की इस आपदा को ध्यान में रख कर ही चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वाकाटक राजवंश के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बनाने को प्रेरित हुआ होगा। विद्वानों का विचार है कि शकों के विरुद्ध अपने अभियान में उसे वाकाटकों से महत्त्वपूर्ण सहायता मिली होगी। शकों के उन्मूलन के लिए उसने पूर्वी मालवा को ही अपना आधार बनाया। भिलसा के समीप उदयगिरि के शैव गुहा-लेख में उसके सन्धिविग्रहिक शाव-वीरसेन ने लिखा है कि 'वह सारी पृथ्वी की विजय की अभिलाषा रखने वाले अपने राजा के साथ यहाँ आया।' इसमें सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का यहाँ आना उसके शक-अभियान के प्रसंग में हुआ था।

चन्द्रगुप्त की शक-विजय की तिथि क्या है? ऊपर उल्लिखित उदयगिरि लेख में कोई तिथि नहीं दी गई है, अन्यथा इस विषय पर अनुमान लगाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रश्न का कुछ सीमा तक समाधान मुद्राशास्त्रीय साक्ष्य द्वारा होती है। शक-मुद्राओं पर अन्तिम प्राप्त तिथि 31 'क' है अर्थात् सैकड़ा और दहाई की संख्याएँ क्रमशः 3 और 1 हैं किन्तु इकाई की संख्या मिटी हुई है। इस 'क' को काल्पनिक संख्या मान सकते हैं और जो 0 (शून्य) से लेकर 9 तक कोई भी संख्या हो सकती है। शक संवत् 78 ई. से प्रारम्भ होता है जिसमें कि शक-मुद्राएँ तिथ्यंकित हैं। इस प्रकार शक-मुद्राओं

की अन्तिम तिथि 388 ई. (310 + 78) एवं 397 ई. (319 + 78) के बीच में पड़ती है। उसके बाद की तिथि की कोई शक-मुद्रा नहीं मिलती। अतः चन्द्रगुप्त की शक-विजय की तिथि 400 ईसवी के कुछ वर्ष पूर्व रखी जानी चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि शकों पर विजय के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कुछ रजत मुद्रएँ शक क्षत्रपों की मुद्राओं के अनुकरण पर बनवाई। इन पर गुप्त संवत् 90 (=409 ईसवी) तिथि मिलती है। ये मुद्राएँ पश्चिमी मालवा में मिली हैं जो उसके शक-विजय का पुष्टिकरण करती हैं।

चन्द्रगुप्त की मुद्राओं से ज्ञात होता है कि उसने 'विक्रम', 'विक्रमांक' अथवा विक्रमादित्य उपाधि धारण की थी। विद्वानों का विचार है कि शकों को निर्मूल करने के पश्चात् ही चन्द्रगुप्त ने भारतीय परम्परा के 'शकारि' विक्रम सम्वत् के संस्थापक विक्रमादित्य के अनुकरण में यह उपाधि धारण की होगी जो सर्वथा उपयुक्त थी।

इस युद्ध और विजय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। इस विजय के परिणामस्वरूप उसे पश्चिमी मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र और काठियावाड़ के प्रदेश प्राप्त हुए और पश्चिम में गुप्त साम्राज्य की सीमा अरब सागर तक पहुंच गई। भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौंच)* नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह अब गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। पश्चिमी जगत् के साथ व्यापारिक सम्बन्ध का यह अत्यन्त प्रसिद्ध केन्द्र था जहाँ बाहर से विविध वस्तुओं का आयात और पश्चिम के लिए विविध भारतीय उत्पादनों का निर्यात होता था। इस विषय में रोमन लेखक प्लिनी ने बड़े खेदपूर्वक लिखा है कि प्रतिवर्ष रोम से लगभग 5 करोड़ मुद्राएँ भारत पहुंच जाती थीं। इस बन्दरगाह ने गुप्त साम्राज्य को आर्थिक दृष्टि से और समृद्ध बनाया होगा।

मेहरौली के लौहस्तम्भ में उल्लिखित 'चन्द्र' का समीकरणःचन्द्रगुप्त द्वितीय की अन्य विजयें:

दिल्ली के निकट मेहरौली में कुतुब मीनार के पास लोहे का एक स्तम्भ है जिस पर 'चन्द्र' नाम के एक राजा की विजयों का वर्णन खुदा हुआ है। इस लेख में जो विवरण मिलता है इसके अनुसार :

1. यह राजा वैष्णव धर्म मानता था।**
2. उसने बंगाल में एकत्र होकर आए हुए शत्रुओं को पराजित किया था।
3. सिन्धु नदी के सातों मुहानों को पार कर उसने वाह्लीकों को जीता था।
4. उसके 'वीर्यानिल' (शौर्य के सौरभ) से दक्षिण जलनिधि (समुद्र) भी सुवासित हो उठा था।
5. अपने चन्द्रमा के सदृश मुख के कारण उसे 'चन्द्र' नाम दिया गया।

यह चन्द्र कौन था? विविध विद्वानों ने इस चन्द्र का समीकरण अलग-अलग नरेशों से किया है। फ्लीट, एस. के. आयंगर और आर. जी. बसाक के मतानुसार, यह गुप्त वंश का प्रथम नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम था। किन्तु इस लेख के चन्द्र को बंग तथा वाह्लीक प्रदेश तक विजय प्राप्त करने वाला एवं दक्षिण समुद्र तक विस्तृत कीर्ति वाला कहा गया है। चन्द्रगुप्त प्रथम के समय गुप्त राज्य का विस्तार पर्याप्त संकुचित था एवं उसे इन विजयों का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

---

* पेरीप्लस में इसे बेरीगाजा कहा गया है।

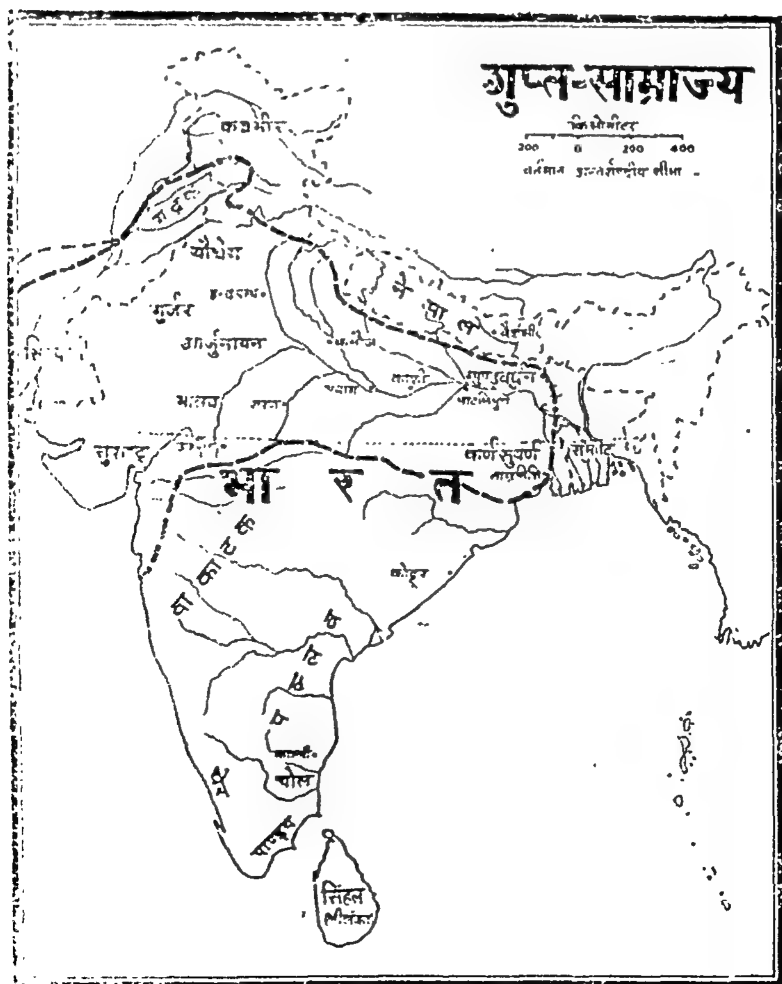
** लेख में कहा गया है कि उसने विष्णुपद पहाड़ी पर इस विष्णुध्वज को स्थापित किया। विष्णुध्वज से तात्पर्य इस लौह-स्तम्भ से ही है। विष्णुपद पंजाब में व्यास नदी के समीप स्थित था। फीरोजशाह तुगलक ने इसे अपने मूल स्थान से हटवा कर दिल्ली में स्थापित करवाया था।

इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों द्वारा सुझाए गए समीकरणों को भी स्वीकार करने में कठिनाइयाँ हैं। एच. सी. सेठ द्वारा प्रस्तावित चन्द्रगुप्त मौर्य से किया गया तादात्म्य स्पष्ट रूप से भ्रान्ति पूर्ण है; लेख की गुप्त कालीन लिपि की कठिनाई का समाधान करने के उद्देश्य से उन्होंने यह कहा कि अपनी विजयों के बाद समुद्रगुप्त ने अपने आदर्श चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रशंसा में यह लेख खुदवाया था। किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य की वैष्णव धर्म में रुचि होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता जबकि परम्परा उसे जैन धर्म से संबंधित करती है। यह बात भी नहीं जंचती कि उसने छः सौ वर्षों से पहले हुए किसी व्यक्ति की प्रशंसा में लेख खुदवाया जिसके साथ उसका रक्त संबंध भी नहीं था। डा. रायचौधरी ने पुराणों में वर्णित सदाचन्द्र अथवा चन्द्रांश के साथ इसका तादात्म्य किया है। किन्तु पुराणों में उल्लिखित ये शासक सामान्य शासक जान पड़ते हैं और उन्हें मेहरौली लेख के चन्द्र की विजयों का श्रेय देना उपयुक्त नहीं लगता। डा. रमेश चन्द्र मजूमदार ने इस चन्द्र को कनिष्क माना है। उनका कहना है कि खोतान की एक पाण्डुलिपि से कनिष्क का चन्द्र नाम भी होना सिद्ध होता है और फिर भारतीय शासकों में कनिष्क ही ऐसा शासक था जिसने बाह्लीक (=बल्ख या बैक्ट्रिया) पर शासन किया था। पर डा. मजूमदार के मत को मानने में कई कठिनाइयाँ हैं : (1) कनिंष्क की ख्याति बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में है जबकि लेख का चन्द्र वैष्णव था, (2) लेख की लिपि गुप्त कालीन है, (3) उसका सुप्रसिद्ध नाम कनिष्क था, 'चन्द्र' नहीं; लेखों में शासक का प्रसिद्ध नाम ही दिया जाता है। कई विद्वानों का विचार है कि बाह्लीक से यहाँ तात्पर्य बैक्ट्रिया प्रदेश से नहीं है अपितु इस समय व्यास नदी का तटवर्ती प्रदेश बाह्लीक नाम से जाना जाने लगा था।

अधिकांश विद्वान् इस चन्द्र का समीकरण गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय से करते हैं। इस मत के समर्थक कुछ मूर्धन्य विद्वानों में होर्नले, जायसवाल, अल्तेकर एवं दिनेशचन्द्र सरकार का नाम गिनाया जा सकता है। वास्तव में इस लेख में वर्णित शासक को जिन कार्यों का श्रेय दिया गया है वे समानरूपेण समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय दोनों के विषय में सम्भावित लगते हैं। कुछ विद्वान् इसे समुद्रगुप्त की ही प्रशस्ति मानते हैं। किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय के पक्ष में एक बात यह भी जाती है कि लेख में राजा का नाम चन्द्र कहा गया है। चन्द्रगुप्त की कुछ ताम्र मुद्राओं पर स्पष्टतः 'चन्द्र' लिखा मिलता है। सिक्कों पर प्राप्त कुछ अन्य विरुदों 'नरेन्द्र-चन्द्र' 'सिंह-चन्द्र' से भी यही लगता है कि उसका निजी एवं प्रमुख नाम चन्द्र था। किन्तु डा. श्रीराम गोयल–जो इसका समीकरण समुद्रगुप्त से करते हैं–ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि समुद्रगुप्त का एक अन्य नाम चन्द्रप्रकाश था और इस कारण नाम की आपत्ति को इस समीकरण में बाधक नहीं माना जा सकता।

विद्वानों का बहुमत अभी इस चन्द्र का चन्द्रगुप्त द्वितीय से ही समीकरण किए जाने के पक्ष में है। लेख के अनुसार उसने बंगाल और वाह्लीक प्रदेशों की विजय की। यह उल्लेखनीय है कि बंगाल पर समुद्रगुप्त का भी आधिपत्य था। समुद्रगुप्त का अधिकार संभवतः दक्षिणी बंगाल पर था और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तरी और पूर्वी बंगाल को भी अपने अधिकार में किया होगा। बाह्लीक को क्या बैक्ट्रिया (बल्ख) माना जाय? अथवा यहाँ वाह्लीक जाति से तात्पर्य है? डा. दिनेशचन्द्र सरकार एवं डा. दशरथ शर्मा का यह

मत है कि इस काल में कुषाणों के शासन से सम्बन्धित होने के कारण पंजाब में व्यास नदी के तटवर्ती प्रदेश को बाह्लीक नाम से जाना जाने लगा था। अतः यहाँ बाह्लीक से तात्पर्य पंजाब प्रदेश से मानना चाहिये। सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय सिन्धु नदी की निचली घाटी के प्रदेशों को जीतता हुआ पंजाब पहुंचा होगा और बाह्लीकों को जीता होगा। किन्तु, इस सम्भावना को सर्वथा नकारा नहीं जा सकता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को जीत कर हिन्दूकुश को पार किया हो और काबुल-अफगानिस्तान प्रदेशों को जीतकर अपनी साम्राज्य सीमा तक बल्ख तक जा पहुंचा दिया हो।



साम्राज्य-विस्तार

उपरोक्त विजयों के आधार पर चन्द्रगुप्त द्वितीय की राज्य-सीमा निश्चित की जा सकती है। पश्चिम में गुजरात से लेकर बंगाल तक का प्रदेश उसके अधिकार में था। पंजाब का प्रदेश निश्चित रूप से उसके आधिपत्य में था और सम्भवतः उसने बल्ख तक के प्रदेशों पर विजय की थी। चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद इतने बड़े प्रदेश पर किसी अन्य भारतीय शासक ने शासन नहीं किया।

अश्वमेध

चन्द्रगुप्त द्वितीय के किसी भी अभिलेख में उसे अश्वमेध का अनुष्ठान करने वाला नहीं कहा गया है। उसने अश्वमेध-मुद्राएँ भी नहीं चलाई। किन्तु, बनारस के पास नगवा नामक गांव से घोड़े की एक प्रस्तर-मूर्ति मिली है जिस पर 'चन्द्रगुप्त' लेख लिखा मिलता है। जे. रत्नाकर ने यह मत रखा है कि यह मूर्ति अश्वमेध के अश्व की है और यह नाम चन्द्रगुप्त द्वितीय का है।

महरौली लौह स्तम्भ लेख की समस्या—दिल्ली में कुतुबमीनार के पास स्थित महरौली में एक लौह-स्तम्भ है। इस पर पश्चिम दिशा में उत्कीर्ण एक लेख, सर्वप्रथम जेम्स प्रिंसेप द्वारा पढ़ा गया। यह लेख 'चन्द्र' नामक एक राजा की उपलब्धियों पर व्यापक प्रकाश डालता है किन्तु इतिहासकारों में चन्द्र के समीकरण के विषय में अत्यधिक मतभेद है। यह लेख कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों की जानकारी देता है-जो कि निम्नलिखित है :-

(क) यह लेख संस्कृत भाषा में लिखा गया है व लिपि उत्तर भारतीय है।

(ख) यह लेख राजा 'चन्द्र' की मृत्योपरान्त उत्कीर्ण कराया गया।

(ग) राजा चन्द्र ने दीर्घकाल तक शासन कर अपने बाहुबल एवं पराक्रम से एकाधिराज्य की स्थापना की।

(घ) चन्द्र विष्णु का उपासक था तथा उसने विष्णुपद में एक विष्णुध्वज की स्थापना की थी।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न विद्वानों ने राजा चन्द्र का समीकरण विभिन्न शासकों से किया है जो कि निम्नलिखित है :-

चन्द्रगुप्त मौर्य—डा. एच. सी. सेठ का प्रतिपादन है कि इस लेख का राजा चन्द्र मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्त था क्योंकि सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही एकाधिराज्य की स्थापना कर दीर्घकाल तक शासन किया था एवं उसके साम्राज्य में सप्त सिन्धु प्रदेश भी था।

इस मत का खण्डन करते हुए इतिहासकारों का कहना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य वैष्णव नहीं था और यदि यह लेख चन्द्रगुप्त का होता तो उसमें यवन-विजय का उल्लेख भी अवश्य होता जो कि नहीं प्राप्त होता है।

चन्द्रवर्मन—महरौली स्तम्भ लेख के 'चन्द्र' का समीकरण कुछ विद्वानों (डा. हरप्रसाद शास्त्री तथा आर. डी. बनर्जी) द्वारा जोधपुर के समीप पुष्करण के शासक चन्द्रवर्मन से किया गया है जिसका आधार चन्द्रवर्मन का वैष्णव होना व बंगाल से आना बताया गया है।

इस तर्क के विरोध में इतिहासकारों का मत है कि पुष्करण के इतिहास में किसी भी राजा ने दिग्विजय नहीं की। इसके अतिरिक्त चन्द्रवर्मन समुद्रगुप्त का समकालीन था तथा समुद्रगुप्त के समय में इतनी विजयें किसी अन्य शासक द्वारा सम्भव नहीं थीं। अतः

चन्द्र व चन्द्रवर्मन को एक ही शासक नहीं माना जा सकता।

चन्द्रगुप्त प्रथम—फ्लीट, बसाक व आयंगर आदि विद्वानों के मतानुसार महरौली लेख का 'चन्द्र' चन्द्रगुप्त प्रथम है। इन विद्वानों के तर्क निम्न प्रकार हैं :

(i) चन्द्रगुप्त प्रथम गुप्त वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक था तथा उसने अपने बाहुबल से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी।

(ii) चन्द्रगुप्त ने बंगाल विजय की थी, इसी कारण समुद्रगुप्त को बंगाल पर आक्रमण करने की आवश्यकता न रही।

(iii) इस लेख की लिपि भी चन्द्रगुप्त प्रथम के समय की है। परन्तु इन सभी तर्कों का सरलता से खण्डन किया गया है :

(i) यदि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने बाहुबल से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की होती तो समुद्रगुप्त को आर्यावर्त के अनेक राजाओं को उन्मूलित करने व दक्षिणापथ के राजाओं पर धर्म विजय करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

(ii) चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा बंगाल पर विजय प्राप्त करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

(iii) यह निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि महरौली लेख की लिपि चन्द्रगुप्त प्रथम के समय की ही है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय—डा. जायसवाल, भण्डारकर, राधाकुमुद मुकर्जी ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'चन्द्र' का समर्थन करते हुए लिखा है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय वैष्णव धर्मावलम्बी था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने लम्बे समय तक राज्य किया तथा उन स्वतन्त्र शासकों को परास्त किया जिन्होंने रामगुप्त के शासनकाल में अपनी स्वतन्त्रता घोषित की थी। इस लेख की लिपि भी चन्द्रगुप्तकालीन अन्य अभिलेखों से मिलती है तथा इसका प्राप्तिस्थल भी चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य है।

डा. आर. के. मुकर्जी के शब्दों में : "चन्द्रगुप्त द्वितीय का 'चन्द्र' से समीकरण करने वाले प्रमाण ऐतिहासिक हैं।. . . . . अतः महरौली के 'चन्द्र' को चन्द्रगुप्त द्वितीय से मिलाने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती।"*

फाह्यान का यात्रा-विवरण

चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान भारत आया। वह 399 ई. में चीन से चला तथा गोबी का मरुस्थल, खोतान, पामीर, स्वात और गंधार होता हुआ भारत में प्रवेश किया। पहले वह पेशावर पहुंचा और फिर वहाँ से उसने पंजाब में प्रवेश किया। भारत में उसने लगभग दस वर्ष (401 ई. से 410 ई.) बिताए और इन दस वर्षों में उसने भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। यहाँ आने का उसका प्रमुख प्रयोजन धार्मिक था। उसने प्रमुख बौद्ध केन्द्रों और विहारों में अपना समय बिताया। वह अपने धार्मिक कार्यों में कितना व्यस्त था, वह इससे पता चलता है कि उसने उस समय के सम्राट का नाम तक नहीं बताया है। किन्तु उसके यात्रा-विवरण से उस समय के धर्म, समाज और नैतिक जीवन तथा विचार आदि पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

इस समय बौद्ध धर्म हीनयान और महायान इन दो सम्प्रदायों में बंटा हुआ था। बौद्ध धर्म का पश्चिमोत्तर प्रदेश में काफी प्रभाव था। खोतान में उस समय 14 विहार

* The Gupta Empire - P. 68-69

थे। उसने पेशावर में स्थित उस स्तूप का भी वर्णन किया है जिसे कनिष्क ने बनवाया था। यमुना की घाटी में भी बौद्ध धर्म का प्रचार था। उसके अनुसार, केवल मथुरा में 20 विहार थे जिनमें 3000 भिक्षु रहा करते थे। तामलुक एक अन्य प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र था जहाँ उसने 24 विहारों का अस्तित्व बताया है। उसका कहना है कि धर्म में श्रद्धा रखने वाले लोग भिक्षुओं को वस्त्र और भोजन आदि देने के लिए धन एकत्रित करते थे। हिन्दू धर्म अनेक सम्प्रदायों में बंटा हुआ था। उसने 96 सम्प्रदाय गिनाए हैं।

यद्यपि उसने तत्कालीन शासक का नाम नहीं दिया है किन्तु उसके विषय में उसने लिखा है कि वह ब्राह्मण धर्म मानता था और उसके राज्य के निवासी उसी के समान दयावान एवं धार्मिक प्रवृत्ति के थे। राज्य में कहीं भी अराजकता नहीं थी और प्रजा सुखी एवं समृद्ध थी। प्रशासन के विषय में आगे उसने लिखा है कि बड़े-बड़े नगरों और राजपथों पर यात्रियों के लिए विश्रामगृह बने हुये थे। एक स्थान से दूसरे स्थान पर यात्रा करने में राज्य की ओर से कोई रुकावट नहीं थी और न ही रास्ते में लूटे-पाटे जाने का कोई खतरा था। लोगों को किसी अधिकारी के सामने हाजिरी नहीं देनी पड़ती थी और न ही अपने घरों का पंजीकरण (रजिस्ट्री) कराना होता था। अपराधों के लिए दिए जाने वाले दण्ड नम्र थे और शारीरिक यन्त्रणाएँ नहीं दी जाती थीं। प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था किन्तु भीषण अपराध पर शरीर के अंगों को काटने का विधान था। मामूली अपराधों के लिए जुर्माने का दण्ड दिया जाता था। राजकर्मचारियों को राज्य की ओर से वेतन मिलता था। कृषक कर के रूप में अपनी उपज का कुछ भाग राज्य को देते थे।

इस चीनी यात्री ने भारतीय समाज का जो चित्र प्रस्तुत किया है उससे भारतीय सभ्यता का उत्कर्ष प्रमाणित होता । लोग अतिथिपरायण थे और घर आए अतिथि के भोजन और विश्राम की पूरी व्यवस्था का ध्यान रखते थे। मध्यदेश का उल्लेख करते हुए उसने कहा है कि कोई भी व्यक्ति किसी की हत्या नहीं करता और न मद्यपान करता है। लोग लेहसुन, प्याज नहीं खाते और शराबघरों और कसाईघरों का अभाव है। उसके अनुसार, मांस-भक्षण का प्रचलन केवल चाण्डालों में था। वे मछली मारते और पशुओं का शिकार करते थे। समाज में उन्हें अछूत समझा जाता था और उन्हें नगर के बाहर रहना पड़ता था नगर और बाजार में आने पर उन्हें लकड़ियाँ बजा कर शब्द करना पड़ता था जिससे लोग स्वयं को उनके स्पर्श से बचा सकें। समृद्ध व्यावसायिक वर्ग दान तथा विविध धार्मिक कार्यों में पर्याप्त रुचि लेता था। मथुरा और पाटलिपुत्र के वैश्यों की फाह्यान ने उनकी इस वृत्ति के लिए बड़ी प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि धनी लोग मन्दिर बनवाते और गरीबों के लिए दान का प्रबन्ध करते हैं। दानी और परोपकारी लोग यात्रियों की सुविधाओं के लिए धर्मशालाएँ बनवाते और उनकी हर आवश्यकताओं का प्रबन्ध करते हैं।

पाटलिपुत्र का उल्लेख करते हुए फाह्यान ने लिखा है कि यहाँ हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के विहार थे। लोग समृद्ध थे। वे मिलजुल कर रहते और परोपकार कार्य में एक दूसरे से होड़ लगाते थे। धनी वैश्यों ने गरीबों के लिए अस्पताल खुलवा रखे थे जहाँ निपुण चिकित्सकों द्वारा रोगियों, लंगड़े-लूलों की चिकित्सा का प्रबन्ध होता था तथा उन्हें मुफ्त भोजन और दवा मिलती थी। पाटलिपुत्र में उसने अशोक का राजप्रासाद देखा और उसकी कला को देख कर वह इतना चमत्कृत हुआ कि उसने लिखा है कि यह मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं हो सकता था। यहाँ उसने रथयात्रा भी देखी, जिसमें देवताओं की मूर्तियों को चार पहिए वाले रथ पर रखकर निकाला जाता था। इस

रथयात्रा में साधु और गृहस्थ सभी सम्मिलित होते थे। जुलूस के साथ गाने-बजाने वाले भी होते थे और यह नगर के प्रत्येक भाग में घूमता था। उसका कहना है कि भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में इस उत्सव का आयोजन होता था।

फाह्यान का विवरण गुप्तकालीन समाज के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। इससे जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासनकाल शान्ति और समृद्धि का काल था और लोग सुखी थे।

कुमार गुप्त प्रथम (314 ई.–445 ई.)

कुमारगुप्त के विषय में उसके अभिलेखों व मुद्राओं से जानकारी प्राप्त होती है। कुमारगुप्त के तेरह प्राप्त अभिलेखों में से प्रमुख हैं :- बिलसद, गढ़वा, मन्दसौर, मनकुवार, करमदण्डा, साँची एवं उदयगिरि। इनके अतिरिक्त दामोदरपुर, धनैदह व बैगाम के ताम्रपत्र व मुद्राओं से महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। स्कन्दगुप्त के भीतरी अभिलेख से भी कुमारगुप्त के शासनकाल पर प्रकाश पड़ता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का अन्तिम लेख साँची का अभिलेख है जिस पर गुप्त संवत् 93 (=412 ई) तिथि मिलती है। कुमारगुप्त की पहली ज्ञात तिथि उत्तरप्रदेश में बिल्सड नामक स्थान से प्राप्त लेख में मिली है जो गुप्त संवत् 96 (=415 ई) है। इस आधार पर चन्द्रगुप्त के शासनकाल का अन्तिम और कुमार गुप्त प्रथम के शासनकाल का प्रथम वर्ष 414–415 ई. प्रमाणित होता है। उसके सिक्कों पर उसकी अन्तिम तिथि गुप्त संवत् 136 (=455 ई) उत्कीर्ण मिलती है और उसके उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ से प्राप्त प्रथम लेख में भी यही तिथि दी गई है। इससे स्पष्ट है कि 455 ई. उसके शासनकाल का अन्तिम वर्ष था।

विशाल साम्राज्य एवं समृद्धि का काल

कुमारगुप्त को एक विशाल साम्राज्य उत्तराधिकार में मिला था। स्वयं कुमारगुप्त ने कोई विजय नहीं की, किन्तु जो साम्राज्य उसे मिला था उसे वह सुरक्षित बनाए रहा। उसके समय के बहुत से लेख विविध प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं। इन लेखों में सबसे प्रसिद्ध एवं उल्लेखनीय मन्दसोर प्रशस्ति है। मन्दसोर (दसोर) पश्चिमी मालवा में सिवना नदी के तट पर स्थित है और इसका प्राचीन नाम दशपुर था। यह कुमारगुप्त के शासनकाल के अन्तर्गत 472 ई. में वत्सभट्टि नामक कवि द्वारा लिखी गई थी। प्रशस्ति में सिल्क के वस्त्र बनाने की कला में दक्ष शिल्पियों का लाट प्रदेश (गुजरात) से दशपुर (मन्दसोर) आने का तथा यहाँ उनके द्वारा एक भव्य सूर्य मन्दिर का निर्माण तथा कालान्तर में जीर्णोद्धार कराने का उल्लेख है। उत्तरप्रदेश में उसके लेख बिल्सड, गढ़वा, मानकुंवर, करमदण्डा एवं मथुरा से प्राप्त हुए हैं। मालवा प्रदेश में उसके तीन लेख मिले हैं। कुमारगुप्त के समय से पहली बार गुप्तों के लेख बंगाल से मिलने लगते हैं। ये सभी ताम्रपत्रों पर अंकित दानपत्रों के रूप में हैं। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि बंगाल के प्रदेशों पर आधिपत्य समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने किया था किन्तु यहाँ से उनका कोई अभिलेख नहीं मिला है।

कुमारगुप्त का साम्राज्य सुराष्ट्र से बंगाल तक फैला हुआ था। मन्दसोर प्रशस्ति में कहा गया है कि "वह चारों समुद्रों की चंचल लहरों से घिरी हुई पृथ्वी पर" शासन

करता था* उसके लेखों से ज्ञात है कि पुण्डूवर्धन (उत्तरी बंगाल) में चिरातदत्त, दशपुर (सालवा) में बन्धुवर्मन् तथा एरकिण (मध्यप्रदेश में एरण) में घटोत्कचगुप्त उसके प्रतिनिधि प्रान्तीय शासक थे।

साम्राज्य में सभी जगह शान्ति और सुव्यवस्था थी। उसके सिक्के सुन्दर, सुडौल, कलापूर्ण और विशुद्ध हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि साम्राज्य में शान्ति और आर्थिक उन्नति थी तथा लोग समृद्ध थे।

अश्वमेध

उसके समय के क़िसी लेख में उसकी किसी विजय का अथवा उसके द्वारा अश्वमेध सम्पादित होने का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु उसके कुछ सिक्के मिले हैं ज़िन पर एक ओर यज्ञ-यूप (अश्वमेध यज्ञ का खम्भा) से बंधा हुआ अश्व और दूसरी ओर हाथ में चंवर लिए हुई राज महिषी की आकृति बनी हुई है। कुछ और सिक्कों पर एक ओर घोड़े के नीचे 'अश्वमेध' और दूसरी ओर 'अश्वमेध महेन्द्र' उत्कीर्ण मिलता है।** इन सिक्कों से यह स्पष्ट है कि उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया।

अन्तिम दिनों में पुष्यमित्रों का विद्रोह और हूण-आक्रमण

कुमारगुप्त ने बहुत लम्बे समय तक शासन किया। शिलालेखीय साक्ष्य से पता चलता है कि उसके शासनकाल के अन्तिम दिनों में गुप्त साम्राज्य को दो गम्भीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा। उसके उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त के भीतरी लेख से पता चलता है कि 'पुष्यमित्रों' ने जिन्होंने बहुत अधिक शक्ति और धन इकट्ठा कर लिया था, विद्रोह कर दिया। ये पुष्यमित्र कौन थे, यह निश्चित नहीं किया जा सकता। दिवेकर नामक विद्वान् का विचार है कि यहाँ पुष्यमित्र का नहीं बल्कि 'गुप्तवंश के शत्रुओं' का सामान्य रूप से उल्लेख किया गया है।*** जो भी हो, जैसा कि लेख में कहा गया है, कुछ समय के लिए गुप्तवंश की 'कुल-लक्ष्मी' विचलित हो गई। पर युवराज स्कन्दगुप्त ने इस चुनौती का बड़ी वीरतापूर्वक सामना किया। उसे अपनी कुछ रातें युद्ध भूमि में बिना बिस्तर के जमीन पर सो कर बितानी पड़ीं। दूसरी चुनौती और भी गम्भीर थी। पश्चिमोत्तर में हूणों ने आक्रमण कर दिया। किन्तु युवराज स्कन्दगुप्त ने इस चुनौती का भी वीरतापूर्वक सामना किया। उसके भीषण युद्ध से 'सारी पृथ्वी कम्पित हो गई।' हूण हार कर भाग गए और इस प्रकार गुप्तवंश की प्रतिष्ठा पर कोई आँच नहीं आने पाई।

स्कन्दगुप्त (455 ई. – 467 ई.)

राज्यकाल और राज्यारोहण

हम देख चुके हैं कि कुमारगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् 136 (= 455 ई.) है। यही स्कन्दगुप्त की पहली ज्ञात तिथि है जो उसके जूनागढ़ लेख में मिलती है।

---

* देखें प्रशस्ति का 23 वां श्लोक—
चतुःसमुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासवृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति॥
द्र. गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र (अनु.) **भारतीय अभिलेख-संग्रह** (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर) पृ 102।

** इन्हें अश्वमेध-प्रकार के सिक्के कहा जाता है।

*** यह उनके द्वार प्रस्तुत पाठान्तर के कारण है। उन्होंने इस शब्द को 'पुष्यमित्रांश्च' न पढ़कर 'युध्यमित्रांश्च' (युधि = युद्ध में; अमित्रान् = शत्रुओं को) पढ़ा है।

उसकी अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त संवत् 148 (= 467 ई) मिलती है। इस प्रकार उसने केवल बारह वर्षों तक शासन किया। कुमारगुप्त प्रथम ने बहुत लम्बे समय तक शासन किया था और इस प्रकार उसके जीवन का बड़ा भाग युवराज के रूप में ही बीता होगा।

युवराज के रूप में वह पुष्यमित्रों का विद्रोह दबा चुका था और हूणों के आक्रमण से गुप्त साम्राज्य के गौरव की रक्षा की थी। जूनागढ़ लेख में कहा गया है कि 'राजलक्ष्मी ने समस्त गुण-दोषों पर विचार करने के पश्चात् सभी राजपुत्रों को छोड़कर उसका वरण किया।' इसी प्रकार उसके भीतरी अभिलेख में कहा गया है कि उसने कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् विचलित हो उठी कुल-लक्ष्मी को पुनः स्थापित किया। इसके बाद वह अश्रुपूर्ण नेत्रों वाली अपनी माता के पास उसी प्रकार पहुँचा जिस प्रकार कृष्ण अपने शत्रुओं का नाश कर देवकी के पास पहुँचे थे। इन उद्धरणों को देखते हुए सामान्य रूप से विद्वानों का यह विचार है कि स्कन्दगुप्त को सिंहासन के लिए युद्ध करना पड़ा था और सम्भवतः वह अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था।* सम्भवतः यह युद्ध उसे अपने बड़े भाई पुरुगुप्त के साथ करना पड़ा था। भीतरी लेख की उपमा के आधार पर डा. दिनेशचन्द्र सरकार ने यह विचार रखा है कि इस युद्ध में सम्भवतः स्कन्दगुप्त का कोई मामा भी उसके विरुद्ध लड़ा था, क्योंकि कृष्ण का प्रमुख शत्रु कंस का मामा था।**

साम्राज्य का संगठन और राज्य-विस्तार

स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के शासनकाल में दो महत्त्वपूर्ण युद्ध किए थे। हूणों के दमन के लिए उसे विशेष श्रम करना पड़ा था किन्तु वह उनको पूर्णतया परास्त करने में सफल हुआ। हूणों पर अपनी विजय के उपलक्ष में उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसकी मुद्राओं पर 'क्रमादित्य' और 'विक्रमादित्य' उपाधियाँ मिलती हैं। अपने प्रारम्भिक वर्षों में उसे साम्राज्य की रक्षा और प्रजा में आत्मविश्वास लाने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ा होगा। उसने अपने राज्य के पश्चिमोत्तर भाग का राजनीतिक महत्त्व समझा और काफी सोच-विचार के बाद उसकी रक्षा का भार पर्णदत्त नामक योग्य व्यक्ति के कन्धों पर रखा और उसे अपना राज्यपाल नियुक्त किया। यह सूचना हमें उसके जूनागढ़ लेख से मिलती है। लेखों और मुद्राओं से पता चलता है कि पश्चिम में सौराष्ट्र से लेकर पूर्व में बंगाल तक उसका अखण्ड साम्राज्य था।

सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कार्य

पहले हम पढ़ चुके हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उसके सौराष्ट्र प्रान्त के राज्यपाल पुष्यगुप्त ने 'सुदर्शन' नामक झील का निर्माण कराया था।अशोक के समय उसके राज्यपाल तुसाष्प ने इसमें से नहर निकलवाई थी। 150 ई. में उज्जैन शक क्षत्रप नासक रुद्रदामन् के समय अधिक वर्षा होने से इसका बांध टूट गया था और रुद्रदामन् ने अपने राजकोष से इसकी मरम्मत कराई थी। स्कन्दगुप्त के समय (455 ई) में भी अधिक वर्षा होने के कारण इस झील का बांध टूट गया जिसके कारण जनता को बहुत कष्ट हुआ था। सौराष्ट्र के प्रान्तीय शासक पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने बहुत-सा धन खर्च करके फिर इसकी मरम्मत कराई। यहाँ पर एक विष्णु मन्दिर भी बनवाया गया। इस जीर्णोद्धार कार्य से यह स्पष्ट है कि स्कन्दगुप्त केवल एक योद्धा और विजेता शासक नहीं था बल्कि प्रजा

---

* डा. बी. पी. सिन्हा (द डिक्लाइन आव द किंगडम आव मगध, पटना 1954) ने जूनागढ़ लेख में छिपे अर्थ की ओर विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया है।

** द्र. सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स (कलकत्ता, 1942), पृ. 314, टिप्पणी।

के हित में अपेक्षित कार्यों में भी उसकी पूरी रुचि थी।

स्कन्दगुप्त ने अनेक विरुद धारण किए थे। देवराज, विक्रमादित्य, क्रमादित्य आदि प्रमुख प्राप्त उपाधियाँ थीं। कहौम लेख में स्कन्दगुप्त को शक्रोयन (इन्द्र के समान) व आर्यमंजूश्री मूलकल्प में विविधाख्य (अनेक नामों वाला नरेश) कहा गया है।

स्कन्दगुप्त वैष्णव धर्मावलम्वी था किन्तु उसने धर्म सहिष्णुता की नीति का पालन किया। उसने सभी धर्मों के प्रति एक-सी नीति अपनाई। स्कन्दगुप्त के समय में सूर्य की पूजा भी की जाती थी। इन्दौर लेख से ज्ञात होता है कि वहाँ एक सूर्य मन्दिर था। कहौम लेख से ज्ञात होता है कि मद्र नामक व्यक्ति ने पाँच तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्थापना की थी। कहौम स्तम्भ पर पाँच जैन मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं।

अन्तिम दिन

स्कन्दगुप्त की मृत्यु 467 ई. में हुई। कुछ विद्वानों का विचार है कि उसके अन्तिम दिनों में भी पश्चिमोत्तर में हूणों का दबाव बना रहा और उनसे देश की सुरक्षा करने में स्कन्दगुप्त को काफी श्रम और धन व्यय करना पड़ा। इस अनुमान का मुख्य आधार है स्कन्दगुप्त के शासनकाल के अन्तिम दिनों की सुवर्ण मुद्राएँ, जिनमें धातु विशुद्ध न मिलकर मिश्रित मिलती है। पर हूणों का फिर आक्रमण होने का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। युवराज होने के समय से अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक इस वीर योद्धा ने देश को सुरक्षित बनाए रखा। वह अन्तिम महान् गुप्त शासक था और उसकी मृत्यु के बाद गुप्त साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया।

बाद के गुप्त शासक और गुप्त साम्राज्य का पतन : हूणों का आक्रमण

स्कन्दगुप्त के बाद जो गुप्त शासक गद्दी पर बैठे वे निर्बल थे। उनका अधिकार क्षेत्र धीरे-धीरे कम होता गया और अन्त में इस महान् साम्राज्य का अन्त हो गया।

स्कन्दगुप्त के बाद उसका सौतेला भाई पुरुगुप्त राजा बना। इसने 'प्रकाशादित्य' की उपाधि धारण की थी। अपने राजा बनने के समय पुरुगुप्त काफी वृद्ध हो चुका था। अतः उसका शासनकाल काफी कम दिनों का था। सारनाथ से प्राप्त एक लेख में उसके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त द्वितीय के लिए 473 ई. (गुप्त संवत् 154) की तिथि मिलती है जिससे स्पष्ट है कि पुरुगुप्त का शासनकाल इसके पहले समाप्त हो गया था। पुरुगुप्त की रजत मुद्राएँ नहीं मिलतीं जिससे सम्भवतः यह संकेतित है कि सौराष्ट्र में भी गुप्त शासन समाप्त हो गया था। उसकी सुवर्ण मुद्राएँ भी बहुत कम मिली हैं जिससे भी गुप्त शक्ति का ह्रास संकेतित होता है।*

कुमारगुप्त द्वितीय का केवल एक लेख (सारनाथ से) मिला है। इसमें वंशावली नहीं दी गई है जिस कारण यह बता सकना कठिन है कि वह स्कन्दगुप्त का पुत्र था अथवा पुरुगुप्त का। उसके उत्तराधिकारी बुधगुप्त का सारनाथ लेख गुप्त संवत् 157 (476 ई.) में तिथ्यंकित है।

बुधगुप्त ने 476 ई. से 494 ई. तक राज्य किया। उसके समय के पाँच लेख मिले हैं। बाद के गुप्त नरेशों में यह सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतीत होता है। उसका अधिकार क्षेत्र सम्भवतः मालवा से बंगाल तक विस्तृत था। बुधगुप्त के लेखों में उसे 'परमभागवत' नहीं कहा गया है जो कि सभी गुप्त नरेशों के लिए प्रयुक्त मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि उसका व्यक्तिगत धर्म वैष्णव धर्म नहीं था। चीनी यात्री युवान-च्वांग ने उसकी

---

* उदयनारायण राय, गुप्त सम्राट और उनका काल, पृ. 296।

बौद्ध धर्म में आस्था बताई है। उसने लिखा है कि उसने नालन्दा विश्वविद्यालय को आर्थिक सहायता प्रदान की थी।

बुधगुप्त के बाद नरसिंहगुप्त, ''बालादित्य शासक बना। उसके समय में 500 ई. और 510 ई. के बीच में तोरमाण के नेतृत्व में हूणों ने आक्रमण किया और मालवा को जीत लिया। कुछ विद्वानों का विचार है कि बुधगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य तीन भागों में बंट गया था : साम्राज्य का पश्चिमी भाग भानुगुप्त के अधिकार में था (गुप्त संवत् 191 = 510 ई. का एरण लेख उसकी चर्चा करता है); साम्राज्य के पूर्वी भाग पर वैन्यागुप्त का शासन था (गुप्त संवत् 188 = 507 ई. का बंगाल में गुणैवर से प्राप्त ताम्रपत्र लेख उसका नाम देता है); मगध क्षेत्र में स्वयं नरसिंहगुप्त का शासन था। 510 ई. में भानुगुप्त ने हूणों को मालवा से निकालने के लिए उन पर आक्रमण कर दिया। इस समय हूणों का नेता तोरमाण का पुत्र मिहिरकुल था। इस युद्ध में भानुगुप्त का सेनापति गोपराज मारा गया पर वह विदेशियों को भगाने के अपने उद्देश्य में सफल रहा। युवान च्वांग ने हूण विजय का श्रेय बालादित्य (नरसिंह गुप्त) नामक गुप्त नरेश को दिया है। उसके अनुसार बालादित्य ने हूण राजा मिहिरकुल को बन्दी बना लिया था किन्तु बाद में अपनी माँ के कहने पर उसे छोड़ दिया। इस प्रकार उसने एक बार फिर गुप्त वंश की शक्ति को प्रतिष्ठित किया। पर यह एक प्रकार से दीपक की अन्तिम लौ थी। उसके बाद के कुछ गुप्त शासकों के नाम बौद्ध साहित्य और सिक्कों से मिलते हैं किन्तु उनके बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। शीघ्र ही गुप्त साम्राज्य समाप्त हो गया और इसके स्थान पर अन्य राज्यों का उदय हुआ।

गुप्त साम्राज्य के पतन के अन्य कारण

हूणों के आक्रमण के अतिरिक्त कई अन्य कारण भी गुप्त साम्राज्य के पतन के लिये उत्तरदायी हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :-

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त सिंहासन पर किसी शक्तिशाली शासक का आसीन न होना गुप्त साम्राज्य के पतन के लिये एक प्रमुख उत्तरदायी कारण बना। गुप्त साम्राज्य का स्वरूप राज्यतन्त्रात्मक था तथा इस प्रकार की शासन पद्धति में राज्य का विकास व पतन राजा की योग्यता पर निर्भर करता था। इसीलिये समुद्रगुप्त व चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे योग्य व प्रतापी शासकों ने गुप्त साम्राज्य को गौरवपूर्ण स्थान दिलाया, वहीं स्कन्दगुप्त के अयोग्य व निर्बल उत्तराधिकारियों ने गुप्त साम्राज्य को विघटन की ओर अग्रसर किया।

केन्द्रीय शासकों के कमजोर होने के कारण व निरन्तर बाह्य शक्तियों के आक्रमणों के परिणाम स्वरूप प्रान्तीय शासकों ने अपनी-अपनी स्वतंत्रता घोषित करनी प्रारम्भ कर दी थी। सामन्तों ने भी इस प्रकार की नीति अपनाई एवं ये प्रणाली गुप्त साम्राज्य के लिये घातक सिद्ध हुई। इस प्रकार गुप्त साम्राज्य का निरंतर विघटन होता गया। इस सन्दर्भ में प्रोफेसर राय के विचार उल्लेखनीय हैं। उनके शब्दों में "इस प्रकार स्पष्ट है कि गुप्त वंश के सामन्तों की विरोधी कार्यवाहियों के कारण उनके साम्राज्य में विघटन की सबल प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हो उठीं। सामन्तों को दी गई विशेष सुविधाएँ एवं छूट मुख्यतः स्थाई सेना रखने एवं परम्परागत आधार पर राज्य करने का विशेषाधिकार गुप्त साम्राज्य के अस्तित्व के लिये घातक सिद्ध हुआ।"*

हूणों के आक्रमण तथा प्रान्तीय सामन्तों एवं अधिकारियों के स्वतन्त्र होने के

* गुप्त सम्राट और उनका काल पृ. 360।

अतिरिक्त आन्तरिक विद्रोह व राजकुमारों में पारस्परिक वैमनस्य ने भी गुप्त वंश में फूट और कलह उत्पन्न की, जिससे कि गुप्त साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था।

साम्राज्यवादी नीति का पालन करने हेतु गुप्त शासक निरन्तर युद्धों में विलीन रहे जिनके परिणामस्वरूप एक ओर तो गुप्तों की आन्तरिक संगठन व्यवस्था में शिथिलता उत्पन्न हुई तथा दूसरी ओर गुप्त अर्थव्यवस्था पर गहरा आघात पहुँचा।

गुप्तों की प्रशासनिक व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ होने के बावजूद अनेक दोषों से युक्त थी। प्रान्तीय शासकों व सामन्तों को विशेषाधिकार, उच्च अधिकारियों के पद का आनुवंशिक होना एवं यदा-कदा अयोग्य व्यक्ति का उच्च पद पर आसीन हो जाना, शासन व्यवस्था के प्रमुख दोष थे। इसके अतिरिक्त गुप्त काल में अग्रहार-दान की प्रथा प्रचलित थी जोकि मध्यकालीन जागीरदारी प्रथा के समान थी जिसे एक बार देने के पश्चात् लिया नहीं जा सकता था।

प्रो. रायचौधरी के अनुसार "जिस प्रकार कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने तथा चीनी यात्री के निकट सम्पर्क में आने के कारण हर्ष ने बौद्ध धर्म को अपनाया था तथा इस धर्म परिवर्तन का सर्वाधिक प्रभाव राज्य की सेना पर पड़ा था, उसी प्रकार बुद्धगुप्त एवं वज्रगुप्त आदि सम्राटों के धर्म परिवर्तन के कारण साम्राज्य की राजनीतिक दशा तथा सेना पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा।"*

ह्वेनसांग के वर्णन से भी ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीयों की अन्तिम गुप्त सम्राटों की शक्ति एवं साहस में विशेष विश्वास एवं आस्था नहीं थी यद्यपि वे उनकी दयालुता एवं उदारता से प्रभावित थे, परन्तु दुश्मनों के प्रति दयालुता एवं उदारता के प्रदर्शन से साम्राज्य की रक्षा नहीं हो सकती थी अतः गुप्त शासकों की अहिंसात्मक व दयालु नीति के कारण गुप्त साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी था।

अन्य साम्राज्यों के पतन के समान गुप्त-साम्राज्य का पतन न तो आकस्मिक घटना थी और न ही ऐसा किन्हीं आकस्मिक कारणों से हुआ था। विभिन्न कारण परस्पर मिलकर गुप्त साम्राज्य को निरन्तर निर्बल बना रहे थे जो कि 550 ई. में गुप्त साम्राज्य के पतन में सफल हो गए।

गुप्तों का शासन प्रबन्ध

राज्य का स्वरूप

गुप्तों ने एक विशाल राज्य की स्थापना की थी और उसके शासन का कुशल प्रबन्ध किया था। गुप्तों के समय में शासन व्यवस्था पूर्णतया केन्द्रीय नहीं थी। गृहराज्य के अतिरिक्त ऐसे कई राज्य थे जो गुप्त राजाओं की अधीनता स्वीकार करते थे किन्तु अपने आन्तरिक मामलों में वे स्वतन्त्र थे। ये सम्राट को वार्षिक कर और उपहार दिया करते थे और सामन्त अथवा अधीनस्थ शासक के रूप में अपने प्रदेशों पर राज्य करते थे।

राज्य का लोकोपकारी आदर्श

भारतीय परम्परा में राजा का अर्थ किया गया है कि जो प्रजा को हर प्रकार से सुखी और प्रसन्न बनाए। गुप्त शासक अपने लिए राजा का यही आदर्श रखते थे; गुप्त राजाओं के सिक्कों पर लिखा हुआ मिलता है : "राजाधिराज पृथ्वी को जीत कर अपने सुन्दर (पुण्य) कर्मों से स्वर्ग को जीतते हैं" जिससे स्पष्ट होता है कि वे इस प्रकार के

* Political history of ancient India, Page 635

कार्यों में चित्त लगाते थे। आवागमन की सुविधा के लिए राज्य की ओर से सड़कें बनवाई जाती थीं और उन पर विश्राम-स्थलों का प्रबन्ध किया जाता था; राज्य सिंचाई का सुन्दर प्रबन्ध करता था। प्रान्त में भी सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। स्कन्दगुप्त के समय सौराष्ट्र की पुरानी झील सुदर्शन का पुनरुद्धार कार्य कराया गया। फाह्यान ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि उत्तर भारत में जगह-जगह पर चिकित्सालय बने हुए थे, जहाँ रोगियों को मुफ्त दवा की जाती थी और उनके भोजन, वस्त्र व दवा का प्रबन्ध किया जाता था।

केन्द्रीय शासन

शासन व्यवस्था में राजा का सर्वोच्च स्थान था और वह राज्य के सभी विभागों का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का स्वरूप माना जाता था जो राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की ओर संकेत करता है। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को देव कहा गया है और उसे विष्णु के समान 'अचिन्त्य पुरुष' का अभिधान दिया गया है। गुप्त राजा बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण करते थे—जैसे परमेश्वर, महाराजाधिराज, परमभट्टारक, विक्रमांक, विक्रमादित्य, महेन्द्रादित्य, प्रकाशादित्य, बालादित्य आदि। प्रायः राजा योग्यता के आधार पर अपने पुत्रों में से अपना उत्तराधिकारी चुनते थे और यह आवश्यक न था कि बड़ा लड़का ही राजा बने।

राजा की सहायता के लिए मंत्रि-परिषद् होती थी, किन्तु उसके कार्यों के बारे में हमें विस्तृत विवरण नहीं मिलता। गुप्तकालीन लेखों से हमें कुछ मन्त्रियों के पदों के नाम तथा उनके कर्तव्यों का विवरण मिलता है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण युद्ध और संधि का मन्त्री होता था, जिसे सांधिविग्रहिक कहते थे; परराष्ट्र विभाग भी इसी अधिकारी के हाथ में होता था। हरिषेण समुद्रगुप्त का सांधिविग्रहिक मंत्री था और शाब वीरसेन चन्द्रगुप्त द्वितीय का सांधिविग्रहिक मंत्री था। राजकीय कागज-पत्रों से सम्बन्धित मन्त्री अक्षपटलाधिकृत् कहलाता था। इन विभिन्न मन्त्रियों की सहायता से राजा शासन चलाता था। मन्त्रिपरिषद् में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया जाता था। सौराष्ट्र में पर्णदत्त को राज्यपाल नियुक्त करने के पहले स्कन्दगुप्त ने अपनी मन्त्रिपरिषद् में इस प्रश्न पर काफी विचार-विमर्श किया था।

केन्द्रीय शासन कई विभागों में बंटा था। इस काल के लेखों से कुछ मुख्य राजकर्मचारियों के बारे में पता चलता है। महासेनापति सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था। रणभाण्डारिक का कार्य सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी प्रकार की सामग्री जुटाना था। सर्वाध्यक्ष एक अन्य उच्च अधिकारी था जो सभी केन्द्रीय विभागों पर निगरानी रखता था। लेखों में कुछ अधिकारियों को कुमारामात्य कहा गया है। प्रयाग प्रशस्ति का हरिषेण कुमारामात्य भी था; इसी प्रकार करमदण्डा अभिलेख में शिखरस्वामी को चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री और कुमारामात्य कहा गया है। डा. अल्तेकर का विचार है कि 'कुमारामात्य' आधुनिक आई.ए.एस. के समान उच्च अधिकारियों के एक वर्ग का नाम था। दण्डपाशिक पुलिस विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी था। महाबलाधिकृत और महादण्डनायक सेना से सम्बन्धित कुछ अन्य प्रमुख अधिकारी थे। प्रतिहार अथवा महाप्रतिहार नामक अधिकारी का कार्य सम्राट से मिलने के इच्छुक व्यक्तियों को आज्ञापत्र प्रदान करना था।

प्रान्तीय शासन

शासन की सुविधा के लिए राज्य को कई इकाइयों में बांटा गया था। प्रान्त सबसे

बड़ी इकाई था जिसे देश या भुक्ति कहते थे; सौराष्ट्र, अवन्ति (पश्चिमी मालवा), एरण (पूर्वी मालवा), तीरभुक्ति (उत्तरी बिहार), पुण्ड्रवर्द्धन (उत्तरी बंगाल) गुप्त साम्राज्य के प्रमुख प्रान्त थे। प्रान्तीय शासक उपरिक महाराज कहलाता था; उसके लिए लेखों में राष्ट्रीय, भोगिक, गोप्ता आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। प्रान्तीय शासक प्रान्त में राजा का प्रतिनिधि होता था। लेखों में कुछ प्रान्तीय शासकों के नाम भी मिलते हैं। गोविन्दगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का कनिष्ठ पुत्र था और तीरभुक्ति प्रान्त का प्रान्तीय शासक था। इसी प्रकार घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त का पुत्र तथा एरण प्रान्त का प्रतिनिधि शासक था। स्कन्दगुप्त के समय में सौराष्ट्र प्रान्त में पर्णदत्त को प्रान्तीय शासक नियुक्त किया गया था।

प्रान्त से छोटी इकाई को प्रदेश कहते थे, जो आजकल की कमिश्नरी की तरह था। इससे छोटी इकाई विषय था, जिसे आजकल का जिला कहा जा सकता है। इसके अधिकारी को विषयपति कहते थे। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था, जिसके मुख्य अधिकारी को ग्रामिक, महत्तर अथवा भोजक कहते थे।

जिला शासन

प्रान्त में जिले अथवा विषय का विशेष महत्त्व था। विषयपति प्रान्तीय शासक के प्रति उत्तरदायी होता था। उसके प्रधान कार्यालय को अधिष्ठान कहते थे। उनकी सहायता के लिए एक समिति होती थी, जिसमें स्थानीय प्रतिनिधि होते थे। इनके ये सदस्य होते थे : 1. नगरश्रेष्ठी अर्थात् नगरों का प्रतिनिधि, 2. सार्थवाह अर्थात् मुख्य व्यापारी, 3. प्रथम कुलिक अर्थात् कारीगरों का प्रधान, 4. प्रथम कायस्थ–विषय का प्रमुख लेखक, 5. पुस्तपाल-भूमि के मूल्य को निर्धारित करने वाला अधिकारी। विषयपति के अधीन कई अधिकारी होते थे जो राजकीय कर इकट्ठा करने एवं शासन में व्यवस्था बनाए रखने में उसकी सहायता करते थे।

नगर एवं ग्राम शासन

नगरों के प्रबन्ध के लिए प्रत्येक नगर में नगर सभा होती थी, जो आजकल की नगरपालिका की तरह नगर के शासन का प्रबन्ध करती थी। नगरपति द्रंगिक कहलाता था। वह नगर से मिलने वाले करों की वसूली करवाता था, तथा नगवासियों के स्वास्थ्य आदि का ध्यान रखता था। नगरपति विषयपति द्वारा नियुक्त होता था। नगरों में पुरपाल नामक एक अधिकारी का भी उल्लेख मिलता है।

ग्राम का प्रमुख अधिकारी ग्रामिक या महत्तर कहलाता था उसकी सहायता के लिए भी ग्राम प्रतिनिधियों से बनी एक समिति होती थी। गाँव से संबंधित सभी मामलों का निर्णय यह ग्राम पंचायत लिया करती थी। उसे कर-संग्रह का भी अधिकार था। लेखों में तलवाटक नामक अधिकारी का उल्लेख आता है जो ग्रामों के आय-व्यय का हिसाब-किताब रखता था।

इस काल में 'श्रेणी', 'पूग' एवं 'कुल' नामक तीन अन्य संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। 'श्रेणी' व्यावसायिक संगठन को कहते थे। 'पूग' सम्भवतः नगर में रहने वाली विभिन्न जातियों की समितियों को कहते थे। 'कुल' एक ही मूल परिवार के सदस्यों के समूह को कहते थे। इन्हें अपने वर्ग के सदस्यों के झगड़ों को निपटाने का अधिकार था। यदि सदस्य इन निर्णयों को नहीं मानते थे तो राज्य उन्हें दण्डित करता था।

न्याय व्यवस्था

राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था और सभी मामलों की अन्तिम अपील इसके

पास हो सकती थी। नीचे के न्यायालयों की अपील ऊपर के न्यायालयों में हो सकती थी। फाह्यान के अनुसार, अपराध कम होते थे और दण्ड-विधान नम्र था। प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था पर गम्भीर अपराधों के लिए शारीरिक दण्ड दिया जाता था। छोटे अपराधों के लिए जुर्माना लगाया जाता था। पर राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने पर दाहिना हाथ काट लिया जाता था। इस प्रकार न्याय-व्यवस्था उदार थी और दण्ड-विधान नम्र था। प्रायः लोग नियमों का पालन करते थे।

आय और व्यय के साधन

राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि से प्राप्त कर था। यह उपज का 1/6 भाग होता था। कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में राजा को 'षष्टांशवृत्ति' (छठा अंश जिसकी जीविका है) बताया है। कुछ अन्य साधन थे : सिंचाई कर, अर्थदण्ड से प्राप्त धन, राज्य की निजी सम्पत्ति से होने वाली आय और अधीन सामन्तों से वार्षिक आय तथा उपहार में लिया हुआ धन। राज्य की ओर से भूमि मापने की व्यवस्था थी। प्रत्येक भूमि की सीमा निश्चित की जाती थी और राज्य कर्मचारी उसका हिसाब रखते थे।

इतने बड़े साम्राज्य में ठीक ढंग से शासन चलाने में काफी धन खर्च होता था। फाह्यान के यात्रा विवरण से पता चलता है कि राज्य कर्मचारियों को वेतन दिया जाता था। राज्य के कोष का बहुत बड़ा भाग इसमें जाता था। राज्य द्वारा किये गये लोकोपकारी कार्यों, सेना व पुलिस विभाग पर भी राज्य का काफी धन खर्च होता था।

गुप्तकालीन समाज एवं संस्कृति-भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग

गुप्तकालीन सामाजिक जीवन

समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों में बंटा था और लोग सामान्यतः अपने वर्णगत कार्य करते थे। अभी जातिप्रथा की कठोरता ने समाज को दूषित नहीं किया था। एक वर्ण का विवाह दूसरे वर्ण में हुआ करता था तथा वर्णों एवं व्यवसायों का परिवर्तन भी हो सकता था; मृच्छकटिक नामक नाटक का नायक चारुदत्त ब्राह्मण होने पर भी वाणिज्य कर्म में प्रवृत्त बताया गया है। वाकाटक, कदम्ब और सम्भवतः गुप्त राजवंश भी ब्राह्मण राजवंश थे। वैवाहिक सम्बन्धों में विद्यमान लचीलेपन तथा भारतीय संस्कृति की प्रभावशीलता के कारण ही शक, पह्लव आदि विभिन्न विदेशी जातियाँ इस समय तक भारतीय समाज में पचा ली गई थीं। केवल श्वपच, चाण्डार जैसी जंगली और असभ्य जातियाँ जो आचार तथा रहन-सहन में हीन थीं, उन्हें समाज में नहीं मिलाया जा सका था। उनके बारे में फाह्यान ने लिखा है कि ये नगरों के बाहर रहते हैं और नगर में प्रवेश करने पर उन्हें लकड़ी बजाते हुए आना पड़ता है। इस काल की स्मृतियों में केवल शूद्रों के साथ भोजन करने को मना किया गया है, किन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार मनुष्य अपने नाई, दूध वाले और अपनी भूमि जोतने वाले के साथ भोजन कर सकता है। वैसे साधारणतया जाति के अन्दर ही विवाह और भोज अधिक प्रचलित था।

समाज में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था। गुप्त राजाओं की वंशावलियों में पिता के साथ-साथ माता का भी नाम मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावतीगुप्ता ने अपने वाकाटक पति की मृत्यु के बाद अपने पुत्रों की कम आयु के कारण कुछ दिनों तक खुद शासन कार्य चलाया था। धार्मिक कार्यों को करते समय पति के साथ पत्नी का रहना आवश्यक समझा जाता था। समाज में विधवा विवाह प्रचलित था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी भावज ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया था। अनमेल विवाह भी होते थे जैसा कि

कुमारगुप्त के एक सिक्के से पता चलता है जिसमें वृद्ध राजा के साथ युवती रानी का चित्र प्राप्त होता है। सती प्रथा का भी प्रचलन था। भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी अपने पति की चिता में जलकर मरी थी। मृच्छकटिक नाटक में भी चारुदत्त की पत्नी को सती होने के लिए प्रस्तुत दिखाया गया है।

(समाज का जीवन समृद्ध, सुखी और ऐश्वर्यपूर्ण था)। लोगों में शिष्टाचार और अतिथि-सत्कार के गुण थे। इस काल की मूर्तियों और साहित्यिक ग्रन्थों से पता चलता है कि लोग सुन्दर वस्त्र, विभिन्न प्रकार के आभूषणों एवं केश-सज्जा से अपना सौन्दर्य बढ़ाते थे। अजन्ता के चित्रों में स्त्रियों का अत्यन्त सुन्दर केश-शृंगार देखा जा सकता है। तत्कालीन साहित्यिक कृतियों में सौन्दर्य प्रसाधन की विविध सामग्रियों का उल्लेख मिलता है। कालिदास के ग्रन्थों में केशों को पुष्पों से सजाने का उल्लेख मिलता है। स्त्रियाँ नेत्रों में काजल और ओठों पर अंगराग चढ़ाती थीं। इस काल में स्त्री और पुरुष दोनों ही अलंकार प्रेमी थे। तत्कालीन ग्रन्थों में विविध आभूषणों के नाम आते हैं। शिष्ट एवं समृद्ध नागरिक सुगन्धित द्रवों का भी प्रयोग करते थे और ताम्बूल का सेवन करते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र से तत्कालीन नागरिक* के सामान्य जीवन, रुचि, व्यवहार आदि पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

फाह्यान ने भारतवर्ष के लोगों को उत्सव प्रेमी बताया है। इसकी पुष्टि साहित्यिक ग्रन्थों से भी होती है। इस समय के प्रसिद्ध उत्सवों में एक प्रसिद्ध उत्सव 'कौमुदी-महोत्सव' था। इसे शरद् की पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। पाटलिपुत्र के नागरिक इसे विशेष धूमधाम से मनाते थे। बसन्त ऋतु का आगमन वसन्तोत्सव द्वारा मनाया जाता था। इसे मदनोत्सव भी कहा जाता था। दीपावली (दीपोत्सव) ने इस समय तक एक विशिष्ट पर्व का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। पहले लोग यक्षपूजा के निमित्त इस उत्सव को मनाते थे। इसी कारण वात्स्यायन ने कामसूत्र में इसे यक्षरात्रि कहा है। फाह्यान ने रथ यात्राओं का उल्लेख किया है जिसकी चर्चा हम उसके यात्रा-विवरण के प्रसंग में पहले कर चुके हैं। इन उत्सवों के अतिरिक्त लोगों में मनोविनोद के और भी साधन प्रचलित थे। नृत्य-संगीत उनमें प्रमुख था। समाज में गणिकायें और वेश्याएँ थीं। मृच्छकटिक में वेश्या के घर को युवकों का निवास स्थान कहा गया है और उन्हें 'पण्यभूत' तथा 'धनहार्य' (=जिसे धन से पाया जा सके) बताया गया है। राजकुलों में आखेट मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन माना जाता था। द्यूतक्रीड़ा का प्रचलन था और द्यूतशालाएँ होती थीं। लोग पशु-पक्षी भी पालते थे।

फाह्यान के विवरण से पता चलता है कि लोगों का भोजन सात्विक था; लोग मदिरापान नहीं करते थे और न मांस, लेहसुन, प्याज आदि खाते थे। उसके अनुसार, उनका प्रयोग केवल चाण्डालों में प्रचलित था। वह लिखता है कि न तो कहीं मद्यपान गृह हैं और न ही मांसगृह। ऐसा जान पड़ता है कि लोगों की खानपान की आदतों पर बौद्ध धर्म और जैन धर्म का प्रभाव काफी था। किन्तु इससे यह निष्कर्ष उन्हें निकालना चाहिएं कि सारी जनता शाकाहारी थी। कालिदास के ग्रन्थों में मांसाहार और मदिरापान का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार, उच्च वर्ग की स्त्रियाँ भी मदिरापान करती थीं।

धार्मिक अवस्था

इस काल में हिन्दू धर्म अधिक प्रभावशाली था और इसके अनुयायी बौद्ध तथा

---

* शिष्ट एवं सुसंस्कृत नगरवासी के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द 'नागरक' है।

जैन धर्मों से कहीं अधिक थे। फाह्यान के विवरण से पता चलता है कि कुछ स्थानों पर बौद्ध धर्म अभी भी समृद्ध था जहाँ हीनयान और महायान दोनों धर्मों के विहार थे और जिनमें पर्याप्त बड़ी संख्या में भिक्षु रहा करते थे। कश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब बौद्ध धर्म के प्रमुख गढ़ थे। सारनाथ, अजन्ता, नागार्जुनी कोंडा, कांची, नालन्दा, मथुरा और बोधगया अन्य प्रमुख बौद्ध केन्द्र थे। गुप्तकाल कई प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों के अस्तित्व से गरिमामण्डित है जिनमें वसुबन्धु, असग एवं दिङ्नाग उल्लेखनीय है। इस काल में जैन धर्म का भी काफी विकास था। इसी काल में वलभी की प्रसिद्ध संगीति का आयोजन किया गया था। फाह्यान के साक्ष्य के अनुसार भी, प्रायः सभी प्रसिद्ध नगरों में जैन देवालय थे जिनमें जैन पुजारी दीपक जलाते तथा पूजा करते थे। इस काल के कुछ अभिलेखों में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों के निर्माण एवं जैन मन्दिर को दान आदि देने के उल्लेख मिलते हैं।*

इस समय वैदिक धर्म का पुनः उत्कर्ष हुआ। वाकाटक और गुप्त सम्राटों ने अश्वमेध, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञ किए। किन्तु, इस समय विविध नई विचारधाराओं और परिस्थितियों के कारण जनता मूल वैदिक धर्म की ओर आकर्षित नहीं हो सकती थी। अतः उसमें कई संशोधन हुए। भक्ति की विचारधारा विशेष लोकप्रिय हुई और शिव तथा विष्णु प्रमुख देवताओं के रूप में पूजे जाने लगे। विष्णु के अवतारों और उनकी पत्नी लक्ष्मी, शिव और उनके पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय), गणेश एवं पत्नी पार्वती, सूर्य और ब्रह्मा, दुर्गा आदि देवी तथा देवताओं की भक्ति और पूजा का प्रचलन हुआ। इस काल में पुराणों को अन्तिम रूप मिला। इनमें विभिन्न देवी-देवताओं से सम्बन्धित विभिन्न कथाओं की रचना हुई। पर इन सभी सम्प्रदायों में वैष्णव धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय था। गुप्त शासकों का यह निजी धर्म था। विष्णु के अवतारों में वराह अवतार सबसे अधिक लोकप्रिय दिखाई पड़ता है। इस काल में शैव सम्प्रदाय का भी काफी जोर था। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति वीरसेन एक शैव था। उसने शैवों के रहने के लिए उदयगिरि पहाड़ी पर एक गुफा का निर्माण करवाया था। मेघदूत में कालिदास ने उज्जयिनी स्थित महाकाल के मन्दिर में होने वाली सन्ध्याकालीन आरती का सुन्दर वर्णन किया है। मथुरा में इस समय शैवों का एक माहेश्वर सम्प्रदाय था। लकुलीश (150 ई.) द्वारा संस्थापित पाशुपत सम्प्रदाय एक अन्य शैव सम्प्रदाय था। गुप्तकाल में इन विभिन्न देवी-देवताओं के मन्दिर बनाए गए और उनमें उनकी मूर्तियाँ स्थापित की गई। इससे धार्मिक कला का बहुत अधिक विकास हुआ।

गुप्तकाल के धार्मिक जीवन की प्रमुख विशिष्टता है विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में सहिष्णुता की भावना। ब्राह्मण-धर्मानुयायी शासकों द्वारा बौद्धों एवं जैनों को भी संरक्षण और सहायता दी जाती थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति आम्रकार्दव बौद्ध धर्म मानता था उसका एक अन्य सेनापति वीरसेन शैव मतावलम्बी था। एक ही राजवंश के विभिन्न सदस्यों द्वारा अलग-अलग धर्मों को मानने के उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रारम्भ के गुप्त शासक वैष्णव धर्म मानते थे किन्तु परवर्ती गुप्त शासक बुद्धगुप्त को युवान च्वांग ने बौद्ध मतावलम्बी बताया है। इसी काल के वलभी के राजवंश में प्रथम दो शासक शैव थे, तीसरा भागवत धर्म मानता था और चौथा सूर्य का उपासक था। ऐसे और कई उदाहरण

---

* उदाहरण के लिए, स्कन्दगुप्त के समय का कहौम अभिलेख, कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल का मथुरा-लेख।

मिलते हैं। फाह्यान ने भी लिखा है कि कहीं पर धार्मिक अत्याचार नहीं था और ब्राह्मण एवं बौद्ध मित्रतापूर्वक रहते थे।

आर्थिक जीवन

साम्राज्य में सुन्दर शासन तथा सर्वत्र शान्ति होने के कारण इस काल में लोगों का आर्थिक जीवन समृद्ध हुआ। गुप्तकाल में नगरों का विकास विशेष रूप से उल्लेखनीय है और इस समय कई नगर अपने वैभव एवं व्यापारिक समृद्धि के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध थे। पाटलिपुत्र की विशेष महत्ता थी और फाह्यान ने इसे देश का सबसे प्रमुख नगर बताया है। पश्चिम में उज्जयिनी अत्यन्त समृद्धिशाली नगर था। पश्चिमी भारत में ही दशपुर (आधुनिक मंदसौर) एक अन्य समृद्ध नगर प्रतीत होता है जिसका कुमारगुप्त के समय की मंदसौर प्रशस्ति में अत्यन्त रमणीक वर्णन हुआ है।

इस समय के राजमार्ग अच्छे सुरक्षित थे और व्यापारी बिना किसी डर के एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी व्यापारिक वस्तुओं को खरीद व बेच सकते थे। परिणामस्वरूप व्यापार की उन्नति हुई। इस काल में विभिन्न उद्योगों और शिल्पों का विकास हुआ। व्यापारी, शिल्पी और उद्योगी संगठित थे और अपने-अपने संघ बनाकर रहते थे। इन संघों को श्रेणी, निगम अथवा गण कहा जाता था। सदस्यों के आंतरिक मामलों पर निर्णय लेने का इन्हें अधिकार था और प्रत्येक सदस्य को इस निर्णय को मानना पड़ता था। राज्य द्वारा भी इनके निर्णयों का आदर किया जाता था। ये श्रेणियाँ तथा निगम बैंक का भी काम करते थे जहाँ कोई अपना धन जमा करा सकता था। ये व्यावसायिक समितियाँ मूल धन को सुरक्षित रखतीं और उस पर सूद देती थीं। प्रायः लोग इनके पास इस प्रकार की शर्त रखकर कुछ रकम जमा कर देते थे कि उस रकम की सूद से श्रेणी किसी मन्दिर का जीर्णोद्धार कराएगा अथवा भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र आदि का प्रबन्ध करेगा। इन्दौर से प्राप्त एक लेख में कहा गया है कि यहाँ की एक 'तैलिक श्रेणी' (तेल के व्यापारियों का संगठन) के पास इस उद्देश्य से रुपया जमा किया गया था कि उसके सूद से सूर्य मन्दिर में दीपक जलाने की व्यवस्था की जावेगी। दशपुर की 'पट्टवाय श्रेणी' (वस्त्र व्यवसाय में प्रवृत्त लोगों का संगठन) के ऊपर वहाँ के सूर्य मन्दिर में समय-समय पर अपेक्षणीय जीर्णोद्धार का दायित्व था।

इस समय गुप्त साम्राज्य पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के समुद्रों से सटा था अतः विदेशी व्यापार भी काफी समृद्ध हुआ। भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौच) पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित प्रसिद्ध बन्दरगाह था जहाँ से पाश्चात्य जगत के साथ विविध वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था। इसी प्रकार पूर्वी समुद्र तट पर ताम्रलिप्ति एक अन्य प्रसिद्ध बन्दरगाह था जिसे टालमी ने गंगा के मुहाने पर स्थित बताया है। अपने देश को वापस लौटने के लिए फाह्यान यहीं पर जहाज में बैठा था। अपने विदेशी व्यापार में भारत लाभ की स्थिति में था। इस काल में भारत में रोम के सोने की दीनार बरस रहे थे। चीन से रेशमी कपड़े का आयात होता था। यहाँ से मसाले, विभिन्न प्रकार के वस्त्र, बहुमूल्य पत्थर आदि भेजे जाते थे। व्यापार आदि का कार्य मुख्य रूप से वैश्य वर्ग के हाथ में था।

शिक्षा

इस काल में प्रारम्भिक शिक्षा का विधान किस प्रकार का था यह हमें पता नहीं चलता। गुप्तकालीन लेखों में शिक्षकों के लिए आचार्य अथवा उपाध्याय और विद्यार्थी के लिए शिष्य एवं ब्रह्मचारी शब्दों का प्रयोग हुआ है। विद्यार्थी द्वारा पढ़े जाने वाले विषयों में चारों वेद, छः वेदांग, पुराण, न्याय, धर्म तथा पाणिनि के व्याकरण के उल्लेख

मिलते हैं। शिक्षा की विधि के बारे में फाह्यान ने लिखा है कि शिक्षा मौखिक दी जाती थी और विद्यार्थी ध्यानपूर्वक शिक्षा की बात को सुनते थे। शिक्षा का बहुत बड़े पैमाने पर प्रचार था। विद्वान् ब्राह्मण भट्ट कहलाते थे। विद्वान् ब्राह्मणों को राज्य की ओर से गांव दान में दिए जाते थे जिन्हें अग्रहार कहा जाता था। ये अग्रहार शिक्षा के केन्द्र होते थे जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी आकृष्ट होकर पढ़ने आते थे। इस काल के प्रमुख शिक्षा केन्द्रों में पाटलिपुत्र, वलभी, अयोध्या, काशी एवं मथुरा थे। इस समय शिक्षा के केन्द्र के रूप में तक्षशिला की ख्याति समाप्तप्राय हो चली थी। किन्तु इसी युग में नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। सबसे पहले कुमारगुप्त प्रथम ने नालन्दा बौद्ध विहार को दान दिया और बाद में बुधगुप्त, तथागतगुप्त और बालादित्य नामक गुप्त शासकों ने भी इस विहार को दान दिए। यह बौद्ध विहार धीरे-धीरे प्रसिद्ध होता गया और इसने एक बड़े विश्वविद्यालय का स्वरूप ग्रहण किया, जहाँ विदेशों से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक यह बौद्ध विहार का एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन चुका था। यद्यपि यह विश्वविद्यालय विशेषरूपेण महायान बौद्ध सम्प्रदाय से सम्बन्धित था तथापि इसमें हिन्दू और जैन दर्शन भी पढ़ाये जाते थे। इस काल में वैज्ञानिक शिक्षा का भी प्रसार हुआ। शिल्प और कला की शिक्षा शिल्पकार और कारीगर अपने घरों में ही देते थे, क्योंकि इस समय अधिकांश पेशे आनुवंशिक हो गये थे। इस प्रकार की शिक्षा में व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक था अतः कोई भी शिल्प सीखने का इच्छुक विद्यार्थी दक्ष कारीगर के साथ-साथ काम करता हुआ अपने शिल्प को सीखता रहता था। शिक्षण काल के प्रारम्भिक भाग में शिक्षक शिल्पी शिष्य से कुछ नहीं लेता था किन्तु बाद में शिष्य को अपने गुरुओं की शिल्प शालाओं में कुछ मुफ्त काम करना पड़ता था।

साहित्यिक प्रगति—संस्कृत साहित्य का उत्कर्ष

मौर्यकाल में अशोक ने अपने लेखों के लिए प्राकृत-भाषा का प्रयोग किया था किन्तु गुप्तकाल तक संस्कृत भाषा का पर्याप्त विकास हो चुका था और इस समय के सभी राजवंशों के लेखों में इसी का प्रयोग किया गया है। यह कहा जा सकता है कि इस युग में संस्कृत राष्ट्रभाषा थी और इसका प्रभाव इतना व्यापक था कि बौद्ध और जैन भी जो पहले अपने ग्रन्थों को लिखने में पालि और अर्धमागधी भाषाओं का प्रयोग करते थे, अब संस्कृत में लिखने लगे। गुप्त शासक स्वयं विद्या प्रेमी थे और उन्होंने अपने लेखों में और मुद्राओं पर सुन्दर एवं काव्यमय संस्कृत का प्रयोग किया है। गुप्तकालीन लेखों में सबसे पहले समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति का नाम आता है जिसका रचनाकार उसका सांधिविग्रहिक हरिषेण था। इस लेख में स्वयं समुद्रगुप्त को 'कविराज' नाम से प्रसिद्ध बताया गया है। प्रयाग प्रशस्ति को चम्पूकाव्य (जिसमें गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हो) का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण माना जाता है। इस लेख में लम्बे-लम्बे समास मिलते हैं। दूसरा प्रसिद्ध लेख कुमारगुप्त के समय का मन्दसौर लेख है जिसकी रचना वत्सभट्टि ने की थी। इस लेख की भाषा बड़ी मनोरम है और इसमें स्थान-स्थान पर बड़े सुन्दर अलंकार मिलते हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहास में इस लेख का विशेष महत्त्व है।

संस्कृत साहित्य के अद्वितीय रत्न कालिदास को अधिकांश विद्वान् गुप्तकाल में रखते हैं। उन्होंने चार काव्य ग्रन्थों और तीन नाटकों की रचना की। काव्य ग्रन्थ हैं : ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंश तथा कुमार सम्भव। ऋतुसंहार एक खण्डकाव्य है। इसमें वर्ष की छः ऋतुओं का सुन्दर निरूपण मिलता है। मेघदूत गीतिकाव्य है जिसमें अपनी प्रिया से परिस्थितिवश अलग हुए यक्ष की विरह वेदना का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। इसे

वियोग-श्रृंगार का निरूपण करने वाला सबसे सुन्दर काव्य माना जाता है। कुमार सम्भव 17 सर्गों में विभक्त है और इसमें कुमार (कार्तिकेय) के जन्म की कथा दी गई है। रघुवंश उनका सर्वोत्कृष्ट काव्य है। इसमें रघुवंश के राजाओं का वृत्त दिया गया है। कालिदास के नाटक ग्रन्थों के नाम हैं : अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम्। नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तलम् सबसे अधिक प्रसिद्ध है। कवि और नाटककार दोनों ही रूपों में कालिदास श्रेष्ठ हैं और अपनी काव्य कला के कारण उन्हें विश्व के महानतम् कवियों में गिना जाता है। कालिदास की रचनाओं में संस्कृत भाषा की 'वैदर्भी शैली' का प्रयोग हुआ है। भाषा का सरल रूप बोझिल समास बहुलता का अभाव, ट, ठ, ड जैसे कठोर अक्षरों के स्थान पर र, न, स जैसे कर्णमधुर एवं कोमल अक्षरों का प्राधान्य आदि वैदर्भी शैली की प्रमुख विशिष्टताएँ हैं। आन्तरिक भावों को सहज और प्रभावकारी रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता में कालिदास अद्वितीय हैं। उनकी कृतियों में प्रकृति और प्राकृतिक सौन्दर्य का अभूतपूर्व बोध मिलता है। वैसे तो सभी अलंकारों में कालिदास के कवित्व की प्रतिभा देखी जा सकती है किन्तु विशेष रूप से उपमा अलंकार के प्रयोग में कालिदास उत्कृष्ट माने जाते हैं : संस्कृत साहित्य की परम्परा में 'उपमा कालिदासस्य' पद इसी उत्कृष्टता को रेखांकित करता है। उनकी उपमाएँ जीवन के सभी क्षेत्रों-यथा प्रकृति, धर्मशास्त्र, चित्रकला आदि-से ग्रहण की गई हैं। उनकी कृतियों में प्राप्त विविध सूक्तियाँ इतनी सटीक हैं कि उन्हें प्रायः उद्धृत किया जाता है : 'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्' (शरीर ही धर्म का प्रमुख साधन है), 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' 'लोगों की अलग-अलग रुचियाँ होती हैं', 'भवितव्यता खलु बलवती' (भावी बड़ा बलवान होता है) 'सर्वः कान्तमात्ममानं पश्यति' (अपने को सुन्दर समझना प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव होता है) इसी प्रकार की कुछ सूक्तियाँ हैं।

इसी काल में विशाखदत्त ने अपना प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस लिखा। विशाखदत्त द्वारा रचित एक अन्य नाटक ग्रन्थ देवी चन्द्रगुप्तम् है जिसके उद्धरण विविध ग्रन्थों में मिले हैं। इस समय के एक अन्य कवि भट्टि थे जिन्होंने भट्टिकाव्य-इसका एक दूसरा नाम रावणवध भी है-लिखा जिसका प्रमुख उद्देश्य काव्यात्मक न होकर शास्त्रीय है : उसका उद्देश्य व्याकरण के नियमों कठिन एवं दुर्बोध के उदाहरण प्रस्तुत करना है। मातृगुप्त नामक लेखक का उल्लेख कल्हण की राजतरंगिणी में मिलता है, किन्तु इनकी कोई रचना नहीं मिलती। कल्हण के अनुसार ये कश्मीर के शासक थे और इन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र पर एक टीका लिखी थी। किन्तु काव्य रचना में कालिदास के पश्चात् जिस कवि का नाम लिखा जा सकता है वह भारवि है। भारवि ने किरातार्जुनीयम् नामक महाकाव्य लिखा है और शब्दों में 'अर्थगौरव' भरने के लिए प्रसिद्ध हैं।*

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, इसी काल में पुराणों की रचना पूरी हुई। नारदस्मृति और वात्स्यायन के कामसूत्र को गुप्तकाल की रचना माना जाता है। प्रसिद्ध आख्यान ग्रन्थ विष्णु शर्मा विरचित पंचतन्त्र को भी डा. अल्तेकर गुप्त काल की ही रचना मानते हैं। इसमें नीतिशास्त्र से सम्बन्धित विविध गूढ़ विषयों को पशु-पक्षियों की कथाओं आदि के माध्यम से समझाया गया है। पंचतन्त्र का स्थान विश्व के सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय ग्रन्थों में है, तथा विश्व की पचास भाषाओं में इसके लगभग 250 संस्करण निकल चुके हैं। इनके अतिरिक्त, धर्म, दर्शन, विज्ञान एवं कला आदि विभिन्न क्षेत्रों में भी

---

* भारवेरर्थगौरवम्।

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए। बौद्ध एवं जैन धर्मों के बहुत से ग्रन्थ गुप्तकाल में लिखे गए जिन सबको यहाँ चर्चा कर सकना संभव नहीं है।

वैज्ञानिक प्रगति

इस काल में विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई तथा गणित, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखे गए। गणित के क्षेत्र में इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि दशमलव पद्धति की खोज थी जो विश्व इतिहास के लिए एक युगान्तरकालीन खोज सिद्ध हुई। इसके ज्ञान के पूर्व लोग दस, बीस, सौ, हजार आदि अथवा इससे आगे की बड़ी समस्याओं के लिए पृथक्-पृथक् चिन्हों का प्रयोग करते थे। यह बड़ी बोझिल पद्धति थी और योरोप में बारहवीं शताब्दी तक इसी का प्रयोग किया जाता था। दशमलव पद्धति ने अंकगणना के शास्त्र को बड़ा सरल बना दिया। अरबों ने इसे भारतीयों से सीखा और योरोप के लोगों ने अरबों से। अरब लेखकों ने* स्पष्ट रूप से इस पद्धति की खोज का श्रेय हिन्दुओं को दिया है। इस काल में गणित और ज्योतिष के महान् विद्वान् आर्यभट्ट (जन्म 476 ई. के लगभग) हुए। इनके ग्रन्थ का नाम आर्यभट्टीयम् है। आर्यभट्ट को क्षेत्रमिति, त्रिकोणमिति और ज्यामिति आदि विषयों का जन्मदाता माना जाता है। अपने ग्रन्थ में उन्होंने गणित के साध्यों का प्रतिपादन किया है और साथ ही संख्याओं, उनके वर्गों और घनों की समान्तर श्रेणी का वर्णन किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ में बीजगणित में चार अज्ञात राशियों वाले यौगपदिक समीकरणों का हल भी बताया है। आर्यभट्ट ने यह भी बताया कि पृथ्वी गोल है और अपनी धुरी पर घूमती है; यह बताने वाला वह पहला भारतीय ज्योतिषी था। दूसरा प्रसिद्ध विद्वान् ब्रह्मगुप्त था। इसके अनुसार, ग्रहण चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया के कारण होता है। इस काल का एक अन्य प्रधान ज्योतिषशास्त्री वराहमिहिर था जिसकी पंचसिद्धान्तिका इस विषय की श्रेष्ठ कृति है। इसमें तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी में प्रचलित पांच सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। बृहज्जातक, लघुजातक और बृहत्संहिता इनके अन्य ग्रन्थ हैं जिनमें अन्तिम अधिक प्रसिद्ध है। ये तीनों ग्रन्थ फलित ज्योतिष से सम्बन्धित हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में इस समय चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता** को परम आदर का स्थान प्राप्त था। आयुर्वेद शास्त्र का ध्यान से अध्ययन और अनुशीलन किया जाता था। युवान च्वांग और तारानाथ ने प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन को रसायन और धातुविज्ञान का पण्डित बताया है। उसने पारे को भस्म करने की क्रिया का आविष्कार किया, जिससे आयुर्वेद और रसायनशास्त्र में बड़ी प्रगति हुई। डा. पी. सी. राय ने इस युग में भारतीयों के रसायनशास्त्र के ज्ञान की बड़ी प्रशंसा की है। यद्यपि इस समय की ऐसी पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं जिनसे इस क्षेत्र में हुए विकास का ठीक-ठीक ज्ञान हो सके, किन्तु प्राप्त साक्ष्य इस क्षेत्र में तत्कालीन लोगों के उत्कृष्ट ज्ञान को स्वतः प्रमाणित करते हैं। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण मेहरौली का लौह स्तम्भ है जो आज के वैज्ञानिकों के लिए आश्चर्य का विषय है। यह स्तम्भ 24 फीट ऊँचा है। इसका घेरा लगभग 16 इंच है और इसका वजन साढ़े छः टन है। 1500 वर्षों से धूप और वर्षा में खड़े इस स्तम्भ पर कहीं मोर्चा लगने अथवा धातु के उधड़ने का चिन्ह नहीं मिलता। उस समय इतने बड़े प्रस्तर-स्तम्भ को ढाला जाना भी उतने ही आश्चर्य का

---

* इब्नवर्राशिद—9 वीं शती; अल्-मसूदी—10 वीं शती और अल्बेरूनी—11 वीं शती।

** ये दोनों ग्रन्थ इस समय की रचनाएँ नहीं हैं। दूसरी शताब्दी के अन्त तक इन्होंने अपना वर्तमान रूप पा लिया था।

विषय है।

दर्शन

इस काल के प्रारम्भ में शबरस्वामी ने मीमांसासूत्र पर अपना भाष्य लिखा। ईश्वरकृष्ण ने सांख्य कारिका में सांख्य दर्शन का प्रतिपादन किया। पतंजलि के योगसूत्र पर लिखा गया काव्य भाष्य तथा वात्स्यायन का भाष्य इसी युग की रचनाएँ हैं। वैशेषिक सूत्र पर प्रशस्तपाद ने भाष्य लिखा। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत असंग, वसुबन्धु और दिङ्नाग इस युग के प्रमुख दार्शनिक हैं। उमास्वाति और सिद्धसेन इस युग के प्रमुख जैन दार्शनिक थे।

इसी युग से दार्शनिक वाद-विवाद तथा प्रतिद्वन्द्वी वादों के मतों के दार्शनिक एवं तर्कपूर्ण खण्डन की उस परिपाटी की शुरूआत हुई। जिसमें सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने भाग लिया। इस प्रक्रिया में दार्शनिक वाङ्मय बड़ा समृद्ध हुआ। वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में प्रसिद्ध महायानी दार्शनिक नागार्जुन के दार्शनिक विचारों की आलोचना की है। दूसरी ओर, बौद्ध विद्वान् दिन्नाग ने वात्स्यायन के मत का खण्डन किया है। शीघ्र ही उद्योतकर ने वात्स्यायन के समर्थन में दिन्नाग की आलोचना की। दार्शनिक वाद-विवाद की यह धारा शताब्दियों तक चलती रही।

गुप्तकालीन कला

गुप्तकाल में भारतीय कला अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर पहुंची हुई दिखाई पड़ती है। इस समय मथुरा, वाराणसी और पाटलिपुत्र कला के प्रसिद्ध केन्द्र थे और इन स्थानों पर कला की अलग-अलग शैलियों का जन्म हुआ। गुप्तकालीन कला मुख्यतया धर्म के साथ जुड़ी मिलती है। इस समय गांधारकला का प्रभाव कम होने लगा था और कला का पूर्ण भारतीयकरण हो चला था

(क) वास्तुकला—इस काल में मन्दिर निर्माण कला का विशेष विकास हुआ। ऐहोल के दुर्ग और लड़खां मन्दिर, देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, कानपुर के पास भीतरगांव में ईटों का बना मन्दिर, जबलपुर जिले में तिगवा का विष्णु मन्दिर, बोधगया का महाबोधि मन्दिर गुप्त काल के प्रमुख मन्दिर हैं। इस समय पहली बार वास्तु में गढ़े हुए पत्थरों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। जैसाकि एक विद्वान् ने कहा है; "भवन निर्माण की पद्धति में यह एक बड़ा कदम है, इसने कारीगर के हाथों में एक नई शक्ति रख दी।"* गुप्तकालीन मन्दिर एक चबूतरे के ऊपर बने हुए मिलते हैं जिनके चारों ओर ऊपर पहुंचने के लिए सीढ़ियाँ बनी मिलती हैं। प्रारम्भ के मन्दिरों की छतें चपटी हैं किन्तु इस काल के अन्त तक आते मन्दिर के गर्भगृह (वह कक्ष जिसमें मुख्य देवता की प्रतिमा स्थापित होती है) के ऊपर शिखर बनाने की परम्परा प्रारम्भ हुई। गुप्तकालीन मन्दिरों के दरवाजे के बाहरी हिस्से को गंगा और यमुना की आकृतियों से सजाया जाता था। बाद में मन्दिरों में परिक्रमा पथ भी बनाये जाने लगे। खम्भे, दीवारें और छतें अलंकृत मिलती हैं जिन पर देवी, देवताओं की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। देवगढ़ का दशावतार मन्दिर वास्तुकला के सर्वाधिक विकसित रूप को निरूपित करता है। डा. आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार, इसका निर्माण गुप्तकाल के अन्त में हुआ था। इस मन्दिर पर शिखर बना मिलता है। साथ ही जहाँ इस काल के अन्य मन्दिरों में केवल एक मण्डप मिलता है, इस मन्दिर में चार मण्डप हैं जो गर्भगृह की चारों दिशाओं में विद्यमान हैं। गर्भगृह की बाहरी दीवालों पर रामायण

---

* वाकाटक गुप्त युग, पृ. 473।

कथा के कतिपय दृश्यों का निरूपण किया गया है। दीवालों पर कई अन्य स्थानों पर भी मूर्तियों द्वारा विविध पौराणिक कथाओं को दर्शाया गया है। गजेन्द्रमोक्ष की कथा, अनन्तशायी विष्णु अथवा हिमालय के तपोवन में तपनिमग्न नर और नारायण आदि इसी प्रकार के पौराणिक दृश्य हैं।

भीतरगांव का मन्दिर नीचे से ऊपर तक केवल पकी ईटों से बना मन्दिर है। इसमें बीच-बीच में चित्रकार के अनेक रद्दे लगे हुए हैं जो अब भी सुरक्षित हैं। मंदिर की छत पिरामिडाकार है और इसकी दीवारों का बाहरी भाग पकी मिट्टी के चौकों से अलंकृत मिलता है जिन पर पौराणिक दृश्य बनाए गए हैं।

इस काल में गुफा वास्तुकला का भी विकास हुआ। अजन्ता, एलोरा और बाघ की कुछ गुफाएं इसी काल में खोदी गई। सारनाथ का धमेख स्तूप इसी समय बना था जो स्तूप कला के अत्यन्त सुन्दर उदाहरणों में माना जाता है।

(ख) मूर्तिकला—गुप्त काल को उत्कर्ष के युग के रूप में प्रतिष्ठित करने में इस काल की मूर्तिकला का बहुत बड़ा हाथ है। इस काल की मूर्तिकला पूर्णतया भारतीय हो गई थी और इस पर गंधार शैली का यवन प्रभाव समाप्त हो चला था। गुप्तकालीन कला में कहीं भी नग्नता नहीं दिखाई पड़ती। तत्कालीन मूर्तियाँ विपयालुता के स्थान पर आध्यात्मिकता और अलौकिक सौन्दर्य के भावों को संप्रकाशित करती हैं। इस काल में जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायों की मूर्तियाँ मिलती हैं। देव मूर्तियों के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल मिलता है। यह उल्लेखनीय है कि इसके पहले कुषाण युग में बुद्ध का प्रभामण्डल बिल्कुल सादा होता था; अब इसमें ललित अलंकरणों की पट्टियाँ बनाई जाने लगीं। गुप्तकालीन बुद्ध प्रतिमा की एक दूसरी विशेषता यह है कि उनके सुन्दर घुंघराले बाल दिखाए गए हैं। इस काल की मूर्तिकला का सबसे सुन्दर उदाहरण सारनाथ की बैठी बुद्ध मूर्ति मानी जाती है। यह धर्म चक्र प्रवर्त्तन मुद्रा (बुद्ध को उपदेश देते दिखाया गया है) में है और उनके चेहरे पर ओज और आध्यात्मिक आनन्द दिखाया गया है। उनकी प्रशान्त मुद्रा तथा मुख पर एक अनूठी स्मिति (मुसकान) इस मूर्ति को असाधारण कला की श्रेणी में प्रतिष्ठित करता है। बुद्ध जैसे अनुत्तर ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति को मूर्त्त रूप प्रदान करने में कलाकार ने स्तुत्य प्रयास किया है।

जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों के मथुरा से मिली महावीर की मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पुराणों से ली गई कथाओं को दिखाने वाली हिन्दू धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों में निम्नलिखित मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं : उदयगिरि में (विदिशा के पास) पृथ्वी का उद्धार करते हुए वराह अवतार की मूर्ति; झांसी जिले में देवगढ़ से अनन्तशायी (शेषनाग पर सोते हुए) विष्णु की मूर्ति; बनारस में मिली गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति; कौशाम्बी की सूर्य प्रतिमा; भरतपुर में रूपवास नामक स्थान से मिली बलराम और लक्ष्मीनारायण की विशालकाय मूर्तियां। इनमें उदयगिरि की विशाल वराह अवतार की प्रतिमा गुप्तकालीन शिल्पी की प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है। मूर्ति का परिमाण और इससे टपकता ओज प्रशंसनीय है; मूर्ति के पृष्ठ-भूमि पर चट्टान पर बनाए गए दृश्य एक अनोखी वैषम्यपूर्ण समरसता की अनुभूति उत्पन्न करते हैं।

गुप्तकाल में विष्णु तथा उनके विविध अवतारों की लोकप्रियता पर्याप्त बढ़ चली थी और गुप्त शिल्पी जनमानस की इस प्रवृत्ति को अपनी कला द्वारा संप्रकाशित कर रहे थे। विष्णु की प्रायः चतुर्भुजी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इस काल की विष्णु मूर्तियों की एक विशेषता यह है कि जहां कुषाण काल में उनके आयुधों को यथारूप दिखाया गया

है, गुप्तकाल में इन्हें आयुध-पुरुष के रूप में (अर्थात् छोटी-छोटी आकृतियों के रूप में) प्रस्तुत किया गया है। इस युग में पहली बार विष्णु की विश्वरूप में प्रतिमा मिलती है। इसमें मानवीय सिर के साथ एक वराह तथा सिंह का सिर जुड़ा होता है।

(ग) **चित्रकला**—गुप्तकाल में चित्रकला को एक विशेष सम्मान की स्थिति प्राप्त थी। तत्कालीन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इस युग में प्रत्येक सभ्य एवं सुसंस्कृत स्त्री-पुरुष इस कला में निपुणता पाने की चेष्टा करता था। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त को खाका-चित्र बनाने में निपुण दिखाया गया है : उसके बनाए शकुन्तला के चित्र को देखकर उसकी एक सखी कहती है– "अरे राजा की वर्तिका-निपुणता को देखो! ऐसा लगता है मानो मेरी सखी ही सामने खड़ी हो।" कालिदास के ग्रन्थों में इस कला के कुछ उपकरणों में वर्तिका और तूलिका का नाम मिलता है। वर्तिका एक पेंसिल थी जिससे चित्र का खाका तैयार किया जाता था। तूलिका से रंग भरा जाता था। कालिदास के एक प्रसिद्ध श्लोक में पार्वती के शरीर पर आए नवयौवन को कई उपमाओं द्वारा व्याख्यायित किया गया है जिनमें एक है– "जैसे तूलिका से निखारा गया चित्र"।* कभी-कभी खड़िया से भी चित्र का खाका बनाकर फिर उसमें रंग भरा जाता था। मेघदूत का यक्ष इसी प्रकार शिलापट्ट पर अपनी प्रियतमा का चित्र बनाता है। कामसूत्र में चित्रकला के शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों पक्षों का निरूपण मिलता है।

गुप्तकालीन चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण अजन्ता की कुछ गुफाओं में भित्ति-चित्रों के रूप में प्राप्य हैं। अजन्ता की गुफा संख्या 1, 2, 16 और 17 के अधिकांश भित्ति-चित्र गुप्तकालीन हैं। ये चित्र गुफा की दीवारों पर लेप करके बनाए गए हैं। पहले दीवार पर शिला-चूर्ण, गोबर, मिट्टी तथा भूसा के मिश्रण से बनाए गए लेप को दीवार पर चढ़ाया जाता था। फिर सतह को समतल कर इस पर खाका बनाकर रंग भरा जाता था। अजन्ता के कलाकारों ने लाल, पीला, नीला, काला और सफेद रंगों का प्रयोग किया है। गेरू, रामरज, नील, काजल, लाजवर्द, खड़िया आदि का प्रयोग रंगों के लिए किया जाता था। अजन्ता की चित्रकला संसार में प्रसिद्ध है। इसमें मनुष्यों, पशुओं और पेड़-पौधों के बने चित्र बड़े सजीव और समन्वित रूप में दिखाए गए हैं। चित्रकारों का प्रकृति का विशेष प्रेम इन चित्रों में स्पष्ट रूप से झलकता है। अलंकरण के अभिप्रायों में अनन्तता मिलती है और इस विषय में ग्रिफिथ नामक विद्वान् ने लिखा है कि छोटे से छोटे ब्यौरों में इतनी विविधता मिलती है कि पुनरावृत्ति बहुत दुर्लभ है। इन कलाकारों ने प्रेम, घृणा, क्रोध, करुणा, हर्ष आदि भावों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। समाधि में बैठे हुए बुद्ध से लेकर प्रेम करते हुए स्त्री-पुरुष शृंगार करती हुई स्त्रियाँ तपस्या में बैठे प्रशांतमान तपस्वी, निर्दयी बधिक, राजपरिवार सभी के चित्र अजन्ता की दीवारों पर मिलते हैं और उनकी कलात्मकता को देखकर दर्शक चकित रह जाता है। गुफा संख्या 16 में चित्रित 'मरती हुई राजकुमारी' के चित्र की कलात्मकता की ग्रिफिथ, बर्गेस तथा फर्गुसन आदि की कला समीक्षकों ने बड़ी प्रशंसा की है। गुफा संख्या 17 में तो कई सुन्दर चित्र मिलते हैं जिनमें बुद्ध का जन्म, उनका महाभिनिष्क्रमण, यशोधरा द्वारा बुद्ध को राहुल को देना आदि दृश्य उल्लेखनीय हैं। 'महाभिनिष्क्रिमण' के चित्र के सम्बन्ध में सिस्टर निवेदिता ने कहा है कि यह दुर्लभ कल्पना का दृष्टान्त है।

---

* उन्मीलित तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥—कुमारसंभव

ग्वालियर के पास बाघ नामक एक गांव है जहाँ विन्ध्य की पहाड़ियों को काटकर बनाई गई 9 गुफाएँ मिलती हैं जिनकी भीतरी दीवारों पर चित्र बने हुए हैं। इन चित्रों को गुप्तकालीन माना जाता है। ये चित्र लौकिक जीवन से सम्बन्धित हैं। यहाँ का सबसे प्रसिद्ध चित्र एक सामूहिक नृत्य-संगीत का निरूपण करता है। चित्र में सुसज्जित महिलाओं का समूह और एक पुरुष नायक है। इसमें भाग लेने वाले पात्रों में एक स्वाभाविक उन्मुक्तता और स्वच्छन्ता दिखाई पड़ती है।

अन्य कलाएँ

इस काल में और भी कई कलाओं का विकास हुआ। इस समय संगीतकला अत्यन्त विकसित थी। समुद्रगुप्त स्वयं वीणा बजाने में बड़ा निपुण था। इस समय के नाटकों से पता चलता है कि रंगमंच की कला का काफी विकास हो चुका था। गुप्त शासकों की मुद्राएँ मुद्रा-निर्माण कला का विकसित रूप दिखाती है। मुद्राएँ सुडौल और सुन्दर गढ़ी हुई हैं और उनके विविध प्रकार मिलते हैं।

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार

इस काल में भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार हुआ। यहाँ से बहुत से विद्वान् और उपदेशक चीन तथा अन्य देशों में गए। मध्य एशिया के प्रदेशों में हर समय खोतान (मध्य एशिया के दक्षिणी भाग में) तथा कूची (मध्य एशिया के उत्तरी भाग में) के साथ विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध था। फाह्यान के समय खोतान में बौद्धधर्म का काफी प्रचार था। खोतान में कुछ ऐसी पुस्तकों की हस्तलिपियाँ प्राप्त थीं जो भारत में उपलब्ध नहीं थीं। 433 ई. में धर्मक्षेत्र नामक एक भारतीय बौद्ध विद्वान् एक महायानी 'परिनिर्वाणसूत्र' की हस्तलिपि के लिए खोतान गया था क्योंकि इस समय यह ग्रन्थ भारत में उपलब्ध नहीं था। कूची (आधुनिक कूचा) भारतीय सभ्यता का एक अन्य प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ के राजाओं के भारतीय नाम मिलते हैं– यथा, सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरिदेव, सुवर्णदेव, आदि। यहीं पर कुमारायण नामक एक भारतीय विद्वान् ने जीवा नामक एक राजकुमारी से विवाह किया, जिससे प्रसिद्ध विद्वान् कुमारजीव का जन्म हुआ। कुमारजीव ने कश्मीर में आकर शिक्षा प्राप्त की और महायान बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण किया। वे कूच लौट गये जहाँ उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर मध्य एशिया के विविध भागों से लोग उनके पास आते थे। कूची पर चीनी आक्रमण के समय कुमारजीव भी बन्दी होकर चीन चले गये। चीन के सम्राट ने उनका आदर किया। चीन में ही 431 ई. में उनकी मृत्यु हुई।

इसी प्रकार बर्मा, स्याम, लाओस, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली आदि देशों में ई. सदी के प्रारम्भ से ही हिन्दू उपनिवेशों की स्थापना हो चुकने के प्रमाण मिलते हैं। इन देशों के साथ भारत का इस काल में घनिष्ठ सम्बन्ध था। कालिदास ने रघुवंश में पूर्वी द्वीप समूह को 'द्वीपान्तर' कहा है। ये स्थान पूर्णतया भारतीय संस्कृति के प्रभाव में थे। चम्पा, कम्बोडिया और जावा में रामायण और महाभारत का पठन-पाठन होता था। यहाँ के लेखों में विभिन्न वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों के उल्लेख मिलते हैं, उनमें विविध भारतीय स्मृतियों (यथा मनुस्मृति, नारद स्मृति) आदि का भी उल्लेख मिलता है। कम्बोडिया में बौद्ध धर्म का भी काफी प्रचार था। शताब्दियों तक दक्षिण-पूर्व एशिया के लोग समग्र भारतीय संस्कृति के एक अंग के रूप में बने रहे और भी वहाँ की संस्कृति में प्रभूत मात्रा में भारतीय तत्त्व पाये जाते हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि गुप्त काल में संस्कृति के सभी क्षेत्रों में बड़ी उन्नति हुई। इस काल के शासक आदर्श शासक थे, समाज में सर्वत्र शांति और आर्थिक

समृद्धि थी, विविध सम्प्रदायों में आदर्श धार्मिक सहिष्णुता की भावना थी, दर्शन, विज्ञान, साहित्य और कला अत्यन्त उत्कर्ष पर थी तथा लोगों में चारित्रिक गुणों का भी निखार था। इस सर्वांगीण विकास और उत्कर्ष के कारण ही इस युग को भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग के नाम से जाना जाता है।

मौर्यों के पश्चात् महान् गुप्तों का युग निःसन्देह भारतीय राष्ट्र के इतिहास में नवजागरण, नवनिर्माण और नवोत्कर्ष का द्वितीय महान् सृजनात्मक अर्द्धक्रान्ति का युग था। डा. मजूमदार ने भी गुप्त युग की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "गुप्त युग को भारतीय इतिहास के 'स्वर्ण युग' व 'क्लासिकल युग' की संज्ञा दी जाती है, जो इस युग के लिए सर्वथा उपयुक्त है। इस युग में भारतीय बौद्धिकता, कला, विज्ञान व साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में, उच्चतम् शिखर पर पहुँच गयी तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अपूर्व विकास हुआ, जिसका अनुगामी युगों पर गहरा प्रभाव पड़ा।"*

समसामयिक वाकाटक राजवंश

गुप्तों के समसामयिक राजवंशों में वाकाटक राजवंश सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था और गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या प्रभावतीगुप्ता को इस कुल में ब्याही थी। दक्षिण भारत के इतिहास में सातवाहनों के पतन के पश्चात् वाकाटकों का एक नई दक्षिणी शक्ति के रूप में उदय हुआ। अपने उत्कर्ष काल में इस राजवंश का अधिकार सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश, बरार प्रदेश और उत्तरी दक्कन पर था एवं पड़ौस के शक्तिहीन राज्य उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे।

उत्पत्ति

डा. काशीप्रसाद जायसवाल का विचार है कि वाकाटक शक्ति का प्रारम्भ बुन्देलखण्ड प्रदेश में हुआ था। वाकाटक शब्द को उन्होंने प्राचीन ओरछा रियासत में स्थित बगाट नामक गांव से जोड़ा है। कुछ लोग उनका मूल स्थान विदर्भ में और कुछ लोग मालवा में मानते हैं। किन्तु वाकाटकों की उत्पत्ति सर्वथा स्पष्ट नहीं है। यह अवश्य स्पष्ट है कि इनका प्रारम्भिक कार्यकलापों का क्षेत्र पश्चिमी मध्यप्रदेश था। वाकाटक ब्राह्मण थे और इनके गोत्र का नाम विष्णुवृद्ध था। अजन्ता के लेख में इस वंश के संस्थापक को 'द्विज' कहा गया है।

प्रमुख शासक

इस वंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति था। इसने तीसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में अपनी प्रभुता स्थापित की। यह सम्भव लगता है कि इसके पूर्वज सातवाहन राजाओं के स्थानीय कर्मचारी रहे हों। विन्ध्यशक्ति किन परिस्थितियों में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकने में सफल हुआ यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है।

विन्ध्यशक्ति के बाद उसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम (लगभग 335 ई) शासक बना। यह एकमात्र वाकाटक शासक है जिसने सम्राट उपाधि धारण की थी। पुराण और वाकाटक लेख उसे चार अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करने वाला बताते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वाकाटक राज्य का दक्षिण में विस्तार उसी के समय में हुआ होगा, और सम्भवतः अपने चार अश्वमेधों का अनुष्ठान उसने चार प्रमुख विजयों के बाद किया होगा। मध्यप्रदेश के अतिरिक्त दक्षिणी बरार तथा उत्तरी और पूर्वी महाराष्ट्र भी उसके राज्य में सम्मिलित थे। आन्ध्र प्रदेश और मैसूर प्रदेश का बड़ा भाग भी उसके अधिकार में था। उसके एक पुत्र

* The Classical Age, Preface, P. XIVI.

सर्वसेन ने एक पृथक् शाखा की स्थापना की थी और पुराणों का कहना है कि उसके दो और पुत्र थे जिन्हें भी पृथक् राज्य दिए गये थे। इससे भी ज्ञात है कि वह एक विस्तृत भू-प्रदेश का स्वामी था। किन्तु, यह बता सकना कठिन है कि पूर्वी दक्कन के साथ मालवा, गुजरात, काठियावाड़ पर भी उसका प्रभुत्व था अथवा नहीं।

प्रवरसेन के पश्चात् उसका पौत्र रुद्रसेन प्रथम (355-360) शासक बना। वाकाटक वंशावली में उसके नाना भारशिव वंश के भवनाग का नाम मिलता है। इससे लगता है कि उसने किसी परिस्थिति में अपने दौहित्र की उल्लेखनीय सहायता की होगी। सम्भवत: यह सहायता उसे अपने चाचाओं के विरुद्ध राज्य प्राप्ति के संघर्ष में मिली हो। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित रुद्रदेव है जिसे समुद्रगुप्त ने पराजित किया था। इनका कहना है कि यह युद्ध कौशाम्बी के निकट लड़ा गया था। जिसमें रुद्रसेन मारा गया था। डा. अल्तेकर ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि यह रुद्रसेन गंगा घाटी की किसी छोटी रियासत का शासक रहा होगा; यदि रुद्रसेन समुद्रगुप्त के हाथों मारा गया होता तो उसके पुत्र पृथ्वीषेण ने अपने उत्तराधिकारी का विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय की कन्या प्रभावतीगुप्ता के साथ नहीं किया होता।

रुद्रसेन प्रथम के बाद पृथ्वीषेण शासक बना। इसने कुन्तल प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित किया और अपने पुत्र रुद्रसेन द्वितीय का गुप्त राजकन्या प्रभावती गुप्ता से विवाह कर प्रतापी गुप्त राजवंश के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। जैसाकि हम पहले देख चुके हैं, यह विवाह बड़े राजनीतिक महत्त्व का था और इससे चन्द्रगुप्त द्वितीय को अपने शकों के विरुद्ध अभियान में बड़ी सहायता मिली होगी।

रुद्रसेन द्वितीय की अल्पायु में ही मृत्यु हो गई और प्रभावती गुप्ता ने अपने नाबालिग बेटों दिवाकरसेन और दामोदरसेन की संरक्षिका के रूप में काफी दिनों तक राज्य किया। बाद में दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय (410-440 ई.) के नाम से शासक हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी शिक्षा के लिए उसके नाना चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कालिदास को नियुक्त किया था। उसके कई ताम्र लेख मिले हैं पर उनमें किसी युद्ध आदि का उल्लेख नहीं है। उसकी साहित्य में रुचि थी और उसने सेतुबन्ध नामक एक प्राकृत काव्य की रचना की थी। उसने प्रवरपुर नामक एक राजधानी भी बसाई थी पर इस स्थान की पहचान नहीं हो सकी है। उसके लेखों में प्राप्त नामों से यह स्पष्ट है कि अमरावती, वर्धा, बेतुल, छिन्दवाड़ा, नागपुर, भंडारा और बालाघाट जिले वाकाटक वंश की मुख्य शाखा के हाथ में थे। प्रवरसेन द्वितीय के बाद नरेन्द्रसेन ने लगभग 440 से 460 ई. तक राज्य किया। उसके राजकीय अभिलेखों के अनुसार, 'कोशल, मेकल और मालव' नरेश उसकी आज्ञा का पालन करते थे। उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय मुख्य वाकाटक शाखा का अन्तिम शासक था।

वाकाटकों की वत्सगुल्म शाखा

सर्वसेन ने वाकाटकों की एक पृथक् शाखा की स्थापना वत्सगुल्म (वासिम) में की थी। सर्वसेन के बाद उसके पुत्र विन्ध्यशक्ति द्वितीय ने लगभग 37 वर्षों तक राज्य किया। उनके राज्य के अन्तर्गत बरार का दक्षिणी भाग, आन्ध्र प्रदेश का उत्तरी भाग और पड़ोस के कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। इस शाखा का सबसे महत्त्वपूर्ण शासक हरिषेण था जो विन्ध्यशक्ति द्वितीय से चौथी पीढ़ी में हुआ। उसके राजकीय लेखों में कई प्रदेशों के नाम गिनाए गए हैं जिन पर उसका प्रभाव था। इसमें मध्यप्रदेश का पूर्वी भाग, दक्षिणापथ का सम्पूर्ण पूर्वी समुद्री भाग, मध्य भारत, मालवा दक्षिणी गुजरात और कोंकण सम्मिलित थे।

चाहे उसने इन सभी प्रदेशों को न भी जीता हो, इसमें संदेह नहीं कि वह शक्तिशाली शासक था। जिसने अपने अधिकार क्षेत्र में वृद्धि की। उसने सम्भवतः मुख्य शाखा के भी कुछ क्षेत्रों को जीता था।

हरिषेण का शासन काल 550 ई. से कुछ पूर्व समाप्त हुआ। उसके बाद दोनों ही शाखाओं में से किसी शासक का नाम नहीं प्राप्त होता। वाकाटक शक्ति का विनाश किस प्रकार हुआ, यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। सम्भवतः कलचुरियों के उदय से वाकाटक शक्ति का विनाश हुआ।

15

गुप्तोत्तरकालीन भारत : हर्षवर्धन

गुप्त साम्राज्य का विनाश और नई शक्तियों का उदय

जिस समय गुप्त साम्राज्य धीरे-धीरे अपने अन्त की ओर बढ़ रहा था उसी समय जगह-जगह नई-नई शक्तियाँ उठ रही थीं। भारत की राजनीतिक एकता एक बार पुनः विखण्डित हो गई थी और विविध नए राजकुलों की स्थापना हो गई थी। इन पर संक्षेप में एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

(क) मगध के 'उत्तर-गुप्त'

आदित्यसेन का अफसड़ (गया जिला) लेख और जीवितगुप्त द्वितीय का देवबरणार्क (शाहबाद जिला) लेख इस राजवंश का इतिहास जानने के मुख्य साधन हैं। प्रथम लेख काफी सुरक्षित अवस्था में मिला है और इसमें आठ राजाओं के नाम मिलते हैं : कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त, जीवितगुप्त प्रथम, कुमारगुप्त, दामोदरगुप्त, महासेनगुप्त, माधवगुप्त तथा आदित्यसेन। दूसरे लेख में तीन और नाम मिलते हैं : देवगुप्त, विष्णुगुप्त और जीवितगुप्त द्वितीय। यह राजवंश सम्राट गुप्तों से पृथक् था। इसके लेखों में कहीं भी इन नरेशों को यशस्वी गुप्तों के साथ नहीं जोड़ा गया है। यदि वे उसी वंश के होते तो लेख में यह सम्बन्ध-स्थापन अवश्य किया गया होता। इस वंश के प्रथम तीन शासक सामन्त-शासक थे। यह स्थिति भी उन्हें मुख्य गुप्त राजवंश से अलग करती है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उत्तर-गुप्तों का मूल स्थान मालवा माना है, उपलब्ध सभी साक्ष्यों को देखने पर उनका मूल स्थान मगध ही जान पड़ता है।*

डा. राखालदास बनर्जी एवं डा. बी.पी. सिन्हा इसी मत को मानते हैं। यह उल्लेखनीय है कि उत्तर-गुप्तों और मौखरियों का शासनकाल साथ-साथ चलता है। दोनों ही प्रारम्भ में गुप्तों के सामन्त थे और लगभग साथ-साथ स्वतन्त्र हुए।

इस राजवंश का संस्थापक कृष्णगुप्त था। अफसड लेख में उसे 'नृप' कहा गया है जिससे जान पड़ता है कि वह एक सामन्त शासक था। वह गुप्तों का सामन्त था। अफसड लेख में उसके लिए बड़े प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है। और असंख्य रिपुओं के प्रताप को जीतने वाला बताया गया है। निस्सन्देह यह एक अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। उसके बाद हर्षगुप्त शासक बना। यह गुप्त शासक नरसिंहगुप्त का सामन्त था और डा. बी. पी. सिन्हा का विचार है कि नरसिंहगुप्त के हूणों के विरुद्ध लड़े गए युद्ध में उसने माण्डलिक के रूप में भाग लिया था। उसकी बहन हर्षगुप्ता का विवाह द्वितीय मौखरि नरेश आदित्यवर्मा के साथ हुआ था जिससे जान पड़ता है कि इस समय दोनों

---

* डा. उदयनारायण राय, गुप्त सम्राट और उनका काल पृ. 408-410

राजकुलों के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण थे। हर्ष गुप्त का उत्तराधिकारी जीवितगुप्त प्रथम (लगभग 525 ई. 545 ई.) था। अफसड लेख में उसके कार्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। लेख में उसे 'क्षितीशचूड़ामणि' कहा गया है तथा समुद्र-तट पर रहने वाले शत्रुओं को ज्वर से पीड़ित करने वाला और हिमालय के शत्रुओं को पराजित करने वाला बताया गया है। इस प्रकार उसने निश्चित रूप से अपने राजवंश की प्रतिष्ठा बढ़ाई। उसकी बहिन उपगुप्ता का विवाह समकालीन तीसरे मौखरि नरेश ईश्वरवर्मा के साथ हुआ था।

इस राजवंश का चौथा शासक कुमारगुप्त था। इसके समय में यह राजवंश सर्वथा स्वतन्त्र स्थिति में आया। इस समय मौखरि वंश का शासक ईश्वरवर्मा के नेतृत्व में मौखरि राजवंश भी स्वतन्त्र हो गया था। दोनों महत्त्वाकांक्षी शासक थे अतः दोनों में युद्ध हुआ और इसमें कुमारगुप्त विजयी हुआ। कुमारगुप्त ने अपनी राज्य सीमा प्रयाग तक बढ़ा ली थी क्योंकि उसका दाह संस्कार प्रयाग में ही हुआ था। उसका उत्तराधिकारी दामोदरगुप्त अपने समकालीन मौखरि नरेश द्वारा पराजित हुआ और संभवतः मारा गया। यह मौखरि नरेश संभवतः शर्ववर्मा (ईशानवर्मा का पुत्र) था और यह युद्ध संभवतः 582 ई. के आसपास हुआ था। दामोदरगुप्त के पुत्र महासेनगुप्त ने पुनः अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया और सुस्थितवर्मा नामक शासक को लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी के तट पर पराजित किया। सुस्थितवर्मा असम का शासक तथा हर्ष के समकालीन भास्करवर्मा का पूर्वज था। महासेनगुप्त के बाद इस राजवंश के देवगुप्त ने बंगाल के शासक शशांक से मित्रता करके मौखरि नरेश ग्रहवर्मा पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। ग्रहवर्मा राज्यवर्धन और हर्षवर्धन का बहनोई था। राज्यवर्धन ने देवगुप्त पर आक्रमण किया और संभवतः देवगुप्त मारा गया। इस देवगुप्त का नाम बाण के हर्षचरित में मिलता है किन्तु अफसड लेख में नहीं। देवगुप्त संभवतः महासेनगुप्त का भतीजा और उसके पुत्र माधवगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी था। माधवगुप्त को हर्ष ने मगध में अपना प्रतिनिधि शासक नियुक्त किया। इसने हर्ष की विजयों में सहायता की होगी। उसका उत्तराधिकारी आदित्यसेन था। 47 ई. में हर्ष की मृत्यु के बाद उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाई। लेखों में उसे 'पृथ्वीपति', 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' कहा गया है। देव-वरणार्क लेख में उसे 'परम् भागवत्' कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि वह वैष्णव धर्म मानता था। इसके पश्चात् देवगुप्त, विष्णुगुप्त और जीवितगुप्त द्वितीय शासक हुए। जीवितगुप्त द्वितीय इस वंश का 11वां और अन्तिम शासक था।

उत्तर-गुप्त राजवंश का पतन संभवतः कन्नौज में यशोवर्मा के अभ्युदय के कारण हुआ। वाक्पतिराज (आठवीं शताब्दी) के गौडवहो में कहा गया है कि अपनी विजयों के प्रसंग में यशोवर्मा ने 'मगधनाथ' (मगध के नरेश) को मार डाला था। यह माना जाता है कि यह 'मगधनाथ' जीवितगुप्त द्वितीय ही था।

कन्नौज का मौखरि राजवंश

जैसा कि बताया जा चुका है, यह उत्तर-गुप्तों का समकालीन राजवंश था और दोनों ही राजवंशों ने लगभग एक ही समय स्वतन्त्रता की स्थिति प्राप्त की। इसके पूर्व दोनों ही गुप्त सम्राटों के सामन्त शासक थे। इस राजवंश का प्रमुख लेख हरहा (उत्तर प्रदेश में बाराबंकी जिला) लेख है। इस लेख में कहा गया है कि 'ये उन सौ पुत्रों के वंशज थे जिन्हें राजा अश्वपति ने वैवस्वत (मनु) से पाया था।" मौखरि जाति काफी प्राचीन जाति थी। पाणिनि और पतंजलि ने भी उनका उल्लेख किया है। चतुर्थ शताब्दी ई. पू. की एक मिट्टी के मुहर पर भी 'मोखलीन' (मौखरियों का) लिखा मिलता है जिससे भी

उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है। शर्ववर्मा का असीरगढ़ लेख इस कुल का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लेख है। उनका नामान्त 'वर्मन्' था जिससे उनका क्षत्रिय होना प्रमाणित होता है। मौखरियों की और भी शाखाएँ थीं। किन्तु उनमें सबसे प्रमुख कन्नौज की शाखा थी। इस राजवंश के अधिकांश लेख और सिक्के कन्नौज के पास से मिले हैं; साथ ही हर्षचरित में बाण ने बताया है कि विन्ध्य वन में भटकने के बाद राज्यश्री कान्यकुब्ज (कन्नौज) लौट आई थी। इससे स्पष्ट होता है कि इस राजकुल की राजधानी कन्नौज थी।"*

इस राजकुल का प्रथम नरेश हरिवर्मा था। असीरगढ़ लेख में उसे 'महाराज' कहा गया है जो उसकी सामन्त-स्थिति का परिचायक है। इसका राज्यकाल लगभग 500 ई. में प्रारम्भ हुआ। आदित्यवर्मा को इस कुल का दूसरा शासक माना जाता है। इसका विवाह उत्तरगुप्त शासक हर्षगुप्त की बहिन हर्षगुप्ता के साथ हुआ था। आदित्यवर्मा का उत्तराधिकारी ईश्वरवर्मा था। जोनपुर के लेख में इसे राजाओं में सिंह के समान बताया गया है। लेख में उसे 'धारा-नरेश', 'आन्ध्रपति' और 'रैवतक नरेश' (रैवतक गुजरात में स्थित गिरिनार का प्राचीन नाम था) को पराजित करते हुए बताया गया है। किन्तु डा. रमाशंकर त्रिपाठी का विचार है कि उसने वह युद्ध किसी साम्राज्य विस्तार की भावना से नहीं किया था, अपितु केवल इन शक्तियों से अपने राज्य को बचाया था। इसकी भी उपाधि केवल 'महाराज' थी जिससे उसकी सामन्त स्थिति व्यक्त होती है।

चौथे शासक ईशानवर्मा के नेतृत्व में मौखरि राजकुल सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। हरहा लेख से ज्ञात होता है कि वह 554 ई. में शासन कर रहा था। उसने तत्कालीन कई शक्तियों को परास्त किया था। इसी के समय उत्तर-गुप्त राजवंश के साथ पहला युद्ध हुआ।** जिसने दोनों राजकुलों के बीच एक परम्परागत युद्ध का रूप ग्रहण कर लिया। इस युद्ध में ईशानवर्मा की पराजय हुई। उसके उत्तराधिकारी पुत्र शर्ववर्मा ने दामोदर गुप्त को पराजित कर अपने पिता की पराजय का बदला लिया; युद्ध में संभवतः दामोदरगुप्त मारा गया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप मगध उत्तर-गुप्तों के हाथ से निकल गया और उनका राज्य केवल मालवा तक सीमित रह गया। इसी कारण हर्षचरित में दामोदरगुप्त के पुत्र महासेनगुप्त को 'मालवराज' (मालवा का शासक) कहा गया है। शर्ववर्मा ने हूणों को भी हराया था। अवन्ति-वर्मा को मौखरि कुल का छठा शासक माना जाता है। इसके समय में भी मगध के ऊपर मौखरियों का आधिपत्य था।

अवन्तिवर्मा का उत्तराधिकारी ग्रहवर्मा था जिसके पास पुष्यभूति वंश के नरेश प्रभाकर वर्द्धन की पुत्री राज्यश्री का विवाह हुआ। डा. रमाशंकर त्रिपाठी ने इस वैवाहिक सम्बन्ध को राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना बताया है क्योंकि इससे इस काल के दो महत्त्वपूर्ण राजवंश एकबद्ध हुए। उत्तर-गुप्त वंशी देवगुप्त ने बंगाल के शासक शशांक के साथ मिलकर इसकी हत्या करदी। ग्रहवर्मा की मृत्यु लगभग 606 ई. में हुई। यह पुत्रहीन मरा था। प्रारम्भ में हर्षवर्द्धन ने अपनी बहिन के नाम पर शासन किया किन्तु बाद में वह थानेश्वर और कान्यकुब्ज का सम्मिलित शासक बन गया और अपनी राजधानी को कान्यकुब्ज में स्थानान्तरित कर लिया। ग्रहवर्मा के बाद मौखरि राजकुल में जो रिक्तता आ गई थी उसे हर्षवर्द्धन को मौखरि राज्य को आत्मसात करने में कठिनाई नहीं हुई।

---

* देखें रमाशंकर त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज (बनारस, 1937) पृ. 32-36.

** कुमारगुप्त उत्तर-गुप्त शासक था जिसके साथ ईशानवर्मा का युद्ध हुआ।

(ग) हूण और यशोधर्मा

ह्यु-ग-नू अथवा हूण मध्य एशिया की एक संचरणशील और बर्बर जाति थी। पहले उन्होंने युएह-ची जाति को स्थान छोड़ने को बाध्य किया पर बाद में स्वयं पश्चिम की ओर चल पड़े। क्रमशः ये दो शाखाओं में बंट गए : एक शाखा योरो पहुंची, जहाँ उन्होंने दक्षिणी-पूर्वी योरोप को रक्त से लाल कर दिया; उनकी दूसरी शाखा वंक्षु (आक्सस) नदी के तट पर कुछ काल तक रहने के बाद अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी दर्रों को पार कर भारत पहुँची।

भारत में हूणों का पहला आक्रमण स्कन्दगुप्त के समय में हुआ। भितरी लेख से ज्ञात होता है कि इस पराक्रमी योद्धा ने हूणों को परास्त किया और उन्हें पराभूत होकर वापस लौटना पड़ा। इसके बाद कुछ समय तक भारत हूणों के भय से मुक्त रहा; इस बीच वे फारस के ससानी राज्य से जूझते रहे।

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के लगभग 33 वर्षों बाद 500 ई. में हूणों ने फिर गंगा घाटी पर आक्रमण किया। इस हूण आक्रमण का नेता तोरमाण था। 485 ई. के एरण लेख से ज्ञात होता है कि इस समय यहाँ महाराज मातृविष्णु गुप्त सम्राट बुद्धगुप्त का सामन्त शासक था। किन्तु तोरमाण के शासनकाल के प्रथम वर्ष में उत्कीर्ण एक अन्य एरण लेख के अनुसार मातृविष्णु का भाई धान्यविष्णु तोरमाण की अधीनता स्वीकार करता था। इससे स्पष्ट है कि बुद्धगुप्त के पश्चात् (5000 ई. के पश्चात्) तोरमाण का एरण पर आधिपत्य हो गया था। गुप्त सम्वत् 191 (=510 ई.) में अंकित एरण अभिलेख में कहा गया है कि 'अतिप्रसिद्ध रण' में भानगुप्त के सेनापति गोपराज ने अपने प्राण खोए। यह 'अतिप्रसिद्ध रण' संभवतः हूणों के साथ हुआ था। मालवा की क्षति से गुप्त साम्राज्य को बड़ा धक्का लगा, क्योंकि अब यह सिकुड़ कर मगध और उत्तर बंगाल तक सीमित रह गया। तोरमाण का उल्लेख राजतरंगिणी में भी हुआ है। जैन ग्रन्थ कुवलयमाला (आठवीं शताब्दी) में उसे उत्तरापथ का शासक कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि तोरमाण के सिक्के पंजाब तथा सतलज एवं यमुना के बीच के इलाके से मिले है। पंजाब में कुरा नामक स्थान से उसका एक लेख भी मिला है। इन साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि तोरमाण का पंजाब से लेकर मालवा प्रदेश तक के भू-क्षेत्र पर अधिकार था।

तोरमाण के बाद मिहिरकुल ने राज्य किया। ग्वालियर से प्राप्त एक लेख में उसके शासनकाल के पन्द्रहवें वर्ष का उल्लेख है। वह शैव धर्म का मानने वाला था। अनुश्रुतियों के अनुसार वह एक क्रूर और नृशंस शासक था। युवान च्वांग के अनुसार उसने बौद्धों पर बड़ा अत्याचार किया और उसके स्तूपों तथा विहारों को लूटा और नष्ट किया। उसके अनुसार, मगध-नरेश बालादित्य ने मिहिरकुल को पराजित किया और उसे बन्दी बना लिया, किन्तु अपनी माता के अनुरोध पर उसे छोड़ दिया। इस बालादित्य का समीकरण नरसिंहगुप्त बालादित्य के साथ किया जाता है।

इसी प्रसंग में हम मन्दसौर-स्तम्भ-लेख में चर्चित यशोधर्मन् नामक नरेश (532 ई.) की चर्चा करेगें; लेख में उसे 'जनेन्द्र' कहा गया है तथा उसके यशोगान में कहा गया है कि उसने उन देशों की विजय की, जिन्हें गुप्तों तक ने जीता न था और ऐसे देशों पर

भी आक्रमण किया जहाँ हूण तक प्रवेश न कर सके थे।* लेख में उसका मिहिरकुल के साथ संघर्ष होने का स्पष्ट उल्लेख है और कहा गया है कि "जिसने शिव को छोड़कर किसी अन्य के सामने सिर को नहीं झुकाया" ऐसे मिहिरकुल के मस्तक को यशोवर्धन् ने अपने बाहुबल से नीचे झुका कर उसे क्लेश पहुँचाया तथा उसके केशों के जूट में लगे पुष्पों द्वारा अपने चरण-युग्म की अभ्यर्थना करवाई।"**

इससे स्पष्ट है कि यशोवर्मा ने मिहिरकुल को बुरी तरह परास्त किया। अब यह समस्या उठती है कि इस लेख की सामग्री और युवान च्वांग के विवरण में सामंजस्य कैसे बिठाया जाय। विन्सेन्ट स्मिथ ने इस प्रसंग में यह सुझाव रखा कि यशोधर्मन् और बालादित्य ने संघ बनाकर मिहिरकुल को हराया था किन्तु, यह मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है कि मिहिरकुल दो बार पराजित हुआ–एक बार बालादित्य द्वारा और फिर यशोधर्मा के हाथों। यशोधर्मा निश्चित रूप से एक प्रतापी व्यक्ति था किन्तु इस व्यक्ति के पूर्वापर पर के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है।

हूणों में मिहिरकुल ही अन्तिम शासक था। यद्यपि हूण इसके बाद भी बने रहे किन्तु धीरे-धीरे ये हिन्दू समाज में पूर्णतः आत्मसात हो गए।

(घ) वलभी का मैत्रक राजकुल

गुप्त शक्ति के विघटन के परिणामस्वरूप पाँचवी शताब्दी के अन्तिम चरण में सौराष्ट्र प्रान्त गुप्त साम्राज्य से अलग होकर स्वतन्त्र हो गया। सेनापति भट्टारक ने वलभी में एक नए राजकुल की प्रतिष्ठा की, जिसे मैत्रक राजकुल कहा जाता है।

इस राजकुल के प्रारम्भिक शासक पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं थे किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि वे किसका आधिपत्य स्वीकार करते थे। या तो कुछ समय तक वे गुप्त प्रभुसत्ता मानते रहे अथवा उन्होंने हूणों की स्वतन्त्रता स्वीकार करली थी। किन्तु ध्रुवसेन द्वितीय के समय तक यह राजकुल अत्यन्त प्रतिष्ठित हो चला था। इसी के शासनकाल में युवान च्वांग वलभी आया था। हर्ष ने उसके ऊपर आक्रमण किया था किन्तु बाद में वे हर्ष की कन्या से विवाह कर उसका जामाता बन गया था।

युवान च्वांग ने उसे कान्यकुब्ज के शीलादित्य का जामाता बताया है; इसी हैसियत में वह हर्ष के प्रयाग के उत्सव में सम्मिलित हुआ है। उसका पुत्र धरसेन चतुर्थ एक शक्तिशाली शासक जान पड़ता है जैसा कि उसकी परमभट्टारक, महाराजाधिराज परमेश्वर और चक्रवर्तिन् उपाधियों से ज्ञात होता है। धरसेन चतुर्थ के बाद भी लगभग 100 वर्षों तक यह राजकुल शासन करता रहा। इसका अन्तिम शासक शीलादित्य सप्तम् था जिसकी अन्तिम तिथि गुप्त संवत् 447 (=776 ई) है। बाद के शासकों के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है। यह राजकुल लगभग तीन शताब्दियों तक शासन करने के उपरान्त अन्ततः सिन्ध में हुए अरब आक्रमणों द्वारा विनिष्ट हो गया।

---

* ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्रान्तिदृष्टप्रतापै—
नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा ।
—यशोधर्मन् का मन्दसौर लेख—
डा. गिरिजा शंकर प्रसाद मिश्र (अनु), भारतीय अभिलेख संग्रह पृष्ठ 179.

** चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।
—यशोधर्मन् का मन्दसौर लेख—
भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ. 179.

थानेश्वर का पुष्यभूति वंश और हर्षवर्धन

दिल्ली के समीप थानेश्वर नाम जनपद में गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् एक नवीन राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ, जो कि वर्धनवंश के नाम से जाना जाता है। बाण द्वारा रचित हर्षचरित में पुष्यभूती को इस वंश का संस्थापक कहा गया है। परन्तु इस लेख की पुष्टि हर्ष के अभिलेखों में नहीं होती है। मंजूश्री मूलकल्प नामक ग्रंथ में पुष्यभूती वंश को मूलतः वैश्य वर्ण का बतलाया गया है। इस तथ्य को कनिंघम ने भी स्वीकारा है। इसके विपरीत हर्ष के बांसखेड़ा था मधुबन अभिलेखों से पुष्यभूती का अस्तित्व प्रामाणिक न होने के कारण नरवर्धन ही वर्धन वंश का प्रथम ऐतिहासिक शासक माना जाता है।

इसी राजनीतिक परिवेश में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर 606 ई. में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व का आगमन हुआ। वह विशेषरूपेण अपने दरबारी लेखक बाण के हर्षचरित नामक ग्रन्थ के कारण जाना जाता है। बाण ने इस ग्रन्थ में हर्ष के पूर्ववर्ती राजाओं के बारे में तथा हर्ष के जीवन के प्रारम्भिक इतिहास के बारे में काव्यात्मक किन्तु तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इसी समय प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वांग भारत आया था, जिसका यात्रा-विवरण (सी यू की) बड़े ऐतिहासिक महत्त्व का है। उससे सम्बन्धित कई लेख भी मिलते हैं जिसमें बांसखेड़ा और मधुवन के ताम्रपत्र, ऐहोल से प्राप्त पुलकेशिन् द्वितीय का अभिलेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वंश-परिचय तथा उसके राजवंश का प्रारम्भिक इतिहास

हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि छठी शताब्दी के प्रारम्भ में गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर हूणों के आक्रमण शुरू हो गये थे। इसी समय पूर्वी पंजाब में (यह स्थान अब हरियाणा प्रान्त में है) थानेश्वर में पुष्यभूति वंश का उदय हुआ। थानेश्वर का प्राचीन नाम श्रीकण्ठ था। इस वंश को सामान्यतः वैश्य वंश माना जाता है। बाण के हर्षचरित के अनुसार, इस वंश का संस्थापक पुष्यभूति था। वह शिव का भक्त था और उसने श्रीकण्ठ में एक नवीन राजकुल की स्थापना की।

हर्ष के पूर्वज शासक

हर्ष के लेखों से पता चलता है कि उसके पहले पाँच राजाओं ने राज्य किया था, जिनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं— नरवर्धन, राज्यवर्धन (प्रथम), आदित्यवर्धन और राज्यवर्धन (द्वितीय)। इस वंश के प्रथम तीन राजा केवल नाम के राजा थे। आदित्यवर्धन ने उत्तर-गुप्त वंश की राजकन्या महासेनगुप्ता से विवाह कर अपनी राजनीतिक स्थिति सुदृढ़ बनाई थी।

प्रभाकरवर्धन इस राजकुल का पहला महत्त्वपूर्ण शासक था इसने महाराजाधिराज और परमभट्टारक उपाधियाँ धारण की थीं, जिससे सिद्ध होता है कि उसने अपनी शक्ति काफी बढ़ा ली थी। बाण ने हर्षचरित में उसे 'हूणहरिणकेसरी, सिन्धु राजज्वर, गुर्जरों का प्रजागर (=निद्रा भंग करने वाला), गंधारराज रूपी गज के लिए रोग, लाटों (=गुजरात में लाट प्रदेश के लोगों) को लूटने वाला तथा मालव लक्ष्मी रूपी लता का उच्छेदक (=काटने वाला) परशु (कुल्हाड़ा)'* कहा है। किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिये कि उसने इस सूची में गिनाए गये राज्यों को सचमुच जीत लिया था। वह केवल एक कवि का आलंकारिक वर्णन है। ऐसा लगता है कि इन राज्यों तथा सम्भवतः हूणों से युद्ध करना पड़ा था।

---

* हूणहरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरः गन्धाराधिपगन्धद्विपकूट-पाकलः लाटपाटवपाटच्चरः मालवलक्ष्मीलतापरशुः—हर्षचरित।

सम्भवतः इसका अधिकार पंजाब के कुछ भागों पर और राजपूताना के मरूप्रदेश पर था। अपनी स्थिति को और सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से उसने कन्नौज के मौखरि राजा ग्रहवर्मा के साथ अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह किया। उसके शासनकाल के अन्तिम दिनों में हूणों ने इसके राज्य पर आक्रमण किया किन्तु उसके पुत्र राज्यवर्द्धन ने उन्हें परास्त कर निष्कासित किया। प्रभाकरवर्द्धन का दूसरा पुत्र हर्षवर्द्धन था। जिस समय राज्यवर्द्धन हूणों के दमन में लगा था उसी समय प्रभाकरवर्द्धन बीमार पड़ कर मर गया। उसके बाद राज्यवर्द्धन गद्दी पर बैठा। एक लेख में उसे 'परमसौगत' कहा गया है, जिससे पता चलता है कि वह बौद्ध धर्म के प्रभाव में था। प्रभाकरवर्द्धन के मरते ही उसके शत्रु उठ खड़े हुए। मालवा के राजा देवगुप्त ने गौड़ शासक शशांक से मिलकर राज्यवर्द्धन के बहनोई ग्रहवर्मा को मार डाला और बहन राज्यश्री को कान्यकुब्ज के कारागार में डाल दिया। यह समाचार मिलते ही अपने भाई हर्ष को राज्य की रक्षा के लिए पीछे छोड़ कर राज्यवर्द्धन अपने शत्रुओं से बदला लेने के लिए निकला। उसने आसानी से मालवा के राजा देवगुप्त को हरा दिया। देवगुप्त सम्भवतः मारा भी गया। पर वह स्वयं शशांक के जाल में फंस गया। शशांक ने उससे अपनी पुत्री के विवाह का प्रस्ताव रखा। राज्यवर्द्धन इस पर विश्वास कर उसके शिविर में चला गया, जहाँ शशांक ने विश्वासघात कर उसकी हत्या कर दी। इस प्रकार शशांक ने अपने मित्र देवगुप्त की पराजय का बदला लिया। इसी बीच उसने राज्यश्री को कन्नौज के कारागार से मुक्त कर दिया। किन्तु वह अपने पति और भाई की मृत्यु से दुखी होकर विन्ध्य वन में चली गई।

इस वंश के समस्त शासकों के बारे में सर्वाधिक प्रमाण हर्षवर्धन के समय में प्राप्त हुए हैं। इन स्रोतों में सर्वश्रेष्ठ कृति हर्ष के दरबारी कवि बाणभट्ट द्वारा रचित 'हर्षचरितम्' है, जिसमें हर्ष के पूर्वजों का वर्णन करने के साथ-साथ उसका प्रारम्भिक जीवन तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक स्थितियां पर प्रकाश डाला गया है व हर्ष की विजयों का वर्णन भी किया गया है। इस ग्रंथ में कई कल्पित घटनाऐं होने के अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से ये ग्रंथ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

ह्वेनसांग जो कि हर्ष के शासनकाल में भारत आया था, समकालीन होने के कारण अपनी पुस्तक (सी. यू. की) में हर्ष की विजयों प्रशासन धार्मिक सहिष्णुता तथा तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिति पर प्रकाश डालता है। स्वयं हर्ष द्वारा रचित नाटक रत्नावली, नागानंद और प्रियदर्शिका मे इस काल की घटनाओं व हर्ष के दानवीर होने का पता पड़ता है।

इनके अतिरिक्त पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री में बाँसखेड़ा ताम्रपत्र, मधुबन ताम्रपत्र सोनीपत अभिलेख, नालन्दा मुद्रा प्रस्तर मूर्तियाँ और एहोल-मेगुटीं का पुल्केशन द्वितीय का लेख प्रमुख माना जाता है।

चीनी साक्ष्यों के अनुसार ह्वेनसांग जब भारत आया तब हर्ष को शासन करते हुए तीस वर्ष हो चुके थे। इस आधार पर हर्ष के अभिषेक का वर्ष 612-13 ई. माना जाता है। परन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि इन स्रोतों में हर्ष द्वारा युद्धों में व्यतीत छः वर्षों को सम्मिलित नहीं किया गया है। अतः हर्ष का अभिषेक 612 में न होकर 6 वर्ष पूर्व 606 ई. में ही हो गया था।

हर्ष का राज्यारोहण और प्रारम्भिक कार्य

अब हर्ष थानेश्वर की पैतृक गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही हर्ष के सामने पहली समस्या थी अपनी बहिन राज्यश्री का पता लगाना, जो प्राप्त समाचारों के अनुसार, कान्यकुब्ज के कारागार से मुक्त हो कर विन्ध्य के जंगलों में गई थी। हर्ष ने अपनी बहन

की खोज शुरू की और संयोग से जिस समय वह दुःख के कारण चिता में जल मरने की तैयारी कर रही थी, वह वहाँ पहुँच गया और उसे बचा लिया। दुर्भाग्य से हर्षचरित का विवरण यहीं तक आकर समाप्त हो जाता है और उसके बाद की घटनाओं के विषय में उससे कोई जानकारी नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि हर्ष को अपनी सेना के साथ आगे बढ़ता देख कर शशांक ने भी कन्नौज वापस लौट जाना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। इस समय आसाम के भास्करवर्मा से उसे स्वयं अपने राज्य का खतरा उत्पन्न हो गया था। मालवा प्रदेश का उसका मित्र, जिसकी सहायता के बल पर वह इतनी दूर पश्चिम में चला आया था, पहले ही पराजित होकर मारा जा चुका था। शशांक द्वारा कन्नौज के खाली होने पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कन्नौज की गद्दी कौन संभाले। ग्रहवर्मा कोई उत्तराधिकारी छोड़े बिना मरा था। युवान च्वांग के विवरण के अनुसार, राज्यश्री द्वारा यह भारवहन अस्वीकार किये जाने पर कन्नौज के मंत्रियों ने उसे उस राजवंश का मुकुट धारण करने को कहा। हर्ष ने इसमें संकोच किया किन्तु बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की आज्ञा से (यह युवान च्वांग का कहना है) उसने राज्य संचालन का भार स्वीकार किया किन्तु उसने केवल 'शीलादित्य' और 'कुमार' का विरुद धारण किया। ऐसा लगता है कि जनमत से पूर्णतः अवगत न होने के कारण हर्ष को एकाएक कन्नौज का राजा बनने में संकोच था। अतः प्रारम्भ में उसने केवल एक अभिभावक की हैसियत से ही राजकार्य चलाना स्वीकार किया किन्तु धीरे-धीरे जब उसकी सत्ता प्रतिष्ठित हो गई और उसे किसी प्रकार के विरोध का भय नहीं रह गया तब उसने अपनी राजधानी को थानेश्वर से कन्नौज में स्थानान्तरित कर लिया। इन दोनों राज्यों के एकीकरण से वह अब एक बड़े राज्य का स्वामी था और इस शक्ति के आधार पर अन्य प्रदेशों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने की सोच सकता था।

हर्ष की दिग्विजय

हर्षचरित के अनुसार, राज्यवर्द्धन की हत्या का समाचार मिलते ही हर्ष ने प्रतिज्ञा की कि "मैं अपने पिता के पैरों की धूलि छू कर शपथ खाता हूँ कि यदि मैं कुछ दिनों के भीतर पथ्वी को . . . गौड़ों से रहित न कर दूं और उसे (पृथ्वी को) समस्त घमण्डी राजाओं के पाँवों की बेड़ियों से गुंजा न दूं तो अपने को जलती हुई अग्नि में झोंक दूंगा।" उसके मन्त्रियों ने उसकी प्रतिज्ञा का अभिनन्दन किया और हर्ष ने अपनी सेना के साथ विजय का अभियान शुरू किया। हर्षचरित में उसकी विजय-यात्रा के सम्बन्ध में केवल इतनी सूचना मिलती है। युवान च्वांग के विवरण में इसके सम्बन्ध में कुछ प्रशंसात्मक प्रसंग मिलते हैं : "पूर्व की ओर बढ़ कर उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार न की थी, और छः वर्षों तक, जब तक कि उसने "पाँचो भारतों" को अधीन न कर लिया, निरन्तर लड़ता रहा", शीघ्र उसने अपने भाई की मृत्यु का बदला ले लिया और वह 'भारत का स्वामी बन गया', शीलादित्य महाराज ने अब तक पूर्व से पश्चिम तक के प्रदेश जीत लिए थे और दूर-दूर स्थित प्रदेशों पर आक्रमण किए थे।" इन विवरणों में स्पष्टता नहीं है क्योंकि यात्री प्रदेशों के नाम नहीं देता और न ही यह बताता है कि वे कब और कैसे जीते गये।

शशांक पर विजय—हर्ष ने अपने राज्याभिषक के पश्चात् अपना सर्वप्रथम दायित्व अपनी बहिन की रक्षा व शशांक से कन्नौज को मुक्त करा उसे दण्ड देना था। इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु उसने विशाल व संगठित सेना के साथ पूर्व दिशा में प्रस्थान किया। यात्रा के दौरान उसने आसाम के राजा भास्करवर्मन से मैत्री स्थापित की। इसी बीच उसे

अपने ममेरे भाई (भाण्डी) से सूचना मिली कि राज्यश्री कारावास से मुक्त होकर विन्ध्य पर्वत की ओर निकल गई है अतः हर्ष शशांक पर विजय करने का कार्य भाण्डी के सुपुर्द कर स्वयं विन्ध्याचल की ओर चला गया। भाण्डी के आक्रमण की सूचना मात्र से शशांक कन्नौज छोड़ गौड़ की ओर लौट गया तथा इस कार्य से उसने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया।

वलभी पर विजय—ह्वेनसांग के अनुसार वलभी राज्य के अन्तर्गत पश्चिमी मालवा आता था, जिसका राजा ध्रुवसेन संकुचित विचारधारा व क्रोधी स्वभाव का था। हर्ष के आक्रमण के सामने ठहर न सकने के कारण ध्रुवसेन भड़ौच भाग गया व वहाँ शरण ली। कालान्तर में न केवल दोनों नरेशों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए अपितु हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह भी ध्रुवसेन के साथ कर दिया।

हर्ष और वलभी नरेश के बीच यह युद्ध सम्भवतः 634 ई. के पूर्व कभी हुआ था, जिसका वर्णन ऐहोल-मेगुटी अभिलेख में भी मिलता है। डॉ. स्मिथ के अनुसार 633 ई. सही तिथि है जिसका समर्थन डा. मजूमदार ने भी किया है। हर्षचरित के अनुसार उसने "सिन्धुराज को मार कर उसकी सम्पत्ति को स्वायत्त कर ली।" इससे स्पष्ट है कि उसने सिन्ध के राजा को पराजित किया और उससे युद्ध कर भी वसूल किया।

पुलकेशिन् द्वितीय के साथ युद्ध

इस समय दक्षिणापथ में चालुक्य वंश के पुलकेशिन (द्वितीय) का शासन था। वह एक शक्तिशाली शासक था और मध्य भारत तथा पश्चिम के राज्य उसके प्रभाव में थे। इन प्रदेशों में हर्ष द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास करने के कारण उसका पुलकेशिन के साथ युद्ध होना अनिवार्य था। यह युद्ध नर्मदा नदी के तट पर लड़ा गया। इस युद्ध के बारे में युवान च्वांग के जीवन वृत्तान्त (हुइ ली) से प्रकट है कि हर्ष ने भारी तैयारी कर महाराष्ट्र कर्णाटक के राजा पुलकेशिन (पु-लो-कि-श) पर आक्रमण किया किन्तु इस युद्ध में हर्ष को सफलता प्राप्त नहीं हुई। पुलकेशी के राजकवि रविकीर्ति के अनुसार हर्ष युद्ध में मारे गए हाथियों के दृश्य को देखकर अत्यन्त व्याकुल हुआ। ऐहोल अभिलेख के वर्णनानुसार, "अतुल सम्पत्ति से समृद्ध सामन्त समुदाय के शिरोमुकुट के रत्नों के आलोक से सुशोभित चरण कमल वाले, युद्ध में हस्ति सेना के नष्ट होने से आतंकित हर्ष को भी पुलकेशी ने भय से हर्ष रहित (व्यथित) कर दिया।" यह पुलकेशी द्वितीय के जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि थी, जिससे उसकी शक्ति में अत्यन्त वृद्धि हुई तथा इस विजय के फलस्वरूप उसने 'परमेश्वर' की उपाधि धारण की। चालुक्य लेखों से इस बात का समर्थन होता है।*

यह युद्ध कब हुआ, इस विषय पर विद्वान् एकमत नहीं हैं। प्रायः इसे 630 ई. और 634 ई. के बीच हुआ माना जाता है।

इसके अतिरिक्त हर्ष ने कच्छ व सूरत पर विजय प्राप्त की तथा ह्वेनसांग के अनुसार 643 ई. में कांगोद पर भी सफलता हासिल की जो कि बंगाल की खाड़ी के किनारे पर स्थित था। ह्वेनसांग के यात्रा वृत्तान्त से पंजाब, मिथिला व उड़ीसा पर अधिकार की भी जानकारी मिलती है। बाण के हर्षचरित में हर्ष द्वारा विजित नेपाल प्रदेश का भी विवरण है।

---

* 634 ई. का ऐहोल—मेगुटी का लेख।

हर्ष का राज्य विस्तार

चालुक्य लेखों और हर्षचरित में हर्ष को 'सकलोत्तरापथनाथ' (सम्पूर्ण उत्तरापथ का अधिपति) कहा गया है। इससे ऐसा लगता है कि वह सम्पूर्ण उत्तरी भारत का राजा था। किन्तु इस उपाधि को यथारूप नहीं ग्रहण किया जा सकता और इसमें संशोधन करने की आवश्यकता जान पड़ती है। युवान च्वांग ने अपने विवरण में स्वतन्त्र राष्ट्रों और उनमें विद्यमान उनके अधीनस्थ राज्यों के जो नाम दिए हैं, उनके विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि काश्मीर, पश्चिमी बंगाल, सिन्ध, गुजरात, राजस्थान, नेपाल और कामरूप निस्संदिग्ध रूप से स्वतंत्र राज्य थे, यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके प्रभुत्व को उत्तर भारत में सभी राज्य स्वीकार करते थे। अनेक राज्यों ने उसकी अधीनता इस सीमा तक स्वीकार की थी कि वे उसके दरबार में उपस्थित होते थे। कामरूप का राजा भास्करवर्मा और उसका दामाद बलभी का मैत्रक नरेश ध्रुवसेन द्वितीय ऐसे ही शासक थे।

तथापि, हर्ष एक विशाल राज्य का स्वामी था। उसके पैतृक राज्य में थानेश्वर, सरस्वती घाटी और पूर्वी राजस्थान के कुछ भाग थे। कन्नौज का मौखरि राज्य मिल जाने पर उत्तर प्रदेश तथा मगध के कुछ भाग उसे मिल गये। मधुवन और बांसखेरा से मिले लेखों से विदित होता है कि रामनगर और बरेली जिला के प्रदेश उसके अधिकार में थे। चीन के साथ उसके दौत्य सम्बन्धी कागजातों में उसे 'मगध का राजा' कहा गया है जो मगध पर उसका अधिकार सिद्ध करता है। युवान च्वांग से पता चलता है कि उड़ीसा पर और बंगाल के कुछ भाग पर उसका अधिकार था। आधुनिक राजमहल जिला में स्थित कजंगल नामक स्थान पर उसने दरबार किया था। दक्षिण में उसका राज्य नर्मदा नदी तक था। कुछ विद्वान् काश्मीर और नेपाल पर भी हर्ष का अधिकार स्वीकार करते हैं।

हर्ष का शासन प्रबन्ध : आदर्श एवं लोकोपकारी शासक

हर्ष ने साम्राज्य में उचित शासन व्यवस्था की। उसने गुप्त शासन व्यवस्था को अपना आधार बनाया और समय की आवश्यकता के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन किया। शासन के लिए वह केवल अपने कर्मचारियों के ऊपर निर्भर नहीं रहता था बल्कि स्वयं राज्य में दौरे करके जनता के सुख-दुःख को जानने का प्रयत्न करता था। युवान च्वांग ने लिखा है कि उसने अपने सम्पूर्ण राज्य में दौरे किए। उसने बहुत से परोपकारी कार्य किए और धार्मिक संस्थाओं का निर्माण कराया। सड़कों पर सुरक्षा का प्रबन्ध था और यात्रियों को ठहरने के लिए विश्राम स्थल बने थे। दान-पुण्य के कार्यों में वह बहुत धन खर्च करता था। युवान च्वांग के विवरण से पता चलता है कि प्रति पाँचवे वर्ष वह प्रयाग में एक मेले का आयोजन करता था, जहाँ वह दान में अपना सारा कोष खर्च कर देता था। शिक्षा के कार्यों में भी उसकी काफी रुचि थी। वह विद्वानों को पुरस्कार देता था और नालन्दा आदि शिक्षा के केन्द्रों को नियमित रूप से आर्थिक सहायता प्रदान करता था। उसका शासन उदार सिद्धान्तों पर आधारित था और सम्पूर्ण प्रजा के सुख की कामना से संचालित होता था। लोगों से बेगार नहीं लिया जाता था और न परिवारों को रजिस्ट्री कराने की आवश्यकता थी।

किन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि गुप्त सम्राटों के समय की तुलना में देश की दशा पतनशील ही थी। सड़कों पर यात्रा अब उतनी सुरक्षित नहीं रह गई थी और स्वयं चीनी यात्री कई बार चोर-डाकुओं का शिकार बना था और किसी प्रकार उसकी प्राण रक्षा हुई थी।

केन्द्रीय शासन

राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। वह बड़े अधिकारियों की नियुक्ति करता था, न्यायाधीश की हैसियत से मुकदमों की अपीलें सुनता और निर्णय देता था, सभी विभागों की देखरेख करता था और युद्ध में सैन्य-संचालन करता था। शासन कार्य में सहायता के लिए मन्त्रि-परिषद् होती थी। युवान च्वांग के अनुसार, पोनी के नेतृत्व में कन्नौज के मन्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने उसे कन्नौज राजकुल का मुकुट धारण करने को कहा था। केन्द्रीय शासन सुविधा के लिए कई विभागों में बंटा हुआ था, जिसके संरक्षण के लिए अलग-अलग अध्यक्ष और मन्त्री होते थे। मन्त्रियों में प्रधानमंत्री, सांधिविग्रहिक (जिसके हाथ में सन्धि और युद्ध करने का अधिकार था तथा जो परराष्ट्र विभाग देखता था), अक्षपटलिक (सरकारी कागज-पत्रों की देखभाल करने वाला अधिकारी) और सेनापति (सेना विभाग का सर्वोच्च अधिकारी) प्रमुख थे। मीमांसक (न्यायाधीश), महाप्रतीहार (कंचुकी अथवा राजप्रासाद का रक्षक), भोगिक (उपज का राजकीय भाग वसूल करने वाला अधिकारी), कारणिक (क्लर्क), दीर्घाध्वग (तीव्रगामी संदेशवाहक), लेखक और सेवक आदि अन्य अधिकारी थे।

प्रांतीय शासन

राज्य कई इकाइयों में बंटा था। प्रान्तों को 'भुक्ति' अथवा 'प्रदेश' कहा जाता था। अहिच्छत्र, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पुण्डवर्धन उसके राज्य के कुछ प्रान्त थे। प्रदेश अथवा भुक्ति 'विषयों'(जिलों) में बंटे थे। प्रान्तीय शासक उपरिक महाराज, गोप्ता, भोगपति अथवा राष्ट्रिय कहलाता था। उसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। विषय का अधिकारी विषयपति कहलाता था।

दूर के प्रदेशों पर सामन्तों की नियुक्ति भी की जाती थी। मगध का माधवगुप्त इसी प्रकार का सामन्त-शासक था।

ग्राम-शासन और अधिकारी

हर्ष के समय के नगर-शासन के विषय में हमें विशेष कुछ पता नहीं है पर ग्राम-शासन और अधिकारियों के विषय में काफी जानकारी मिलती है। ग्राम का प्रमुख महत्तर या ग्रामिक कहलाता था। लेखों में जिन अधिकारियों के नाम मिलते हैं उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं : शौल्किक (चुंगी वसूल करने वाला) गौल्मिक (वन-उपवन आदि की देखरेख करने वाला), अग्रहारिक (ब्राह्मणों को दान में दिये गये गाँवों की देखभाल करने वाला), ध्रुवाणिकरण (भूमि कर का अध्यक्ष), तलवटक (गांव का लेखा-जोखा रखने वाला), अक्षपटलिक (कागज-पत्र की देखभाल करने वाला), करणिन (क्लर्क) आदि। इससे स्पष्ट है कि ग्रामीण शासन बहुत अच्छी तरह संगठित था।

राज्य की आय और व्यय के साधन

हर्ष का शासन उदार था। जनता पर हल्के कर लगाये जाते थे। उपज का 1/6 भाग राज्य को मिलता था। भूमिकर के अलावा खनिज पदार्थों पर लगाये गए कर तथा व्यापारियों से वसूली गई चुंगी से राज्य की आय होती थी। न्यायालयों में अभियुक्तों पर लगाये गये जुर्माने तथा न्यायालय-शुल्क भी आय के साधन थे। पर राज्य की मुख्य आमदनी भूमि से होती थी। खेतों की सीमा निर्धारित थी और राज्य की ओर से भूमि की नपाई की जाती थी। भूमि की सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध किया जाता था।

राज्य के व्यय के बारे में युवान च्वांग ने लिखा है कि राजकोष के चार भाग

किये जाते थे : एक भाग धार्मिक कार्यों तथा सरकारी कामों में खर्चा जाता था; दूसरा भाग बड़े-बड़े सार्वजनिक अधिकारियों पर खर्च होता था, तीसरे भाग से विद्वानों को पुरस्कार और सहायता दी जाती थी; चौथा भाग दान-पुण्य आदि में खर्च होता था।

न्याय-व्यवस्था

युवान च्वांग ने लिखा है कि शासन का काम ईमानदारी से होने के कारण अपराधों की संख्या बहुत कम है। राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने पर आजीवन कैद की सजा दी जाती थी। अन्य दण्डों में अंग-भंग, देशनिकाला और जुर्माना शामिल थे। फौजदारी के अपराधियों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। जघन्य अपराधों के लिए कान, नाक, हाथ-पैर काटने का विधान था। अग्नि, जल, तराजू और विष द्वारा दिव्य परीक्षा की प्रथा का भी प्रचलन था किन्तु कठोर दण्ड-व्यवस्था होने पर भी चोर और डाकुओं का भय बना रहता था और स्वयं युवान च्वांग उनका शिकार बना था। कुछ विशेष अवसरों पर कैदियों को छोड़ा भी जाता था।

हर्ष की सैन्य शक्ति और सेना विभाग

हर्ष का राज्य काफी बड़ा था। इसमें आन्तरिक सुरक्षा बनाये रखने के लिए तथा वाह्य प्रदेशों को जीतने तथा बाहरी शत्रुओं से सुरक्षा के लिए एक बड़ी और संगठित सेना का होना आलश्यक था। चुवान च्वांग ने लिखा है कि उसने अपनी गज-सेना की संख्या वढ़ाकर 60000 तथा अश्व सेना की संख्या बढ़ाकर 10000 कर दी थी। उसकी सेना में छः लाख स्थायी सैनिक थे। आवश्यकता पड़ने पर अस्थाई सैनिक भी रखे जाते थे। इस समय तक रथ का प्रयोग समाप्त हो चुका था और सेना के पैदल, घुड़सवार और हाथी ये तीन अंग थे। लेखों में नौ सेना का भी उल्लेख मिलता है। सेनापति सेना का मुख्य अधिकारी और तत्सम्बन्धी मन्त्री था। सैन्य संचालन का मुख्य अधिकारी महाबलाधिकृत कहलाता था। अश्वसेनाध्यक्ष वृहदश्ववार और सेनाध्यक्ष कटुक कहलाता था।

पुलिस-विभाग

आन्तरिक व्यवस्था के लिए पुलिस विभाग था। दण्डपाशिक (डंडा और रस्सी रखने वाले) दण्डिक (केवल डंडा रखने वाले) तथा चौरोद्धरणिक (चोरों का पता लगाने वाले) इस विभाग के प्रमुख कर्मचारी थे। गुप्तचर छिपकर अपराधों का पता लगाते थे।

हर्ष का धर्म

सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि हर्ष का पैतृक धर्म बौद्ध नहीं था। इस राजकुल के प्रथम तीनों शासक आदित्य (सूर्य) भक्त थे। वांसखेड़ा (शाहजहाँपुर जिला) और मधुवन (आजमगढ़ जिला) के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि अपने शासनकाल के 25वें वर्ष अर्थात् 631 ई. तक वह 'परममाहेश्वर' था अर्थात् उसकी शैव मत में श्रद्धा थी। चुवान च्वांग के विवरण में वह बौद्ध धर्म का विशेष श्रद्धालु दिखाई पड़ता है। यह संभव है कि अपने जीवन काल के अन्तिम दिनों में वह बौद्ध धर्म की ओर विशेषरूपेण आकृष्ट हो गया था। किन्तु उसकी धार्मिक नीति सदैव उदार और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुतापूर्ण रही। प्रयाग के सम्मेलन में भी उसने बुद्ध के साथ-साथ सूर्य और शिव की भी पूजा की और बौद्धों के साथ-साथ ब्राह्मणों और अन्य सम्प्रदायों के लोगों को भी दान वितरित किया।

हर्ष की साहित्यिक अभिरुचि

हर्ष विद्वानों का विशेष सम्मान करता था और युवान च्वांग के अनुसार उसके

राजकोष का एक भाग विद्वानों को पुरस्कार देने में खर्च होता था। बाणभट्ट उसका दरबारी लेखक था, जिसने हर्षचरित और कादम्बरी नामक ग्रन्थों की रचना की।

स्वयं हर्ष को तीन संस्कृत नाटकों की रचना का श्रेय दिया जाता है। ये नाटक हैं : नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका। भारतीय संस्कृत साहित्य में इन नाटकों का विशिष्ट स्थान है। स्वयं बाण ने हर्षचरित में उसे सुन्दर काव्य रचना में प्रवीण बताया है। 11वीं सदी के सोड्ढल और 12वीं सदी के जयदेव ने उसे अन्य साहित्यिक नरेशों और भास, कालिदास सदृश साहित्यकारों की श्रेणी में रखा है।

युवान च्वांग का यात्रा-वर्णन

हर्ष के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वांग ने भारत की यात्रा की। वह 605 ई. में चीन के एक गाँव में पैदा हुआ था। 15 वर्ष की आयु में वह भिक्षुक बन गया। उसने बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया और ग्रन्थों की तलाश में ही उसने भारत आने का निश्चय किया। 629 ई. में वह चीन से भारत के लिए रवाना हुआ। गोबी का रेगिस्तान पार कर वह तुरफन पहुँचा और वहाँ से कूचा आया। कूचा मध्य एशिया का प्रमुख नगर था और यहाँ की संस्कृति और धर्म पर भारत का गहरा प्रभाव था। वह मध्य एशिया के महान् 'खान' के राज्य में से निकला और समरकन्द, बल्ख होता हुआ काबुल नदी के उद्‌गम को पार कर कश्मीर आया। यहाँ से मथुरा, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कपिलवस्तु, कुशीनगर, गया, बनारस आदि स्थानों की यात्रा करते हुए वह उस समय के प्रसिद्ध विद्या केन्द्र नालन्दा पहुँचा। वहाँ वह कई वर्षों तक रहा। 644 ई. में हर्ष की प्रयाग सभा में सम्मिलित होने के बाद वह चीन को रवाना हुआ। लौटते समय वह अपने साथ 657 पांडुलिपियाँ तथा भगवान बुद्ध के 150 शारीरिक अवशेष ले गया। वह 645 ई. में चीन पहुँचा, जहाँ चीनी सम्राट ने उसका भव्य स्वागत किया। वह वहाँ 664 ई. में मरा।

युवान च्वांग ने चीन पहुँच कर चीनी सम्राट के कहने पर अपनी भारत यात्रा के वृत्तान्त को लिखा। उसका विवरण उस समय के भारत की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अवस्था तथा जीवन पर बहुत प्रकाश डालता है। वह लम्बे समय तक भारत में रहा था और सम्राट हर्ष ने उसे बड़ा सम्मान दिया था। उसके विवरण को हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखकर देखेंगे।

(क) राजनीतिक जीवन– युवाग च्वांग ने लिखा है कि यहाँ के शासक का नाम हर्षवर्धन है और राजकार्य बहुत से अधिकारी मिलकर चलाते हैं। सेना बहुत बड़ी है जिसे ले कर उसने कई राज्यों पर विजय प्राप्त किया। वह लिखता है कि राजा राज्य के दौरे किया करता है और प्रजा की समस्याओं को स्वयं जानने का प्रयत्न करता है। शासन का काम अधिकारी ईमानदारी से करते हैं, जिससे अपराध कम होते हैं। किन्तु वह स्वयं दो बार चोरों के चक्कर में पड़ गया था। उसके अनुसार राजकोष चार भागों में बंटा हुआ था, जिसमें पहला भाग धार्मिक कार्यों पर, दूसरा भाग अधिकारियों के वेतन पर, तीसरा विद्वानों की सहायता पर और चौथा दान-पुण्य के कार्यों में खर्च होता था। उसके अनुसार दण्ड नीति उदार थी। राज्य के प्रति विद्रोह करने पर आजीवन कारावास की सजा दी जाती थी। कभी-कभी हाथ पैर भी काट दिए जाते थे, किन्तु छोटे अपराधों पर जुर्माना लेकर अपराधी को छोड़ दिया जाता था। उसका कहना है कि अपराधी द्वारा अपराध स्वीकार करने के लिए जल, अग्नि और विष द्वारा परीक्षा भी ली जाती थी।

(ख) समाज– युवान च्वांग के अनुसार मध्यदेश में चार वर्ग थे। प्रथम वर्ग

ब्राह्मणों का था जो पवित्र आचार विचार वाले थे और अपने को धर्म से सुरक्षित रखते हुए पवित्रता का जीवन व्यतीत करते थे। दूसरे वर्ग में क्षत्रिय थे जो युगों से शासन करते आ रहे थे। वाणिज्य और व्यापार वैश्यों के हाथों में था; युवान च्वांग ने समाज के वैश्य-वर्ग की दानशीलता और उदारता की बड़ी प्रशंसा की है। चौथा वर्ग शूद्रों का था जो खेती का काम करता था।

उसका कहना है कि बहुत कम लोग प्याज़ और लहसुन खाते हैं और प्याज और लहसुन खाने वाले को नगर से बाहर कर दिया जाता था। सामान्य रूप से भोजन में लोग हर प्रकार के अन्नों की रोटियाँ, मक्खन मलाई आदि का व्यवहार करते हैं। भोजन करने के पहले लोग स्नान करते हैं और जूठा भोजन नहीं खाते। भोजन करने के बाद वे सींकों से अपने दांत साफ करते हैं और मुंह धोते हैं। उसके अनुसार लोग व्यक्तिगत स्वच्छता का बहुत ध्यान रखते हैं और इसमें कोई लापरवाही नहीं आने देते। उसने लिखा है कि क्षत्रिय लोग अंगूर और ईख से बनाई गई मदिरा पीते हैं किन्तु बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण केवल अंगूर तथा ईख का शर्बत ग्रहण करते हैं।

युवान च्वांग यहाँ के लोगों के चरित्र से बहुत प्रभावित हुआ था। यहाँ के लोगों के बारे में वह लिखता है कि लोग सच्चे और ईमानदार हैं। वे धन के बारे में धोखाधड़ी नहीं करते और न ही अपने व्यवहार में किसी प्रकार का कपट रखते हैं। उनका व्यवहार सरल और मधुर है तथा अतिथि सत्कार उनका विशेष गुण है।

(ग) धार्मिक जीवन– उसके विवरण से पता चलता है कि इस समय देश में हिन्दू धर्म काफी प्रभावी था। यह उल्लेखनीय है कि युवान च्वांग ने भारत वर्ष को 'ब्राह्मण देश' कहा है। ऐसा उसने ब्राह्मण धर्म तथा इसके अनुयायियों की सामान्य प्रभुविष्णुता के कारण ही कहा होगा। ब्राह्मण लोग यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित करते थे, गायों का आदर करते थे और विविध प्रकार के अनुष्ठानों का सम्पादन करते थे। इस समय हिन्दू धर्म कई सम्प्रदायों में विभक्त था। विभिन्न देवताओं की मूर्तियाँ पूजी जाती थीं और उनके मन्दिर बनाये जाते थे। कन्नौज के आसपास विष्णु, शिव और सूर्य के अनेक मन्दिर थे। हिन्दू धर्म में इस समय वाममार्गी प्रवृत्तियों का अनुप्रवेश प्रारम्भ हो गया था।

युवान च्वाँग के वृत्तान्त के अनुसार इस समय वैशाली, पुण्ड्रवर्धन और समतट को छोड़कर देश के अन्य भागों में जैन धर्म का अभाव हो चला था। इन स्थानों पर उसने दिगम्बर सम्प्रदाय की बहुलता बताई है। जैन धर्म की दूसरी शाखा श्वेताम्बरों की थी। जैन धर्म उस समय धीरे-धीरे दक्षिण की ओर खिसक रहा था, जहाँ इसे विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। कान्ची में युवानच्वांग को अनेक जैन मन्दिर देखने को मिले थे।

बौद्ध धर्म इस समय अवनति पर था किन्तु फिर भी इसका प्रभाव अधिक था। बौद्ध-मठ और विहार इस धर्म की सक्रियता के प्रमुख केन्द्र थे। इनका अस्तित्व श्रद्धालु गृहस्थों के दान पर निर्भर था। हीनयान और महायान इस धर्म के दो प्रमुख सम्प्रदाय थे जिनमें महायान का विशेष प्रभाव था। भारत में युवान च्वांग ने लगभग दो लाख बौद्ध भिक्षु देखे। बौद्ध धर्मानुयायियों में मूर्ति पूजा का प्रचार था। मथुरा में बुद्ध भगवान के शिष्यों की मूर्तियों की भी पूजा होती थी। इनमें सारिपुत्र, आनंद और राहुल की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

सामान्य रूप से समाज में धार्मिक सहिष्णुता थी। किन्तु विविध सम्प्रदायों में वाद-विवाद हुआ करते थे जो कभी-कभी गंभीर झगड़ों का रुख पकड़ लेते थे। कन्नौज की सभा में युवान च्वांग की प्रतिष्ठा बचाने के लिए हर्ष ने ऐसी शर्तें रखी थीं जो उसके

विरोधी विद्वानों के प्रति न्यायपूर्ण नहीं थी।

(घ) आर्थिक जीवन—युवान च्वांग देश की आर्थिक समृद्धि से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। उसके अनुसार लोगों के रहन-सहन का स्तर बहुत ऊँचा था। सोने और चांदी दोनों के सिक्के चलते थे किन्तु सामान्य विनिमय के लिए कौड़ियों का प्रयोग किया जाता था। भूमि उपजाऊ थी और कई प्रकार की फसलें और सब्जियाँ पैदा की जाती थीं। वह लिखता है कि इस समय कई नये नगरों की प्रसिद्धि बढ़ गई थी और कुछ पुराने नगरों का वैभव समाप्त हो रहा था। पाटलिपुत्र अब उत्तरी भारत का प्रमुख नगर नहीं रह गया था और उसका स्थान कन्नौज ने ले लिया था। कन्नौज के विषय में वह लिखता है कि इस नगर में ऊँचे भवन, सुन्दर उद्यान और स्वच्छ तालाब हैं तथा सभी प्रकार की दुर्लभ वस्तुएँ यहाँ मिलती हैं। इस वृत्तान्त से नगर की समृद्धि का पता चलता है।

उसके अनुसार यहाँ रेशम, ऊन और सूत से भी कपड़ा बनाने की कला बहुत उच्चकोटि की थी; सन, जूट आदि से भी कपड़े बनाये जाते थे। इस समय भी विविध उद्योग श्रेणियों में संगठित थे और युवान च्वांग ने उनका उल्लेख किया है। वाणिज्य और व्यापार की स्थिति भी काफी अच्छी दिखाई पड़ती है। बंगाल में ताम्रलिप्ति एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। इसी प्रकार एक राजमार्ग पाटलिपुत्र को उज्जैन होते हुए भरुकच्छ अथवा भड़ौच से जोड़ता था। युवान च्वांग ने कपिशा के विषय में लिखा है कि यहाँ भारत के विविध स्थानों से व्यापारिक वस्तुएँ आती थीं और फिर यहाँ से पश्चिमी देशों तथा ईरान को इनका निर्यात होता था। चीन तथा मध्य एशिया के साथ भारत का विदेशी व्यापार कश्मीर से होकर सम्पन्न होता था। दक्षिणी पूर्वी द्वीप समूह यथा – जावा, सुमात्रा, मलाया आदि – जलीयमार्ग द्वारा ताम्रलिपि से सम्बद्ध थे। वाणिज्य व्यापार का कार्य वैश्यों के हाथों में था और खेती का काम शूद्र करते थे।

(ङ) **कन्नौज और प्रयाग की सभायें**— युवान च्वांग के सम्मान में हर्ष ने 643 ई. में कन्नौज में एक सभा का आयोजन किया। इसमें भाग लेने के लिये लगभग बीस सामन्त राजा आये, जिसमें आसाम का राजा भास्करवर्मा और वलभी का ध्रुवसेन भी शामिल थे। इस सभा में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण सम्प्रदायों के विद्वान् भारी संख्या में उपस्थित थे। हर्ष ने अपनी ऊँचाई की सोने की बुद्ध मूर्ति बनवायी और उसे सौ फीट ऊँचे विहार में प्रतिष्ठित किया। तीन फीट की एक दूसरी मूर्ति बनवाई गई, जिसे प्रतिदिन जुलूस में निकाला जाता था। जुलूस रोज राजमहल से प्रारम्भ होकर विहार तक जाता था और राजा स्वयं इन्द्र का वेश बनाकर मूर्ति के पीछे हाथ में छत्र लेकर चलता था। रास्ते भर वह सोना-चांदी, मोती आदि बिखेरता चलता था। हाथियों की पाँत पर पीछे कर देने वाले सामन्त राजा और उनके अंग-रक्षक तथा अन्य अतिथिगण चलते थे। जुलूस समाप्त होने पर हर्ष बुद्ध की मूर्ति के समक्ष सैकड़ों हजारों की संख्या में रेशमी वस्त्र भेंट करता था। भोजन के बाद विद्वान् लोग वाद-विवाद करने के लिये एक विशाल सभा कक्ष में इकट्ठा होते थे जहाँ चीनी यात्री को सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाता था। शाम को अतिथिगण अपने-अपने निवास स्थान चले जाते थे। यह कार्यक्रम एक महीने तक चलता रहा। युवानच्वांग के विवरण के अनुसार अधिवेशन का प्रारम्भ होने पर उसे अधिवेशन का प्रधान बनाया गया। उसने अपने सम्भाषण में महायान के गुणों का विवेचन किया और उपस्थित विद्वानों को अपने मत का प्रतिवाद करने की चुनौती दी, किन्तु किसी ने उसका प्रतिवाद नहीं किया और पाँच दिनों तक वह अधिवेशन का निर्विवाद श्रेष्ठतम विद्वान् बना

रहा। किन्तु उसके धार्मिक प्रतिस्पर्धियों ने उसके जीवन के विरुद्ध षडयंत्र रचा, किन्तु हर्ष को इसकी भनक मिल गई और उसने यह घोषणा की कि यदि किसी ने अतिथि को किसी प्रकार की क्षति पहुँचायी तो उसे प्राणदण्ड दिया जायेगा। इस घोषणा का अपेक्षित परिणाम निकला और 18 दिनों तक युवानच्वांग के विचारों का किसी ने प्रतिवाद नहीं किया। इस प्रकार इस विवरण के अनुसार अधिवेशन शान्तिपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ। किन्तु सी-यू-की के विवरण में भिन्नता मिलती है।

इसके अनुसार विहार में एक दिन आग लग गई और उसका कुछ भाग जल गया। जब हर्ष इसका निरीक्षण कर रहा था, एक धर्मान्ध व्यक्ति ने उसके ऊपर छुरे से आक्रमण कर दिया। किन्तु वह पकड़ लिया गया और उसने यह स्वीकार किया कि उसे ब्राह्मणों ने उसकी हत्या के लिए नियुक्त किया था। मुख्य अपराधियों को दण्ड दिया गया और 500 ब्राह्मणों को देश निकाला दे दिया गया। शेष को क्षमा कर दिया गया।

कन्नौज की सभा के बाद हर्ष ने प्रयाग में एक मेले का आयोजन किया, जहाँ वह पुरानी प्रथा के अनुसार हर पाँचवें वर्ष सम्पत्तिदान के लिए जाता था। इसे महामोक्ष परिषद् कहते थे। यह हर्ष की छठी महामोक्षपरिषद् थी जिसे देखने के लिए उसने युवानच्वांग को निमंत्रित किया। इसमें लगभग पाँच लाख का जन समूह एकत्रित हुआ था, जिसमें श्रमण ब्राह्मण आदि विविध सम्प्रदायों के अनुयायी तथा दरिद्र-अनाथ लोग उपस्थित हुए थे। यह समारोह 75 दिनों तक चला। समारोह का प्रारम्भ एक जुलूस से हुआ और पहले तीन दिनों तक क्रमशः बुद्ध, सूर्य और शिव की पूजा की गई। समारोह का अन्त चालीस दिनों तक अनवरत चलने वाले दान से हुआ; जिसमें बौद्धों, ब्राह्मणों एवं अन्य सम्प्रदायों से भिक्षुओं को तथा दीन-दुःखियों को मुक्तहस्त से दान दिया गया। इस दान यज्ञ में हर्ष ने अपना सम्पूर्ण कोष समाप्त कर डाला और अपने व्यक्तिगत रत्न और वस्तुओं को भी दान कर दिया। उसने अपनी व्यक्तिगत दानशीलता को इस सीमा तक पहुँचा दिया कि अन्त में उसे पहनने के लिए अपनी बहिन से कपड़ा लेना पड़ा।

(च) नालन्दा विश्वविद्यालय— नालन्दा उस समय का प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। युवानच्वांग ने यहाँ छः वर्ष तक रह कर अध्ययन किया था। इस समय इस महाविहार के अध्यक्ष शीलभद्र थे, जिनके चरणों में बैठकर उसने योग का अभ्यास सीखा। नालन्दा के विषय में युवानच्वांग ने लिखा है कि भारत में वैसे तो हजारों शिक्षण-संस्थाएँ थी किन्तु कोई भी अन्य संस्था नालन्दा के समान भव्य न थी। उसके अनुसार नालन्दा में 8500 विद्यार्थी थे और 1510 शिक्षक थे। शिक्षकों की इस बड़ी संख्या से स्पष्ट है कि शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क बहुत अधिक था। नालन्दा में पढ़ने के इच्छुक लोगों को कड़ी परीक्षा देनी होती थी, जिसके परिणामस्वरूप 100 में से केवल 20 विद्यार्थी प्रवेश पाते थे। यह स्नातकोत्तर विद्यालय था। यहाँ भारतीयों के अतिरिक्त कोरिया, मंगोलिया, चीन, जापान, तिब्बत, लंका आदि अन्य देशों से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। युवान च्वांग को यहाँ 26 विदेशी विद्यार्थी मिले। इनमें से कुछ विद्यार्थियों ने अपने नाम बदलकर भारतीय नाम रख लिए थे।

नालन्दा में, युवान च्वांग के अनुसार, प्रतिदिन 100 आसनों से शिक्षा दी जाती थी। बौद्ध साहित्य की विभिन्न शाखाओं के साथ-साथ यहाँ वेद, सांख्य, योग, न्याय आदि दर्शन भी पढ़ाये जाते थे। तर्कशास्त्र तथा आयुर्वेद भी शिक्षा के विषय थे। यहाँ धर्म-ग्रन्थों के अलावा विज्ञान, शिल्प और उद्योग की शिक्षा भी दी जाती थी। यहाँ के विद्वानों में शीलभद्र, नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबन्धु और दिङ्नांग जैसे आचार्य थे।

युवान च्वांग के समय में यहाँ 8 विहार थे। विहारों के गगनचुम्बी भवन थे। पुस्तकालय का भवन नौ मंजिलों का था। शिक्षा के इस केन्द्र को राजाओं की कई पीढ़ियों ने मुक्तहस्त से दान दिया था। विश्वविद्यालय के शिक्षकों और विद्यार्थियों की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 100 गाँवों की आय नियत थी। इस स्थायी आय के अतिरिक्त विभिन्न राजवंश और धनी लोग इसे आर्थिक सहायता दिया करते थे। पढ़ाई के लिए विद्यार्थियों से कोई फीस नहीं ली जाती थी। चीनी यात्री ने लिखा है, "इन्हीं कारणों से वहाँ विद्यार्थियों को इतना अधिक मिल जाता है कि इन्हें चारों आवश्यकताओं– कपड़ा, खाना, बिस्तर और दवा के लिए किसी से कुछ कहने की आवश्कयता नहीं रहती। यह उनकी शिक्षा की पूर्णता का रहस्य है।" इस विवरण से स्पष्ट होता है कि समाज में लोग कितने विद्या-प्रेमी थे और शिक्षा का कितना ध्यान रखा जाता था।

कुछ विद्वानों का विचार है कि हर्ष उत्तर भारत का अन्तिम महान् सम्राट था। पन्निकर ने लिखा है, "यह हर्ष का गौरव था कि वह चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारम्भ होने वाली उन हिन्दू शासकों की लम्बी पंक्ति का अन्तिम शासक था, जिनके समय में संसार ने भारत को एक प्राचीन तथा महान् सभ्यता ही नहीं अपितु मानवता की उन्नति के लिए कार्यशील एवं सुव्यवस्थित और शक्तिशाली राज्य के रूप में देखा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शासक, कवि और धार्मिक उत्साही के रूप में हर्ष का भारतीय इतिहास में सदैव उच्च स्थान रहेगा।"

16

दक्षिण भारत

भौगोलिक परिभाषा

अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीयों ने अपने पूरे देश को ही एक क्षेत्रीय इकाई के रूप में समझा था। विष्णु पुराण में एक श्लोक में कहा गया है कि वह भू-प्रदेश जो उत्तर में हिमालय और दक्षिण में महासमुद्र के बीच में स्थित है, वह भारत है तथा इसमें निवास करने वाले सभी भारत की सन्तति हैं। इस प्रकार भारतीय दृष्टि के अनुसार, भारत का दक्षिण भारत और उत्तरी भारत में विभाजन केवल आन्तरिक विभाजन है। वैसे भी भारतीय इतिहास के किसी भी काल में दक्षिण भारत उत्तरी भारत से सर्वथा विलग नहीं रहा और दोनों ही प्रदेशों में सांस्कृतिक सम्पर्क सदैव बना रहा। दक्षिण भारत और उत्तर भारत का विभाजन केवल अध्ययन की सुविधा के लिए समीचीन कहा जा सकता है।

परम्परागत रूप में प्राचीन भारतीय साहित्य में विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में स्थित प्रदेश 'दक्षिणापथ' नाम से अभिहित हुआ है। भारत के उत्तरी भाग को 'उत्तरपथ' नाम से जाना जाता था। विन्ध्य और सतपुड़ा की पर्वत श्रेणियाँ तथा नर्मदा और ताप्ती नदियाँ दक्षिणी प्रदेश को उत्तर के मैदानी भाग से अलग करती हैं। सुदूर दक्षिण में समुद्र की ओर बढ़ते हुए यह भाग क्रमशः संकुचित होता चलता है। इसके पश्चिम में अरब सागर और पूर्व में बंगाल की खाड़ी का जल इसके पश्चिमी और पूर्वी किनारों को स्पर्श करता रहता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य तथा विदेशी विवरणों दोनों से ही दक्षिणी भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से एक समृद्ध संस्कृति का अस्तित्व प्रमाणित होता है। प्राचीनकाल से ही यह अपनी व्यापारिक गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध था, तथा यूनानी और मिश्री लेखकों ने कावेरीपत्तनम् तथा अन्य समुद्री बन्दरगाहों का प्रशंसात्मक शब्दों में उल्लेख किया है।

आर्य-द्रविड़ संघर्ष की निराधार और भ्रामक धारणा

प्रारम्भ में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि भारत के मूल निवासी द्रविड़ थे और आर्य यहाँ आक्रमणकारियों के रूप में आये। धीरे-धीरे इन आक्रमणकारी आर्यों ने द्रविड़ लोगों को पराभूत किया और अपनी संस्कृति देश के विविध भागों में फैलाई। द्रविड़ लोग दक्षिण में भाग गये और बाद में भी आर्य-द्रविड़ संस्कृति का संघर्ष किसी-न-किसी रूप में चलता रहा। आर्य-द्रविड़ संघर्ष का यह मिथक इतना प्रचलित हुआ कि प्रायः इसे एक तथ्य के रूप में मान लिया जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि स्वयं भारतीय साहित्य में कहीं भी आर्य-द्रविड़ संघर्ष का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि ऋग्वेद में उल्लिखित 'दासों' और 'दस्युओं' को यहाँ के उन मूल निवासियों का निरूपक माना जाता है जिन्हें कि आर्यों ने पराजित किया,

पण्डित क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवं प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय प्रभृति विद्वानों ने इस मत का सबल खण्डन किया है। उन्होंने इन्हें भूत-प्रेतों, राक्षसों आदि आसुरी शक्तियों का द्योतक माना है। कुछ विद्वानों ने इन्हें असभ्य और असंस्कृत आर्यों से ही समीकृत किया है। स्वयं ऋग्वेद में जातीय आधार पर आर्य और आर्येतर लोगों के बीच हुए संघर्ष का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वास्तव में प्रजाति, भाषा और संस्कृति को गड्ड-मड्ड रूप में समझने से इस प्रकार की गलती हो जाती है जबकि तीनों अलग-अलग वस्तुएं हैं। 'आर्य' शब्द भाषावाची शब्द है जिसे प्रजाति के अर्थ में लेना उपयुक्त नहीं है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में बहुत पहले ही आर्य शब्द का अर्थ 'शिष्ट' अथवा 'सभ्यजन' हो गया था। भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि ने प्रजातीय गुण को कभी महत्त्व नहीं दिया। यह इस बात से स्पष्ट है कि पवित्र वेदों के संकलन का श्रेय कृष्ण द्वैपायन नामक ऋषि को दिया जाता है जिसमें निश्चित रूप आर्येतर रक्त विद्यमान था। इसी प्रकार कृष्ण, जो अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतीयों के एक विशिष्टतम देवता रहे हैं, प्रजातीय दृष्टि से उन्हें आर्य नहीं माना जा सकता। स्वयं दक्षिण के तमिल साहित्य में किसी आर्य-द्रविड़ विरोध की कोई चर्चा नहीं मिलती। यह माना जाता है कि दक्षिण में आर्य संस्कृति का प्रसार अगस्त्य ऋषि ने किया। किन्तु स्वयं तमिल साहित्य में लिखा है कि उन्होंने 'अगत्तियम्' नामक तमिल व्याकरण का नाम लिखा और तमिल नृत्य का संगम संगठित किया। वास्तव में तमिलों द्वारा अकस्त्य और उनके साथियों का कोई विरोध नहीं हुआ। वास्तव में दो सांस्कृतिक धाराओं के मिलन से एक समंजसित संस्कृति का जन्म हुआ जिसमें आर्य आर्य-द्रविड़ हो गये और उन्होंने द्रविड़ों को द्रविड़-आर्य बना लिया। वास्तव में अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में सर्वत्र यही हुआ जिसमें विभिन्न क्षेत्रीय सांस्कृतिक धाराओं को एक धारा में समाहित करने की चेष्टा की गई। प्राचीनतम तमिल साहित्य संगम साहित्य में भी कहीं किसी प्रकार के संघर्ष की रंचमात्र ध्वनि तक नहीं सुनाई पड़ती। इसके विपरीत इसमें इन पृथक सांस्कृतिक धाराओं के बीच सतत् चल रही समन्वय की प्रक्रिया ही सर्वत्र झलकती हुई मिलती है। स्वयं संगमयुगीन संस्कृति के विविध तत्वों और पक्षों में आर्य-द्रविड़ का भेद करना कठिन है।

भारतीय इतिहास का यह समंजसित रूप सैंधव काल से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। अब यह एक निर्विवाद तथ्य के रूप में जाना जाता है कि सैन्धव सभ्यता का निर्माण किसी एक जाति द्वारा नहीं हुआ अपितु इसमें कम-से-कम चार जातियों का योगदान था। सैन्धव सभ्यता की प्राप्ति से इस भ्रामक धारणा का भी निराकरण हो गया है कि भारतीय संस्कृति के सभी उत्तम तत्व वैदिक आर्य संस्कृति के तत्व हैं। विद्वानों का निष्कर्ष है कि कई रूपों में सैन्धव सभ्यता आर्य सभ्यता की अपेक्षा कहीं विकसित थी और भारतीय सभ्यता में पाये जाने वाले विविध तत्व वस्तुतः मूलरूपेण सैन्धव सभ्यता से निर्गमित हुए हैं। वास्तव में शीघ्र ही सैन्धव सभ्यता और वैदिक सभ्यता के विविध तत्वों के पारस्परिक सम्मिश्रण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई उसने सभी बाहरी भेदों को मिटा दिया और एक नई समन्वित सभ्यता को जन्म दिया। शिव और शक्ति की पूजा और योग तथा उपासना के तत्व जो मूलतः वैदिक नहीं थे वे इस समन्वित सभ्यता के अविभाजनीय अंग बन गये। समन्वय का यह विचार बाद में भी निरन्तर प्रभावी रहा, जिसके प्रभाव में सभी भारतीय केवल हिन्दू (अथवा बौद्ध या जैन) बनकर रह गये; आर्य अथवा द्रविड़ का

भेद उसमें कभी नहीं रहा।*

ऐतिहासिक काल में दक्षिण का प्रारम्भिक इतिहास

दक्षिण भारत का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के अभिलेखों में तथा कलिंगखारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में होता है। जहाँ तक दक्षिण भारत के साथ वास्तविक राजनीतिक सम्पर्क का प्रश्न है, यह माना जाता है कि मौर्यों के पहले नन्द शासकों का भी दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार था। जैन परम्परा स्पष्ट रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य को दक्षिण भारत से सम्बद्ध करती है जिसके अनुसार उसकी मृत्यु श्रवणबेलगोला नामक स्थान पर एक जैन मुनि के रूप में हुई। इसी प्रकार बिन्दुसार को भी दक्षिण भारतीय प्रदेशों पर विजय करते हुए बताया गया है। तमिल कवि मामुलनार का कहना है कि चाणक्य की सलाह पर बिन्दुसार ने कई विजयें की और उसके साम्राज्य की सीमा एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक फैली हुई थी। बिन्दुसार के बाद अशोक मौर्य शासक हुआ। उसके अभिलेख कर्नाटक प्रदेश तक पाये गए हैं। उत्तरी मैसूर में स्थित चित्रदुर्ग जिले से जटिंग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि एवं सिद्धपुर शिलालेखों की प्राप्ति के आधार पर हुल्श ने यह विचार रखा है कि सुवर्णगिरि अशोक की प्रान्तीय राजधानी थी और वहाँ उसका एक प्रतिनिधि शासक रहता था। अशोक के अभिलेखिक साक्ष्य से (तेरहवाँ शिलालेख) यह भी ज्ञात होता है कि दक्षिण में उसकी राज्य सीमा के और आगे चोलों, पाण्ड्यों, केरलपुत्रों तथा सतियपुत्रों का अस्तित्व था और वे सभी स्वतन्त्र राज्य थे। सतियपुत्रों का मूल स्थान कोंगु देश माना जाता है जो मोटे तौर पर आज के सलेम और कोयम्बटूर जिले हैं। लेख में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये राज्य अशोक के साम्राज्य के बाहर थे और इनके साथ उसका मैत्रीपूर्ण संबंध था।

मौर्यों के पश्चात् दक्षिण में सातवाहन राजकुल का इतिहास अपेक्षाकृत क्रमबद्ध और सुविज्ञात रूप में मिलता है। साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त सातवाहन शासकों के अपने लेख और मुद्रायें भी मिलती हैं जिनसे उनके विषय में हमें विस्तृत जानकारी मिलती है। इस राजकुल ने पर्याप्त दीर्घकाल तक शासन किया, जिसके विषय में हम एक अलग अध्याय में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं।

संगम युग

सुदूर दक्षिण के प्रदेशों का प्रारम्भिक इतिहास हमें बहुत अधिक स्पष्ट रूप में उपलब्ध नहीं है। अशोक के शिलालेखों में इस प्रदेश के कुछ राज्यों का उल्लेख मिलता है। इसके बाद खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में तमिल राज्यों के संघ का उल्लेख हुआ है जिसे खारवेल ने अपने शासन काल के 11वें वर्ष में नष्ट किया। लेख में यह भी कहा गया है कि खारवेल को पाण्ड्य देश से सैकड़ों की संख्या में मोती, रत्न, मणिक, घोड़े, हाथी आदि प्राप्त हुए। खारवेल के अभिलेख से प्राप्त जानकारी भी बहुत अधिक स्पष्ट एवं विस्तारपूर्ण नहीं है।

---

* इस दृष्टि के लिए मैं अपने गुरु प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का ऋणी हूँ। उन्होंने अपनी पुस्तक 'द मीनिंग एण्ड प्रोसेस ऑफ कल्चर' (आगरा 1973) के 'इण्डियन सोश्यल ट्रेडीशन' शीर्षक अध्याय में इस दृष्टि का बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया है। अभी हाल में अवकाश नामक पत्रिका में [अगस्त (प्रथम) 1980] आचार्य किशोरीदास वाजपेयी का इसी दृष्टि का एक बड़ा सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है।

संगम-साहित्य और उसका काल

इन प्रदेशों के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि पक्षों का सबसे विस्तारपूर्ण विवरण सर्वप्रथम जिस साहित्य में मिलता है उसे संगम साहित्य के नाम से जाना जाता है। डा. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री ने ईसवी सन् की प्रथम तीन अथवा चार शताब्दियों की अवधि में रचे गए तमिल साहित्य को संगम साहित्य का नाम दिया है। 'संगम' का अर्थ है— 'विद्यालय' या 'अकेडमी' जहाँ भारी संख्या में राजकीय संरक्षण प्राप्त तमिल कवि रहते थे और कविताओं की रचना करते थे। तमिल कवियों का इस प्रकार का एक 'संगम' या 'विद्यालय' मदुरा में था जो बड़े लम्बे समय तक चलता रहा। 750 ई. में लिखे गए एक ग्रन्थ में* तीन संगमों का अस्तित्व बताया गया है, किन्तु इसका सम्पूर्ण विवरण उपाख्यानों में ढका हुआ है और इन संगमों के अस्तित्वकाल तथा इनसे संबंधित कवियों की संख्यायें अविश्वसनीय रूप से बड़ी हैं।

संगम-साहित्य इस प्रकार एक दीर्घकालावधि के बीच में विविध कवियों द्वारा प्रणीत साहित्य का नाम है। डा. नीलकण्ठ शास्त्री ने इसे निम्नलिखित आठ वर्गों में विभाजित किया है— (1) नारैणै, (2) कुरंदोगै, (3) ऐंगुरुनूरु, (4) पदिर्रुपत्तु, (5) परिपादल, (6) कलित्तोगै, (7) अहनानूरु, (8) पुरनानूरु। इनके अतिरिक्त पत्तुप्पाट्टु नामक एक नवां समूह भी है। इस पूरे संग्रह में कुल 2279 कविताएँ हैं इनके रचनाकारों में 102 लेखकों के नाम ज्ञात नहीं हैं; ज्ञात 473 लेखकों में कुछ महिलायें भी हैं। इन कविताओं की लम्बाई 4-5 पंक्तियों से लेकर 800 पंक्तियों तक मिलती है, अर्थात् जहाँ कुछ कवितायें छोटी हैं वहीं कुछ बहुत बड़ी हैं। प्रत्येक कविता के अन्त में दी गई टिप्पणी में कविता के रचयिता का नाम, रचना का अवसर और अन्य विवरण दिए गए हैं। डा. नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है कि इन टिप्पणियों को सम्पादकों ने तैयार किया होगा।** इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि तमिल व्याकरण ग्रन्थ 'तौलकाप्पियम्' भी इसी युग की रचना है।

हम देख चुके हैं कि डा. नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार, संगम साहित्य का युग ईसवी सन् की प्रथम तीन-चार शताब्दियों का है। अपने इस निष्कर्ष के लिए उन्होंने इस तथ्य को आधार बनाया है कि तीसरी शताब्दी ई. पू. में ब्राह्मी लिपि में जो तमिल मिलती है वह अविकसित तमिल है तथा उसमें संस्कृत शब्दों का मिश्रण है। इसके अतिरिक्त संगम साहित्य की तमिल विकसित और प्रौढ़ तमिल है जिसे इस विकसित अवस्था को प्राप्त करने में कुछ शताब्दियाँ लगी होंगी। इस प्रकार संगम साहित्य इन लेखों से निश्चित रूप से बाद का है। इसके साथ ही संगम साहित्य के पदिर्रुपत्तु में प्रशंसित चेर राजा सेनगुट्टुवन की लंका के राजा गजबाहु प्रथम की समसामयिकता से भी संगम साहित्य के तिथि निर्धारण में सहायता मिलती है। इन दोनों राजाओं का समसामयिकता का पता शिलप्पदिकारम् नामक ग्रन्थ से चलता है। गजबाहु प्रथम का समय 173 ई.-195 ई. माना जाता है। अतः यही समय सेनगुट्टुवन का भी था। इस आधार पर भी संगम युग का काल 100 ई. से 150 ई. तक माना जा सकता है। संगम युग के काल के विषय में इस निष्कर्ष का समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि इन कविताओं में यवनों (अर्थात् यूनानियों

---

* इइयनार अगप्पोरुल पर लिखा गया भाष्य।

** द्र. डा. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया (तीसरा संस्करण, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966) पृ. 115-116।

और रोमनों) के साथ तमिल राज्यों के व्यापारिक संबंधों का जो विवरण मिलता है वह स्ट्रैबो, पेरिलिप्स आव द एरीथ्रियन-सी के लेखक तथा टॉलमी आदि के तत्संबंधी विवरणों से भी बड़ा मेल खाता है। इस समानता के आधार पर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इस साहित्य में प्राप्त विवरण इन यूनानी-रोमन लेखकों के युग का ही है। पुरातात्त्विक साक्ष्य से इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में रोमन विश्व के साथ तमिल राज्यों का घनिष्ट व्यापारिक संबंध था। सारे दक्षिण भारत में प्रथम दो सदियों के रोमन सम्राटों के सोने और चाँदी के सिक्के प्रभूत मात्रा में मिले हैं। डा. नीलकण्ठ शास्त्री के इस तिथि निर्धारण को प्रायः अन्य विद्वान् भी प्रमाणिक मानते हैं। आर. सत्यनाथ ऐयर ने भी ईसवी सन् की प्रथम तीन शताब्दियों को तमिलक्कम अथवा तमिल देश के इतिहास का संगम युग माना है।*

संगम साहित्य में उल्लिखित कुछ महत्त्वपूर्ण शासक

इस समय तमिल प्रदेश चेर, चोल तथा पाण्ड्य इन तीन राजवंशों के 'मुकुटधारी राजाओं' के बीच बँटा हुआ था। इनके अलावा कई छोटे-छोटे सामन्तों का अस्तित्व था जो इनमें से किसी एक की अधीनता स्वीकार करते थे और आवश्यकता पड़ने पर अपने स्वामी की ओर से लड़ते थे। इनमें से सात सामन्तों को कला और साहित्य को उदार संरक्षण प्रदान करने के कारण इन कवियों ने विशेष सम्मान दिया और उनका वर्णन 'वल्लाल' या 'संरक्षक' के रूप में दिया गया है।

संगम साहित्य के आधार पर चेर, चोल और पाण्ड्य राजवंशों का क्रमबद्ध इतिहास बना सकना सम्भव नहीं है। केवल इन राजवंशों के कुछ कृत्यों की जानकारी मिलती है। इन कविताओं से ज्ञात होता है कि कालान्तर में ये तीनों राजकुल स्मरणातीत प्राचीनता के माने जाने लगे थे और इन कविताओं में इनके वीरों को बड़े उत्साह के साथ महाभारत युद्ध के साथ जोड़ा गया है।

उदियजीरल (130 ई.) चेर राजकुल का प्रथम राजा था जिसका इन कविताओं में उल्लेख हुआ है। उसके बारे में कहा गया है कि उसने महाभारत युद्ध की दोनों सेनाओं को भरपेट स्वादिष्ट भोजन कराया जिस कारण उसे 'महाभोजन उदियजीरल' की उपाधि प्राप्त हुई। उसका पुत्र नेन्दुजीरल आदन था। उसे कई युद्धों में विजय का श्रेय दिया है। वह 'अधिराज' कहा जाता था और उसे 'इमयवरलबन' (अर्थात् जिसकी राज्य-सीमा हिमालय तक है) की उपाधि मिली थी। इस प्रकार उसे सम्पूर्ण भारत का विजेता कहा गया है। उसकी राजधानी मरन्दई थी। चेर राजकुल के शासकों में सर्वाधिक ज्ञात शेनगुट्टुवन (='न्याय परायण गुट्टुव') (समय 180 ई.) था जो आदन का पुत्र था। परणार नामक कवि ने उसका काफी यशोगान किया है। बाद में उसे केन्द्र बनाकर कई उपाख्यानों की रचना हुई। उसे महान् सेनानायक और कलाकारों का संरक्षक बताया गया है। वह किलों का घेरा डालने में प्रवीण था, 'अधिराज' कहलाता था और 'सात राजमुकुटों' की माला पहनता था। पदिर्रुपत्तु में उदयंजीरल के वंश के पाँच राजाओं का वर्णन दिया है जिसके बारे में कहा गया है कि उन्होंने कुल मिलाकर 201 वर्षों तक राज्य किया। इसी वंश की एक अन्य शाखा में भी कुछ शासकों ने शासन किया।

---

* उपरोक्त विश्लेषण के लिए द्र. नीलकण्ठ शास्त्री, ए हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया पृ. 117-118: अपरंच, एम. एन. वेंकटरमनप्पा, आउटलाइन्स ऑफ साउथ इण्डियन हिस्ट्री (द्वितीय संस्करण, विकास पब्लिशिंग हाउस, 1975). पृ. 30।

चोल राजाओं में सबसे प्रसिद्ध करिकाल (190 ई) हुआ। करिकाल का अर्थ है 'जिसके पाँव झुलसे हुए हों'। लगता है बचपन में वह किसी दुर्घटना का शिकार हो गया था। बाद में उसके नाम की और भी कई व्याख्यायें की गई— जैसे 'करि के लिए मृत्यु' (अर्थात् शत्रु के हाथियों के लिए मृत्यु)। अपने जीवन के प्रारम्भिक भाग में वह बन्दी बना लिया गया था पर बड़े साहस प्रदर्शन के साथ उसने पुनः सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वेन्नी का युद्ध (तंजोर से 15 मील दूर आधुनिक कोविल वेन्नी) उसकी बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक सफलता थी। इसमें उसने 11 शासकों को हराया और समसामयिक चेर तथा पाण्ड्य राजाओं का मान भंग किया। उसने अपना प्रसिद्ध युद्ध वाहइप्परंदलाई के मैदान में लड़ा जहाँ 9 छोटे सामन्तों को अपने राजच्छत्र से हाथ धोना पड़ा। संगम साहित्य के कई कवियों ने और बाद में लेखकों ने भी उसका बड़ा यशोगान किया है।

कांचीपुरम् में करिकाल का समसामयिक शासक तोंडईमान इल्लनडिरैयन था। इस बात का कोई संकेत उपलब्ध नहीं है कि वह करिकाल से संबंधित था अथवा चोल राजकुल की अधीनता स्वीकार करता था। वह स्वयं एक कवि था और उसके चार गीत अब भी प्राप्त हैं। पाण्ड्य राजा नेडुवजेल्लियन ने सम्भवतः 210 ई. में राज्य किया। उसकी एक उपाधि थी, 'वह जिसने तलैयालंगानम का युद्ध जीता'। कई कवियों ने उसका यशोगान किया है। वह जब युवक था तभी सिंहासन पर बैठा। उसे छोटा समझ कर शत्रुओं ने उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया और उसकी सीमा में काफी अन्दर तक घुस आए। किन्तु, वह डरा नहीं और पराक्रम से लड़ा। उसने आक्रमणकारी सेनाओं को सीमा से बाहर चोल देश में खदेड़ दिया और तलैयालगानम में (तंजोर जिला में तिरुवालूर से आठ मील उत्तर-पश्चिम) उन्हें बुरी तरह पराजित किया। इसी युद्ध में चेर राजा बन्दी बनाकर पाण्ड्य कारागार में डाल दिया गया।

इन राजकुलों के राजाओं के अतिरिक्त संगम साहित्य के कवियों ने तत्कालीन विविध सामन्त शासकों के कार्यों का भी उल्लेख किया है।

संगम युगीन राजनीतिक स्थिति

शासन पद्धति राजतन्त्रात्मक थी और राजा का पद उत्तराधिकार क्रम से वंशानुगत था। राजा सभी अर्थों में निरंकुश था। किन्तु, उसके ऊपर जनता से चुने हुए प्रतिनिधियों से निर्मित पाँच समितियों का नियन्त्रण रहता था। ये प्रतिनिधि जनता के हितों की रक्षा के लिये राजा को प्रेरित करते रहते थे। ये समितियाँ पाण्ड्य, चेर और चोल तीनों ही राज्यों में विद्यमान थीं। ये एक-दूसरे से स्वतंत्र होती थीं और स्वायत्त थीं।*

उस समय के साहित्य से यह परिलक्षित होता है कि जनता अपने शासक से सन्तुष्ट थी और उनके प्रति स्वामिभक्त होती थी। जनता राजा को अपना आदर्श मानती थी। इससे राजा का भी कर्त्तव्य हो जाता था कि वह अपने व्यक्तिगत आचरण और जीवन में अपनी प्रजा के समक्ष ऊँचा आदर्श प्रस्तुत करे। राजा रोज दरबार लगाता था, जिसमें वह अपनी प्रजा की शिकायतों को सुनता था और न्याय करता था। राजा के लिये 'विजिगीषु' (विजय प्राप्त करने वाला) का आदर्श रखा जाता था और सामान्य रूप से सभी राजा इसी आदर्श पर चलने का प्रयत्न करते थे। पूरनानूरू की एक कविता में 'चक्रवर्ती' राजा के आदर्श की चर्चा हुई है। सात राजाओं पर विजय प्राप्त करना एक विशेष सम्मानजनक स्थिति का द्योतक माना जाता था। ऐसा विजयी राजा पराजित राजाओं

---

* एम. एन. वेंकट रमनप्पा, पूर्वोद्धृत पृ 31-32।

के राजमुकुटों की माला पहनकर उत्सव मनाया करता था।

राजा स्वयं युद्ध का संचालन करता था। युद्ध के बीच यदि राजा मारा जाता अथवा घायल हो जाता, तो पराजय स्वीकार कर ली जाती थी। विजयी राजा पराजित राजा को अपमानित करता था। पराजित राजा के मुकुट के स्वर्ण से विजयी राजा अपने पादांगद बनवाता था और पराजित राजा को जबरदस्ती स्त्री के नूपुर और वस्त्र पहनाये जाते थे। विजित देश को प्रायः बड़ी क्रूरता से नष्ट-भ्रष्ट किया जाता था, जिसमें अनाज के खेत भी न छूटते थे।

संगम युग में राजा बड़ी शान-शौकत से रहता था। वह सिर पर मुकुट धारण करता था और जब वह सिंहासन पर बैठता अथवा बाहर निकलता, तो एक व्यक्ति सदैव उसके सिर पर मोतियों की मालाओं से सुसज्जित छत्र धारण किये रहता था। राजमहल के पास प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सूर्यास्त के समय ढोल बजाने का विधान था। पुरोहित, प्रमुख ज्योतिषी, वैद्य, सेनापति तथा विविध मन्त्री राजा के पास रहने वाले प्रमुख अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त अन्य विविध अधिकारियों की भी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। न्याय कार्यों की देख-भाल के लिए न्यायाधीश होते थे किन्तु फौजदारी मामलों में राजा ही अन्तिम निर्णायक होता था। दण्ड व्यवस्था बड़ी कठोर थी। यदि कोई व्यक्ति चोरी करते हुए रंगे हाथों पकड़ा जाता था तो उसका सिर काट लिया जाता था। व्यभिचारी व्यक्ति के लिए भी मृत्यु-दण्ड का विधान था। व्यभिचार के उद्देश्य से किसी अन्य व्यक्ति के घर में प्रवेश करते हुए पकड़े जाने पर उस व्यक्ति के पैर काट लिये जाते थे।

राजा विशिष्ट अवसरों पर राजकीय दावतों का आयोजन किया करता था। संगम साहित्य की कुछ कविताओं में इनका बड़ा रोचक वर्णन मिलता है। एक कवि अपने संरक्षक से कहता है, "मैं यहाँ आया कि हम लोग उबाले जाने के बाद ठण्डे हुए स्वादिष्ट और जलाहिन द्वारा साफ की गई रूई की भाँति मुलायम माँस खण्डों को साथ-साथ खा सकें और बड़े बर्तनों से ताड़ी पी सकें।" एक अन्य कवि राजा करिकाल के दरबार में आभूषणों से सुसज्जित महिलाओं द्वारा स्वर्ण-पात्रों में उड़ेली जाने वाली मदिरा का वर्णन करता है। इन दावतों में परोसे जाने वाले विविध व्यंजनों का उल्लेख मिलता है— यथा, समूचे पकाए गये पशुओं के पास, इसी उद्देश्य से विशेष रूप से पाले गये सूअर का माँस, दूध से तर 'आप्पम्' (हलवा) तथा कछुओं और विशेष प्रकार की मछलियों का माँस। विविध प्रकार की मदिराएँ, ताड़ का रस, नारियल का दूध आदि पेय पदार्थ थे जो इन दावतों में लोग पीते थे।*

हर राजा पेशेवर सैनिकों की एक सेना रखता था। बैलों द्वारा खींचे जाने वाले रथ, हाथीसवार, अश्वारोही और पैदल सेना परम्परागत चार अंग थे। अस्त्र-शस्त्रों में तलवार, तीर-धनुष, कवच, माला, ढाल आदि के उल्लेख मिलते हैं। युद्ध क्षेत्र में ढोल और शंख बजाए जाते थे। सैन्य-शिविर में सभी बातों का व्यापक प्रबंध होता था। यह विश्वास किया जाता था कि युद्ध में मृत्यु प्राप्त करने वाला व्यक्ति सीधा स्वर्ग जाता है। ऐसे योद्धाओं की स्मारक-मूर्तियाँ बना कर पूजा करने की भी प्रथा थी।

राजस्व व्यवस्था

भूमि और व्यापार से प्राप्त कर राज्य की आय के मुख्य साधन थे। यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि उपज में राजा का कितना हिस्सा होता था; संभवतः यह उपज

---

* द्र. के. ए नीलकण्ठ शास्त्री, **पूर्वोद्धृत**, पृ. 135।

का 1/6 भाग होता था। कृषकों से राज्य द्वारा सिंचाई की व्यवस्था होने पर सिंचाई कार भी लिया जाता था। सीमाओं पर चुंगी वसूलने की व्यवस्था थी और सड़कों पर चोरी से माल आने-जाने को रोकने के लिये सिपाहियों के पहरे की व्यवस्था की जाती थी। युद्ध में शत्रु पक्ष से जीती गई सम्पत्ति राज्य की आय का एक अन्य साधन था।

संगम युग का समाज एवं संस्कृति

संगम युग में तमिल और आर्य संस्कृतियों का पूर्ण सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। तमिल कवि रामायण और महाभारत की कथाओं से भली-भाँति परिचित थे। साथ ही वैदिक-ब्राह्मण संस्कृति के विविध उपाख्यानों एवं संस्कृत साहित्य में वर्णित विविध प्रतीकों का भी उन्हें ज्ञान था।

संगम युगीन समाज वैदिक वर्ण व्यवस्था अथवा जाति अवस्था के आधार पर संगठित न था। कहीं भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जैसी जातियों का उल्लेख नहीं मिलता। तमिल समाज में परिवार अथवा ऋषियों को सबसे अधिक सम्मान का स्थान प्राप्त था। उनके बाद उल्वार अथवा कृषक आते थे। अभिजात वर्ग के भूस्वामियों को वेल्लार कहा जाता था। अगला सामाजिक वर्ग आयार तथा वेट्टुवार लोगों का था। ये शिकारियों एवं पशुपालकों के वर्ग थे। इसके बाद क्रमशः विविध शिल्पियों तथा शस्त्र धारण करने वाले योद्धाओं के वर्ग आते थे। समाज का निम्नतम वर्ग वलयार तथा उलयार लोगों का था। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इस समय तमिलों का अपना विशिष्ट सामाजिक वर्गीकरण था।

तोलकाप्पियम में विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्रों में भी विवाह के आठ प्रकार बताए गए हैं। डा. नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है कि तोलकाप्पियम में वर्णित विवाह का अनुष्ठानात्मक स्वरूप आर्य एवं तमिल संस्कृति के सम्मिश्रण का परिणाम था।

इस काल में विधवाओं की स्थिति दयनीय थी। पति के मरने पर उन्हें अपने बाल कटवा लेने पड़ते थे तथा आभूषणों का त्याग करना पड़ता था। उनका भोजन बड़ा सादा होता था, जिसमें वे हरी सब्जियों का सर्वथा त्याग करती थीं। कुछ स्त्रियाँ अपने पति के साथ ही सती हो जाना श्रेयष्कर मानती थीं।

इस समय मांसाहार का प्रचलन था और लोग विविध प्रकार के मांस के व्यंजन बनाना जानते थे। समूचे पकाये गए जानवरों का माँस, सूअर का माँस, कछुओं और विशेष प्रकार की मछलियों का माँस दावतों में परोसे जाते थे। आपम् या हलवा एक अन्य खाद्य-पदार्थ था। लोग मदिरा-पान करते थे। मुन्नीर नामक एक अन्य पेय-पदार्थ को नारियल के दूध, ताड़ के रस और गन्ने के रस के सम्मिश्रण से तैयार किया जाता था। लोग ताड़ी भी पीते थे जिसे कभी-कभी बाँस के पीपों में बन्द कर और जमीन में गाड़कर और इस प्रकार विधिवत पकाकर पीया जाता था। संगम युग में ही चूने और सुपारी के साथ पान खाने का भी प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

कविता, संगीत और नृत्य इस युग का एक सुसंस्कृत मनोरंजन था। पुरुष और महिलायें दोनों ही कविताओं की रचना करते थे। गायकों और नर्तकियों के घुमक्कड़ दल भी हुआ करते थे, जो इधर-उधर उदार संरक्षकों की खोज में घूमा करते थे। इस समय विविध संगीत यन्त्रों का उल्लेख मिलता है, जिसमें कई प्रकार के याल्ल (वीणा की तरह का एक तारों वाला यन्त्र) और ढोल सम्मिलित थे। करिकाल को 'संगीत के सात स्वरों का ज्ञाता' कहा गया है। बाँसुरी का भी वर्णन मिलता है। स्त्रियों व पुरुषों का

सम्मिलित नृत्य भी प्रचलित था। आखेट और मल्लयुद्ध मनोरंजन के अन्य साधन थे। वूढ़े लोग पांसे के खेल से अपना मन बहलाते थे। नर्तकियाँ युवकों के मनोरंजन की प्रमुख साधन थीं और वे विविध ललित कलाओं में प्रवीण होती थीं।

आर्थिक जीवन

इस समय तमिल राज्यों में व्यापारिक उत्कर्ष का राज्य था। संगम साहित्य में तत्कालीन व्यापारिक गतिविधियों का व्यापक चित्रण मिलता है। बन्दरगाहों पर मस्तूलों पर झण्डे लगे हुए जहाज इकट्ठा होते थे। मुशिरी (क्रंगनोर) इस युग का एक प्रसिद्ध वन्दरगाह था, जहाँ यवन लोग जहाजों में सोना लेकर पहुँचते थे और गोल मिर्च और अन्य दुर्लभ वस्तुओं को लेकर वापस लौटते थे। कविताओं में पाण्ड्य देश के शालियूर और चेर देश के बंदर नगर को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह बताया गया है। कविताओं के इन विवरणों का यूनानी-रोमन लेखकों और पुरातात्विक साक्ष्यों से समर्थन होता है। पेरिप्लस के लेखक 75 ई. ने भारत और रोमन साम्राज्य के बीच होने वाले व्यापक व्यापार का विवरण दिया है और भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं के नाम गिनाए हैं। तमिल प्रदेशों से प्राप्त रोमन सम्राटों के सिक्के साहित्यक विवरणों की पुष्टि करते हैं। इस व्यापारिक सम्पर्क के परिणामस्वरूप तथा सक्रिय वाणिज्य के कारण इन भारतीय बन्दरगाहों पर विदेशी व्यापारियों की भीड़ रहा करती होगी। आन्तरिक व्यापार भी काफी सक्रिय और समृद्ध था।

कृषि आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार थी। महिलाएँ भी कृषि कार्य में हाथ बँटाती थीं। धनवान भू-स्वा मी सेवकों से कार्य कराते थे। सूती और रेशमी वस्त्रों का उद्योग काफी विकास कर चुका था। कविताओं में सूती कपड़ों के बारे में कहा गया है कि वे साँप के केंचुल या भाप के बादल की तरह महीन होते थे और उनकी कताई इतनी अच्छी होती थी कि धागे आँखों से दिखाई नहीं पड़ते थे।

संगम युगीन धर्म

संगम युग के धर्म पर वैदिक-ब्राह्मण धर्म का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। मुरुगन या सुब्रमण्य एक प्रमुख देवता था और तमिल कविताओं में उसके संबंध में विविध उपाख्यानों की चर्चा मिलती है। शिव के भी कई रूपों का ज्ञान था। कालांतर में हिन्दू धर्म के अन्य देवताओं ब्रह्मा, विष्णु और कृष्ण की भी पूजा की जाने लगी। वैदिक प्रभाव में यज्ञ आदि भी किए जाते थे। इस युग में कर्म का सिद्धांत भी स्वीकृत था और सम्भवतः तमिल राज्यों में आर्यीकरण की प्रवृत्ति के प्रारम्भ के पूर्व ही ये धर्म यहाँ आ चुके थे। मणिमेकलाई और शिलप्पदिकारम् में ऐसे कई उद्धरण मिलते हैं जो इस ओर संकेत करते हैं। किन्तु इस युग में वैदिक धर्म का विशेष प्रभाव था। साथ ही वैदिक धर्म तथा दक्षिण भारत में पहले से ही विद्यमान धर्म का पारस्परिक सम्मिश्रण काफी हो चुका था और इस युग में उन्हें सर्वथा अलग-अलग करके पहचानना संभव नहीं है।

इस समय मृतकों के अन्तिम संस्कार की कोई एक पद्धति न थी। मृतक को जलाया भी जाता था पर कभी-कभी दफनाया भी जाता था।

दक्षिणी भारत के प्रमुख राजवंश

दक्षिण भारत में हम सातवाहन राजवंश तक का इतिहास पहले देख चुके है। सातवाहनों के विनाश के बाद कई राजकुलों ने समय-समय पर दक्षिण भारत के विभिन्न भागों पर शासन किया। नीचे हम इनमें प्रमुख राजवंशों की चर्चा करेंगे।

तलकाड के गंग

गंग राजकुल का कर्नाटक (मैसूर) के इतिहास में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक कर्नाटक प्रदेश का अधिकांश भाग इनके अधीन था जिसे इनके द्वारा शासित होने के कारण गंगवाड़ी कहते थे। इनका मूल और उद्भव-काल स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वान् इनका उद्भव चतुर्थ शताब्दी ई. में मानते हैं जबकि कुछ अन्य लोगों की मान्यता है कि इनका शासनकाल द्वितीय शताब्दी ई. में भी प्रारम्भ हुआ होगा।* इनकी प्रारम्भिक राजधानी कुवललपुर अथवा आधुनिक कोलार थी। किन्तु बाद में उन्होंने अपनी राजधारी को मैसूर दक्षिण-पूर्व में कावेरी के तट पर स्थित तलवनपुर (तलकाड) में स्थानान्तरित कर लिया। गंगों के भारी संख्या में लेख प्राप्त हुए हैं।

नागर और शिमोग से प्राप्त दो लेखों में ददिग और माधव नामक दो भाइयों को इस वंश का संस्थापक बताया गया है। प्रारम्भिक गंग शासकों में सबसे महत्त्वपूर्ण शासक दुर्विनीत हुआ। एम. वी. कृष्णराव ने** इसके शासनकाल को 582-622 ई. के बीच में रखा है। उसके सात दान लेख मिले हैं। उसने पल्लवों – जो सिंहासन की स्पर्धा में उनके सौतेले भाई का साथ दे रहे थे – के विरुद्ध सफलतापूर्वक युद्ध किया और युद्ध में पल्लव शासक बन्दी बना। उसने कई युद्धों में विजय प्राप्त की, जिससे गंग राजकुल की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। विजेता होने के साथ-साथ दुर्विनीत विद्वान् था। उसने भारवि विरचित किरातार्जुनीयम् नामक संस्कृत काव्य के 15वें सर्ग पर एक टीका लिखी। उसे पैशाची वृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तरण का भी श्रेय दिया जाता है। उसे शब्दावतार नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी लेखक माना जाता है। यदि अवन्ति सुन्दरी कथा के प्रमाण को स्वीकार किया जाय तो भारवि कुछ दिनों तक दुर्विनीत के दरबार में रहे थे। श्रीपुरुष (726-789 ई.) इस राजवंश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण शासक था। उसके समय के भी कई लेख मिलते हैं। उसने विलान्दे में पल्लवों को बुरी तरह पराजित किया। उसने उस समय उभर रहे राष्ट्रकूटों की शक्ति को भी रोका। उसके समय में गंग राज्य को 'श्रीराज्य' अथवा समृद्ध राज्य कहा जाने लगा। वह हाथियों से लड़े जाने वाले युद्ध का विशारद माना जाता था और उसे इस विषय पर गजशास्त्र नामक एक ग्रन्थ का रचयिता माना जाता है।

उसके बाद 8वीं और 9वीं शताब्दियों में गंग राजवंश निरन्तर वेंगी के चालुक्यों, मालखेड़ के राष्ट्रकूटों और अन्य पड़ोसी शक्तियों द्वारा आक्रान्त रहा। राष्ट्रकूट शासक ध्रुव ने तो गंग शासक शिवमार द्वितीय (788 ई.) को बन्दी बना कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। उसके बाद गंगवाड़ी पर राष्ट्रकूट शासन बना रहा। कुछ परवर्ती शासकों ने गंग शक्ति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। 1004 में तलकाड चोलों के अधिकार में आ गया और गंग शासन का अन्त हो गया यद्यपि इसके बाद भी इस राजकुल की कुछ अन्य शाखाओं के अन्तर्गत गंग होयसलों और चोलों के सामन्त शासकों के रूप में बने रहे।

वनवासी के कदम्ब

वनवासी अत्यन्त प्राचीन काल से ही एक प्रसिद्ध स्थान जान पड़ता है। टॉलमी

---

* द्र. रमाशंकर त्रिपाठी, पूर्वोद्धृत पृ. 308 एवं वाकाटक-गुप्त युग पृ. 6 – चतुर्थ शताब्दी ई., एम. एन. वेंकटरमनय्या, पूर्वोद्धृत पृ. 36 ने इनका उद्भव द्वितीय शताब्दी ई. माना है।

** गंगज ऑफ तलकाड (मद्रास 1936)।

(द्वितीय शताब्दी ई. पू.) ने अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया है। सिंहली ग्रन्थ महावंश में अशोक द्वारा वनवास अथवा वैजयन्ती में बौद्ध-भिक्षुओं के भेजे जाने का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः युवान च्वांग के समय तक इस स्थान की प्रसिद्धि बनी रही। उसने इसे कोंकणपुर कहा है। कदम्ब लोग सातवाहन शक्ति के पतन के पश्चात् मैसूर के उत्तर में प्रभुत्व में आए। उन्होंने वैजयन्तीपुर को इसकी प्राचीन प्रसिद्धि के कारण अपनी राजधानी बनाया।

कदम्ब इतिहास का उद्‌भव भी विविध अनुश्रुतियों के कारण रहस्यमय है, किन्तु कदम्ब लेखों से कुछ यथार्थवादी चित्र उभरता है। तालकुण्ड अभिलेख में इस राजवंश के उद्‌भव का ऐतिहासिक वृत्त मिलता है। इसके अनुसार इस वंश का मयूरशर्मा नामक एक ब्राह्मण अपने गुरु वीरशर्मा के साथ पढ़ने के लिए पल्लव राजधानी काँचीपुरम् गया। वहाँ उसका पल्लव घुड़सवार रक्षकों के साथ झगड़ा हो गया और इस झगड़े में उसने अपने को अपमानित महसूस किया। उसने निश्चय किया कि वह शस्त्र धारण कर क्षत्रिय बनेगा और इस अपमान का बदला लेगा। वह श्री पर्वत (कर्नुल जिला) के घने जंगलों में भाग आया जहाँ उसने शक्ति संचय कर आस-पास के शासकों से कर वसूलना चालू कर दिया। इस पर पल्लवों ने सेना ले उस पर आक्रमण किया किन्तु मयूर शर्मा ने उसकी सेना को नष्ट कर दिया। पल्लव शासकों ने उससे मित्रता कर ली और उसे अमर समुद्र से लेकर प्रेमार प्रदेश तक के भू-क्षेत्र तक का आधिपत्य सौंप दिया। तालकुण्ड अभिलेख स्पष्ट रूप से उन्हें मानव्य गोत्र का ब्राह्मण बताता है। मयूरशर्मा का समय चतुर्थ शताब्दी ई. का मध्य रहा होगा।

इस वंश में एक महत्त्वपूर्ण शासक काकुस्थ वर्मा हुआ। तालकुण्ड अभिलेख में उसकी बड़ी प्रशंसा की गई है और उसके शासन काल में देश को सर्वाधिक समृद्ध तथा वैभवयुक्त बताया गया है। लेख में यह भी कहा गया है कि उसने गुप्त तथा उन जैसे अनेक राजवंशों में अपनी कन्याओं का विवाह किया। काकुस्थवर्मा ने तालकुण्ड के शिव मन्दिर के घेरे में एक ताल का भी निर्माण करवाया। उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी शान्ति वर्मा ने इस घटना को एक स्तम्भ पर अंकित करवाया। यही तालकुण्ड स्तम्भ लेख कहलाता है और इस राजवंश के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। शान्ति वर्मा का पुत्र मृगेश वर्मा (477-488 ई.) इस वंश का एक अन्य महत्त्वपूर्ण शासक था। इसके कई अभिलेख उपलब्ध हैं। हलसी के प्राप्त शासनपदों में उसे गंग वंश का विनाशक और पल्लवों के लिए 'प्रलयानल' (=प्रलय की अग्नि) कहा गया है। किन्तु इन युद्धों का कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता। छठी शताब्दी के आरम्भ में इस वंश के रवि वर्मा नामक एक अन्य शासक ने भी गंगों और पल्लवों से सफलतापूर्वक युद्ध किया। इसके भी बहुसंख्यक लेख उपलब्ध हैं। रवि वर्मा के बाद उसका पुत्र हरि वर्मा शासक बना। उसके समय में ही बादामी के चालुक्यों द्वारा कदम्ब शक्ति का हनन प्रारम्भ हो गया। पुलकेशिन् प्रथम ने बांदा में अपनी सत्ता स्थापित की, जिसका तात्पर्य था कि कदम्बों के उत्तरी प्रदेश उनसे छिन गए। पुलकेशिन् द्वितीय ने उन्हें और भी शक्तिहीन कर दिया। कदम्ब राज्य के दक्षिण भाग पर गंगों ने अपना अधिकार कर लिया। किन्तु कदम्ब राजकुल इसके बाद में किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व में बना रहा यद्यपि वह पुनः अपनी पुरानी शक्ति और प्रतिष्ठा अर्जित नहीं कर सके।

बादामी का चालुक्य वंश

इस राजवंश का उदय बीजापुर जिला में बादामी नामक स्थान पर हुआ। छठी

शताब्दी के मध्य से आठवीं शताब्दी के मध्य तक लगभग दो शताब्दियों तक इन्होंने दक्षिण भारत के बहुत बड़े भाग पर शासन किया। कालांतर में राष्ट्रकूटों से पराभूत होने पर चालुक्यों की अन्य शाखाओं ने वेंगी और कल्याणी में शासन किया जिनसे पृथक् करने के लिए इन प्रारम्भिक चालुक्यों को बादामी के चालुक्य कहा जाता है।

चालुक्यों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में विरोध है। जहाँ विद्वानों का एक वर्ग— जिसमें जॉन फ्लीट, बी. एल. राइस और विन्सेन्ट स्मिथ सम्मिलित हैं – उन्हें विदेशी उत्पत्ति का मानता है, विद्वानों का दूसरा वर्ग उन्हें मूलतः कन्नड़ उत्पत्ति का तथा स्थानीय मानता है। एक अनुश्रुति के अनुसार, उनके पूर्व पुरुष का जन्म हरीति के जलपात्र से हुआ था। विक्रमादित्य षष्ठ के दरबारी कवि विल्हण ने अपने ग्रन्थ विक्रमांकदेवचरित में एक दूसरी कथा दी है जिसके अनुसार इसके पूर्व पुरुष को पृथ्वी पर व्याप्त अधर्म को नष्ट करने के लिए ब्रह्मा ने अपनी हथेली से उत्पन्न किया था। विन्सेन्टस्मिथ इन्हें विदेशी गुर्जर जाति का बताते हैं जो राजपूताना से दक्कन गए थे। किन्तु, यह उल्लेखनीय है कि युवान च्वांग ने इस वंश के शासक पुलकेशिन् द्वितीय को जन्मतः क्षत्रिय बताया है। कुछ लोगों का विचार है कि यह वंश मूलतः अयोध्या का था जहाँ से यह दक्षिण में आया।

इस कुल के प्रथम प्रामाणिक नाम जयसिंह और उसके पुत्र रणराग के हैं जिनका समय छठी शताब्दी ई. का प्रथमार्ध था। ऐहोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस राजकुल के शासक 'पृथ्वीवल्लभ' उपाधि धारण करते थे। इन दोनों शासकों के संदर्भ में इस उपाधि का प्रयोग नहीं मिलता और न ही चालुक्य लेखों में इन्हें 'महाराज' कहा गया है। रणराग का पुत्र पुलकेशिन् प्रथम इस राजकुल का प्रथम स्वतन्त्र शासक जान पड़ता है। 543 ई. के बादामी लेख से ज्ञात होता है कि इसने बादामी में एक पहाड़ी दुर्ग बनवाया। आस-पास प्रदेशों को जीत कर इसने एक अश्वमेध यज्ञ किया। उसका पुत्र कीर्तिवर्मन् संभवतः उसका सेनापति था। कीर्तिवर्मन् ने 566 ई. से 598 ई. तक शासन किया। मंगलेश के महाकूट स्तम्भ लेख में कहा गया है कि उसने वंग, अंग, वत्तुर, मगध, गंग, मूषक, पाण्ड्य, द्रमिल, चोलिय, अलूक तथा वैजयन्ती के शासकों को हराया। यह कहना कठिन है कि इस कथन में कितनी वास्तविकता है और कितनी अतिशयोक्ति, किन्तु बाद के चालुक्य लेखों में भी उसे नलों, कोंकण के मौर्यों और कदम्बों के ऊपर विजय प्राप्त करने वाला कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि उसने कई महत्त्वपूर्ण विजयें की थीं। कीर्ति वर्मा की मृत्यु के समय उसके सभी पुत्र अल्पायु के थे अतः उसके भाई मंगलेश ने संरक्षक के रूप में शासन करना प्रारम्भ किया। वह भी महान् विजेता था। उसने कल्चुरियों को हराया, रेवती द्वीप को जीता और चालुक्य सत्ता को उत्तरी मराठा प्रदेश तक विस्तारित कर दिया। कीर्तिवर्मा के पुत्र पुलकेशिन् द्वितीय को बड़ा होने पर अपने चाचा से युद्ध कर राज्य सत्ता प्राप्त करनी पड़ी। 609 ई. में अपने चाचा को मार कर वह राजा बना।

इस गृहयुद्ध ने नवोदित चालुक्य राज्य को हिला दिया और प्रारम्भ में उन सभी शक्तियों को जिन्हें कीर्तिवर्मन् तथा मंगलेश ने हराया था पुलकेशिन् द्वितीय का प्रभुत्व मानने से अस्वीकार कर दिया। किन्तु पुलकेशिन् द्वितीय ने अप्रतिम साहस और शौर्य का प्रदर्शन करते हुए उन सभी को पराभूत किया। जैन कवि रविकीर्ति रचित उसकी ऐहोल प्रशस्ति में उसकी विजयों का उल्लेख मिलता है। उसने कदम्बों और गंगों को हराया और अलुपों को अधीनस्थता स्वीकार करने को बाध्य किया। उसने कोंकण के मौर्यों को भी हराया और पुरी पर अपना अधिकार कर लिया। लाटों, मालवों और गुर्जरों पर भी

त

भक्तिनत विधृतस्फीत सामन्तसेना मुकुटमणि मयूखाक्रान्तपादारविन्दः।

सने विजय प्राप्त की। ऐहोल प्रशस्ति में यह भी कहा गया है कि उसने कन्नौज के शासक हर्ष को भी हराया। कवितामयी भाषा में इस युद्ध के परिणाम के संबंध में कहा गया है कि 'जिसके चरण-कमल असीमित विभूति से सम्पन्न सामन्तों की सेना के मुकुट-मणियों की किरणों से आक्रान्त रहते थे, वह हर्ष रण में मारी गई अपनी गज सेना को देखकर श्रीहत् हो गया एवं भयातुर होकर हर्षरहित हो गया।'* इस विजय के बाद उसने परमेश्वर उपाधि धारण की। इन विजयों के बाद उसने पल्लवों पर भी आक्रमण किया। किन्तु वह पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन् प्रथम से पराजित हुआ यद्यपि पल्लव राज्य के उत्तरी प्रान्त पल्लवों के हाथ से निकल गए। महेन्द्रवर्मन् प्रथम के पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम महापल्लव के शासन काल (630-680 ई.) में उसने पल्लवों के ऊपर दुबारा आक्रमण किया। किन्तु वह इस अभियान में सफल नहीं हुआ और पल्लवों ने बादामी पर आक्रमण कर दिया। पुलकेशिन् द्वितीय युद्ध में मारा गया (642 ई.) और उसक पुत्र विक्रमादित्य किसी प्रकार चालुक्य शक्ति को विनष्ट होने से बचा सका। उसने पल्लवों को अपने साम्राज्य से खदेड़ दिया। वह पल्लव राज्य में घुस गया किन्तु पल्लव शासक परमेश्वर प्रथम ने बादामी पर अधिकार करने के लिए एक सेना भेजी। पेरुवलनेल्लूर के युद्ध के वह परमेश्वरवर्मन् से बुरी तरह पराजित हुआ।

विक्रमादित्य के बाद विनयादित्य (681-96 ई.) और विजयादित्य (696-733 ई.) राजा बने। इनके समय में पल्लव-चालुक्य संघर्ष स्थापित रहा। किन्तु इसके बाद विक्रमादित्य द्वितीय (733-744 ई.) के समय में यह संघर्ष पुनः प्रारम्भ हो गया। इसके समय में सिन्ध के अरबों ने दक्षिण में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया पर लाट प्रदेश के उसकी शाखा के ही उसके सामन्त शासक पुलकेशिन् ने उन्हें सफलतापूर्वक रोक दिया। स्वयं उसने पल्लवों पर आक्रमण करके काँची पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार वातापी पर पल्लवों के अधिकार का बदला लिया।

इसके बाद कीर्तिवर्मन् द्वितीय राजा बना। वह और उसका गंग सामन्त श्रीपुरुष पाण्ड्य शासक द्वारा पराजित हुए। इसी समय राष्ट्रकूटों का उदय हुआ और राष्ट्रकूट वंश के संस्थापक दन्तिदुर्ग ने जो प्रारम्भ में उसका सामन्त था कीर्तिवर्मन् द्वितीय को गद्दी पर से हटा फैंका। इस प्रकार कीर्तिवम् द्वितीय बादामी के चालुक्य वंश का अन्तिम शासक बना।

चालुक्यों का योगदान

चालुक्यों ने दक्षिण में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें सम्पूर्ण कर्नाटक क्षेत्र सम्मिलित था और जिसकी राज्य-सीमा उत्तर में गुजरात से लेकर दक्षिण में नेल्लोर जिला तक विस्तृत थी। चालुक्य शासक भगवान विष्णु के उपासक थे किन्तु वे अपनी धार्मिक नीति में सहिष्णु थे। ऐहोल प्रशस्ति से उनकी धार्मिक सहिष्णुता प्रमाणित होती है। इस प्रशस्ति का लेखक रविकीर्ति जैन था और पुलकेशिन् द्वितीय का कृपापात्र था। चालुक्य शासकों ने कई जैन विद्वानों को संरक्षण दिया था तथा जैन मन्दिरों को दान दिया था। चालुक्यों ने अश्वमेध, बाजपेय तथा अन्य विविध वैदिक अनुष्ठानों का सम्पादन किया। उनके समय में उनके राज्य में विष्णु और शिव को उद्दिष्ट कई मन्दिरों का निर्माण हुआ।

---

* अपरिमित विभूतिस्फीत सामन्तसेना मुकुटमणि मयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधिपतित् गजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः॥

वास्तुकला के क्षेत्र में चालुक्य शासकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इस काल में एक नई कला-शैली अस्तित्व में आई, जिसे 'चालुकय शैली' का नाम दिया जाता है। ऐहोल को भारतीय मन्दिर निर्माण कला का 'उद्गम-स्थल' माना जाता है। इन मन्दिरों में लाडखाना मन्दिर, दुर्गा मन्दिर, हचमल्लिगुडी मन्दिर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पर्वत-शिलाओं को काट कर मन्दिर बनाने की कला का भी उन्होंने प्रारम्भ किया। पट्टदकल में बने इस काल के कुछ मन्दिर द्रविड़ शैली में हैं। वास्तव में प्रस्तर निर्मित भवन निर्माण कला इस समय बड़ी विकसित थी। पर्सी ब्राउन ने इस काल के मन्दिरों में मन्दिर निर्माण का प्रारम्भिक स्वरूप माना है।*

राष्ट्रकूट वंश

'राष्ट्रकूट' उन अधिकारियों को कहा जाता था जो 'राष्ट्र' नामक राजनीति इकाई अथवा भू-भाग (जो जिला की तरह था) पर शासन करते थे। राष्ट्रकूट पहले बादामी के चालुक्यों के अन्तर्गत जिला-अधिकारी (राष्ट्रकूट) थे; इनकी मातृभाषा कन्नड़ थी और इनके कुछ पूर्वज 640 ई. में बरार प्रदेश में सामन्तों के रूप में शासन करने लगे थे।** जिस समय दन्तिदुर्ग का उदय हुआ, राष्ट्रकूट चार पीढ़ियों से महाराष्ट्र में रहे थे। 742 ई. में दन्तिदुर्ग का एलोरा पर अधिकार था और वह चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन् द्वितीय का सामन्त था। उसने कीतिवर्मन् द्वितीय को हराकर बादामी को छीन लिया और पूरे महाराष्ट्र का स्वामी बन गया। उसने गुजरात तथा मध्य एवं उत्तरी मध्य प्रदेश के अधिकांश भाग को अपने राज्य में मिला लिया। 750 ई. में उसने काँची के पल्लव शासक नन्दिवर्मन् द्वितीय पर आक्रमण किया किन्तु बाद में दोनों में सन्धि हो गई और इस सन्धि को स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से उसने अपनी कन्या रेवा का विवाह नन्दिवर्मन के साथ कर दिया।

दन्तिदुर्ग के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसके बाद उसका चाचा कृष्ण प्रथम राजा बना। उसने कोंकण को जीता और चालुक्यों की बची-खुची शक्ति को भी समाप्त कर दिया। गंग शासक को भी उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। उसने युवराज गोविन्द को एक सेना के साथ पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध भेजा और वेंगी के शासक विजयादित्य को राष्ट्रकूट प्रभुसत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इन विजयों के उपलक्ष्य में उसने 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि धारण की। विजेता होने के साथ-साथ कृष्ण प्रथम एक महान् निर्माता भी था। उसने एलोरा का प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर बनवाया जो शिव को उद्दिष्ट है। यह मन्दिर पूरी पहाड़ी को काट कर बनाया गया है और इसमें कोई जोड़ नहीं मिलता। यह भारतीय वास्तुकला का सर्वोत्कृष्ट और अनुपम दृष्टान्त माना जाता है।

कृष्ण प्रथम के बाद उसका पुत्र गोविन्द द्वितीय (772 ई) गद्दी पर बैठा। वह एक विलासी और दुर्बल शासक था अतः उसके भाई ध्रुव ने उसे गद्दी से हटा दिया और स्वयं राजा बन बैठा। यह घटना 780 ई. में घटी। ध्रुव एक महत्त्वाकांक्षी विजेता था। उसने विन्ध्य पार कर मालवा के गुर्जर वत्सराज को मरुस्थल में खदेड़ दिया और फिर गंगा-यमुना

---

* पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर।

** आर. जी. भण्डारकर का विचार है कि राष्ट्रकूट 'रट्ट' कहलाने वाले क्षत्रियों की प्रमुख शाखा थे जिन्होंने महाराष्ट्र को अपना नाम प्रदान किया। पाठक का भी कहना है राष्ट्रकूट कई मराठा कुलों के सामन्त के रूप में मिलता है और इस कारण राष्ट्रकूटों की मराठा उत्पत्ति मानना चाहिए। डा. अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने अपनी पुस्तक द राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स में राष्ट्रकूटों की कर्नाटक प्रदेशीय उत्पत्ति सिद्ध किया है।

के दोआब पर आक्रमण किया। यहाँ उसने बंगाल के पाल शासक धर्मपाल को हराया। उसने वेंगी के चालुक्य शासक से भी उसके राज्य का कुछ प्रदेश छीन लिया। बाद में चालुक्य शासक ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। इस प्रकार इस समय भारतवर्ष का को ई अन्य राजवंश ध्रुव की शक्ति को चुनौती देने की स्थिति में नहीं था।

ध्रुव के चार पुत्रों में गोविन्द सबसे अधिक योग्य था और ध्रुव ने उसे अपना उत्तराधिकारी चुना। उसने वेंगी के चालुक्यों, बंगाल के धर्मपाल तथा कन्नौज के चक्रायुध को भी परास्त किया। दक्षिण के सभी राजवंश उससे भय खाते थे। उसे राष्ट्रकूट वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक माना जाता है।

गोविन्द तृतीय के बाद इसका पुत्र अमोघवर्ष प्रथम राजा बना। उसने 814 ई. से 880 ई. तक अर्थात् 66 वर्षों तक शासन किया किन्तु उसके लम्बे शासनकाल में कभी भी शान्ति नहीं रही और उसे प्रायः राज्य में अराजकता की स्थिति का सामना करना पड़ा। वह स्वभाव से शान्तिप्रिय था और उसकी रुचि जैन धर्म की ओर थी। वह स्वयं कविता करता था और उसने कविराजमार्ग एवं प्रश्नोत्तर-रत्न-मालिका नामक दो ग्रन्थ लिखे। उसकी राजधानी मान्यखेट थी। कभी-कभी कुछ दिनों के लिए वह शासन से बिल्कुल अलग होकर जैन भिक्षुओं के साथ रहता था। इस काल में शासन युवराज कृष्ण चलाता था।

अमोघवर्ष के बाद कृष्ण द्वितीय राजा बना। इस समय राष्ट्रकूट दुर्बल हो गये थे। मालवा और गुजरात में प्रतिहार शासक भोज ने राष्ट्रकूटों को दबा रखा था। उसके समय में वेंगी के चालुक्य शासक विजयादित्य तृतीय तथा भोज प्रथम ने राष्ट्रकूटों को हराया। 914 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसका पौत्र इन्द्र तृतीय राजा बना। वह एक प्रतापी शासक था तथा उसने प्रतिहार शासक महिपाल को पराजित किया।

इस वंश का अन्तिम महत्त्वपूर्ण शासक कृष्ण तृतीय था। यह 939 ई. में राजा बना। उसने चाल राजा परान्तक को हराया और उसके राज्य में बहुत बड़े भाग को अपने राज्य में मिला लिया। उसने प्रतिहार शासक महिपाल को हरा कर उससे सुराष्ट्र छीन लिया। उसने चोलों के साथ युद्ध किया किन्तु वह तोक्कलम में चोल शासक से पराजित हुआ।

कृष्ण तृतीय के बाद राष्ट्रकूट वंश का पतन प्रारम्भ हो गया। 963 ई. में कृष्ण तृतीय ने तारवाड़ी के प्रान्त को अपने प्रतिपक्षी चालुक्य तैलप द्वितीय को पुरस्कार रूप में दे दिया। राष्ट्रकूट वंश के लिए इसका बड़ा घातक परिणाम निकला। कृष्ण के बाद उसका छोटा भाई खोटिण्ण गद्दी पर आया। उसके काल में परमार शासक सियक ने मान्यखेट पर आक्रमण कर उसे तहस-नहस कर दिया। उसके बाद कर्क राजा बना। चालुक्य शासक तैलप द्वितीय ने – जिसने कल्याणी की चालुक्य शाखा की स्थापना की – 973-74 में उसे गद्दी से हटा कर राष्ट्रकूट शक्ति को समाप्त कर दिया।

राष्ट्रकूट वंश का योगदान

राष्ट्रकूटों ने लगभग 250 वर्षों तक दक्षिण भारत के एक बड़े भू-भाग पर अपना प्रभाव बनाये रखा। कृष्ण तृतीय ने रामेश्वरम् तक विजय की थी। अरब लेखकों के अनुसार, राष्ट्रकूट भारत के सर्वश्रेष्ठ शासक थे। सुलेमान नामक अरब लेखक ने अमोघवर्ष को संसार के चार प्रमुख सम्राटों में गिनाया है। उन्होंने अपने राज्य में सुव्यवस्था स्थापित की तथा सेना को संगठित किया।

मुख्यतः राष्ट्रकूट शासक हिन्दू धर्म मानने वाले थे तथा शिव और विष्णु के उपासक थे किन्तु अन्य सम्प्रदायों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारपूर्ण था। अमोघवर्ष जैन धर्म का

अनुयायी था। गुजरात शाखा का राष्ट्रकूट शासक शैव धर्म का उपासक था किन्तु उसने जैनों को खूब दान दिया। अमोघवर्ष जैन होने पर भी हिन्दू धर्म का आदर करता था। उसके शासनकाल में धार्मिक आधार पर कभी कोई उपद्रव या विद्रोह नहीं हुआ।

कला और स्थापत्य के क्षेत्र में राष्ट्रकूटों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी स्थापत्य कला का उत्कर्ष एलोरा के कैलास मन्दिर में देखा जा सकता है। जैसाकि पर्सी ब्राउन ने लिखा है, कैलाश मन्दिर न केवल भारतीय स्थापत्य का एक अनूठा उदाहरण है अपितु शिला-स्थापत्य में यह एक अप्रतिम कृति है। इसकी दीवालों पर विविध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ खुदाई में उभार कर बनाई गई हैं। राष्ट्रकूटों के निर्माण कार्य मुख्यतः अजन्ता, एलोरा, एलीफेन्टा तथा मालखेड़ में केन्द्रित हैं। शिलाखण्ड को काट कर बनाया गया दशावतार मन्दिर दुमन्जिला है और राष्ट्रकूट कला का एक अन्य सुन्दर उदाहरण है।

ये लोग साहित्य और शिक्षा के प्रेमी थे और विद्यालयों तथा शिक्षा संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान देते थे। उनका शासनकाल महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों की रचना का युग था। इस युग में कन्नड़ साहित्य का प्रारम्भ हुआ। जैन आचार्यों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए जनसामान्य की भाषा का प्रयोग किया। प्राचीनतम कन्नड़ साहित्य राष्ट्रकूट काल से मिलना प्रारम्भ होता है। अमोघवर्ष स्वयं कवि था। उसने कविराजमार्ग और प्रश्नोत्तर रत्न-मालिका नामक ग्रन्थों की रचना की थी। कविराजमार्ग साहित्यिक समालोचना का ग्रन्थ है। इसमें कन्नड़ के महत्वपूर्ण लेखकों के नाम मिलते हैं जिस कारण कन्नड़ भाषा और साहित्य के इतिहास के लिए इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। कविराजमार्ग के अनुसार विमलोदय, नागार्जुन, जयबन्धु, दुर्विनीत तथा कई अन्य प्रसिद्ध कन्नड़ गद्य लेखक थे। कवियों में कवीश्वर, पण्डित, चन्द्र तथा लेकपाल की प्रशंसा की गई है। दुर्भाग्यवश इन लेखकों की कृतियों के नाम नहीं गिनाए गए हैं। वर्धमानचरित का लेखक असम, नेमिनाथपुराण का लेखक गुणवर्मा इसी युग के लेखक थे। आदि-पुराण का लेखक पम्प भी इसी काल का था। अमोघवर्ष के गुरु जिनसेन ने हरिवंश की रचना की (783 ई.)। शकटायन इस काल का एक अन्य प्रसिद्ध संस्कृत लेखक था। इसने शब्दानुशासन तथा अपने संरक्षक को उद्देश्य बना कर अमोघवृत्ति नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

राष्ट्रकूट शासकों की अरबों के साथ मित्रता थी और उसके साथ उनका व्यापारिक संबंध था। अपनी धार्मिक उदारता का परिचय देते हुए उन्होंने मुसलमानों को मस्जिद बनवाने की भी अनुमति दे रखी थी।

काँची का पल्लव राजवंश

पल्लवों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने विविध मत रखे हैं। बी. एल. राइस आदि कुछ विद्वानों ने पल्लवों को पह्लवों (पार्थियन) से समीकृत किया है, जिन्होंने सातवाहनों के पतनकाल में शकों के साथ तोण्डमण्डलम् पर अधिकार कर लिया था। इनका यह संक्रमण कैसे हुआ यह ज्ञात नहीं है। किन्तु इस विचार को स्वीकार नहीं किया जाता। शकों ने कभी भी अश्वमेध नहीं किया और यह विश्वास करना कठिन है कि किस प्रकार पल्लव – यदि वे मूलतः पह्लव थे – एकाएक अश्वमेध के प्रेमी हो गए। के. पी. जायसवाल के अनुसार पल्लव वाकाटकों की एक शाखा थे। इनके विचार का आधार यह है कि दोनों ही ब्राह्मण राजवंश थे और दोनों का गोत्र भारद्वाज था। एस. कृष्ण स्वामी अय्यंगर ने यह विचार रखा है कि पल्लव सातवाहनों के सामन्त थे और मूलतः उन्हें तोण्डमण्डलम् क्षेत्र का ही माना है।

पल्लवों का प्रारम्भिक इतिहास अधिक स्पष्ट नहीं है पर सामान्य रूप से यह माना

जाता है कि सातवाहनों के पतन के बाद पल्लवों का उदय हुआ। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में काँची के शासक विष्णु गोप का उल्लेख मिलता है। छठी शताब्दी ई. से पल्लवों का प्रामाणिक इतिहास मिलने लगता है। इस वंश का ऐतिहासिक संस्थापक सिंहविष्णु को माना जाता है जिसने 550 ई. से लेकर तीस वर्षों तक शासन किया। उसने कावेरी तक के सम्पूर्ण प्रदेश को जीत लिया और 'अवनिसिंह' उपाधि धारण की। वह वैष्णव धर्म मानता था।

उसके बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम राजा बना। वह एक विजेता और योग्य शासक था। इसी समय कर्नाटक और महाराष्ट्र में चालुक्यों की शक्ति बढ़ रही थी। उसका चालुक्य राजा पुलकेशिन् से युद्ध हुआ और आन्ध्र प्रदेश का भाग पल्लवों के हाथ से निकलकर चालुक्यों के हाथ में चला गया। किन्तु द्रविड़ प्रदेश में पल्लवों की शक्ति दृढ़ रही और उसने चोल राजाओं को अपने दबाव में रखा। वह पहले जैन धर्म का अनुयायी था, किन्तु बाद में शैव हो गया था। उसके समय में चट्टानों को काट कर मन्दिर बनाने की कला की शुरूआत हुई। उसे इस कला का प्रवर्तक माना जाता है। वह स्वयं एक लेखक था। उसने मत्तविलास नामक एक प्रहसन ग्रन्थ लिखा। कृष्णा नदी के दक्षिण के छोटे-छोटे राज्यों को हराकर उसने अपने राज्य को विस्तार प्रदान किया।

उसके बाद नरसिंहवर्मन् प्रथम गद्दी पर बैठा, जिसने लगभग 620 ई. से 668 ई. तक राज्य किया। उसने चालुक्य राजधानी बादामी पर आक्रमण किया और इस युद्ध में चालुक्य शासक पुलकेशिन् द्वितीय लड़ता हुआ मारा गया। इस विजय के उपलक्ष में उसने 'वातापीकोण्ड' उपाधि धारण की। उसकी एक और उपाधि 'महामल्ल' थी। उसने महामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) नामक एक नगर बसाया। उसके समय में चीनी यात्री युवान च्वांग काँची आया था। उसने लिखा है कि यह देश द्रविड़ देश कहलाता है और इसकी राजधानी काँचीपुरम् है।

नरसिंहवर्मन् के बाद उसका पुत्र परमेश्वरवर्मन् शासक बना। उसके समय में चालुक्य शासक विक्रमादित्य प्रथम ने उसके राज्य पर आक्रमण किया किन्तु चालुक्य सेना उसके द्वारा पराजित हुई। वह शैव धर्म का उपासक था और उसने कई मन्दिर बनाए। उसके बाद नरसिंहवर्मन् द्वितीय राजा हुआ (680 से 728)। उसके समय में शांति रही। उसके बनवाये अनेक मन्दिरों में काँची का कैलाशनाथ मंदिर तथा महाबलीपुरम् का मन्दिर प्रसिद्ध है। महाकवि दण्डी – जो दशकुमारचरित का रचयिता है – उसका दरबारी कवि था। उसने चीन के साथ दौत्य संबंध बनाया और वहाँ अपना दूत भेजा। उसके बाद परमेश्वरवर्मन् द्वितीय राजा बना (728 से 731)। उसे चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने हराया और बाद में वह गंगों के साथ हुए युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। उसका कोई उत्तराधिकारी न था, अतः उसके मंत्रियों ने पल्लवों की एक अन्य शाखा के युवराज नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल को राजा बनाया। राजा बनाने के समय वह 12 वर्ष का था। उसने गंग राजा श्रीपुरुष को परास्त किया। उसने वेंगी के चालुक्यों से भी उसके राज्य का कुछ भाग छीन लिया किन्तु वह पाण्ड्य राजा जटिलपरान्तक प्रथम से पराजित हुआ। वह काँची के वैकुण्ठपेरुमाल तथा मुक्तेश्वर मन्दिर का निर्माता था।

नन्दिवर्मन् के बाद उसका पुत्र दन्तिवर्मन् (795-845 ई.) राजा बना। उसके समय में पल्लव राज्य के दक्षिण के कुछ प्रदेश पाण्ड्यों के हाथ में चले गये। उसके समय में भक्ति-आन्दोलन का विकास हो रहा था। प्रसिद्ध शैव संत सुन्दरमूर्ति तथा चेरमान पेरुमाल उसके समकालीन थे। अद्वैत वेदांत के प्रचारक एवं प्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य इसी काल

[illegible] है तथा इस मन्दिर का गृह-गर्भ, मण्डप, प्रवेश-द्वार सभी [illegible] है। कांची के कैलाश मन्दिर में राजसिंह शैली पूर्ण रूप से विकसित [illegible] है। इस मन्दिर के ऊपर पिरामिड के आकार का एक शिखर बना है। इस [illegible] की सभी विशेषताएँ [illegible] के सुदृढ़ सिंह स्तम्भ, शिखर चाहरदीवारी, छोटे-छोटे [illegible] इस मन्दिर में दर्शित होते हैं जिनकी प्रशंसा पर्सी ब्राउन ने भी की है। इस [illegible] का सर्वोत्कृष्ट विकसित रूप काँची में बने हुए "वैकुण्ठ-पेरुमल में दृष्टिगत होता है।

(4) अपराजित शैली—यह पल्लव कला का अन्तिम चरण था जिसमें स्तम्भों के शीर्ष भाग का अत्यधिक विकास हुआ एवं जिसका उदाहरण बहुर मन्दिर में देखा जा सकता है।

[illegible] के मतानुसार मन्दिर कला के विकास में पल्लव नरेशों का महान् [illegible] दक्षिणी भारत तक ही सीमित न रहकर दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भी प्रसारित हुई।

(ग) धार्मिक दशा—इस काल में शैव धर्म और वैष्णव धर्म प्रधान धर्म थे और अधिकतर पल्लव शासक इन्हीं धर्मों के अनुयायी थे। इस काल में कई सुधारवादी शैव सन्तों ने अपनी रचनाओं से शैव साहित्य को समृद्ध बनाया। सुन्दरमूर्ति तथा अप्पर इस काल के प्रसिद्ध शैव सन्त थे। महेन्द्रवर्मन् प्रथम पहले जैन धर्म मानता था किन्तु सन्त अप्पर के प्रभाव से वह शैव हो गया। तिरुज्ञान सम्बन्दर एक अन्य शैव सन्त थे जिन्होंने शैव धर्म का प्रचार किया। आलवार वैष्णव सन्तों ने वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उन्होंने भक्ति पर बल दिया। तिरुमंगई आलवार इस काल के प्रसिद्ध वैष्णव सन्त थे। प्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य का जन्म इसी काल में हुआ। उन्होंने वेदान्त का प्रचार किया और अद्वैत सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाया। उन्होंने देश के चार भागों में चार मठों की स्थापना की जो इस प्रकार है— मैसूर में श्रृंगेरी का मठ, गुजरात में द्वारका का मठ, उड़ीसा में पुरी का मठ और हिमालय में बद्रीनाथ का मठ। ये मठ आज भी विद्यमान हैं और इनके मठाधीश शंकराचार्य कहलाते हैं।

चोल वंश

चोलों की प्राचीनता

दक्षिण भारत में सभी राजकुलों में चोलों को प्राचीनतम माना जा सकता है। महाभारत में चोलों का उल्लेख मिलता है और अशोक के अभिलेखों में इनकी गणना स्वतंत्र राज्य के रूप में की गई है। सिंहली ग्रन्थ महावंश में कई चोल शासकों की चर्चा मिलती है। संगम साहित्य में करिकाल चोल – जो द्वितीय शताब्दी ई. के लंका के राजा गजबाहु प्रथम का समकालीन था – नामक प्रतापी शासक का उल्लेख मिलता है जिसकी राजधानी कावेरीपट्टनम् थी। किन्तु ऐतिहासिक काल में 9वीं शताब्दी ई. तक चोल पल्लवों और पाण्ड्यों की साम्राज्यवादिता के कारण अन्धकार में रहे।

चोल राजवंश का उत्कर्ष

चोल साम्राज्य का संस्थापक विजयालय (846-871 ई) था। यह पल्लव सामन्त था। पल्लवों के सामन्त के रूप में उसने तंजौर पर अधिकार किया और उसे अपनी राजधानी बनाई। उसके पुत्र आदित्य प्रथम (871-907 ई) के समय में चोल वंश सर्वथा स्वतंत्र हो गया। उसने कई युद्ध लड़े जिसमें युवराज परान्तक से उसे बड़ी सहायता मिली।

आदित्य प्रथम के बाद परान्तक प्रथम (907-946 ई.) राजा बना। वास्तव में चोल शक्ति की स्थापना का श्रेय इसी को दिया जाता है। उसने मदुरा के पाण्ड्य राजा को हराया और लंका पर भी आक्रमण किया। किन्तु वह राष्ट्रकूट शासक कृष्ण तृतीय से तथा गंग शासक बुटुंग से पराजित हुआ। चोल राज्य का बहुत बड़ा भाग राष्ट्रकूटों के हाथ में चला गया। परान्तक शैव धर्म का अनुयायी था और उसने कई मन्दिर बनवाए।

परान्तक की मृत्यु के बाद 30 वर्षों तक चोल राज्य की दशा गड़बड़ रही और चोल शक्ति इस काल में दुर्बल थी। 985 ई. में राजराज प्रथम (985-1014 ई.) के राज्यारोहण के बाद, चोल शक्ति का वास्तविक उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उसके बाद दो शताब्दियों तक चोल वंश का इतिहास सम्पूर्ण दक्षिण भारत का इतिहास बन जाता है। राजराज प्रथम ने कण्डलूर में चेरों की नौ सेना को हराया और चालुक्यों तथा गंगों को अपनी अधीनता स्वीकार कराई। उसने उत्तर में कलिंग को जीता और लंका के राजा को हराया। अपनी नौ सेना द्वारा उसने लक्ष्यदिव और-मालदिव द्वीपों को जीता और पूर्वी द्वीपों पर भी आक्रमण किया। सुमात्रा के श्रीविजय साम्राज्य के साथ उसका मित्रतापूर्ण संबंध था। उसके प्रभाव क्षेत्र में सारा द्रविड़ प्रदेश, कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, कलिंग और लंका था। उसके पुत्र राजेन्द्र ने राष्ट्रकूट राजधानी मान्यखेट को लूटा। वह एक योग्य शासक और सफल योद्धा था। उसने विभिन्न कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया।

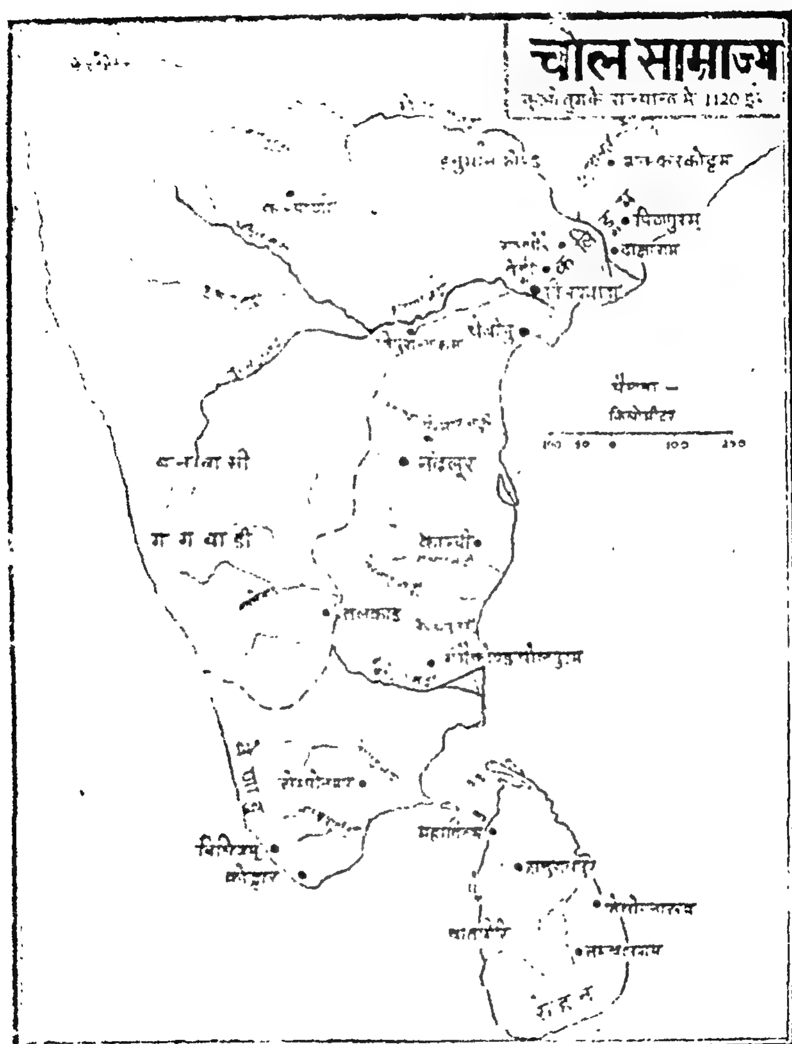
उसके बाद राजेन्द्र चोल (1014-1042 ई.) राजा हुआ। विजयों में वह अपने पिता से भी बढ़कर था। उसने कल्याणी के चालुक्यों तथा बनवासी के कदम्बों को हराया और मध्यप्रदेश में गोंडवाना को जीता। उसने लंका के राजा पंचम महीन्द्र को भी हराया और उसे अपने यहाँ मंगवा लिया और यहीं उसकी मृत्यु भी हुई। उसने कलिंग के गंगों को हराया और वहाँ से अपनी सेना के साथ गंगा की घाटी की ओर बढ़ा। उसने गंगा घाटी के राजाओं को हराया और वहाँ से पवित्र गंगाजल को अपने साथ लाया। इस जल को उसने इसी उद्देश्य से निर्मित एक तड़ाग में डलवाया और उसे चोलगंगम् नाम दिया। कहा जाता है कि यह जल पराजित राजाओं के सिर पर यहाँ तक लाया गया था। इस विजय के उपलक्ष में गंगइकोण्ड उपाधि धारण की और गंगइकोण्डचोलपुरम् नामक नगर बसाया। अपनी नौ सेना को लेकर उसने अण्डमान, निकोबार द्वीपों को भी जीता और सुमात्रा तथा मलाया के पश्चिमी तट पर उसका अधिकार हो गया। उसके अन्तिम दिनों में केरल और पाण्ड्य प्रदेशों में विद्रोह हुए किन्तु उसने उन्हें सफलतापूर्वक दबा दिया।

राजेन्द्र चोल के बाद राजाधिराज (1042-52 ई.) राजा हुआ। उसने भी कई विजयें की और कल्याणी के चालुक्यों को हराया। उसके बाद के चोल शासक पूर्वी और पश्चिमी चालुक्यों के साथ निरन्तर उलझे रहे।

अगला महत्त्वपूर्ण चोल शासक कुलोत्तुंग (1070-1120 ई.) था। उसने युद्ध की अपेक्षा अपनी प्रजा के हित पर अधिक ध्यान दिया। उसके समय में लंका स्वतंत्र हो गया और लंका के युवराज वीर पेरुमाल के साथ उसने अपनी कन्या का विवाह कर दिया। वेंगी में उसके पुत्र प्रान्तीय शासकों के रूप में राज्य करते थे। उसने अपनी सेना भेज कर कलिंग को भी जीता। 1077 ई. में उसने चीन में एक दूतमण्डल भेजा। उसकी मृत्यु तक लंका को छोड़ कर शेष साम्राज्य सुरक्षित रहा।

उसके बाद उसका पुत्र विक्रम चोल राजा बना। उसने वेंगी और गंगवाड़ी को जीता। कुलोत्तुंग तृतीय इस वंश का अन्तिम महान् शासक था जो 1178 ई. में गद्दी पर बैठा। उसने चेरों और पाण्ड्यों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध किए। 1205 ई. में उसने

मदुरा में हुआ। राजेन्द्र तृतीय इस वंश का अन्तिम शासक था। 1310-11 ई. में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने आक्रमण कर स्थानीय चोल शासकों को समाप्त किया।



चोल संस्कृति

चोल प्रशासन—यह ग्राम पंचायत प्रणाली पर आधारित था। प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से संपूर्ण राज्य छः प्रान्तों में बँटा हुआ था, जिनको मण्डलम् कहा जाता था। मण्डलम् के उप विभाग कोट्टम् (कमिश्नरी) और कोट्टम् के उप विभाग नाडु के अन्तर्गत कुर्रम (ग्रामसमूह) और ग्राम होते थे। अभिलेखों में नाडु की सभा को नाट्टर और नगर

की श्रेणियों को 'नगरतार' कहा गया है। सबसे अधिक विकसित और सुसंगठित शासन गाँव के निवासियों द्वारा प्रतिवर्ष नियमतः निर्वाचित होते थे। निर्वाचन और सदस्यता की योग्यता के नियम बने हुए थे। प्रत्येक मण्डलम् को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त थी। लेकिन राजा के प्रशासन को नियंत्रित करने के लिये कोई केन्द्रीय विधानसभा नहीं थी। भूमि की उपज का लगभग छठा भाग सरकार को लगान के रूप में मिलता था। लगान अनाज के रूप में या स्वर्ण मुद्राओं में अदा किया जा सकता था। चोल राज्य में प्रचलित सोने का सिक्का 'कासु' कहलाता था जो 16 औंस का होता था। चोल राजाओं के पास विशाल स्थल सेना के साथ-साथ मजबूत जहाजी बेड़ा भी था। चोल राजाओं ने सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनायें पूरी की, सड़कों का निर्माण किया और उन्हें सुंदर, साफ ढंग से रखा। चोल प्रशासन प्रणाली वास्तव में अत्यन्त उन्नत थी और उसके अन्तर्गत जनता को पर्याप्त स्वायत्त शासन प्राप्त था।

चोल वास्तु–चोल वास्तु का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण तंजौर राजराजेश्वर नामक शिव मंदिर है, जिसे गजराज प्रथम महान् लगभग (985-1016 ई.) ने बनवाया था। अन्य उदाहरण गंगेकोण्ड – चोलपुरम् में मिलते हैं, जिसे राजेन्द्र प्रथम ने नयी राजधानी बनया था। चोल वास्तु के बाद के नमूने मदुराई, श्रीरंगम्, रामेश्वरम् तथा चोलमण्डल तट पर स्थित अन्य स्थानों पर मिलते हैं। जैसा कि फरगुसन ने लिखा है, चोल वास्तु कलाकारों ने वृहदाकार कल्पना की और जौहरियों की भाँति सर्वांग सुंदर कृतियाँ प्रस्तुत कीं। चोलकालीन मंदिर अपनी विशालता एवं भव्यता के लिये विख्यात हैं। पहली विशेषता यह है कि वे अनेक मंजिलों वाले शिखर से मण्डित होते हैं। इन मंदिरों की दूसरी विशेषता अधिष्ठान पीठ से लेकर शीर्ष बिन्दु तक इनका प्रतिमालंकरण है। इनकी तीसरी विशेषता इनका विशाल मुख्य द्वार है, जिसे 'गोपुरम्' कहते हैं। ये गोपुरम् कहीं-कहीं मंदिरों से भी ऊँचे होते थे और मीलों दूर से भी दिखायी पड़ते हैं। चोल मंदिरों की चौथी विशेषता यह है कि इनमें एक-के-बाद-एक प्रांगण होते हैं जो गौण मंदिरों और विशाल मण्डपों से युक्त होते हैं।

राजस्व व्यवस्था–चोल राज्य की आय का प्रमुख साधन था— भूमिकर, जिसको एकत्र करने का भार ग्रामसभा पर था। कृषि उत्पादन का एक-तिहाई भू-राजस्व के रूप में वसूला जाता था। कुलोत्तुंग प्रथम ने भूमि की माप करवायी। कृषि भूमि किस्मों का समय-समय पर पुनर्मूल्यांकन तथा भू-राजस्व का पुनर्निर्धारण किये जाने का भी उल्लेख मिलता है। सीमा-शुल्क, राहदारी, अनेक व्यवस्था तथा धन्धों पर लगाये गये करों से राज्य को अतिरिक्त आमदनी होती थी। खानों तथा जंगलों के उत्पादन के अतिरिक्त नमक कर भी राज्य की आय के प्रमुख स्रोत थे। श्रमिकों से बेगार के रूप में भी काम लिया जाता था। चोल प्रशासन में भूमिदान की प्रक्रिया जटिल होती गयी। विभिन्न संबंधित विभागों के सचिवों, करों के अधिकारियों तथा जिला-स्तर के कर्मचारियों आदि के द्वारा भूमि हस्तान्तरण की कारवाई की जाती थी। सिंचाई व्यवस्था में कावेरी तथा अन्य नदियों के पानी का उपयोग किया जाता था। भूमि के अतिरिक्त चोल राजा व्यापार कर तथा निकटवर्ती क्षेत्रों की लूटमार में अपनी आय बढ़ाते थे। विवाह समारोह में भी कर लगता

था। अभिलेखों में करों व वसूलियों के लिये प्रयुक्त शब्द हरे या वरि, म-रुपाड और दडम्। प्रत्येक गाँव और शहरों में बस्ती वाले भाग (उर), मंदिर, तलाब गाँव से होकर बहने वाली नदी, निम्न जाति की झोंपड़ियों (परकच्चेरी), शिल्पकारों के भवन (कृमाणपेरी) तथा श्मशानघाट (शट्टुगोड़) आदि पर कर नहीं लगता था। अन्न का मान था – एक कलम (तीन मन)। सोने के सिक्के को काशु कहते थे। तत्कालीन अभिलेखों में इन करों का उल्लेख निम्न नामों से मिलता हैं— कर, कटघा (तरिइरियम), कोल्हू (शेक्ककेरियी), व्यापार (सेट्टिरयी), मुनारी (तत्तारपाट्टम्), पशु नदी (औलक्कुनीरपाट्टम्), नमक (उप्पायम्), चुंगी (कलिआयम), वाट (दडैवर्रा), बाजार (अंगाडिपाट्टम)।

स्थानीय स्वशासन—संपूर्ण साम्राज्य के गाँवों में स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहित करना चोल प्रशासन की उल्लेखनीय विशेषता थी। ग्राम तथा नगरों की सभायें शासन की मूलभूत इकाइयाँ थीं। नाडु की प्रशासनिक सभायें प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित होती थीं। इस काल में स्थानीय स्वशासन में उर तथा सभा अथवा महासभा बालिग सदस्यों द्वारा निर्मित होती थी। उर सर्वसाधारण लोगों की गाँव की प्रधान समिति थी। नगरम् तीसरे प्रकार की सभा थी। सभा/महासभा गाँवों के वरिष्ठ ब्राह्मणों, जिन्हें अग्रहाट कहा जाता था, की सभा थी। इसमें स्त्रियाँ होती थीं। महासभा को 'नेरू-गुरि' कहा जाता था। इसके सदस्यों को पेरूमक्कल कहा जाता था। उत्तरमेरूर के 919 तथा 929 ई. के दो अभिलेखों से स्थानीय महासभा की कार्य संचालन प्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह सभा परांतक प्रथम के समय में हुई थी। गाँव के कारोबार की देख-रेख एक कार्यकारिणी समिति करती थी जिसे करते— वारियम थे। वारियम की सदस्यता के लिये पैंतीस से सत्तर वर्ष की आयु के ऐसे व्यक्ति का नामांकन होता था, जिसके पास लगभग एक-डेढ़ एकड़ भूमि हो तथा जो अपनी भूमि पर बने मकान में रहने वाला हो। इन योग्यताओं के होने पर भी निम्नलिखित व्यक्तियों को मनोनीत नहीं किया जाता था— (1) जो विगत तीन वर्षों से किसी भी समिति में रह चुके हों, (2) जो समिति में रहकर अपने आय-व्यय का लेखा-जोखा न दें, (3) जो व्यभिचार अथवा अन्य किसी भयंकर अपराध का अपराधी हो अथवा (4) जिन्होंने दूसरों का धन चुराया हो। समिति के सदस्यों को 'वाटियप्पेरूमक्कल' कहा जाता था। सदस्यों को उनकी सेवा के लिये कोई वेतन नहीं दिया जाता था। वारियम के तीस सदस्यों से उपवन (एरिवारियम), स्वर्ण संबंधी समिति (पोन्वारियम) आदि निर्मित होती थी। गाँवों का विभाजन प्रायः शेरियों, सड़कों और खण्डों में होता था। ब्राह्मणों को दी गई कर मुक्त भूमि को चतुर्वेदि मंगलम कहते थे। सभा की बैठक सामान्यतः गाँव के मंदिरों और मण्डपों में होती थीं। 'नगरम्' सम्भवतः व्यापारियों की प्रधान सभा थी, जो महत्त्वपूर्ण व्यापारिक नगरों में होती थी। गाँवों में कार्यसमिति की सदस्यता के लिये जो वेतनभोगी कर्मचारी रखे जाते थे उन्हें 'मध्यस्थ' कहते थे। स्थानीय सामंत या शक्तिशाली अधिकारी को एक विशेष प्रकार की सुरक्षा कर 'पाडिका वलकुली' अलग से दिया जाता था, जिसके बदले में वह उस क्षेत्र की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेता था। जिले (नाडु) की जनता की सभा को 'नाट्टुर' कहते थे।

ग्रामसभा—ये ग्राम सभायें जनपद के प्रवर्तन में प्रायः स्वतंत्र थीं। हर प्रकार की

भूमि इनके अधीन थी। ग्राम सभा के निम्न मुख्य कार्य थे— (1) जंगल साफ कर कृषि के लिए भूमि तैयार करना। (2) लगान एकत्र करना। (3) धार्मिक न्यास के रूप में भूमि अथवा कर दान स्वीकार करना। (4) गाँव के सदाचार को बनाये रखना। (5) न्याय और दण्ड का पालन करें। (6) मठों के माध्यम से शिक्षा का प्रबन्ध करना। (7) आय-व्यय का हिसाब रखना और समय-समय पर गणक द्वारा उसकी गणना करना। प्रत्येक सामान्य शासन की सुविधा के लिये कई समितियों में बँटी थी— कृषि, लेखा-जोखा, शिक्षा, भूमि-प्रबन्ध, न्याय, देवालय समिति आदि।

सेना—चोलों ने सैनिक शक्ति के बल पर एक विशाल साम्राज्य निर्मित किया। उनकी नौ-सेना भी अभूतपूर्व थी। इसी शक्ति से इन्होंने दक्षिण-पूर्व एशिया पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया। स्थल सेना के मुख्य अंग थे— धनुर्धर (विल्लिगल), हाथियों के कोट (आनैयाट्कुल, कुंजिरमल्लर आदिर), घुड़सवार (कुडिरैच्चैवगर) तथा पैदल सेना (वडपेई कैकोलर), सेना कड़गम या पड़ेविडु (छावनी) में रहती थी। साठ हजार का विशाल हस्तिदल तथा डेढ़ लाख पैदल सैनिक चोल सेना में थे। सेना में अनेक सेनापति ब्राह्मण थे। जिन्हें ब्रह्माधिराज कहा जाता था।

चोल कला—चोल नरेशों के काल में दक्षिण भारत की द्रविड़ शैली का खूब विकास हुआ। मन्दिरों में सजावटपूर्ण खम्भे मिलते हैं। मुख्य मन्दिर के आगे एक ऊँचा द्वार बना मिलता है जिसे 'गोपुरम्' कहते हैं। इस शैली की कुछ अन्य विशेषताएँ— वर्गाकार विमान, मण्डप, पारम्परिक सिंह (चालि), बैकट तथा संयुक्त स्तम्भ का प्रयोग है। मन्दिर कई मंजिलों के हैं जो देखने में पिरामिड़ की तरह लगते हैं। राजराज प्रथम का तंजौर का शिव मंदिर (राजराजेश्वर मंदिर) द्रविड़ शैली का सबसे सुन्दर उदाहरण है। यह तेरह मंजिलों का है जिसमें ऊपर 82 वर्गफीट के आधार पर गगनचुम्बी विमान बना हुआ है। दक्षिण भारत में नहरों की प्रणाली चोलों की देन है। चोल मंदिरों में चिदम्बरम् और तंजौर के मन्दिर सर्वोत्कृष्ट हैं। तंजौर का शिव मंदिर का निर्माण 1011 ई. में हुआ। इस मंदिर में वैष्णव का शैव धर्म का समन्वय देखा जाता है। गंगइकोण्डचोलपुरम् का मन्दिर एक दूसरा सुन्दर नमूना है। इस काल में मर्ति कला में भी काफी प्रगति हुई, जिसका प्रतिरूप कांसे की बनी नटराज शिव की मूर्तियों में परिलक्षित होती है। कांसे के अतिरिक्त पत्थरों की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं।

समाज—चोल राजा शैव धर्मानुयायी थे। चोल लेखों में वैदिक कर्मकाण्ड की चर्चा बहुत कम है। केवल राजाधिराज के लेखों में अश्वमेध का उल्लेख है। दक्षिण भारत में स्त्रियों की स्थिति उत्तर भारत की अपेक्षा अच्छी थी। उच्च कुलों की स्त्रियाँ सम्पत्ति की स्वामिनी होती थीं और अपनी इच्छानुसार उसे बेच भी सकती थीं। देवदासी प्रथा प्रचलित थी। दास प्रथा भी दक्षिण भारत में प्रचलित थी।

साहित्य—चोल काल में तिरूत्तकदेवर ने जीवक चिन्तामणि नामक महाकाव्य की रचना की। जयोगगोन्दार ने 'कलिगुप्तप्पर्णि', कम्बन् ने रामावतट् कल्लकदम् आदि ग्रंथों की रचना की। महाविद्यालयों में इन्नाईरम, त्रिभुवनी, तरूवदुतुरई तथा तिरूवारियुट के महाविद्यालय अधिक विख्यात थे। वैष्णव दार्शनिक रामानुज (1012-1137 ई.) का जन्म

तिरूपति में हुआ था। वे तमिल ब्राह्मण थे। तेरहवीं शताब्दी के आचार्य मध्व ने कन्नड़ भाषा में उपदेश दिये।

धर्म—चोल साम्राज्य में शैव धर्म की प्रधानता थी और स्वयं चोल शासक इसी धर्म के अनुयायी थे। किन्तु वैष्णव, जैन और बौद्ध धर्मों के प्रति उनका उदारतापूर्ण दृष्टिकोण था। राजराज शैव धर्म का अनुयायी था किन्तु उसने विष्णु का मन्दिर बनवाया। इस काल के धर्म में मूर्तिपूजा पर विशेष बल दिखाई देता है। लोग तीर्थ यात्रा भी करते थे और इसका विशेष महत्त्व माना जाता था। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत आलवार सन्तों ने भक्ति का खूब प्रचार किया। शैव नायनारों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

ऊपर वर्णित राजवंशों के अतिरिक्त दक्षिण भारत के विविध भागों में समय-समय पर अन्य कई राजवंशों का भी उदय हुआ। ऊपर वर्णित राजवंशों के अतिरिक्त पाण्ड्य और होयसल अन्य प्रमुख राजवंश थे। अन्य राजवंश इतने प्रभावी नहीं थे। कुछ ऊपर वर्णित राजवंशों की ही पृथक् शाखायें थे।

17

हर्षोत्तरकालीन उत्तर भारत : राजपूत युग

(750 से 1200 ई. तक)

हर्ष के पश्चात् विविध राज्यों का उदय और इस युग की कुछ राजनीतिक विशेषतायें

हर्ष के पश्चात् भारतीय इतिहास के रंगमंच पर कई छोटे-छोटे राज्यों का उदय दिखाई पड़ता है। उत्तर भारत में हर्ष की मृत्यु के पश्चात् एक केन्द्रीय शक्ति की स्थापना करने वाला कोई व्यक्ति नहीं था। राजपूताना में गुर्जर-प्रतिहारों, बुन्देलखण्ड में चन्देलों और बंगाल में पालों ने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। कन्नौज में गहड़वाल वंश की स्थापना हुई। राजस्थान में चाहमानों तथा गुहिलों के राजवंश इस काल के अन्य प्रमुख राजवंश हैं। दक्षिण भारत में भी इस समय कई राज्यों का उत्कर्ष हुआ, जिनके विषय में हम पीछे विस्तार से पढ़ चुके हैं।

इस युग में प्रवेश करते ही हमारी दृष्टि तत्कालीन राजनीतिक एकता के अभाव पर पड़ती है। देश विविध छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। जो आपस में सदैव लड़ते रहते थे और किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सर्वथा अभाव था। इसका दुष्परिणाम उस समय सामने आया जब इस युग के अन्त में देश पर तुर्कों का आक्रमण हुआ। इस आक्रमण के सामने ये छोटे-छोटे राज्य बालू से बने मकानों की तरह धराशाही होते गए और देश पर विदेशी आक्रमणकारियों की सत्ता स्थापित हुई।

इस समय तक आते-आते राजा की शक्ति एकदम निरंकुश हो गई थी। यद्यपि उसकी सहायता के लिए मन्त्री आदि होते थे किन्तु राजा के ऊपर उनका तनिक भी नियन्त्रण नहीं रह गया था। दूसरी ओर स्थानीय शासन केन्द्र में स्थित राजा के हाथों से न होकर स्थानीय प्रधानों (सरदारों) द्वारा स्थापित होता था जो यद्यपि उसकी अधीनता स्वीकार करते थे किन्तु वास्तव में जिन पर उसका नियंत्रण नहीं के बराबर था। सामान्य रूप से उन्हीं स्थानीय प्रधानों (सरदारों) को सामन्त कहा जाता है। गुप्तकाल के पतन के बाद से भारत में सामन्तवादी व्यवस्था का विकास माना जाता है। इस काल में वह जड़ पकड़ चुकी थी। ये स्थानीय सामन्त हमेशा स्वतन्त्र होने की कोशिश करते रहते थे और केन्द्र को कमजोर बनाते रहते थे। इस युग में देश भक्ति नाम की कोई चीज बाकी नहीं बची थी। सभी सामन्त अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र की चिन्ता करते थे। वे अपने राजा को संकट में देखते ही स्वतन्त्र होने का प्रयास प्रारम्भ कर देते थे। इस प्रकार देश में एक प्रकार का

राजनीतिक खोखलापन-सा आ गया था।

हर्ष के पश्चात् कन्नौज का इतिहास

यशोवर्मन्–हर्ष की मृत्यु के पश्चात् 730 ई. तक कन्नौज के इतिहास के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। 730 ई. में वहाँ यशोवर्मन् नामक प्रतापी राजा राज्य कर रहा था। वह सम्भवतः मौखरि कुल का था। विजेता होने के साथ ही यह शासक कवियों का आश्रयदाता भी था। उत्तरामचरितम् के प्रख्यात् संस्कृत लेखक भारवि उसके दरबार में रहते थे। वाक्पतिराज उसका एक अन्य दरबारी कवि था, जिस ने उसकी बंगाल विजय को विषय बनाकर गउडवहो नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि यशोवर्मन् ने बंगाल पर आक्रमण किया और उसके आते ही बंगाल का शासक भयभीत होकर भाग गया। किन्तु दूसरे ही वर्ष बंगाल के अभिजात वर्ग के लोगों ने अपने कायर नरेश को आक्रमणकारी का सामना करने को बाध्य किया। किन्तु युद्ध में यशोवर्मन विजयी हुआ और बंगाल का राजा मारा गया। यशोवर्मन् ने समुद्र तट तक सम्पूर्ण बंगाल प्रदेश को रौंद डाला। ग्रन्थ में यशोवर्मन् की दिग्विजय का उल्लेख किया गया है जिस प्रसंग में उसे नर्मदा के किनारे पश्चिमी घाट तक बढ़ने और मरुदेश (राजस्थान) तथा श्रीकण्ठ (थानेश्वर) को विजय कर हिमालय पर्वत तक पहुँचते हुए बताया गया है, जिसके बाद वह कन्नौज लौटा। इस दिग्विजय वर्णन की प्रामाणिकता के विषय में कुछ कह सकना कठिन है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यशोवर्मन् एक शक्तिशाली शासक था।

731 ई. में उसने अपने एक मन्त्री को चीन के शासक के दरबार में भेजा। इस दौत्य सम्बन्ध का क्या उद्देश्य था, यह पता नहीं है। उसने कश्मीर के शासक ललितादित्य के साथ सहयोग कर तिब्बत के विरुद्ध अभियान किया और उसे जीत कर उस प्रदेश में जाने वाले दर्रे को बन्द करवा दिया।

यशोवर्मन् 740 ई. तक पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ शासन करता रहा। उसकी महत्त्वाकांक्षा कश्मीर-नरेश ललितादित्य की महत्त्वाकांक्षा से टकराई और दोनों के बीच काफी दिनों तक लड़ाई चलती रही। यशोवर्मन् ललितादित्य के साथ हुए युद्ध में पराजित हुआ और मारा गया। यशोवर्मन् के उत्तराधिकारियों के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

आयुध कुल–यशोवर्मन् के बाद हम कन्नौज पर तीन शासकों को राज्य करते हुए पाते हैं। इन सबके नाम 'आयुध' में समाप्त होते हैं और उनके राजवंश का कहा जा सकता है। इनमें प्रथम का नाम वज्रायध था। वह कश्मीर के शासक ललितादित्य के पौत्र जयपीड द्वारा पराजित हुआ था। दूसरा शासक इन्द्रायुध बंगाल के शासक धर्मपाल द्वारा पराजित हुआ। (810 ई.) जिसने उसके स्थान पर चक्रायुद्ध को गद्दी पर बिठाया। चक्रायुद्ध को 816 ई. में भीनमाल (राजस्थान) के प्रतिहार शासक नागभट ने पराजित कर गद्दी से हटा दिया।

उत्तर भारत के प्रमुख राजवंश

(क) पश्चिमोत्तर भाग

सिन्ध–हर्ष के मरने पर सिन्ध में एक स्वतन्त्र राजवंश स्थापित हो गया। युवान च्वांग से पता चलता है कि हर्ष के समय में वहाँ एक शूद्रवंश का राज्य था। इस वंश

के राजा अपने को 'राय' कहते थे। हर्ष के बाद चार पीढ़ियों तक सिन्ध में इसी राजवंश का राज्य रहा। इसके अन्तिम राजा का नाम साहसी था। उसके मरने के बाद चच नामक उसके ब्राह्मण मन्त्री ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। उसने चालीस वर्ष तक राज्य किया और कश्मीर तक राज्य-विस्तार किया। उसके बाद उसका भाई चन्द्र गद्दी पर बैठा किन्तु उसके विषय में खास जानकारी नहीं मिलती। चन्द्र के मरने के बाद चच का पुत्र दाहिर राजा बना। दाहिर के समय 712 ई. में सिन्ध पर अरबों का आक्रमण हुआ।

काबुल और पंजाब के शाही राजा–कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद भी कुषाणों के वंशज काबुल की घाटी में एक छोटे राज्य में बने रहे। समुद्रगुप्त के समय ये 'देवपुत्र शाहिशाहानुशाही' कहलाते थे। हिन्दू समाज की वर्ण व्यवस्था में इन्हें क्षत्रिय मान लिया गया था। अलबेरुनी के अनुसार इन्होंने काबुल पर सात पीढ़ियों तक राज्य किया। अलबेरुनी ने इन राजाओं को हिन्दू तुर्क कहा है। सातवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक ये अरबों को आगे बढ़ने से रोकते रहे। इस वंश का अन्तिम राजा लगतुमान था। इसे इसके ब्राह्मण मन्त्री कल्लर ने गद्दी से हटा दिया और स्वयं राजा बना। कल्लर के राजवंश को अलबेरुनी ने 'हिन्दू शाही' कहा है। राजतरंगिणी से भी इन शाही शासकों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है और इनमें से कुछ के सिक्के भी मिले हैं। 870-71 ई. में शाही राजाओं की राजधानी उद्भाण्डपुर पर–जो काबुल घाटी पर थी–अरबों का अधिकार हो गया, जिसके पश्चात् उन्होंने पूर्वी पंजाब में भटिंडा को अपनी राजधानी बनाया। जिस समय वहाँ जयपाल राजा था, उसी समय गजनी के तुर्कों के आक्रमण शुरू हुए। 988 ई. में जयपाल सुबुक्तगीन के हाथों निर्णायक रूप से पराजित हुआ।

कश्मीर का इतिहास–सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कर्कोटक राजवंश की स्थापना हुई। इसका संस्थापक दुर्लभवर्धन हर्ष का समकालीन था और सम्भवतः उसकी अधीनता स्वीकार करता था। दुर्लभवर्धन के पश्चात् उसके तीनों पुत्रों ने क्रम से राज्य किया, जिनमें तीसरा ललितादित्य मुक्तापीड (724-760 ई.) एक प्रतापी शासक था। इसने कन्नौज के राजा यशोवर्मन् को हराकर उसके राज्य के पश्चिमी भाग को छीन लिया। कल्हण की राजतरंगिणी में उसकी विजयों का विवरण मिलता है जिसके अनुसार कन्नौज पर विजय प्राप्त करने के अतिरिक्त उसने गौड (बंगाल), तुषार देश (आक्सस का ऊपरी भाग), और दरददेश (आधुनिक कश्मीर का ऊपरी भाग) तथा भूटान और तिब्बत पर भी आक्रमण किया। वह विजेता होने के साथ-साथ कलाप्रेमी शासक था। उसने कई मन्दिर बनवाये जिनमें सूर्य को उद्दिष्ट मार्तण्ड मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध और आज भी विद्यमान है। ललितादित्य के साथ उसका पौत्र जयापीड इस वंश का अगला प्रतापी शासक हुआ। इसने भी मध्य प्रदेश, नेपाल और बंगाल पर आक्रमण किया। राजतरंगिणी के अनुसार उसने 31 वर्ष तक शासन किया। धीरे-धीरे वह वंश दुर्बल होता गया और अन्त में नवीं शताब्दी के मध्य में यहाँ उत्पल वंश स्थापित हुआ।

उत्पल वंश 939 ई. तक चला। उत्पल वंश का अन्त होने पर कश्मीर के ब्राह्मणों ने यशस्कर को राजा बनाया किन्तु शीघ्र ही वह अपने मन्त्री पर्वगुप्त द्वारा हटा दिया गया। पर्वगुप्त कुल की सबसे प्रसिद्ध शासिका दिद्दा थी। उसका पूरा शासन 59 वर्षों तक

(950-1009 ई.) रहा। कश्मीर के इतिहास में उसका शासनकाल एक भ्रष्ट शासनकाल के रूप में याद किया जाता है। अपने जीवनकाल में ही उसने राज्य को लोहर वंश के अपने भतीजे संग्रामराज को दे दिया।

संग्रामराज दुर्बल शासक था और उसके बाद आने वाले शासक भी दुर्बल और अत्याचारी थे। इन्होंने प्रजा पर शोषण के लिए तुर्क सेनापति रखे जो बाद में स्वयं उनके लिए घातक हुआ। यह वंश किसी प्रकार 1339 ई. तक घिसटता रहा। 1339 ई. में यहाँ के तुरुष्क (मुसलमान) सेनापति शाहमीर ने श्री संसदीन या शमसुद्दीन की उपाधि धारण कर कश्मीर में मुस्लिम राजवंश की नींव डाली। सौ साल के अन्दर-अन्दर धीरे-धीरे कश्मीर की जनता का धर्म परिवर्तन कर लिया गया और यहाँ मुस्लिम राजवंश जड़ पकड़ता गया। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह अकबर के पहले तक सुरक्षित रहा। 1587 ई. में यह मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया।

(ख) (बंगाल)

पाल वंश–शशांक के पश्चात् बंगाल पर हर्ष का अधिकार हो गया था। किन्तु 647 ई. में हर्ष की मृत्यु के पश्चात् यहाँ पर अराजकता फैली। आसाम के शासक भास्कर वर्मा ने कर्णसुवर्ण को अपने अधिकार में कर लिया। बाद में कन्नौज के राजा यशोवर्मन् ने गौड़ के राजा को हराया और पुनः कश्मीर के ललितादित्य ने भी बंगाल पर विजय किया। अन्य कई राजाओं ने भी बंगाल पर आक्रमण किया। इसी अस्त व्यस्तता की स्थिति में 750–60 ई. में साधारण कुल में उत्पन्न गोपाल नामक एक व्यक्ति ने बंगाल में पालवंश की स्थापना की। गोपाल ने मगध तक अपनी शक्ति का विस्तार किया और 45 वर्षों तक शासन किया। यह बौद्ध धर्म का अनुयायी था और इसने ओदन्तपुरी में एक बौद्ध विहार की स्थापना की।

गोपाल के बाद उसका पुत्र धर्मपाल राजा बना। वह प्रतापी शासक था और उस समय की अस्त व्यस्त स्थिति से लाभ उठाकर उसने अपनी राज्य सीमाओं का काफी विस्तार किया। उसने कन्नौज पर विजय किया और इन्द्रायुध को हटा दिया। वहाँ की गद्दी पर अपने विश्वासपात्र चक्रायुध को बिठाया। कन्नौज की सभा में बीस राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार की। अपने पिता की भाँति वह भी बौद्ध था। उसने विक्रमशिला और सोमपुर (पहाड़पुर) के बौद्ध विहारों की स्थापना की। अपने शासनकाल में उसे राष्ट्रकूटों और प्रतिहारों से संघर्ष करना पड़ा और वह बारी-बारी से इन दोनों शक्तियों से पराजित हुआ फिर भी वह एक महान् शासक था। उसने 'राजाधिराज महेश्वर' और 'परमभट्टारक' उपाधियाँ धारण की थीं और उसका प्रभाव काफी बड़े क्षेत्र पर था। उसने 64 वर्षों तक शासन किया।

देवपाल इस वंश का तीसरा शासक था जिसने 35 वर्षों तक शासन किया। वह एक महान् विजेता था जिसने उड़ीसा और आसाम पर विजय प्राप्त किया और पश्चिम में प्रतिहारों को आगे बढ़ने से रोका। उसने मुंगेर को अपनी राजधानी बनाई। वह भी बौद्ध था। उसने कई बौद्ध विहार और मन्दिर बनवाए तथा नालन्दा विश्वविद्यालय के विकास में विशेष रुचि दिखाई। इसके समय में पाल साम्राज्य अपनी उन्नति के उत्कर्ष

पर पहुँच गया।

देवपाल के बाद पाल शक्ति का ह्रास प्रारम्भ हुआ। देवपाल के बाद नारायणपाल राजा बना। इसके समय में प्रतिहारों ने पाल साम्राज्य के पश्चिमी भाग को अपने राज्य में मिला लिया। राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष ने भी बंगाल पर आक्रमण किया और बाद में उसके पुत्र कृष्ण द्वितीय ने भी अपने पिता की विजय को दोहराया। इन विभिन्न आक्रमणों से धीरे-धीरे पालों की हालत खराब होती गई। नारायणपाल के बाद राज्यपाल और गोपाल द्वितीय शासक हुए। गोपाल द्वितीय के समय में उत्तर बंगाल भी पालों के हाथ से निकल गया और उसी के समय में चंदेल यशोवर्मन् और उसके पुत्र धंग ने भी बंगाल पर आक्रमण किए।

990 ई. में गोपाल द्वितीय का पुत्र महिपाल प्रथम राजा बना। उसने अपने पैतृक राज्य के कुछ भागों पर फिर से अधिकार किया। किन्तु, वह चोल शासक राजेन्द्र चोल की सेनाओं से पराजित हुआ जिससे पाल शक्ति को बड़ा आघात पहुँचा। फिर भी उसके समय में उत्तर-पूर्व और पश्चिमी बंगाल से पालों की शक्ति दृढ़ हुई और पश्चिम में पाल राज्य की सीमा वाराणसी तक पहुँच गई। तिरहुत पर भी उसका अधिकार था। उसकी मृत्यु के बाद फिर से पाल राजवंश का पतन प्रारम्भ हुआ।

महिपाल के बाद उसका पुत्र नयपाल राजा हुआ। रामपाल इस वंश का अन्तिम महत्त्वपूर्ण शासक था। उसने कैवर्तों तथा कलिंग और कामरूप पर विजय किया। किन्तु शीघ्र ही पूर्वी बंगाल पर सेना ने और मिथिला पर कर्णाटों ने अपना अधिकार जमा लिया। 1199 ई. में इस वंश का शासक गोविन्दपाल था जो सम्भवतः इस वंश का अन्तिम राजा था। पाल राजवंश ने कुल मिलाकर बंगाल पर लगभग 400 वर्षों तक शासन किया।

पाल राजवंश का योगदान

शिक्षा और साहित्य–शिक्षा के क्षेत्र में पाल शासकों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। नालन्दा इनके समय में एक प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। नालन्दा के अतिरिक्त पाल शासकों ने विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और सोमपुर में विहार बनवाए और उन्हें शिक्षण केन्द्रों के रूप में व्यवस्थित किया। विक्रमशिला का विश्वविद्यालय नालन्दा के समान ही प्रसिद्ध था और धीरे-धीरे इसका महत्त्व और भी बढ़ रहा था। आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पाल शासक धर्मपाल ने विक्रमशिला बौद्ध विहार की स्थापना की थी जिसने बाद में एक विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण किया। कुछ लोगों का विचार है कि धर्मपाल का ही एक अन्य नाम विक्रमशील था जिसके कारण इसका नाम विक्रमशिला पड़ा। यह कोशी और गंगा नदियों के संगम पर स्थित था तथा 10-12 मीलों में फैला हुआ था। तिब्बती लेखक तारानाथ के विवरण से पता चलता है कि यहाँ एक महाबोधि मन्दिर तथा 107 छोटे-छोटे मन्दिर थे। ज्ञानपद, वैरोचन, रक्षित, रत्नवज्र तथा रत्नकीर्ति यहाँ के प्रकाण्ड विद्वानों में थे। प्रतीश दीपकर श्रीज्ञान यहाँ के सर्वप्रसिद्ध विद्वान् थे जिन्हें निमन्त्रण देकर तिब्बत बुलाया गया था। वहाँ जाकर उन्होंने 70 ग्रन्थों की रचना की थी और वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। विश्वविद्यालय में 6 महाविद्यालय थे जिनमें प्रत्येक में अलग-अलग द्वार-पंडित होते थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों की इन द्वार-पंडितों द्वारा परीक्षा ली जाती

थी और उसमें उत्तीर्ण होने के बाद ही प्रवेश पाया जा सकता था। विश्वविद्यालय में बहुत अच्छा पुस्तकालय था। यहाँ तिब्बत और दक्षिण पूर्वी एशिया से विद्यार्थी पढ़ने आते थे। विदेशियों के लिए अलग छात्रावासों का प्रबन्ध था और वहाँ के विद्वानों को तिब्बत में निमन्त्रित किया जाता था। यद्यपि यह बौद्ध शिक्षा का केन्द्र था किन्तु अन्य सम्प्रदायों के भी ग्रन्थों और सिद्धान्तों की यहाँ शिक्षा दी जाती थी। पढ़ाई समाप्त होने पर दीक्षांत समारोह का आयोजन किया जाता था जिसमें विद्वानों को सम्मानित किया जाता था। यह विश्वविद्यालय लगभग 400 वर्षों तक अस्तित्व में रहा।

इस काल में कई ग्रन्थों की रचना हुई और साहित्य का विकास हुआ। संध्याकरनन्दी ने अपने आश्रयदाता राजा रामपाल के ऊपर रामपालचरित नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की विशिष्टता यह है कि इसमें प्रत्येक पद के दो अर्थ निकलते हैं–एक दशरथ नन्दन भगवान राम के ऊपर घटित होता है और दूसरा रामपाल के ऊपर ठीक उतरता है। हरिभद्र इस काल के एक अन्य प्रसिद्ध कवि थे। विक्रमशिला विश्वविद्यालय में विद्वानों का जमघट था और कमलशील, अतीश, राहुलभद्र और धर्मपाल यहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् थे। इन विद्वानों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार तथा प्रसार किया और कई ग्रन्थों की रचना की। बौद्ध विचारकों ने साधारण जनता की भाषा में चर्यापदों की रचना की। यही समय बंगाली लिपि के विकास का भी माना जाता है। इस काल में लिखे गए कई ग्रन्थों की पण्डुलिपियाँ आज भी मिलती हैं।

कला–पाल शासकों ने स्थापत्य कला और मूर्तिकला के विकास को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने अपने राज्य में कई बौद्ध मन्दिरों और विहारों का निर्माण कराया। इस काल में मूर्तिकला में एक नई कला शैली का विकास हुआ जिसे 'मध्यकालीन पूर्वी कला शैली' कहते हैं। गया मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ से काले रंग के पत्थर की बनी हुई कई मूर्तियाँ मिलती हैं। गया के पास कुर्किहार नामक स्थान पर काँसे की मूर्तियाँ बनती थी, जहाँ से उस समय की कई मूर्तिया मिली हैं। इस काल में बने हुए किसी भवन का अवशेष नहीं मिला है। पालों के शासनकाल में चित्रकला का भी विकास हुआ। ये चित्र बौद्ध धर्म के तन्त्रयान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। यहाँ से इस कला का प्रसार और विकास तिब्बत में भी हुआ।

सेन वंश–पालों के बाद बंगाल में सेन वंश का प्रभुत्व स्थापित हुआ । ये मूलतः कर्नाटक के निवासी थे। यहाँ से ये उड़ीसा में आकर बस गए और पाल शक्ति के क्षीण होने पर धीरे-धीरे उन्होंने उत्तर में अपनी शक्ति बढ़ा ली। इस वंश का संस्थापक सामन्तसेन था। उसका पुत्र विजयसेन (लगभग 1095-1158 ई) इस वंश का प्रमुख शासक था, जिसने कई प्रदेशों को जीता और पालों के राज्य के पूर्वी प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। नेपाल और आसाम के राजाओं को भी उसने परास्त किया। कलिंग के राजा अनन्तवर्मन् चोडगंग से उसके मित्रतापूर्ण सम्बन्ध थे। विजयसेन के बाद बल्लालसेन राजा बना। इनका शासनकाल 1108 से 1119 ई. तक था। यह एक साहित्य प्रेमी शासक था और उसने दानसागर तथा अद्‌भुतसागर (ज्योतिष ग्रन्थ) नामक ग्रन्थों की रचना की। पालों के विपरीत सेन शासक हिन्दू धर्म को मानने वाले थे जो तान्त्रिक धर्म के निकट था।

बल्लालसेन ने ब्राह्मण धर्म के प्रचार के लिए निकट के प्रदेशों तथा नेपाल और भूटान में प्रचारक भेजे। 1119 में उसका पुत्र लक्ष्मणसेन शासक बना। गीतगोविन्द नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का रचयिता जयदेव उसके दरबार में था। गीतगोविन्द वैष्णव सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसके श्लोक अपनी गेयात्मकता तथा लयात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं। धोयी उसके दरबार का एक अन्य कवि था। उसने पवनदूत नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। लक्ष्मणसेन योद्धा शासक था। एक लेख के अनुसार उसने पुरी, प्रयाग और वाराणसी में अपने विजय स्तम्भ स्थापित किए और कामरूप पर भी आक्रमण किया। प्रयाग और वाराणसी गहड़वालों के आधिपत्य में थे और इन पर आक्रमण करने में उसे जयचन्द्र जैसे शक्तिशाली शासक से युद्ध करना पड़ा होगा यह संभव नहीं लगता कि वह जयचन्द्र से इन नगरों को छीन सका होगा। मुस्लिम इतिहासकार उसे एक कायर शासक के रूप में चित्रित करते हैं। उन्होंने लिखा है कि जब लगभग 1197 ई. में मुहम्मद बिख्तयार बिहार को जीतता हुआ और बौद्ध भिक्षुओं का वध करता हुआ 1199 ई. में अत्यल्प संख्यक सैनिकों के साथ नदिया (सेनों की राजधानी) पहुँचा तो लक्ष्मणसेन बिना किसी विरोध के अपने राजप्रसाद के पिछले द्वार से भाग निकला। यहाँ से भाग कर लक्ष्मणसेन विक्रमपुर चला गया। यहाँ लगभग 18 वर्षों तक उसके दो पुत्रों ने शासन किया। जिसके बाद इस राजवंश का अन्त हो गया।

राजपूत युग

भारत की राजनीतिक एकता का विघटन हर्षवर्धन के मृत्युपरांत एक बार पुनः प्रारम्भ हुआ। भारतीय राजनीति में पुनः एक बार अन्धकारमय स्थिति उत्पन्न हुई। उत्तर-भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में खण्डित हुआ और उनमें पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हुआ। इसी दौरान राजपूत राजवंश का उदय हुआ, जिनका युग सातवीं शताब्दी से बाहरवीं शताब्दी तक माना जाता है और इस युग को 'राजपूत युग' के नाम से जाना जाता है। प्रसिद्ध इतिहासकार डा. स्मिथ का विचार है कि "वे (राजपूत) हर्ष की मृत्यु के बाद से उत्तरी भारत पर मुसलमानों के आधिपत्य तक इतने प्रभावशाली हो गए थे कि सातवीं शताब्दी के मध्य से बाहरवीं शताब्दी की समाप्ति तक के समय को 'राजपूत युग' कहा जा सकता है।"

किन्तु राजपूतों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस विषय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है।* संस्कृत भाषा में 'राजपूत' शब्द नहीं मिलता किन्तु 'राजपुत्र' शब्द अवश्य मिलता है। राजपूत इसी का विकृत रूप है। यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किसी जाति विशेष के लिए नहीं होकर सामान्य रूप से क्षत्रिय अथवा योद्धाओं के लिए हुआ है। मुसलमानों के आगमन के पूर्व सभी शासक सामान्य रूप से क्षत्रिय कहलाते थे। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् राजपूत शब्द का प्रयोग एक जाति के रूप में होने लगता है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने यह विचार

* राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में प्रासंगिक साक्ष्यों के साथ विविध मतों के विस्तारपूर्ण विवेचन के लिए द्र. — डा. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास (तृतीय संस्करण, आगरा, 1978) पृ. 28-35.

गया है कि जब प्राचीन क्षत्रिय कुलों ने मुसलमानों के हाथों अपनी स्वतन्त्रता खो दी और सामन्तों की स्थिति में आ गए तो चूंकि वे पहले राजवंशीय थे, अतः उन्हें सामान्य रूप में राजपूत कहा जाने लगा।

स्वयं राजपूत अपने को सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी मानते हैं। ऐसे कई शिलालेख मिले हैं जिनमें यह बात कही गयी है। भोज के ग्वालियर अभिलेख और बाउक के जोधपुर अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजपूत अपना सम्बन्ध रामचन्द्र से जोड़ते रहे हैं। सीकर जिले में स्थित हर्ष मन्दिर से प्राप्त शिलालेख में चौहान राजपूत वंश को सूर्यवंशी बताया गया है। चारणों ने भी राजपूतों को सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी बताया है। पृथ्वीराज रासो नामक ग्रन्थ में 36 राजकुलों का उल्लेख किया गया है और उन्हें सूर्य, चन्द्र और यदुवंश से सम्बन्धित किया गया है। हम्मीर महाकाव्य में चौहानों को सूर्य-पुत्र बताया गया है। परमार, चालुक्य, प्रतिहार तथा चौहान राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में एक परम्परा चन्द बरदाई के प्रसिद्ध काव्य पृथ्वी-राजरासो में मिलती है। इसमें कहा गया है कि एक बार जब विविध ऋषिगण आबू पर्वत पर धार्मिक अनुष्ठान कर रहे थे उस समय दैत्य लोग बार-बार उनके अग्नि कुण्ड में हड्डी-माँस, मल-मूत्र आदि डाल कर यज्ञ को अपवित्र कर देते थे। इन दैत्यों के विनाश के लिए वशिष्ठ मुनि ने उसी अग्नि कुण्ड से तीन योद्धा उत्पन्न किए जो परमार, चालुक्य और प्रतिहार कहलाए। किन्तु जब ये तीनों योद्धा भी यज्ञ की रक्षा न कर सके तो उन्होंने चौथा योद्धा उत्पन्न किया जो बलिष्ठ और सभी प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित था। यह योद्धा चौहान कहलाया और इस योद्धा ने दैत्यों को मार भगाया। राजपूतों की अग्नि कुण्ड से उत्पन्न होने की इस परम्परा की ऐतिहासिकता में जहाँ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है और इसे चन्द्र बरदाई की मानसिक उपज बताया है, वहीं कुछ विद्वानों ने इस परम्परा का उपयोग अलग-अलग रूपों में अपने-अपने मत के समर्थन के लिए किया है।

सामान्य रूप से राजपूतों की उत्पत्ति विषयक विवाद को दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक ओर तो वे विद्वान् है जो इनकी विदेशी उत्पत्ति बतलाते हैं तथा इन्हें गुर्जर, हूण आदि विदेशी जातियों का वंशज मानते हैं जो पाँचवीं और छठी शताब्दियों में पश्चिमोत्तर से होती हुई भारत में बस गई थीं। दूसरी ओर विद्वानों का दूसरा वर्ग है जो इन्हें मूलतः भारतीय उत्पत्ति का मानता है।

प्रथम वर्ग के विद्वानों में टॉड और विन्सेन्ट स्मिथ के नाम उल्लेखनीय हैं। टॉड के अनुसार, राजपूत शक अथवा सीथियन जाति के वंशज हैं। यह जाति मध्य एशिया से यहाँ आई और कालान्तर में इसे अग्नि संस्कार द्वारा पवित्र कर जाति व्यवस्था के अन्तर्गत अपना लिया गया। चूंकि इनका काम क्षत्रियों का था अतः इन्हें भी क्षत्रियों की श्रेणी में रखा गया और इन्हें राजपूत कहा गया। अपने मत के समर्थन में टॉड ने राजपूतों में प्रचलित रीति-रिवाजों—यथा अश्वपूजा, शस्त्र पूजा, सुरा प्रेम, चारण-भाटों को प्रश्रय, समाज में स्त्रियों का स्थान, सती-प्रथा आदि और शकों के रीति-रिवाजों में समानता बताई और यह कहा कि दोनों जातियाँ मूलतः एक ही हैं। इनका विचार है कि बाद में इन्होंने अपने को सूर्यवंशी अथवा चन्द्रवंशी कहना प्रारम्भ किया और इस प्रकार प्राचीन काल के क्षत्रिय

कुलों से अपने सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया। स्मिथ का कहना है कि राजपूत-जाति आठवीं-नवीं शताब्दी में एकाएक प्रकट होती है। इस आधार पर उन्होंने राजपूतों को उन हूणों की सन्तान माना है जो राजस्थान में आकर बस गए थे और कालान्तर में जिन्होंने यहाँ की परम्पराओं को अपना लिया और भारतीय नाम धारण कर लिया।

श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा सी.वी. वैद्य ने राजपूतों को शुद्ध भारतीय आर्यों की सन्तान माना है। उनका कहना है कि राजपूतों के आदर्शों और कृत्यों में प्राचीन भारतीय क्षत्रियों की परम्परा का ही निर्वाह होता हुआ दिखाई पड़ता है और शरीरिक दृष्टि से भी वे आर्यों की सन्तान जान पड़ते हैं। वैद्य के अनुसार, गुर्जर-प्रतिहार भी शुद्ध आर्यों की सन्तान थे। कुछ विद्वानों ने, कुछ राजपूतों को ब्राह्मणों की सन्तान बताया है। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार, मेवाड़ का गुहिलोत वंश नागर जाति के ब्राह्मण गुहेदत्त से उद्‌भूत हुआ था। यह उल्लेखनीय है कि जयदेव के गीत गोविन्द की अपनी टीका में मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने गुहिलोत को नागर ब्राह्मण गुहेदत्त की सन्तान माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजपूतों की उत्पत्ति के विषय से एकमत नहीं हैं। इस प्रसंग में दो मुख्य मत मिलते हैं जिनमें से एक के अनुसार वे विदेशी थे और दूसरे के अनुसार वे शुद्ध भारतीय थे। किन्तु सबसे अधिक मान्य मत यह है कि राजपूतों की उत्पत्ति प्राचीन क्षत्रियों से हुई थी किन्तु उनमें विदेशियों का रक्त भी मिश्रित है। बहुत सारी विदेशी जातियाँ भी जिन्होंने शासन किया क्षत्रिय वर्ण की मान ली गई और कालान्तर में राजपूत कहलाई। इस प्रसंग में कुछ बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। प्राचीन भारत में जो भी राज्य करता था उसे और उसके वंशजों को धीरे-धीरे क्षत्रिय वर्ण का स्वीकार कर लिया जाता था। बाद में भी हम देखते हैं कि शिवाजी को भी, जो साधारण किसान परिवार के थे, राज्याभिषेक के बाद क्षत्रिय स्वीकार कर लिया गया।

यद्यपि अनेक इतिहासकार राजपूतों की उत्पत्ति वैदिककालीन क्षत्रियों से स्वीकार नहीं करते, जिनमें 'क्रूक' जैसे इतिहासकारों की गणना की जा सकती है, किन्तु राजपूतों को भारतीय मानना ही सर्वाधिक तर्कसंगत है। डॉ. दशरथ शर्मा के विचारानुसार "राजपूतों का भारतीय राजनीतिक पटल पर उदय विदेशी आक्रमणों के विरोध करने की प्रक्रिया के दौरान हुआ था तथा उन्होंने स्वेच्छापूर्वक राष्ट्र एवं उसके लोगों तथा संस्कृति की रक्षा के लिए क्षत्रियों के कर्तव्य का भार अपने कन्धों पर ले लिया।"*

डा. विशुद्धानन्द पाठक ने उन इतिहासकारों की, जो कि राजपूतों को विदेशी प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, आलोचना में लिखा है, "यूरोपीय विद्वानों द्वारा गुर्जर-प्रतिहारों को खजरों से मिलाने में मूलतः उनके भीतर की महत्ता सम्बन्धी मानसिक ग्रन्थि मुख्य कारण थी और उनका अर्द्धचेतन मन कदाचित अपनी ही तरह यहाँ के शासकों को विदेशी समझ लेने में तर्कविहीन हो चुका था। फलतः वे अधिकाँश भारतीय सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं नृतात्विक तत्वों का मूल मध्य एशिया एवं यूरोप में ढूँढने का प्रयत्न कर रहे थे। भारत की तत्कालीन हीन अवस्था एवं यूरोप की विकासोन्मुखी चतुर्दिक प्रतिभा एवं सम्पत्ति

* दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रूद ऐजेज, पृ.106.

भी कदाचित् इस प्रवृत्ति का कारण थी।* यद्यपि कुछ भारतीय इतिहासकारों द्वारा भी राजपूतों को विदेशी बताया गया परन्तु अधिकांश भारतीय विद्वान् राजपूतों को भारतीय उत्पत्ति का ही मानते हैं। विद्वानों के अनुसार अंग्रेज इतिहासकार राजपूतों को विदेशी प्रमाणित कर भारतीयों को हीन व स्वयं को उच्च स्थान देना चाहते थे। भारतीय इतिहासकारों के कथनानुसार यदि राजपूत विदेशी होते तो मुसलमान इतिहासकार एवं यात्री अपने वर्णनों में कहीं न कहीं इस बात को उल्लेख अवश्य करते, किन्तु ऐसा नहीं है, अतः राजपूत अवश्य भारतीय ही रहे होंगे।

राजपूतों की उत्पत्ति जो भी रही हो, यह निर्विवाद तथ्य है कि वे सदैव अपने को वैदिक सभ्यता और संस्कृति के संरक्षक मानते रहे और इस कार्य हेतु सदैव सभी प्रकार का त्याग और बलिदान करने को तत्पर रहे। मूल क्षत्रिय जाति में विदेशी जातियाँ भी इस प्रकार पच गई कि वे मूल धारा से सर्वथा एकाकार हो गई और उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहा।

राष्ट्रकूट वंश

इनकी स्थापना दन्तिदुर्ग ने लगभग 736 ई. में की थी। उसने नासिक को अपनी राजधानी बनाया। इसके उपरान्त इन शासकों ने मान्यखेत (आधुनिक मालखेड) को अपनी राजधानी बनाया। राष्ट्रकूटों ने 736 ई. से 973 ई. तक राज्य किया। इस वंश में 14 शासक हुए, जो तिथिक्रमानुसार क्रमशः दन्तिदुर्ग (736-756 ई), कृष्ण प्रथम (756-72 ई), गोविन्द द्वितीय (773-80 ई), ध्रुवधारा वर्ष (780-93 ई), गोविन्द तृतीय (793-814 ई), शर्व अमोघवर्ष प्रथम (814-78 ई), कृष्ण द्वितीय (878-914 ई), इन्द्र तृतीय (914-27 ई), अमोघवर्ष द्वितीय (928-29 ई), गोविन्द चतुर्थ (930-36 ई), अमोघवर्ष तृतीय (936-39 ई), कृष्ण तृतीय (939-67 ई), खोट्टिग (967-72 ई) और कर्क्क द्वितीय (972-73 ई) थे।

दन्तिदुर्ग वातापी के चालुक्यों के अधीन सामन्त था। उसने अन्तिम चालुक्य शासक कीर्तिवर्मा द्वितीय को पराजित करके दक्षिण में चालुक्यों की सत्ता समाप्त कर दी। कृष्ण प्रथम ने एलोरा के सुप्रसिद्ध कैलाशनाथ मन्दिर का निर्माण करवाया। चौथे शासक ध्रुव ने गुर्जर प्रतिहार शासक वत्सराज को पराजित किया और पाँचवे शासक गोविन्द तृतीय ने उत्तरी भारत पर आक्रमण करके गुर्जर प्रतिहार शासक नागभट्ट द्वितीय और पाल शासक धर्मपाल को पराजित किया। उसने राष्ट्रकूटों के साम्राज्य को मालव प्रदेश से दक्षिण में साँची तक विस्तृत कर दिया। छठा शासक अमोघवर्ष धर्म भीरु और शान्तिप्रिय था, जिसने लगभग 64 वर्षों तक राज्य किया। उसी ने मान्यखेत (मालखेड़) को राष्ट्रकूटों की राजधानी बनाया। अरबयात्री सुलेमान ने अमोघवर्ष की गणना विश्व के तत्कालीन चार महान् शासकों में की। कृष्ण द्वितीय तथा इन्द्र तृतीय ने कन्नौज के तत्कालीन शासक महीपाल को पराजित करके उसे भगाने को विवश कर दिया। बारहवें शासक कृष्ण द्वितीय के शासनकाल में दक्षिण के चोल शासकों से एक दीर्घकालीन संघर्ष आरम्भ हुआ, जो

* उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ 122-123.

राष्ट्रकूटों के उत्तराधिकारी चालुक्यों के राज्यकाल में भी चलता रहा।

राष्ट्रकूटों का पराभव कल्याणी के चालुक्यों द्वारा हुआ। चालुक्य शासक तैलप ने 973 ई. में इस वंश के अन्तिम शासक कर्क द्वितीय को पराजित करके मान्यखेत पर अधिकार कर लिया। राष्ट्रकूट शासक प्राचीन हिन्दू धर्म के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने कई भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया। वे संस्कृत तथा कन्नड़ साहित्य के पोषक थे। अरबों ने इस वंश के शासकों को बल्दरा (बल्लराज) सम्बोधित किया है।

गंग वंश

दूसरी से ग्यारहवीं शताब्दी ई. तक मैसूर के अधिकाँश भाग के शासक थे। इस वंश के प्रथम शासक कोंगनिवर्मा ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की और अपने राज्य का काफी विस्तार किया। दसवीं शताब्दी के गंग राजा जैन धर्म आश्रयदाता थे। 983 ई. में गंग राजो राजमल्ल चतुर्थ के मन्त्री चामुण्डराय ने श्रवण-बेलगोला में गोमतेश्वर (बाहुबली–प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र) की 57 फुट ऊंची विशाल प्रतिमा का निर्माण कराया। गोमतेश्वर या बाहुबली का महामस्तकाभिषेक समारोह उसी समय से प्रति 12 वर्ष पर मनाया जाता है। वर्ष 93 के दिसम्बर माह में भी जैनियों द्वारा यह समारोह धूम-धाम से मनाया गया। गंगों की शक्ति को विष्णुवर्धन (1110-41 ई.) ने तलकांड़ के युद्ध में नष्ट कर दिया।

गुर्जर-प्रतिहार राजवंश

गुर्जर-प्रतिहार वंश को कुछ विद्वानों ने विदेशी उत्पत्ति का माना है। राजोर (अलवर) लेख में 'गुर्जर-प्रतिहारान्वय' पद मिलता है जिसका अर्थ है गुर्जरों की प्रतिहार जाति। इन विद्वानों का मत है कि गुर्जर लोग मध्य एशिया की एक जाति थे जो गुप्त साम्राज्य का पतन होने पर हूणों के साथ अथवा कुछ समय पश्चात् पश्चिमोत्तर मार्ग से भारत आई। श्री सी.वी. वैद्य ने इस मत का प्रतिवाद किया है और उन्हें शुद्ध आर्यों की सन्तान माना है। इस वंश का उदय दक्षिण-पश्चिम राजपूताना में हुआ, जिसे प्राचीन काल में गुर्जरत्रा कहा जाता था। इसी कारण इस वंश को गुर्जर-प्रतिहार कहते हैं।

'प्रतिहार' का अर्थ ड्योढ़ीदार होता है। ये अपने को लक्ष्मण का वंशज मानते थे जो राम के दरवाजे पर प्रतिहार (ड्योढ़ीदार) का काम करते थे। राजशेखर ने महिपाल को 'रघुकुलतिलक' कहा है। आबू पर्वत से 50 मील उत्तर पश्चिम में स्थित भीनमाल में उनका उदय हुआ और धीरे-धीरे इन्होंने गुर्जरता, लाट प्रदेश (गुजरात) और मालवा पर अपना अधिकार कर लिया।

प्रतिहार शासकों ने आठवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक राज्य किया। इस वंश का संस्थापक नागभट्ट (प्रथम) था (650 ई.)। हन्सोत दानलेख से ज्ञात होता है कि उसने 'शक्तिमान म्लेछराज की सेनाओं' को हराया और भड़ौंच तक आक्रमण किया। यह 'म्लेच्छराज' सम्भवतः सिन्ध प्रदेश का मुस्लिम शासक था। उसके बाद के दो शासक दुर्बल थे। नागभट्ट प्रथम के बाद उसका भतीजा ककुस्थ आसीन हुआ एवं उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई देवराज था जिसने अपने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा व वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था। इस वंश का चौथा शासक वत्सराज था (775-800 ई.)।

उसने किसी भण्डी जाति को हराया, वानी दिन्दोरी तथा राधनपुर के दानलेखों के अनुसार उसने गौड़ नरेश धर्मपाल को पराजित किया।

किन्तु वह स्वयं राष्ट्रकूट शासक ध्रुव द्वारा परास्त हुआ। वत्सराज के बाद उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय (805-833 ई) राजा बना। राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय ने उसे बुरी तरह पराजित किया और मालवा उससे छीन लिया। किन्तु, गोविन्द तृतीय की मृत्यु के बाद राष्ट्रकूटों में आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गया, जिससे नागभट्ट को काफी राहत मिली और उसने उत्तर में कुछ विजयें कीं। उसने 816 ई. में चक्रायुद्ध को कन्नौज से मार भगाया और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाई। ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि नागभट्ट द्वितीय ने इन प्रदेशों पर भी विजय प्राप्त की थी : आनर्त (उत्तरी काठियावाड़, मालवा अथवा मध्य भारत, मत्स्य देश (पूर्वी राजस्थान), किरातों का देश (हिमालय के कुछ प्रदेश), तुरुष्कों के प्रदेश (सिन्ध आदि का पश्चिमी प्रदेश) तथा वत्सों का राज्य (कौशाम्बी का प्रदेश)। इस प्रकार नागभट्ट ने एक शक्तिशाली प्रतिहार साम्राज्य की स्थापना की। उसकी विजयों के परिणामस्वरूप उसके साम्राज्य में पूर्व से पश्चिम तक के प्रदेश तथा हिमालय की तलहटी से नर्मदा तक का क्षेत्र आता था। आर. सी. मजूमदार ने वत्सराज एवं नागभट्ट की अत्यधिक प्रशंसा करते हुए लिखा है – "वत्सराज एवं नागभट्ट ने एक प्रान्तीय राज्य को प्रथम श्रेणी की सैनिक तथा राजनीतिक शक्ति के रूप में परिणित किया। यद्यपि एक सुस्थिर साम्राज्य स्थापित करने के उनके स्वप्न तो पूर्ण न हुए किन्तु उन्होंने उसकी जड़ें इस प्रकार जमा दी कि कुछ समय पश्चात् राजा भोज अपने कुलानुगत शत्रु पाल व राष्ट्रकूट वंशों के घोर विरोध के समक्ष ही इस महान् कार्य में सफल हुआ।"उसके बाद उसका पुत्र रामभद्र गद्दी पर आया। यह एक दुर्बल शासक था और उसके समय में प्रान्तीय शासकों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था।

किन्तु रामभद्र के पुत्र मिहिरभोज ने पुनः एक बार प्रतिहार शक्ति को प्रतिष्ठित किया। मिहिरभोज इस वंश का सबसे शक्तिशाली एवं पराक्रमी राजा था। इस शासक के विषय में अनेक अभिलेख व साक्ष्य प्राप्त होते हैं जिनमें वाराह लेख, दौलतपुर अभिलेख, देवगढ़ स्तम्भ शिलालेख, पहेवा अभिलेख, चाटसू शिलालेख तथा अरब यात्री सुलेमान के विवरण उल्लेखनीय हैं। सुलेमान ने उसकी सैन्य शक्ति तथा उत्तम शासन प्रबन्ध और विशेषरूपेण अश्व-सेना की प्रशंसा की है। उसने मिहिरभोज को 'अरबों का विरोधी' और 'इस्लाम का सबसे बड़ा शत्रु' बताया है।

इन अभिलेखों में भोज की उपाधियों 'आदि वाराह' तथा 'प्रभास' का भी उल्लेख है।

भोज ने अपने राजा बनने के उपरान्त अपनी साम्राज्य शक्ति को संगठित किया व प्रशासन को सुदृढ़ करते हुए साम्राज्य विस्तार पर ध्यान दिया।

वाराह अभिलेख से प्राप्त जानकारी के अनुसार बुन्देलखण्ड पर इस समय चन्देल वंश का उदय हो रहा था जो सम्भवतः मिहिरभोज की अधीनता स्वीकार करता था। इसी प्रकार गुर्जरत्रा पर भी 843 ई. में भोज ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। चाटसू अभिलेख के अनुसार गुहिल शासक हर्षराज ने एवं कहला अभिलेख के अनुसार गुणाम्बोधिदेव

ने मिहिरभोज को अश्व व भूमि भेंट की थी जो कि इस बात का परिचायक है कि यह राजा, मिहिरभोज के आधीन थे।

चौहान शासक गोविन्ददेव ने मिहिरभोज को सम्भवतः दक्षिणी राजपूताना तथा उज्जैन के राज्य जीतने में सहायता प्रदान की थी, जिसका उल्लेख प्रतापगढ़ अभिलेख से प्राप्त होता है। कल्हण द्वारा रचित राजतरंगिणी तथा पहवा शिलालेख मिहिरभोज द्वारा सतलज नदी के पूर्वी किनारे के क्षेत्रों पर अधिकार करने की पुष्टि करते हैं।

भोज के समकालीन शासकों में पाल शासक देवपाल था जो कि भोज के समान ही महत्वाकांक्षी एवं शक्तिशाली था, अतः दोनों राजाओं में युद्ध अपरिहार्य था। युद्ध में विजय किसकी हुई, यह निर्णय करना कठिन है क्योंकि दोनों ही शासक अपने अभलेखों में अपनी-अपनी विजय का उल्लेख करते हैं। किन्तु बादल अभिलेख से विदित होता है कि पाल शासक अत्यन्त शक्तिशाली था और उसे 'गुर्जरनाथ के दर्प को सर्व' करने वाला कहा गया है।* किन्तु ग्वालियर प्रशस्ति में कहा गया है कि जिस 'लक्ष्मी ने धर्म के पुत्र का वरण किया था, वही बाद में भोज की पुनर्भ हो गयी।' उपरोक्त पारस्परिक विरोधी साक्ष्यों के प्राप्त होने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन शासकों के मध्य दो युद्ध हुए जिनमें प्रथम में देवपाल विजयी हुआ तथा द्वितीय में गुणाम्बोधिदेव की मदद से मिहिरभोज को विजय प्राप्त हुई।

भोज के दक्षिण-पश्चिमी अभियानों के कारणस्वरूप भोज की राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष से टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई। बगुम्रा पत्रों से ज्ञात सूचनानुसार राष्ट्रकूटों की गुजरात शाखा के राजा व अमोघवर्ष के सामन्त ध्रुव ने गुर्जरों की अत्यन्त शक्तिशाली एवं सामन्तों से सहायता प्राप्त सेना को भागने पर आसानी से विवश कर दिया।

ऊपर वर्णित उपलब्धियों के समीकरण से भोज को निश्चित रूप से एक महान् शासक कहा जा सकता है। मिहिरभोज द्वारा अंकित मुद्राओं पर सूर्य-चक्र का होना उसके चक्रवर्ती सम्राट होने का द्योतक है। पाल तथा राष्ट्रकूट वंश के पराक्रमी शासकों से पराजित होने के उपरान्त भी उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक विशाल साम्राज्य छोड़ा। अरब यात्री सुलेमान ने मिहिरभोज की प्रशंसा में लिखा है कि "इस राजा के पास विशाल सेना थी तथा उससे उच्च कोटि की अश्वसेना किसी के पास नहीं थी। वह अरबों का शत्रु है। भारत के राजाओं में उससे बढ़कर इस्लाम धर्म का कोई शत्रु नहीं है। उसका राज्य जिह्वा के आकार का है। वह धन, वैभव से सम्पन्न है तथा उसकी सेना में असख्य ऊंट व अश्व हैं। भारत में चोर डाकुओं से सर्वाधिक सुरक्षित उसका ही राज्य है।**

भारतीय इतिहासकारों में डा. आर. एस. त्रिपाठी के अनुसार –"यह शासक स्वदेशी संस्कृति के एक वीर योद्धा के रूप में खड़ा हुआ तथा उसने अपने राज्य के निवासियों

* खर्वीकृतद्रविड़गुर्जरनाथदर्पम्

** इलियट, हिस्ट्री ऑफ इन्डिया I, पृ. 3-7.

को बाह्य एवं आन्तरिक खतरों से सुरक्षित रखने के लिए एक विशाल सेना रखी।* डा. आर. सी. मजूमदार ने भी भोज की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "भोज ने अपने राज्य में शान्ति रखने तथा उसे बाह्य खतरों से बचाने में एक योग्य एवं शक्तिशाली शासक के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। वह मुसलमानों के सम्मुख एक दीवार की तरह खड़ा रहा तथा इस कार्य को उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक धार्मिक उत्तरदायित्व के रूप में छोड़ा।**

भोज के पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (885-910 ई.) ने साम्राज्य को सुरक्षित बनाए रखा। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने शासन काल के प्रारम्भ में ही मगध और उत्तरी बंगाल की विजय की ओर सौराष्ट्र में उसके अधीनस्थ सामन्त का शासन था। महेन्द्रपाल (प्रथम) के बाद उसका पुत्र भोज द्वितीय राजा बना किन्तु शीघ्र ही हर्ष देव चन्देल की सहायता से उसके दूसरे पुत्र महीपाल ने (912-944 ई.) अपने बड़े भाई से राज्य छीन लिया। 916 ई. में राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय ने एक बड़ी सेना ले कर उस पर आक्रमण किया और महोदय (कन्नौज) को 'पूर्णतः नष्ट कर दिया।' अपने सामन्त नरसिंह चालुक्य के साथ राष्ट्रकूट नरेश ने पूर्व में प्रयाग तक लूटा। इस आक्रमण से लाभ उठाकर पालों ने भी शोणनद तक के प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु शीघ्र ही महीपाल ने अपनी स्थिति ठीक कर ली और कन्नौज को वापस ले लिया। साथ में दोआब, बनारस, ग्वालियर और दूरस्थ कठियावाड़ पर भी उसका अधिकार स्थापित हुआ।

उसके पुत्र महेन्द्रपाल द्वितीय ने साम्राज्य को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। 948 में देवपाल राजा बना। उसकी मृत्यु के बाद चन्देल वंश के उदय ने प्रतिहार शक्ति की जड़ों को हिला दिया। प्रतिहार साम्राज्य सात स्वतन्त्र राज्यों में बंट गया– 1. अन्हिलवाड़ के चालुक्य, 2. जेजाकभुक्ति के चन्देल, 3. ग्वालियर के कच्छपघात, 4. डाहल के चेदि, 5. मालवा के परमार 6. दक्षिण राजस्थान के गुहिल और 7. शाकम्भरी के चाहमान।

जब 1018-19 में कन्नौज पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया उस समय जयपाल राजा था। वह महमूद से टक्कर लेने का साहस न जुटा सका और गंगा पार कर भाग निकला। उसकी इस कायरता से क्रुद्ध होकर चन्देल राज गण्ड ने उसे दण्डित करने के लिए अपने युवराज विद्याधर के नेतृत्व में एक सेना भेजी। विद्याधर ने राज्यपाल को मार कर उसकी गद्दी पर उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को बिठाया। 1019 में महमूद ने पुनः कन्नौज पर आक्रमण किया और त्रिलोचनपाल बुरी तरह पराजित हुआ। त्रिलोचनपाल 1027 ई. तक जीवित रहा। यशपाल इस कुल का अन्तिम राजा था। 1090 ई. में कन्नौज पर गहड़वालों ने अधिकार कर लिया।

शाकम्भरी का चाहमान (चौहान) वंश

राजस्थान के अजमेर के उत्तर में सांभर नाम की झील है जिसके पास के इलाके का प्राचीन नाम शाकम्भरी था। सातवीं शताब्दी से ही यहाँ चौहान वंश के राजपूत सरदारों

* History of Kanauj. P.247.
** The age of imperial Kanauj. p.32.

का राज्य था। वैसे इनका उत्थान प्रतिहार वंश के पतन के पश्चात् प्रारम्भ होता है। हम्मीर महाकाव्य और पृथ्वीराज रासो में इन्हें सूर्य के पुत्र चाहमान का वंशज बताया गया है। इस वंश के प्रारम्भिक राजाओं में वासुदेव और गूवक के नाम उल्लेखनीय हैं। गूवक प्रतिहार राजा नागभट्ट द्वितीय का सामन्त था और उसके साथ-साथ कई युद्धों में लड़ा था। यह माना जाता है कि सीकर के पास एक पहाड़ी पर हर्ष नाथ महादेव के मन्दिर का निर्माण गूवक ने ही कराया था। बारहवीं शताब्दी में इस वंश के शासक पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र अजयराज ने अजमेर नगर बसाया। बिजौलिया शिलालेख से ज्ञात होता है कि अजयराज ने मालवा के परमार शासक नरवर्मा को हराया और उसके सेनापति सोल्लण को बन्दी बना लिया। पृथ्वीराजविजय काव्य के अनुसार उसने गर्जन के मातंगों पर विजय प्राप्त की थी। गर्जन से तात्पर्य गजनी और मातंगों से तात्पर्य मुसलमानों से है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने किसी मुसलमान सेनापति को पराजित किया था। किन्तु 1120 ई. के पश्चात् नागौर उसके राज्य से निकल गया था और वहाँ मुस्लिम सत्ता स्थापित हो गई थी। एक चौहान प्रशस्ति के अनुसार, वह अपने पुत्र अर्णोराज को राज्य देकर पुष्कर के निकट स्थित वन में तप करने चला गया था।

अर्णोराज के कई अन्य नाम थे—अनलदेव, आनवदेव, अन्ना और आनाक। इसने 18 वर्षों तक (1190 ई. से 1208 ई. तक) राज्य किया। इसने मालवा के शासक नरवर्मा को हराया। तुर्कों के साथ उसके पूर्वजों का वैमनस्य पुराना था। उसके समय में तुर्क अजमेर तक आ पहुँचे। अजमेर में जहाँ आजकल अन्नासागर है वहाँ उसका तुर्कों से घोर युद्ध हुआ। इसमें असंख्य तुर्क मारे गए और अजमेर से दूर-दूर तक तुर्क सैनिकों की लाशें बिछ गई। अर्णोराज ने इनके बहुत से घोड़ों को छीन लिया। इस विजय के उपलक्ष में अजमेर में कई दिनों तक उत्सव मनाया गया। अर्णोराज की सेना ने कालिन्दी (यमुना) नदी पार कर हरितानक या हरियाणा को भी रौंद डाला। इस समय दिल्ली तोमर राजपूतों के हाथ में था; तोमरों के साथ भी उसकी लम्बी लड़ाई चलती रही किन्तु इसमें अर्णोराज की करारी हार हुई और उसे अपनी राजकुमारी का विवाह गुजरात के वृद्ध नरेश के साथ करना पड़ा।

इस वंश के सबसे प्रसिद्ध शासकों में से विग्रहराज चतुर्थ अथवा बीसलदेव (1153-1164 ई.) तथा पृथ्वीराज तृतीय (1179-1193 ई.) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विग्रहराज के कई शिलालेख मिले हैं। वह एक प्रतापी शासक था। इसने कई महत्त्वपूर्ण विजयें कीं और अपने राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया। अपने पिता अर्णोराज की पराजय और अपमान का बदला लेने के लिए उसने राजा बनते ही चालुक्य राज्य पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिए। उसने चित्तौड़ में कुमारपाल के प्रान्तीय शासक सज्जन को परास्त कर उससे बहुत से हाथी छीन लिए। उसने प्रतिहारों के कई प्रदेश भी दबा लिए और जालौर के परमार शासक कुन्तपाल को भी परास्त किया।

इसके बाद उसने दिल्ली के तोमरों को और पंजाब के मुस्लिम राजा को हराया। यद्यपि दिल्ली में तोमर राजपूतों का शासक बना रहा किन्तु अब वे चौहानों के अधीन हो गये। दिल्ली का तोमर शासक मदनपाल विग्रहराज को अपना अधिपति स्वीकार करता

था। उसके समय में गजनी के सुल्तान अमीर खुसरो शाह (1156-1160 ई) ने आक्रमण किया किन्तु उसे हार कर लौटना पड़ा। सिवालिक के स्तम्भ पर खुदे लेख से ज्ञात होता है कि उसने अधिकांश हिन्दू प्रदेशों से मुसलमानों को खदेड़ बाहर किया था और मुसलमानों का आधिपत्य केवल पंजाब पर रह गया था।

योद्धा और विजेता होने के साथ-साथ वह विद्वानों का प्रश्रयदाता भी था और उसे 'कवि-बान्धव' की उपाधि प्राप्त हुई थी। सोमदेव उसका राजकवि था जिसने ललित-विग्रहराज नामक एक श्रेष्ठ नाटक की रचना की थी। इस नाटक के थोड़े से ही अंश 'ढाई दिन के झोपड़े' में पत्थरों पर खुदे हुए मिले हैं। उसने एक सुन्दर विद्यालय का भी निर्माण करवाया था जिसे कुतुबुद्दीन के समय में मस्जिद में रूपान्तरित कर दिया। इसे आजकल 'ढाई दिन का झोंपड़ा' कहते हैं और इसका हिन्दू रूप आज भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। विग्रहराज ने स्वयं हरिकेलि नाटक नामक ग्रन्थ की रचना की थी। वह 1164 ई. में मरा।

पृथ्वीराज तृतीय (1179-93 ई) इस वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक हुआ। मुसलमान इतिहासकारों ने इसे 'रायपिथौरा' कहा है। चन्द बरदाई ने उसके चरित्र को विषय बनाकर पृथ्वीराजविजय रासो नामक ग्रन्थ की रचना की है। उसके विषय में कई गाथाएं मिलती हैं जो उसकी वीरता और प्रेम सम्बन्धों के विषय में हैं। अपने पिता सोमेश्वर की मृत्यु (1176 ई) के समय वह केवल 11 वर्ष का था, इसलिये कुछ दिनों तक शासन का संचालन उसकी माता कर्पूरी देवी के हाथों में रहा। वह अत्यन्त योग्य रानी थी। उस समय कदम्बवास, जो कैमास या कयम्बास भी कहलाता था प्रधानमंत्री था। कयम्बवास योग्य सैनिक, कुशल प्रशासक और विद्वान् था। कर्पूरी देवी का चाचा भुवनैकमल्ल एक अन्य मन्त्री था। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार इन दोनों ने पृथ्वीराज की वैसे ही सेवा की जैसे गरुड़ व हनुमान ने श्रीराम की की थी।

14 वर्ष की अवस्था में पृथ्वीराज ने शासन का संचालन संभाला और शीघ्र उसे युद्धों मे लग जाना पड़ा। उसने अपने ही कुल के नागार्जुन को सबसे पहले परास्त किया। इसने विद्रोह कर कुछ गाँवों पर अधिकार कर लिया था और कुछ समय के लिए अजमेर का भी राजा बन गया था। 1182 ई. में उसने चन्देल शासक परमार्दिदेव (परमाल) को हराया। किन्तु 1182 के कालिंजर और महोबा के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि इस वर्ष में परमाल ही वहाँ का राजा था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वीराज ने जेजाकभुक्ति के प्रदेश को जीता नहीं था, केवल उसे लूटा था। उसने 1187 में गुजरात के शासक भीम द्वितीय पर आक्रमण किया। भीम ने उससे सन्धि कर ली। आबू के परमार राजा धारावर्ष पर भी उसने आक्रमण किया पर उसे कोई सफलता नहीं मिली। उसने गहड़वाल के साथ भी युद्ध किया। गहड़वाल राजा जयचन्द की पुत्री संयोगिता को स्वयंवर के स्थान से उड़ा लाने और उसे अपनी रानी बनाने की कहानी सभी जानते हैं। चंदरबरदाई, अबुल फजल और सुर्जनचरित के लेखक चंद्रशेखर ने इसका उल्लेख किया है।

तुर्कों ने उसकी इन शत्रुताओं का लाभ उठाया। 1175 ई. मुहम्मद गौरी ने सर्वप्रथम भारत पर आक्रमण किया था और अरबों से मुल्तान को और एक राजपूत राजा से उच्छा

से जीत लिया था। 1178 ई. में मुहम्मद गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया, गुजरात के शासक ने पृथ्वीराज से सहायता मांगी किन्तु प्रधानमंत्री कदम्बवास की सलाह पर उसने कोई सहायता नहीं की। कदम्बवास गुजरात नरेश और मुहम्मद गोरी दोनों को शत्रु मानता था और उसका सोचना था कि दो शत्रु आपस में लड़ कर नष्ट हो जाएंगें। गोरी गुजरात नरेश से हार कर वापस लौट आया। 1181 ई. में गोरी स्यालकोट पहुँचा और वहाँ एक दुर्ग का निर्माण कराया। पाँच वर्ष बाद उसने पंजाब को महमूद गजनवी के वंशज खुसरो मलिक से छीन लिया। इसके पश्चात् गोरी के सैनिकों ने चौहान राज्य की सीमाओं पर लूट-पाट करना शुरू किया किन्तु चौहान सेनाएँ संभवतः सात बार उन्हें वापस ढकेलने में सफल हुईं। किन्तु ये छोटी-छोटी मुठभेड़ें थीं। पहली बार पृथ्वीराज का मुहम्मद गोरी से आमना-सामना 1191 ई. में तलावड़ी के मैदान में हुआ। पृथ्वीराज की सेना ने दिल्ली के राजा गोविन्दराज़ के साथ मुस्लिम सेना पर ऐसा प्रहार किया कि वह भाग निकला। गोरी भी किसी प्रकार अपनी जान बचा कर भागा।* एक मत यह है कि गोरी पकड़ा गया और उसने 30 हाथी और 500 घोड़े दे कर अपनी जान बचाई।

पृथ्वीराज ने इस समय एक भयंकर गलती की कि उसने भागती सेना का पीछा नहीं किया। इसके बाद वह संयोगिता के साथ भोग विलास में डूब गया जबकि गोरी तैयारी करता रहा। एक वर्ष बाद गोरी ने पुनः आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने अन्य राजाओं को विदेशी शक्ति से मिलकर मुकाबला करने का निमन्त्रण दिया। किन्तु गहड़वाल राजा ने शत्रुता के कारण उसका साथ नहीं दिया। पृथ्वीराज पुनः अपनी सेनाओं के तलावड़ी के मैदान में आया। फरिश्ता के अनुसार उसकी सेना में तीन लाख घुड़सवार, तीन हजार हाथी और असंख्य पैदल सैनिक थे। 150 राजपूत सामन्त उसके साथ थे, जिन्होंने विजय प्राप्त करने या प्राणोत्सर्ग कर देने की कसम खाई। इस युद्ध में मुहम्मद गोरी ने कूटनीति से काम लिया। उसने अपनी सेना को दस-दस हजार के भागों में विभक्त किया और रात में पृथ्वीराज की सेना पर आक्रमण किया और फिर भागने का वहाना किया। सूर्योदय के समय उसने फिर आक्रमण किया। इस समय पृथ्वीराज सो रहा था और हिन्दू सैनिक नित्य क्रिया में लगे थे। फिर भी तीसरे पहर तक लड़ाई होती रही। तब गोरी ने पीछे छोड़ी हुई सेना के साथ निर्णायक आक्रमण किया। पृथ्वीराज की सेना के एक लाख सैनिक मारे गए और दिल्ली का राजा गोविन्द राज भी वीर गति को प्राप्त हुआ। सेना में भगदड़ मच गई और पृथ्वीराज भी भागता हुआ सरस्वती के पास पकड़ लिया गया। मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज को बन्दी बना कर अजमेर की ओर प्रस्थान किया। अजमेर में उसने मंदिरों को तोड़ा और हजारों लोगों का वध कर उसने अपार सम्पत्ति लूटी। कालान्तर में उसने पृथ्वीराज को मरवा दिया।

पृथ्वीराज वीर और साहसी था। उसने कई विजयें कीं, किन्तु इसी कारण उसने सभी भारतीय नरेशों को अपना शत्रु बना लिया। तलावड़ी के दूसरे युद्ध में किसी वड़े राजा ने उसे सैनिक सहायता नहीं दी और उसे अकेला लड़ना पड़ा। वह विविध गुणों

* J.R.A.S; 1913 PP. 278-79.

का स्वामी था किन्तु उसमें राजनीतिक बुद्धि और दूरदर्शिता का अभाव था। तत्कालीन परिस्थिति में उसे अन्य राजाओं के साथ संघ बना कर विदेशी आक्रमणकारी का सामना करना चाहिये था। किन्तु उसने पहले ही इसके प्रतिकूल परिस्थिति बना ली थी। साथ ही गोरी की छलनीति को भी वह नहीं समझ सका। 1191 ई. की विजय के बाद वह भोग विलास में रम गया, जबकि उसका शत्रु पुनः आक्रमण की तैयारियों में लगा रहा।

पृथ्वीराज की मृत्यु पर उसका पुत्र गोविंद मुहम्मद गोरी को कर देने की शर्त पर राजा बना। चौहानों को यह बात लज्जाजनक लगी और उसके चाचा हरिराज ने उसे गद्दी से हटा कर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। गोविंद रणथम्भौर चला गया जहाँ उसने चौहानों के एक नये वंश की स्थापना की। गोरी ने अपने सेनापति को फिर अजमेर पर आक्रमण करने को भेजा। हरिराज निराश होकर आग में जल मरा और अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। रणथम्भौर के चौहान वंश का अन्त 1301 में अलाउद्दीन खिलजी ने किया।

कन्नौज का गहड़वाल वंश

दसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में प्रतिहार शक्ति के क्षीण होने पर जो अराजकता फैली उसमें गहड़वाल वंश का उदय हुआ। इनकी उत्पत्ति के विषय में ठीक-ठीक पता नहीं है। ये चन्द्रवंशी क्षत्रिय थे। कुछ विद्वान् इन्हें राष्ट्रकूटों की एक शाखा मानते हैं। 1090 ई. के लगभग चन्द्रदेव नामक व्यक्ति ने इस वंश की स्थापना की। इसने कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया और बनारस तथा अयोध्या को भी जीत लिया। सम्भवतः दिल्ली पर भी उसका अधिकार था।

इस वंश का अगला प्रतापी राजा चन्द्रदेव का पौत्र गोविन्दचन्द्र (1114-55 ई) था। पूर्व में उसने मगध तक अपना अधिकार कर लिया। उसने दक्षिणी मालवा तक के प्रदेश को जीत लिया और कश्मीर, गुजरात और चोल राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए। वह दानी और विद्वान् शासक था और विद्वानों का आदर करता था। कृत्यकल्पतरु का लेखक लक्ष्मीधर उसका मन्त्री था।

गोविन्दचन्द्र के बाद उसका पुत्र विजयचन्द्र (1155-70 ई) राजा बना। उसने दक्षिण बिहार पर विजय प्राप्त की। पृथ्वीराज रासो में उसकी विजयों की चर्चा की गई है। वह चाहमान शासक विग्रहराज चतुर्थ से पराजित हुआ और विग्रहराज ने उससे दिल्ली छीन ली।

विजयचन्द्र के बाद जयचन्द्र 1170 ई. में राजा बना। मुस्लिम इतिहासकारों ने उसे बनारस का राजा कहा है। उसका राज्य चौहान और चन्देल राजाओं के राज्यों से घिरा हुआ था। वह एक विशाल सेना का स्वामी था जिसकी सहायता से उसने देवगिरि के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को कई बार हराया था। अपनी विजयों के उपलक्ष में उसने सार्वभौमिकता सूचक राजसूय यज्ञ भी किया था। अपनी पुत्री संयोगिता के विवाह के लिए उसने स्वयंवर किया जहाँ से चाहमान शासक पृथ्वीराज उसे उठा ले गया। जब 1193 ई. में शाहबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया तब जयचन्द्र ने उसका साथ नहीं दिया। पृथ्वीराज से निपटने के बाद गोरी ने कन्नौज पर आक्रमण किया।

इटावा जिले में चन्द्रावर नामक स्थान पर गोरी ने उसे हराया। लड़ाई में जयचन्द्र मारा गया और गोरी बनारस लूटते हुए 1400 ऊँटों पर लदे धन के साथ वापस लौटा। गोरी ने उसका राज्य उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को वापस लौटा दिया। अन्त में 1225 ई. में इल्तुतमिश ने कन्नौज पर आक्रमण किया और गहड़वालों की सत्ता को समाप्त कर दिया।

जेजाकभुक्ति का चन्देल वंश

आधुनिक बुन्देलखण्ड के प्रदेश को प्राचीन काल में जेजाकभुक्ति कहा जाता था। इसी प्रदेश में नवीं शताब्दी में चन्देलों का उदय हुआ। स्मिथ के अनुसार चन्देल गोंडों अथवा भरों की जाति के थे, जो बाद में राजपूत हो गए थे। एक परम्परा में इन्हें चन्द्रमा तथा ब्राह्मण कन्या से उत्पन्न संतान कहा गया है। स्वयं चंदेल लेखों में इस वंश की उत्पत्ति चन्द्रात्रेय से बताई गई है, जिनके नाम पर इस वंश का नाम चन्देल पड़ा। छतरपुर, महोत्सवनगर अथवा महोबा, कालंजर और खजुराहो चन्देलों के प्रमुख नगर थे।

नन्नुक इस वंश का पहला शासक था, जिसने संभवतः 831 ई. में इस वंश की स्थापना की। उसके बाद उसका पुत्र वाक्पति शासक बना जिसने विन्ध्य तक अपना राज्य बढ़ा लिया। वाक्पति के पुत्र जेजा अथवा जयशक्ति के नाम पर इस प्रदेश का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा। हर्ष इस वंश का छठां और महत्त्वपूर्ण राजा हुआ, जिसने प्रतिहार शासक महिपाल को गद्दी प्राप्त करने में सहायता दी थी। चन्देलों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और यमुना नदी तक उनके तथा कन्नौज के राज्य के बीच की सीमा बन गई। वे स्वतंत्र हो गए। हर्ष के पुत्र यशोवर्मा ने चेदि राजा को हराया और कालंजर को जीत लिया। उसने कन्नौज के देवपाल को भी हराया।

यशोवर्मा के पश्चात् उसका पुत्र धंग (954-1002 ई.) राजा बना। यह इस वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक था। इसने कालिंजर के प्रसिद्ध दुर्ग का निर्माण कराया; साथ ही खजुराहो के सुन्दरतम मन्दिरों में से अधिकांश का निर्माता धंग ही है। उसका राज्य काफी बड़ा था जिसमें यमुना से चेदि और ग्वालियर से कालंजर तक का भू-भाग सम्मिलित था। उसने ग्वालियर को प्रतिहारों से छीन लिया। सुबुक्तगीन का सामना करने के लिए जयपाल ने हिन्दू राजाओं का जो संघ बनाया था उसमें धंग ने भी भाग लिया था।

धंग के बाद गंड शासक हुआ। महमूद गजनवी के आक्रमण के समय वह आनन्दपाल द्वारा बनाए गए संघ का सदस्य बना। यह संघ हारा। जब प्रतिहार शासक जयपाल महमूद का कोई प्रतिरोध किए बिना भाग निकला तब गंड ने महमूद के लौटने पर अपने पुत्र विद्याधर को उसे दण्डित करने के लिए भेजा। विद्याधर ने उसे हटा कर त्रिलोचनपाल को राजा बनाया। महमूद ने क्रुद्ध होकर दो बार चन्देलों पर आक्रमण किया पर सफल न हुआ। 1022 ई. में महमूद ने विद्याधर के सामन्त ग्वालियर के कछवाहा राजा पर आक्रमण किया। उसने ग्वालियर लूटा और कालिंजर की ओर बढ़ा। विद्याधर अपनी सेना लेकर सामना करने आया, किन्तु दोनों एक दूसरे को भेंट देकर युद्ध भूमि से हट गए।

विद्याधर के बाद कई निर्बल शासक गद्दी पर आए। इस वंश का अन्तिम प्रसिद्ध शासक परमर्दिदेव (परमाल) था जिसने 1165 से 1203 तक राज्य किया। 1181 ई. में

चाहमान शासक पृथ्वीराज तृतीय ने उसे हराया। 1203 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक ने उसे पराजित कर कालंजर पर अधिकार कर लिया। यह राज्य 13 वीं शदी तक घिसटता रहा जबकि 1310 ई. इसे दिल्ली सल्तनत में मिला लिया गया।

मालवा का परमार वंश

दशवीं शदी के प्रारम्भ में उपेन्द्र अथवा कृष्णराज ने इस वंश की स्थापना की। परमार शासक कला और साहित्य के संरक्षक थे। इस वंश के राजाओं में सातवाँ शासक मुंज साहित्यकारों के प्रश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध है। वह योद्धा भी था और उसने हूणों तथा चेदि राजा के साथ सफल युद्ध किए। चालुक्य शासक तैल द्वितीय के राज्य पर उसने छः बार आक्रमण किए, किन्तु सातवीं बार वह बन्दी बना लिया गया और 995 ई. में बन्दीगृह से भागने की कोशिश करते हुए मार डाला गया।

सिन्धुराज के पश्चात् उसका पुत्र भोज राजगद्दी पर बैठा, जिसकी गणना भारत के विख्यात और लोकप्रिय शासकों में की जाती है। उसने 40 वर्षों तक (1018-60 ई) राज्य किया। भोज के शासनकाल के कई अभिलेख व साहित्यिक साक्ष्य प्राप्त होते हैं जिनमें बाँसवारा, बेतमा, उज्जैन, कल्वन, तिलकवाड़ आदि स्थानों से प्राप्त हुए अभिलेख हैं व गुजरात के जैन ग्रन्थों, सुभाषितों, अलबरूनी व अबुलफजल के लेखों में भी भोज का वर्णन मिलता है। डी.सी. गांगुली के शब्दों में, "मुंज एवं सिन्धुराज के शासनकाल में परमारों ने अपने साम्राज्य को संगठित किया तथा सिन्धुराज के पुत्र भोज के काल में इसे श्रेष्ठ श्रेणी प्राप्त हुई।"*

भोज की सैन्य उपलब्धियों का वर्णन उदयपुर शिलालेख में निहित है। इस प्रशस्ति के अनुसार भोज ने सर्वप्रथम कर्णाट के चालुक्यों से युद्ध किया। कर्णाट प्रदेशों से होते हुए भोज ने कोंकण प्रदेश पर भी सम्भवतः विजय प्राप्त की थी। भोज ने कदाचित् कल्याणी के शासक जयसिंह पर भी आक्रमण कर, उसे परास्त किया था परन्तु कुछ वर्षों के बाद जयसिंह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम ने उस समय आक्रमण किया जब भोज की शक्ति दुर्बल हो गयी थी अतः धारा नगरी के घेरे जाने पर भोज को भागना पड़ा। इस घटना का उल्लेख बिल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरित में भी किया है।

उदयपुर प्रशस्ति एवं कल्वन अभिलेख से ज्ञात होता है कि भोज ने लाट के शासक कीर्तिराज को परास्त किया था। उदयपुर प्रशस्ति में ही भोज द्वारा उड़ीसा के सोमवंशी राजा इन्द्ररथ को भी परास्त करने का उल्लेख मिलता है।** इसी प्रशस्ति द्वारा उल्लेखनीय भोज द्वारा मुसलमानों को पराजित करना है जिसका समर्थन प्रतिपाल भाटिया ने भी किया है। उनके विचार से तोग्गल (भोज द्वारा पराजित) महमूद गजनवी की सेना का कोई सिपहसालार था।***

इनके अतिरिक्त भोज ने कलचुरि शासक गांगियदेव, चाहमान शासक वीर्यराम तथा गुजरात के चालुक्य नरेश भीम को भी युद्धों में पराजित किया परन्तु राजा भीम के

---

* The struggle for empire, p.66.
** इपिग्राफिका इण्डिका, XI, पृ232.
*** द परमारज, पृ82-83.

राज्य को केवल भोज लूटने में समर्थ हुआ एवं पूर्ण सुरक्षा के प्रयत्न के बावजूद युद्धकाल के दौरान ही उसकी 1055 ई. में मृत्यु हो गयी।

भोज एक विद्वान् शासक तथा विद्वानों का प्रश्रयदाता था। डा. हेमचन्द्र राय के अनुसार, "उपर्युक्त समस्त सैनिक विजयों के अतिरिक्त भोज को उसके कला एवं साहित्य के क्षेत्रों में किए गए कार्यों के लिए अधिक याद किया जाता है।"* उदयपुर प्रशस्ति में उसके विषय में उल्लेख है, "उसने वह सब कुछ साधा, सम्पन्न किया; दिया और जाना, जो अन्य किसी के द्वारा सम्भव नहीं हो सका था।** उसने ज्योतिष, काव्यशास्त्र और वास्तुशास्त्र पर कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें श्रृंगारमंजरी तथा कूर्मशतक आदि प्रमुख ग्रन्थ हैं। भोज ने धारा को विद्या व कला का प्रमुख केन्द्र बनाया। वहाँ पर उसने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक एक विद्यालय की स्थापना की जो अब एक मस्जिद के रूप में मिलता है।

भोज ने अनेक मन्दिरों का भी निर्माण कराया। भोपाल के दक्षिण-पूर्व में उसने भोजपुर नामक नगर की भी स्थापना करायी तथा भोजपुर नामक एक झील भी बनवाई जो 250 वर्ग मील में थी। यह झील चारों ओर विद्यमान कई पहाड़ियों के निकास को रोक कर बनाई गई थी। डा. डी. सी. गांगुली के अनुसार, "जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित उसकी उपलब्धियाँ सहज ही उसे मध्यकालीन भारत के महानतम् शासकों में से एक प्रमाणित करती हैं।"***

मेदपाट (मेवाड़) का गुहिल वंश

पुराने उदयपुर राज्य से इस वंश के शासकों के कई शिलालेख प्राप्त होते हैं। इस वंश का संस्थापक गुहिल अथवा गुहदत्त था। इसका समय छठी शताब्दी ई. का उत्तरार्ध माना जाता है। डॉ. मथुरालाल शर्मा के अनुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि मिहिरकुल के पश्चात् राजस्थान के अधिकाँश भागों पर उसके निकटवर्ती प्रदेशों पर गुहिल का शासन रहा होगा; उसका राज्य सम्भवतः आगरा के आस-पास तक फैला हुआ था।

इस वंश का सबसे प्रतापी शासक बप्प या बाप्पा रावल हुआ। उसके विषय में कई अनुश्रुतियाँ मिलती हैं। सभी इतिवृत्तों में उसे आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होना कहा गया है। कुछ अनुश्रुतियों के अनुसार उसे एक साधु की कृपा से राज्य प्राप्त हुआ था और उसने मोरी राजाओं को हरा कर चित्रकूट (चित्तौड़) पर अधिकार किया था। इन कथाओं में कहा गया है कि बाप्पा हारीत नामक एक ऋषि की गाएं चराता था। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर हारीत ने तपस्या से शिव को प्रसन्न किया और उसे मेवाड़ का राज्य दिलाया। महाराणा कुम्भा के समय लिखे गए 'लिंग माहात्म्य' नामक पुस्तक में कहा गया है कि राजा बाप्पा शंकर के वर से राजा हुआ था। 971 ई. के राजा नरवाहन के शिलालेख में बाप्पा का नाम मिलता है। विद्वानों का विचार है कि बाप्पा उसका व्यक्तिगत नाम नहीं था। उन्होंने इसका तादात्म्य अतपुर अभिलेख में उल्लिखित आठवें राजा कालभोज

* Dynastic History of Northern India, Vol.II, p.871.
** इपिग्राफिका इण्डिका, I पृ.235.
*** The Struggle of Empire, p.67.

से किया है; कुछ अन्य विद्वान् उसका तादात्म्य नवें राजा खुम्माण से करते हैं। बाप्पा रावल ने 713 ई. के बाद किसी समय मौर्यों से चित्तौड़ का किला छीना था। कर्नल टॉड ने 713 ई. के मौर्य राजा मान का एक शिलालेख देखा था। उसके अनुसार चित्तौड़ को बाप्पा ने 726 ई. में छीना था। डा. रमेशचन्द्र मजूमदार का कहना है कि यह सम्भव है कि नागभट्ट प्रथम की भाँति वप्प भी उन भारतीय राजाओं में से एक हैं, जिन्होंने वीरता के साथ अरबों का प्रतिरोध किया हो और इससे कुछ महत्त्वपूर्ण दुर्ग और नगर उसके हाथ लगे हों। इससे उसकी शक्ति और ख्याति में इतनी वृद्धि हुई कि बाद की पीढ़ियों में उसे ही वंश का संस्थापक मान लिया गया।

गुहिल या गहलोत लोगों की प्रारम्भिक राजधानी नागह्रद अथवा नागदा थी। दशवीं शताब्दी में वह आघाट (आहड़) आ गई।

बाप्पा रावल के पश्चात् खुम्माण, मंतर, भर्तृपट्ट तथा सिंह नाम के चार राजा हुए। फिर खुम्माण द्वितीय, खुम्माण तृतीय तथा भर्तृ भट्ट द्वितीय राजा बने। भर्तृ भट्ट का पुत्र अलट था जिसके समय का एक शिलालेख आहड़ के निकट सारणेश्वर नामक शिव मंदिर में लगा हुआ है। इस लेख से ज्ञात होता है कि आहड़ इस समय एक समृद्ध नगर था जहाँ दूर-दूर से व्यापारी आते थे। अल्लट का पुत्र नरवाहन था जिसे कलानुरागी, विजयी तथा शत्रुओं का दमन करने वाला कहा गया है। इसके बाद शक्तिकुमार और अम्बाप्रसाद राजा हुए। 1170 ई. के एक शिलालेख में सामन्तसिंह नामक शासक का उल्लेख मिलता है। उसके समय में मेवाड़ का राज्य गुहिलों के हाथ से निकल कर चौहानों के हाथ में चला गया था।

गुजरात (अन्हिलवाड़) का चालुक्य या सोलंकी वंश

प्रतिहारों के पतन के बाद 10 वीं शती में मूलराज (974-995 ई) ने इस वंश की स्थापना की। यह दक्षिण के चालुक्यों की एक शाखा थी। इनके शिलालेखों में इन्हें पाण्डवों का वंशज कहा गया है। इनकी राजधानी अहिंलवाड़ थी। भीमदेव (1022-64 ई) के समय परमार शासक भोज ने इनकी राजधानी को लूटा, इसी समय महमूद गजनवी ने सोमनाथ को लूटा। महमूद के लौटने पर उसने सोमनाथ के मंदिर का पुनर्निर्माण करवाया और अपनी शक्ति को पुनर्व्यस्थित किया। उसका पुत्र जयसिंह सिद्धराज (1093-1143 ई) इस वंश का एक प्रसिद्ध राजा था जिसने कई विजयें कीं। जयसिंह ने मालवा के राजा से 12 वर्षों तक युद्ध किया और मालव को अपने राज्य में मिला लिया। उसने चित्तौड़ दुर्ग पर अधिकार कर लिया और आसपास के प्रदेशों को भी जीत लिया था। आबू के परमार और नाडौल के चौहान राजा उसके अधीन थे। उसने अजमेर के चौहान नरेश अर्णोराज को भी हराया था। जयसिंह विद्याप्रेमी शासक था। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र सूरि उसके दरबार में थे।

जयसिंह के बाद कुमारपाल (1144-71 ई) राजा बना। कुमारपाल किसी राजवंश का न होकर हीन वंशज था अतः राजा बनने के लिए उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जब वह शासक बना तब उसकी उम्र 50 वर्ष थी।

कुमारपाल ने अपने समकालीन चाहमान शासक अर्णोराज को हराया तथा अपनी

पुत्री जाल्हाणा का विवाह उसके साथ कर मालवा पर अपने आधिपत्य को दृढ़ बनाया। उसने आबू के शासक विक्रमसिंह को 1145 ई. में हरा कर उसके भतीजे यशोधवल को आबू का शासक नियुक्त किया।*

हेमचन्द्र मेरुतुंग, प्रभाचन्द्र, जयसिंह सूरि आदि अनेक रचियताओं ने अपनी-अपनी रचनाओं में कुमारपाल की कोंकण विजय का उल्लेख किया है जिसमें उसने कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन को परास्त किया। इसके अतिरिक्त सौराष्ट्र में पनपे विद्रोह को कुमारपाल ने शक्ति द्वारा दबाया तथा इन अनेक युद्धों के फलस्वरूप उसका राज्य विस्तृत हुआ तथा इनमें सम्मिलित प्रदेश दक्षिण में तापी नदी तक, पश्चिम में सौराष्ट्र व कच्छ, पूर्व में भिलसा व उत्तर में चित्तौड़ व जैसलमेर थे। उसके बाद भीम द्वितीय राजा बना, जिसने लगभग 60 वर्ष तक शासन किया। उसके समय में गोरी का आक्रमण हुआ और कुतुबुद्दीन ने गुजरात पर अधिकार कर लिया।

कुतुबुद्दीन के लौटते ही दक्षिणी गुजरात में बघेल वंश की स्थापना हुई, जिसने धीरे-धीरे अन्हिलवाड़ पर अधिकार कर लिया। 1297 ई. में अलाउद्दीन ने यहाँ सेना भेजी। इस सेना को देखते ही करणदेव वघेल भाग खड़ा हुआ और इस प्रकार गुजरात से हिन्दू राज्य समाप्त हो गया।

राजपूतकालीन भारतीय सभ्यता और समाज

हर्ष के बाद चार-पाँच सौ वर्षों का काल राजपूत काल कहलाता है, जिसमें विभिन्न राजपूत वंशों ने राज्य किया। इस समय देश में राजनीतिक एकता का अभाव था। यद्यपि इन राज्यों ने वीरतापूर्वक काफी दिनों तक विदेशियों से देश की रक्षा की किन्तु अन्त में आपसी कलह के कारण वे एक के बाद एक मुसलमान आक्रमणकारियों के सामने धराशाही होते गए। फिर भी भारतीय इतिहास में इस युग का विशेष महत्त्व है और सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में इस युग का अपूर्व योगदान रहा।

(क) राजनीति और शासन व्यवस्था

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह युग युद्ध, फूट और पारस्परिक कलह का युग था जिसमें राजनीति का स्तर बहुत गिर गया था। जो राजा थोड़ा भी शक्तिशाली होता वह अपने पड़ौसी राज्यों पर विजय करने की सोचता था जिस कारण इन राजवंशों में पीढ़ी दर पीढ़ी बैर की भावना चलती रहती थी। चालुक्य, राष्ट्रकुट, पाल, सेन, प्रतिहार, चाहमान, सोलंकी आदि राजवंश निरन्तर आपस में लड़ा करते थे। कभी-कभी वैवाहिक सम्बन्धों से इनका पारस्परिक वैमनस्य कुछ समय के लिए दब जाता था किन्तु थोड़ी-सी बात पर पुनः संघर्ष की स्थिति उठ खड़ी होती थी। इस काल में विकेन्द्रीकरण की भावना जोर पर थी और मौका मिलते ही सामंत शासक स्वतंत्र होने की कोशिश करते थे। राष्ट्रीयता और देश भक्ति की भावना बड़ी सीमित हो गई थी और विभिन्न राजा केवल अपने सीमित राज्य के संदर्भ में सोचते थे। जब गुजरात नरेश ने मुहम्मद गोरी का प्रतिरोध करने के लिए पृथ्वीराज से सहायता मांगी तो उसने उसे कोई सैनिक सहायता नहीं दी।

* इपिग्राफिका इण्डिका VII पृ. 216.

इसी प्रकार गोरी ने पृथ्वीराज पर दुबारा आक्रमण करने पर गहड़वाल नरेश जयचन्द्र ने उसे कोई सहायता नहीं दी। यदि कन्नौज की सेना भी पृथ्वीराज के साथ रही होती तो शायद गोरी पुनः बुरी तरह परास्त होता। इस काल में राजा सर्वथा निरंकुश हो गया था और उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। उसके इर्द-गिर्द चाटुकारों की भीड़ लगी रहती थी जो अपनी चापलूसी से उसे प्रभावित करते रहते थे। राज्य के प्रति जनता एकदम उदासीन थी और राज्य के कार्यों और समस्याओं में न तो उसकी कोई रुचि थी और न ही इनमें उनका कोई सहयोग किया जाता था। देश की रक्षा का कार्य केवल राजाओं और उसके सैनिकों को माना जाने लगा था। इस प्रकार देश का राजनीतिक जीवन अन्दर से खोखला हो गया था और देश की इस कमजोरी का तुर्कों ने लाभ उठाया।

राज्य का स्वरूप और शासन व्यवस्था सामान्य रूप से प्राचीन काल की ही तरह थी। राजा का स्थान सबसे ऊंचा था। राजा के रहन-सहन और सभी गतिविधियों में ऐश्वर्य और शान शौकत आवश्यक माना जाता था। तदनुरूप प्रत्येक राज्य की राजधानी में वैभव और ऐश्वर्य की अनूठी शान देखी जा सकती थी। राजधानी में भी राजा का अपना महल विशेष महत्त्व रखता था। इसमें राजा का अन्तःपुर तो होता ही था; साथ ही राजा के दरबार, घोड़ों और हाथियों के तबेलों, शस्त्रागार आदि के लिए भी स्थान बने होते थे। उसका महल स्वयं में एक छोटा-मोटा नगर होता था। दरबार में चारण और भाट उसकी प्रशस्तियाँ गाया करते थे और रात्रि में नर्तकियों के नृत्य हुआ करते थे। राजा इन पर मुक्त हस्त से धन खर्च करता था।

राज्य के विभिन्न भागों में उसके सामंत शासन करते थे। सामन्तों से घिरे रहना राजा की शोभा मानी जाती थी। इनके पास अपनी अलग सेना होती थी और आवश्यकता पड़ने पर वे सैनिक सहायता करते थे और राजा की ओर से युद्ध में लड़ते थे। मुहम्मद गोरी के विरुद्ध तलावड़ी के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज की ओर से उसके 150 सामंतों ने युद्ध में भाग लिया था। सामंत एक प्रकार से राजा ही होता था। उसे अपने भू-क्षेत्र में वही अधिकार प्राप्त थे। वह अपनी ओर से भूमि दान भी कर सकता था किंतु इसके लिए राजा की अनुमति लेना अथवा उससे इस दान की पुष्टि करवाना आवश्यक था। प्रायः राजा के कमजोर होने पर और उसे संकट में पाकर वे स्वतंत्र होने का प्रयत्न करते रहते थे। वे हमेशा विद्रोह के मौके की तलाश में रहते थे। इससे राज्य दुर्बल होता था।

राजा वंशानुगत होता था। कभी-कभी राज्य के लिए भाइयों में कलह हो जाता था जिसका निपटारा युद्ध से होता था। इसके लिए राज्य में अक्सर षडयन्त्र हुआ करते थे और अव्यवस्था फैलती थी। प्रशासन में सहायता के लिए मन्त्रिमण्डल होता था किन्तु राजा के ऊपर मंत्रियों का कोई नियन्त्रण नहीं होता था बल्कि राजा का आज्ञापालन ही वे अपना कर्तव्य समझते थे। प्रतिहार, सेनापति, भाण्डागारिक, अक्षपटलिक, अन्तःपुरिक आदि राज्य के अन्य अधिकारी थे जो राजधानी में ही रहते थे और जिनका राजा के साथ सीधा सम्बन्ध हुआ करता था।

गाँवों में अब भी ग्राम पंचायतें थीं। गाँव का स्थानीय शासन इन्हीं ग्राम पंचायतों द्वारा होता था। गांव का मुखिया इस समय ग्राम ग्रामिक कहलाता था; उसे महत्तर अथवा

महत्तम भी कहते थे। गाँव के सारे प्रबन्ध की वह देखभाल करता था। उस समय जनता के हितों की रक्षा आदि में इन ग्राम संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

(ख) समाज

राजनीति की तरह इस समय भारतीय समाज में भी गिरावट आ गई थी। इस काल के शुरू होने के कुछ समय पहले तक वर्ण-परिवर्तन सम्भव था। किसी भी वर्ण का व्यक्ति राज्य पाने पर क्षत्रिय वर्ण का पद पा सकता था। प्राचीन काल में वाकाटक, गुप्त, सिन्ध का शूद्र राजवंश इसके उदाहरण हैं। तमाम विदेशी लड़ाकू जातियों को समाज में अपना लिया गया था। किन्तु, इस समय जातियों में जड़ता आ गई थी और दृष्टिकोण संकीर्ण हो गया था। अब बाहर की जातियों का भारतीय समाज में खप सकना संभव नहीं रह गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अब भारतीय समाज विदेशियों को आत्मसात नहीं कर सका। इसके और भी कारण हो सकते हैं किन्तु भारतीयों का यह दृष्टिकोण भी इसके लिए पर्याप्त उत्तरदायी था। आपस में भी विभिन्न जातियों का सम्बन्ध नहीं के बराबर था। ब्राह्मण आदि श्रेष्ठ वर्ण के लोग नीची जातियों के साथ उठना-बैठना ठीक नहीं समझते थे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि विद्या और विविध शास्त्रों को सैद्धान्तिक ज्ञान ब्राह्मणों तक सीमित रह गया जबकि शिल्प आदि का ज्ञान नीची जातियों के पास था। इन दोनों क्षेत्रों का मिलन न होने से विद्या को रचनात्मक रूप न मिल पाया और भौतिक सुख आदि के क्षेत्र में और विज्ञान में भारतीय पिछड़ गए। ब्राह्मण केवल अध्यात्म और बौद्धिक तर्क जाल में फंसे रहे और शेष जनता ने विद्या और ज्ञान के उपार्जन में कोई रुचि नहीं ली।

सामाजिक व्यवस्था में चार मुख्य वर्ण थे किन्तु जातियाँ प्रमुख सामाजिक इकाइयाँ थीं। इस काल में कुछ नई जातियाँ भी बनीं। नगरों में स्वर्णकार, मालाकार, दर्जी और गाँवों में लोहार, खाती, कुम्हार, चमार आदि प्रमुख जातियाँ थीं। वैवाहिक सम्बन्ध जाति के अन्दर ही किए जाते थे और जाति के बाहर विवाह ठीक नहीं माना जाता था। उप जातियों का बनना इस काल में आरम्भ नहीं हुआ था– इसका आरम्भ बारहवीं-तेरहवीं शती से हुआ। बाद में स्थान की दृष्टि से भी उप जातियों का बनना प्रारम्भ हुआ।

समाज में छुआछूत की भावना विद्यमान थी। प्रारम्भ में ग्यारहवीं शदी तक यह बात दिखाई पड़ती है कि जो लोग किसी कारण से मुसलमान बन गए थे उन्हें पुनः हिन्दू समाज मे अपना लिया जाता था किन्तु धीरे-धीरे यह लचीलापन समाप्त होता गया। जो एक बार मुसलमान बन गया वह सदा के लिए हिन्दू समाज से अलग हो जाता था। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपने बर्तन में भोजन नहीं कराते थे; उन्हें मिट्टी के बर्तनों, पत्तल आदि में भोजन कराया जाता था जिन्हें उपयोग के बाद फेंक दिया जाता था। लोग अपनी जाति के बाहर की जाति के लोगों के साथ भी भोजन नहीं करते थे।

यद्यपि समाज में जड़ता और संकीर्णता की शुरूआत हो गई थी किन्तु फिर भी कुछ लचीलापन देखने को मिलता है। ऊंचे वर्ण के पुरुष द्वारा नीचे वर्ण की कन्या के साथ विवाह के कुछ उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए ब्राह्मण कवि राजशेखर ने एक चौहान राजकुमारी के साथ विवाह किया था। उसकी एक पत्नी ब्राह्मणी थी। यह उल्लेखनीय

थे और इनमें ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण कहलाए और क्षत्राणी से उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय अर्थात् सन्तान की जाति माता-पिता की जाति द्वारा निर्धारित हुई। उसके क्षत्रिय पुत्र सामन्त बने। किन्तु राजशेखर एक प्रभावशाली व्यक्ति था और उसके दृष्टांत को सामान्य रीति का परिचायक नहीं माना जा सकता। सामान्यतया ऐसे वैवाहिक सम्बन्धों को ठीक नहीं माना जाता था।

क्षत्रियों में स्वयंवर का प्रचलन था किन्तु राक्षस विवाह तथा कन्या का बलपूर्वक अपहरण भी काफी प्रचलित था। विवाह धूम-धाम से किए जाते थे। बड़े लोग कई पत्नियाँ रखते थे। पति की मृत्यु के बाद स्त्री दूसरा विवाह नहीं कर सकती थी। वह या तो पति की चिता पर जल कर मर जाती थी अथवा आजीवन विधवा का जीवन बिताती थी। समाज में अभी तक पर्दा प्रथा जड़ नहीं पकड़ पाई थी।

उच्च वर्ग के लोगों में स्त्रियों की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध था और इस युग की कई विदुषी स्त्रियों के नाम मिलते हैं। मण्डन मिश्र की पत्नी भारती को दर्शन का बड़ा अच्छा ज्ञान था और शंकराचार्य भी उससे पराजित हुए थे। लीलावती गणित की प्रकाण्ड पण्डित थीं। कश्मीर में दिद्दा ने लम्बे समय तक शासन किया था और पृथ्वीराज की माता कर्पूरदेवी ने अपने पति की मृत्यु के बाद कुछ वर्षों तक शासन का सुचारुरूपेण संचालन किया था। पश्चिमी चालुक्यों की रानियाँ भी अवसर पड़ने पर शासन का कार्य सम्भालती थीं। समाज में वेश्यावृत्ति का भी प्रचलन था।

(ग) आर्थिक दशा

तुर्कों और अरब लेखकों के विवरणों से विदित होता है कि भारत इस समय विपुल वैभव और सम्पदा का देश था। ऐसी सम्पदा इन लोगों ने कभी देखी नहीं थी। अरब सौदागरों और यात्रियों ने राष्ट्रकूट राज्य तथा भारतीय नगरों के अपूर्व वैभव का आँखों देखा वर्णन किया है। महमूद गजनवी के नगरकोट की लूट के माल के विषय में एक लेखक ने लिखा है कि उसे लूट में 700000 सोने की मुहरें, 700 मन सोना और चाँदी की चद्दरें, कई सौ मन सोना और चाँदी की ईंटे तथा 20 मन जवाहरात मिले। अल-उतबी नामक लेखक ने मथुरा के मन्दिरों के अकल्पनीय वैभव का उल्लेख किया है। सोमनाथ के मन्दिर में महमूद को इतना धन मिला कि उसने सोचा भी नहीं था। कांगड़ा लूट में महमूद को इतना धन हाथ लगा कि उसे गजनी ले जाने के लिए उसके पास पर्याप्त ऊंट नहीं थे और उसे लूट-लूट कर ऊंट मंगवाने पड़े और प्रत्येक ऊंट धन के भार से झुका हुआ चलता था। इस लूट में सात करोड़ तो केवल सोने की मुहरें थीं और लगभग सात लाख मन सोने-चाँदी की ईंटें थीं। यह विवरण एक तत्कालीन लेखक का है। गजनी में जब महमूद ने अपने लूट के धन का प्रदर्शन किया तो लोग दूर-दूर से देखने आए और जो सम्पदा उन्होंने देखी वह उन्हें स्वप्न-दर्शन-सा लगा।

इस काल में राज्य की ओर से जनता के कल्याण के लिए विविध कार्य किए जाते थे। राजाओं ने सड़कें बनवाईं जिससे व्यापार आदि की समृद्धि हुई। सिंचाई के लिए नहरें निकाली जाती थीं और झीलों का निर्माण कराया जाता था। चन्देलों और परमारों के राज्य में महोबा में मदन सागर और मुंज के समय में मुंज सागर नामक झीलों

का निर्माण हुआ। परमार शासक भोज ने बड़े-बड़े जलाशयों का निर्माण कराया जिनसे सिंचाई की व्यवस्था होती थी। दक्षिण में इसी तरह के कार्य चोल शासकों ने किए।

राज्य की आय का मुख्य साधन कर था। लेखों से कई प्रकार के कर लगाए जाने का उल्लेख मिलता है। मुख्य साधन भूमिकर था जो भूमि के उपजाऊपन के अनुसार कम या अधिक होता था। सिंचाई का अलग से कर लगता था। प्रायः उपज का कुछ भाग कर के रूप में जमा किया जाता था किन्तु कभी-कभी कुछ भाग नकद के रूप में भी जमा किया जाता था। सामन्तों से प्राप्त होने वाले भेंट, उपहार आदि भी राज्य की आय के साधन थे। अपराधियों पर लगाए गए जुर्मानों से तथा खानों से भी राज्य को आय होती थी। राज्य बेगार भी लेता था।

विविध प्रकार के व्यापार में लगे लोगों ने तथा विविध पेशे के लगे लोगों ने अपने को श्रेणियों में संगठित कर रखा था जैसे तेल के व्यापारियों की श्रेणी, अन्न के व्यापारियों की श्रेणी, वस्त्र के व्यापारियों की श्रेणी आदि। श्रेणियों का एक मुखिया होता था और इनके अपने नियम होते थे जो श्रेणी के सभी सदस्य मानते थे। राजा भरसक इनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता था। श्रेणियाँ जब अपना माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजती थीं तो माल के साथ उनके संरक्षक सिपाही भी चलते थे जिन्हें श्रेणी से वेतन प्राप्त होता था। श्रेणियों की अपनी छाप हुआ करती थी जिससे यह पता चल सके कि माल किस श्रेणी का है—यह श्रेणी की साख और प्रतिष्ठा का द्योतक था। ये श्रेणियाँ बैंकों का भी काम करती थीं जहाँ लोग अपना धन जमा करते थे। व्यावसायिक श्रेणियों में शिक्षार्थी उस पेशे को सीखने के लिए प्रवेश लेते थे। बड़ी सम्पन्न श्रेणियाँ अपना सिक्का भी चलाती थीं।

(घ) धार्मिक दशा

इस काल में हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म प्रमुख धर्म थे। इस युग में हिन्दू धर्म ने अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण किया जो गुप्तकाल के पौराणिक कार्य का ही विकसित और प्रौढ़ रूप था। शिव और विष्णु हिन्दू धर्म के प्रमुख देवता थे और इनकी उपासना का देशव्यापी प्रचलन था। शैव धर्म के कई सम्प्रदाय थे जिनमें पाशुपत, कापालिक, कालमुख प्रमुख थे। कश्मीर का शैव सम्प्रदाय एक अन्य प्रसिद्ध सम्प्रदाय था। दक्षिण भारत के शैव सम्प्रदायों में लिंगायत का वीर शैव सम्प्रदाय प्रमुख था जिसका प्रवर्तनकलचुरी शासक विज्जल के प्रधानमंत्री बसव ने किया था। शैव सम्प्रदायों में विविध विचित्र क्रियाओं और विधानों का प्रचलन हो चला था। किन्तु कश्मीर के शैव मत में अध्यात्मवाद, योगाभ्यास और आत्मदर्शन पर विशेष बल दिया गया। कापालिक और कालमुख सम्प्रदाय के सन्यासियों में नर-कपाल में भोजन, शरीर पर श्मशान की भस्म का लेप, मद्यपान आदि का प्रचलन था तथा वे कुछ घोर क्रियाऐं भी करते थे जिससे जनसाधारण उनसे दूर ही रहता था। राजपूत युग में जहाँ एक ओर शैव साहित्य का सृजन हुआ, वहीं देश के कोने-कोने में शिव मन्दिरों का निर्माण हुआ। शिव के विविध रूपों में मूर्तियों का निर्माण हुआ।

वैष्णव सम्प्रदाय दूसरा लोकप्रिय हिन्दू सम्प्रदाय था। इस समय अवतारवाद का

वैष्णव धर्म में विष्णु के राम और कृष्ण के अवतार उपासना के विशेष विषय थे। नवीं शताब्दी में दक्षिण के किसी विद्वान् ने श्रीमद्भागवत पुराण की रचना की, जिसके दसवें स्कन्ध में कृष्ण के जीवन की विविध लीलाओं का मनोरम चित्रण प्राप्त होता है। वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति भावना पर विशेष बल था और ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण को मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन स्वीकार किया जाता था। नाथमुनि, यमुनाचार्य तथा रामानुज प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हुए।

शिव और विष्णु के अतिरिक्त ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, स्वामी कार्तिकेय इस युग में पूजे जाने वाले अन्य देवता थे। देवियों में मातृका (देवी का एक रूप), भगवती अथवा दुर्गा तथा लक्ष्मी की पूजा की जाती थी। देवी पूजा ने इस समय शाक्त सम्प्रदाय का विशिष्ट स्वरूप धारण कर लिया था जिसमें मंत्र तंत्र तथा विविध प्रकार के अनुष्ठानादि प्रचलित हो चुके थे। देश में विविध प्रकार की देवियों के मन्दिर बने जिनमें कहीं-कहीं नर बलियाँ होती थीं।

इस युग में यज्ञों की संख्या धीरे-धीरे घट रही थी। जनसामान्य के धर्म में वैदिक यज्ञों की महत्ता समाप्त हो चली थी। इस काल में हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कुछ प्रमुख दार्शनिक मतों का उदय हुआ। वेदान्त के प्रमुख आचार्य शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म का खूब प्रचार किया और अद्वैत वेदान्त की शिक्षा दी। कुमारिल भट्ट मीमांसा दर्शन के आचार्य थे जिन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड पर बल दिया। रामानुज ने विशिष्टाद्वैत चलाया और भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया।

इस काल में बौद्ध धर्म की शक्ति पर्याप्त क्षीण हो चली थी। बिहार और बंगाल में बुद्ध गया, नालन्दा, विक्रम शिला और ओदन्तपुरी के मठों और विहारों में ही इसका जीवन शेष बचा था। नालन्दा और विक्रमशिला प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र थे जो शिक्षा के दृष्टिकोण से विशेष महत्त्व रखते थे। इस समय बंगाल में तांत्रिक बौद्ध धर्म का विकास हो रहा था। किन्तु इस समय बौद्ध मठों का जीवन पहले की तरह सदाचारपूर्ण और पवित्र न रह गया था और इसमें विलासिता का प्रवेश हो चुका था। यह धर्म भी कर्मकाण्डी हो गया था तांत्रिक बौद्ध धर्म के अन्तर्गत वज्रयान सम्प्रदाय का उदय हो चुका था जिसका प्रचार कई सिद्धों ने किया। इन सिद्धों में सरहपा, तिलोपा और परोपा नामक सिद्धों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बौद्ध धर्म के कई सिद्धान्तों को हिन्दू धर्म ने आत्मसात कर लिया था और हिन्दू धर्म स्वयं बुद्ध को विष्णु के दस अवतारों में से एक मानने लगा था। इन कारणों से साधारण जनता को हिन्दू धर्म और बौद्ध में कोई अन्तर नहीं लगता था जिससे धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का प्रभाव कम होता गया। बारहवीं शताब्दी के अन्त में मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने बिहार और बंगाल पर आक्रमण किया और इन स्थानों पर बौद्ध धर्म के बचे खुचे अवशेष को भी नष्ट कर डाला। उसने बौद्ध विहारों को नष्ट कर डाला, पुस्तकालयों को जलवा दिया और भारी संख्या में भिक्षुओं को मौत के घाट उतार दिया। शेष भिक्षु अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भाग गए।

इस समय जैन धर्म की स्थिति अच्छी थी और देश के कुछ भागों में इसका विशेष ज़ोर था। दक्षिण में चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं ने इसे आदरपूर्ण स्थान दिया।

कुमारपाल चालुक्य के शासन काल में जैन धर्म को विशेष प्रोत्साहन मिला। जैन आचार्य हेमचन्द्र इसके दरबार में थे। राजस्थान, कठियावाड़ और गुजरात में जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ। 10वीं, 11वीं और 12वीं शताब्दी में विविध क्षेत्रों में जैन मन्दिरों का व्यापक निर्माण हुआ। गुजरात, राजस्थान तथा चन्देल राज्य के जैन मन्दिर मुसलमानों के ध्वंस कार्य से किसी प्रकार बच गए। इन मन्दिरों की कला और सुन्दरता उच्च कोटि की है जो इस धर्म की लोकप्रियता की ओर भी संकेत करती है। जैन धर्म पौराणिक हिन्दू धर्म से अच्छी तरह तालमेल बिठा सका, जिस कारण इसे किसी आन्तरिक संकट का सामना नहीं करना पड़ा और देश के इन भागों में यह फलता फूलता रहा।

इस काल में भारी संख्या में मन्दिर बनाए गए और उनमें मूर्तियों की स्थापना की गई। लेखों से पता चलता है कि इन मन्दिरों को भूमि आदि दान में दी जाती थी और धार्मिक अवसरों पर जनता मन्दिरों में धन चढ़ाती थी। फलतः मन्दिरों में खूब धन और सोना आदि इकट्ठा हो गया था और जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो उन्होंने इस कारण भी इन मन्दिरों को विशेष रूप से अपना लक्ष्य बनाया।

विभिन्न धर्मों में सामान्यतः परस्पर सहिष्णुता की भावना थी। शैव और वैष्णव मिलकर रहते थे और इस समय शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्तियाँ भी बनाई गई। किन्तु धार्मिक संकीर्णता के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। चोल और पाण्ड्य शासक कट्टर शैव थे और उन्होंने जैन धर्मानुयायियों के प्रति असहिष्णुता की नीति का प्रदर्शन किया।

(ङ) साहित्य और शिक्षा

राजपूत काल में साहित्य की काफी प्रगति हुई तथा विभिन्न विद्वानों ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में ग्रन्थों की रचना की। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि कई शासक स्वयं विद्वान् थे तथा विद्वानों को संरक्षण और आर्थिक सहायता प्रदान करते थे। कन्नौज का शासक यशोवर्मन् स्वयं एक श्रेष्ठ कवि था और उसे रामाभ्युदय नाटक का रचयिता माना जाता है। चौहान शासक विग्रहराज बीसलदेव ने हरकेलि नाटक की रचना की। इसी प्रकार परमार नरेश भोज ने कई ग्रन्थ लिखे।

इस काल में कई संस्कृत काव्यों और नाटक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें कुछ संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है। भवभूति कन्नौज नरेश यशोवर्मन् की राजसभा में थे जिन्होंने वीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव नामक तीन प्रसिद्ध नाटक लिखे हैं। उत्तररामचरित संस्कृत साहित्य की एक विशिष्ट कृति है जिसकी विलक्षणता से प्रभावित होकर कुछ आलोचक भवभूति को कालिदास के समकक्ष रखते हैं। जयचन्द्र के दरबार में रहने वाले श्री हर्ष द्वारा लिखित नैषधचरित इस युग की एक अन्य विशिष्ट रचना है। किंवदन्ती के अनुसार श्री हर्ष काव्य प्रकाश के रचनाकार मम्मट के भतीजे थे। श्री हर्ष की गणना, कालिदास और माघ के साथ संस्कृत के तीन महाकवियों में की जाती है। भारवि, भट्टि, माघ और दण्डी इसी युग की उपज थे, भारवि ने किरातार्जुनीय, माघ ने शिशुपालवध और दण्डी ने दशकुमारचरित की रचना की। मखरचित श्रीकण्ठचरित, विल्हण लिखित विक्रमांकदेवचरित, पद्मगुप्त लिखित नवसाहसांकचरित, कविराज लिखित राघवपाण्डवीय तथा जयदेव लिखित गीत गोविन्द इसी युग में रचनाएँ हैं। कृष्णमित्र

लिखित प्रबोध चन्द्रोदय तथा सोमदेव लिखित ललित विग्रहराज अन्य ग्रन्थ हैं। कन्नौज के प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल तथा महिपाल के शासनकाल में रहने वाला राजशेखर इस युग का एक अन्य प्रसिद्ध साहित्यकार था। इसने कई ग्रन्थों की रचना की, जिनमें बाल रामायण, कर्पूरमंजरी और काव्यमीमांसा विशेष प्रसिद्ध हैं। कल्हण की राजतरंगिणी और जयानक लिखित पृथ्वीराज विजय इस काल के ऐतिहासिक काव्य हैं। राजतरंगिणी को भारतीय इतिहास लेखन का अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है।

इस काल के काव्यों में कृत्रिमता और अलंकार की अधिकता दिखाई देती है तथा लेखक सरल भावाभिव्यक्ति के स्थान पर पाण्डित्य प्रदर्शन में अधिक रुचि लेते हुए दिखाई पड़ते हैं।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त ज्ञान के विविध विषयों पर ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं–दर्शन के ग्रन्थों में कुमारिल लिखित श्लोकवार्तिक, मण्डन कृत विधिविवेक, शंकराचार्य लिखित ब्रह्म सूत्रभाष्य,* उपनिषद्भाष्य और गीताभाष्य, रामानुज का ब्रह्म सूत्र पर लिखा श्री भाष्य, उदयन का न्याय दर्शन पर लिखा गया ग्रन्थ न्याय कुसुमांजलि; ज्योतिष के ग्रन्थों में आर्यभट्ट द्वितीय का आर्य सिद्धान्त, भोज का राजमृगांक, भास्कराचार्य का सिद्धान्त शिरोमणि; गणित-ग्रन्थों में भास्कराचार्य लिखित लीलावती और बीजगणित, महावीराचार्य का गणित सारसंग्रह; विधि अथवा कानून के ग्रन्थों में मेधातिथि की मनुस्मृति पर लिखी गई टीका, विज्ञानेश्वर लिखित मिताक्षरा जो याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखी गई टीका है; चिकित्सा शास्त्र के ग्रन्थों में वाग्भट्ट का अष्टांगसंग्रह, चक्रपाणिदत्त का चिकित्सा सारसंग्रह, शारंगधर लिखित शारंगधर पद्धति; संगीत के ग्रन्थों में शारंगधर कृत संगीत रत्नाकर चालुक्य नरेश हरपालदेव रचित संगीत सुधारक।

इस काल में अपभ्रंश साहित्य का भी विकास हुआ और अपभ्रंश भाषा में दोहों की रचना हुई। इन दोहों का विषय धार्मिक और श्रृंगारिक दोनों है। बौद्ध और जैन सन्तों ने भारी मात्रा में दोहों की रचना की है। वाक्पतिराज लिखित गउडवहो इस काल का प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थ है। इस काल में प्रादेशिक भाषाओं का भी विकास हुआ। उत्तर में इसी काल में देवनागरी लिपि की शुरुआत हुई तथा दक्षिण में तेलगू, कन्नड़ और तमिल भाषाओं का पर्याप्त विकास हुआ।

(च) कला

सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के बीच का काल भारतीय कला के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस काल के हिन्दू शासकों में कलात्मक भवनों और मन्दिरों के निर्माण में होड़ लगी हुई थी और उन्होंने एक से एक सुन्दर भवनों और मन्दिरों का निर्माण कराया। खजुराहो में चन्देल शासकों ने कई मन्दिरों का निर्माण कराया जो विशेष रूप से अपनी मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। जिनमें कुछ घोर श्रृंगारिक हैं। इनमें कुछ मन्दिर शैव तथा कुछ वैष्णव हैं तथा उनका निर्माण काल 950 ई. से 1050 ई. के बीच का है। खजुराहो के मन्दिर ऊंचे चबूतरों पर बने हुए हैं और इनके विविध अंगों में

* इसे शारीरकभाष्य भी कहते हैं। इसमें शंकराचार्य ने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है।

वड़ा सुन्दर अनुपात मिलता है। इन मन्दिरों के गर्भगृह में मुख्य देवता की मूर्ति रखी हुई है और ऊपर छत तथा शिखर बनाए गए हैं। दीवारों पर उभरी हुई खुदाई में सुन्दर मूर्तियाँ बनाई गई हैं। इन मन्दिरों में विश्वनाथ का मन्दिर सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसके शिखर की ऊंचाई लगभग 100 फीट है। चतुर्भुज का वैष्णव मन्दिर दूसरा उल्लेखनीय उदाहरण है। ये मन्दिर आर्य शैली अथवा नागर शैली में बने हुए हैं।

उड़ीसा में भुवनेश्वर के मन्दिर नागर शैली का एक अन्य विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जहाँ खजुराहो के मन्दिर ऊंचे चबूतरों पर बनाए गए हैं, उड़ीसा के मन्दिर सीधे समतल भूमि पर बनाए गए हैं। विमान, जगमोहन, नटमण्डप और भोगमण्डप उड़ीसा के मन्दिरों के विशिष्ट भाग हैं। इन मन्दिरों पर भी उभरी खुदाई में मूर्तियाँ बनी मिलती हैं जिनमें तत्कालीन जीवन की कई झांकियाँ मिलती हैं। इन मन्दिरों में भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उड़ीसा का एक अन्य प्रसिद्ध मन्दिर कोणार्क का सूर्य मन्दिर है। इस मन्दिर को सूर्य के रथ का आकार दिया गया है।

राजस्थान में इस काल में वास्तुकला और विशेष रूप से मन्दिर निर्माण कला की पर्याप्त प्रगति हुई। मुस्लिम आक्रमणों में हुए तोड़-फोड़ के कारण बहुत से मन्दिर नष्ट कर दिए गए किन्तु उस पर भी कला के काफी अवशेष प्राप्त हैं। जोधपुर से लगभग 32 मील उत्तर-पश्चिम में ओसिया नामक स्थान से कुछ ब्राह्मण और जैन मन्दिर पाए गए हैं जिनमें प्राचीनतम 8वीं-नवीं शताब्दी के हैं। इनमें शैली की विविधता मिलती है तथा सजावट की अधिकता है। इन सभी मन्दिरों में दरवाजों पर पौराणिक तथा सामान्य जनता में प्रचलित कथाओं को चित्रित किया गया है। कोटा नगर के पास बाड़ोली नामक गाव के निकट एक शिव मन्दिर लगभग 9वीं शताब्दी का है। राजपूत शैली में बने इस मन्दिर के गोपुर, मण्डप और शिखर में कलात्मक सौन्दर्य है। झालावाड़ में भी दसवीं शताब्दी का एक शिव मन्दिर मिलता है। इसी प्रकार माउन्ट आबू (दिलवाड़ा) में जैन वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण मिलता है। ये मन्दिर बड़े सुन्दर हैं और वास्तुकला तथा मूर्तिकला दोनों दृष्टियों से बेजोड़ हैं। इनका निर्माण तेरहवीं शताब्दी में हुआ और इन्हें वास्तुपाल और तेजपाल नामक दो भाइयों ने बनवाया।

कश्मीर में तथा गुजरात में सोलंकियों के शासनकाल में कई मन्दिरों का निर्माण हुआ। कश्मीर के शासक ललितादित्य और अवन्ति वर्मा प्रसिद्ध निर्माता थे। कश्मीर के मन्दिरों में मार्तण्ड का सूर्य मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। सोलंकियों के शासनकाल में बने मन्दिरों में पाटन (अन्हिलवाड़) के निकट सुनक और केसर के मन्दिर तथा सोमनाथ का मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वास्तुकला और मूर्तिकला के अतिरिक्त चित्र, नृत्य और संगीत कलाओं की भी प्रगति हुई। कलाकार राजाओं के दरबार में प्रश्रय पाते थे और कुछ राजा स्वयं इन विभिन्न कलाओं में रुचि रखते थे। इस काल के चित्र उपलब्ध नहीं हैं।

18

त्रिकोणीय संघर्ष

(गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट व पाल वंश)

हर्षवर्धन की मृत्युपरान्त (646-647 ई.) भारत का कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजन हुआ जो कि भारत के राजनैतिक इतिहास में एक नई प्रवृत्ति का उदय दिखलाता है, जो कि आने वाली कई सदियों तक पाया गया। इस नई प्रवृत्ति के उदय का मूल कारण विकेन्द्रीकरण और क्षेत्रीयता की भावना था। भारत देश का कई भागों में बँट जाना न केवल आन्तिरिक अराजकता का द्योतक था अपितु इस समय केन्द्रीय शासन की दुर्बलता देखते हुए कई बाह्य आक्रमण भी आरम्भ हो चुके थे। ऊपर बताए कारणों के फलस्वरूप ही तीन नई शक्तियों का उदय हुआ जिन्होंने कई वर्षों तक राज्य किया परन्तु इनके शासन का सारा समय अपनी-अपनी सीमाओं को बढ़ाने, गंगा यमुना के समृद्ध क्षेत्र पर अधिकार करने तथा कन्नोज पर अपना एकाधिकार करने में ही व्यतीत हो गया। ये तीन शक्तियाँ (गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट व पाल) लगभग दो शताब्दियों तक संघर्ष करती रहीं। इसी आपसी संघर्ष को त्रिपक्षीय या त्रिकोणीय संघर्ष कहा जाता है। इन तीनों शक्तियों का केन्द्र स्थान गुजरात-राजपूताना, दक्खन तथा बंगाल था। अतः तीनों ही गंगा का समृद्ध क्षेत्र जीतना एवं उस पर अपना स्थाई अधिकार रखना एवं हर्ष की मृत्यु से उत्पन्न शून्यता का लाभ ठठाकर अपनी सर्वोच्चता स्थापित करना चाहते थे।

त्रिकोणीय संघर्ष के अध्ययन के साधन—इस विषय के बारे में जो भी जानकारी हमें प्राप्त होती है, वह अभिलेखीय है; अन्य स्रोत प्रकाश में नहीं आए हैं। इससे यह भी निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि अन्य ऐतिहासिक सामग्री है ही नहीं, परन्तु इस बात में कोई अतिश्योक्ति नहीं कि साहित्यिक साक्ष्यों की तुलना में प्राप्त अभिलेखीय साक्ष्य अधिक हैं। अभिलेखीय साक्ष्यों में ग्वालियर अभिलेख, दिंदोरी तथा राधनपुर के अभिलेख, मेहोवा अभिलेख आदि उल्लेखनीय हैं जो कि हमें नागभट्ट (गूर्जर-प्रतिहार वंश), वत्सराज, ध्रुव व धर्मपाल के संघर्ष तथा प्रतिहार साम्राज्य का विस्तृत होना बताते हैं।

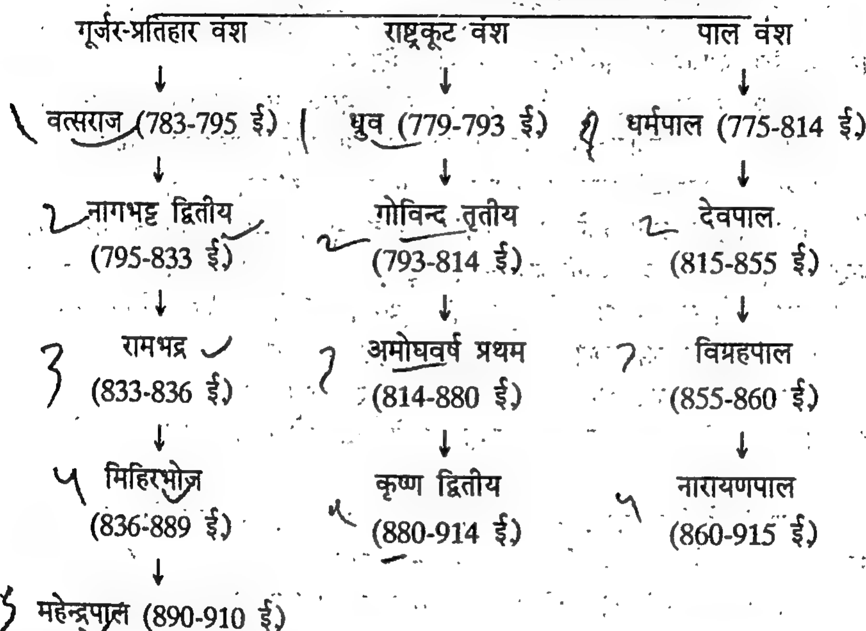
इसके अतिरिक्त प्राप्त साक्ष्यों में 11वीं सदी में रचित 'उदय सुन्दरी' कथा में धर्मपाल को 'उत्तरपथस्वामी' कहा है। यह रचना 'चम्पू' काव्य शैली में रचित है तथा इसमें वर्णित उपलब्धि को धर्मपाल की महान् उपलब्धि माना जाता है। इसी प्रकार एक अन्य साक्ष्य बलवर्मन एवं अवन्तिवर्मन के 'ऊना' के दानपत्र भी सौराष्ट्र राज्यों पर मिहिरभोज

(गूर्जर-प्रतिहार वंश) का आधिपत्य सिद्ध करते हैं।

इसके विपरीत एक स्थान पर एक चरण के संघर्ष में पालों का प्रतिहारों पर वर्चस्व बताया गया है जो कि बदल स्तम्भ में चर्चित है।

विदेशी यात्रियों के वर्णन में अरबी यात्री सुलेमान का विवरण उल्लेखनीय है जो कि मिहिरभोज की प्रशंसा करते हुए, उसे मुसलमानों का कट्टर शत्रु बताता है।

त्रिकोणीय संघर्ष में भाग लेने वाले नरेशों की वंशावलियाँ



त्रिकोणीय संघर्ष के कारण :–

1. राजनैतिक अस्थिरता– हर्ष के मृत्युपरान्त उसका कोई उत्तराधिकारी न होने पर आयुध वंश ने कन्नौज पर अपना एकाधिकार स्थापित किया, जो कि निर्बल एवं अयोग्य सिद्ध हुए। वह शत्रुओं का सामना करने में सक्षम नहीं थे। केन्द्रीय शक्ति का वर्चस्व न होने के कारण कई क्षेत्रीय शक्तियाँ विकसित हुई, जिनमें गूर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट व पाल अत्यन्त शक्तिशाली थीं और उनका सामना न कर सकने की वजह से आयुध वंशीय नरेश उनकी शक्ति के सामने नतमस्तक हो गए और इन तीनों शक्तियों का ध्यान कन्नौज पर केन्द्रित हुआ।

2. क्षेत्रीय शक्तियों की साम्राज्यवादी नीति– गूर्जर-प्रतिहार शासक गुजरात व मालवा के अतिरिक्त गंगा-जमुना का उपजाऊ प्रदेश हासिल करना चाहते थे; वहीं राष्ट्रकूट नरेश उत्तर में अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहते थे और पाल शासक पश्चिम में अपनी सत्ता बढ़ाना चाहते थे। एतैव, ये तीनों शक्तियाँ गंगा-जमुना पर अधिकार कर आगे बढ़ना चाहती थीं जिससे कि युद्ध अवश्यम्भावी हो गया था।

3. कन्नौज का केन्द्रीय नगर होना– कन्नौज नगर ने राजधानी का रूप प्राप्त करते

ही (हर्ष के समय में) विकसित होना प्रारम्भ कर दिया व व्यापार का प्रमुख केन्द्र बन गया। यहाँ की भूमि उपजाऊ थी व साथ ही धार्मिक कारणों से भी विख्यात थी। इसी प्रसिद्धि व केन्द्रीय नगर होने के कारण यह विख्यात नगर रणभूमि में परिवर्तित हो गया।

4. राष्ट्रकूटों का गूर्जर-प्रतिहार वंश से आपसी वैमनस्य— नवीं शताब्दी में एकसाथ यह दोनों शक्तियाँ अति शक्तिशाली रूप में उभर कर आई। जब गूर्जर-प्रतिहार विकेन्द्रित होते हुए कन्नौज को हथियाना चाहते थे तो राष्ट्रकूट ने उनके बढ़ते प्रभाव को अवरुद्ध करने की कोशिश की एवं अपनी कीर्ति फैलाने का प्रयास किया, अतः इन दोनों शक्तियों में युद्ध के लिए आवश्यक परिस्थितियों ने जन्म लिया।

5. धर्मपाल का महत्त्वाकाँक्षी होना— हर्ष के समय का शक्तिशाली बंगाल प्रदेश जो कि गौड़ वंश के शशांक नरेश के अधिकार में था: उसकी मृत्यु के पश्चात् अत्यन्त निर्बल हो गया। जनता ने परेशान व निराश होकर गोपाल नामक सेनापति को शासक निर्वाचित किया जिसने राजा बनते ही बंगाल में शान्ति स्थापित कर दी। उसके उत्तराधिकारी धर्मपाल ने अपने पिता की कीर्ति को आगे बढ़ाया। धर्मपाल ने बंगाल का प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के उद्देश्य से पश्चिम क्षेत्र को चुना और इसके लिए उसे कन्नौज सर्वाधिक उपयुक्त लगा। राष्ट्रकूट व गूर्जर-प्रतिहारों के आपसी मन-मुटाव का लाभ उठाते हुए धर्मपाल ने कन्नौज के माध्यम से उत्तरी भारत पर अपना अधिकार जमाया। धर्मपाल का बढ़ता प्रभाव राष्ट्रकूट व गूर्जर-प्रतिहार सह नहीं पाए तथा उन्होंने एक-दूसरे के विरुद्ध संघर्ष घोषित कर दिया।

समग्र त्रिकोणीय संघर्ष का विभिन्न चरणों में समीक्षा— यह त्रिकोणीय संघर्ष लगभग दो शताब्दियों तक इन तीनों शक्तियों के बीच में चलता रहा परन्तु इस पूरे संघर्ष काल में कभी भी ये तीनों शक्तियाँ एक साथ नहीं लड़ीं। अतः अध्ययन की सुविधानुसार इस संघर्ष को छः चरणों में विभाजित किया गया है।

1. पहला चरण— उपलब्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्रथम चरण में भाग लेने वाले वत्सराज (गूर्जर-प्रतिहार), ध्रुव (राष्ट्रकूट) और धर्मपाल थे। इस समय गूर्जर-प्रतिहार वंश के शासक वत्सराज ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करके बंगाल के पाल शासक धर्मपाल के विरुद्ध आक्रमण किया एवं उसे पराजित कर उसका एकछत्र राज्य छीन लिया। इतिहासकारों का यह मानना है कि यह युद्ध बंगाल की भूमि पर लड़ा गया तथा जब वत्सराज विजय के उपरान्त लौट रहा था तो उसे बीच में ही राष्ट्रकूट शासक ध्रुव की सेना का सामना करना पड़ा। इस युद्ध में ध्रुव की सेना ने वत्सराज पर तीव्र गति से आक्रमण किया तथा उसे पराजित किया। अतः वस्तुस्थिति में राष्ट्रकूटों ने प्रतिहारों द्वारा अर्जित यश को उनसे छीन लिया। परन्तु ध्रुव भी अपनी विजय को स्थाई नहीं बना पाया जिसका कारण एक तो उसका अपनी राजधानी से अधिक दूर निकल आना था तथा दूसरा कारण उसकी अनुपस्थिति में उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ जाना था। ध्रुव अपने पुत्र गोविन्द तृतीय को शासक बनाना चाहता था जबकि उसका दूसरा पुत्र स्तम्भ इसका विरोध कर

रहा था। इस उत्तराधिकार के युद्ध के पश्चात् ध्रुव को दक्षिण लौट आना पड़ा तथा उसका उत्तर भारत से प्रभाव समाप्त हो गया।

दूसरा चरण— प्रतिहार नरेश वत्सराज ध्रुव से परास्त अवश्य हो गया था परन्तु उसकी शक्ति का सवर्था ह्रास नहीं हुआ था। इस समय धर्मपाल भी ध्रुव के राज्य की राजनैतिक अस्थिरता का लाभ उठाना चाहता था। अतः उसने वत्सराज की शक्तियों को क्षीण करने के उद्देश्य से कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। उसने वत्सराज को पराजित कर अपने समर्थक चक्रायुद्ध को राजा बनाया एवं कन्नौज के दरबार में उसके राज्याभिषेक का आयोजन किया जिसका समर्थन कई उपस्थित शासकों (कुरु, यदु, अवन्ति, गन्धार, मत्स्य आदि) ने किया। इस घटना के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण उत्तर भारत में धर्मपाल का प्रभुत्व स्थापित हो गया तथा उसने 'उत्तरपथस्वामी' की उपाधि ग्रहण की।* धर्मपाल को बंगाल के गौरव को पुनः स्थापित करने वाला माना जाता है।

तीसरा चरण— इस समय की राजनीतिक परिस्थितियों में गुर्जर-प्रतिहार नरेश की मृत्यु के पश्चात् नागभट्ट द्वितीय शासक बना तथा वह अपने वंश की खोई हुई प्रतिष्ठा को जुटाने में कार्यरत हो गया। उसे कन्नौज पर शासन करते हुऐ चक्रायुद्ध असहनीय लगा अतः उसने धर्मपाल से युद्ध करके, उसे परास्त कर चक्रायुद्ध को गद्दी से निरस्त कर दिया।** तथा अपने समर्थक इन्द्रायुद्ध को कन्नौज का राजा बनाया। अपनी विजय के क्रम में नागभट्ट ने आनर्त, मालवा, किरात, वत्स और मत्स्य देश को भी जीता एवं अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया। अपनी विजय से लौटते समय उसे राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय का सामना करना पड़ा व उसकी पराजय हुई जिससे उसका कन्नौज पर से प्रभाव समाप्त हो गया तथा उत्तर भारत में उसकी प्रतिष्ठा क्षीण हुई।

चतुर्थ चरण— यह चरण विवादास्पद घटनाओं से पूर्ण है। प्रथम विवाद गोविन्द तृतीय के उत्तर भारत पर आक्रमण करने के समय से है तथा दूसरा कारण कि उसने आक्रमण किस कारणवश किया था। इसके प्रत्युत्तर में यह माना जाता है कि उसने धर्मपाल के कहने पर आक्रमण किया जोकि प्रतिहार नरेश के विरुद्ध राष्ट्रकूट शासक से पारस्परिक मित्रता रखना चाहता था। गोविन्द को प्रतिहार नरेश के साम्राज्यवादी नीति का पता चलते ही उसने उसे नागभट्ट के आक्रमण से पूर्व ही उत्तर में पुरास्त्र कर दक्षिण में आक्रमण करने से वंचित कर दिया। गोविन्द तृतीय भी गंगा-यमुना प्रदेश पर स्थायित्व न प्रदान कर सका जिसका कारण उसके राज्य में गृहयुद्ध आरम्भ होना था। अतः उत्तर भारत संघर्ष पुनः अनिश्चितकाल के लिये टल गया।

पाँचवा चरण— पाँचवें चरण के काल में राष्ट्रकूटों का अल्पवयस्क शसक अमोघवर्ष आन्तरिक कठिनाइयों से घिरा हुआ था तथा उसके चालुक्य सामन्त स्वतन्त्र होना चाहते थें। इन कठिनाइयों का सामना करने की वजह से अमोघवर्ष एक साम्राज्यवादी शासक नहीं वन पाया तथा वह अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण त्रिपक्षीय संघर्ष से दूर रहना

---

* चम्पू काव्य 'उदय-सुन्दरी'

** ग्वालियर अभिलेख

चाहता था। राष्ट्रकूटों की अनुपस्थिति में यह संघर्ष गूर्जर-प्रतिहारों एवं पालों तक ही सीमित रह गया।

नागभट्ट द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् 833 ई. में रामभद्र (गूर्जर-प्रतिहार) शासक बना। साक्ष्यों से प्राप्त जानकारी उसे एक अत्यन्त निर्बल शासक मानती है। उसके शासनकाल में प्रतिहारों का संघर्ष पाल शासकों से हुआ। जिसमें रामभद्र पराजित हुआ।* जबकि अन्य साक्ष्य प्रतिहारों की पालों पर विजय घोषित करते हैं।**

इस बात में कहीं अतिश्योक्ति नहीं है कि बंगाल के पाल नरेशों ने अपने दोनों विपक्षी राज्यों में उत्पन्न कठिनाइयों का पूरा लाभ उठाया। धर्मपाल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र देवपाल उत्तराधिकारी बना तथा उसने अपने राज्य को कामरूप, उड़ीसा तक बढ़ाया तथा उत्तरापथ में विद्यमान हूणों के राजा को पराजित कर ख्याति प्राप्त की।

गूर्जर-प्रतिहार में देवपाल का समकक्ष शासक नागभट्ट द्वितीय, रामभद्र और मिहिरभोज हुए। देवपाल का नागभट्ट के साथ संघर्ष हुआ था जिसके पहले दौर में गूर्जर बुरी तरह से पराजित हुए परन्तु दूसरे दौर में पाल शासकों को पराजय का सामना करना पड़ा परन्तु अन्त में यह कहना अधिक उचित जान पडता है कि पालवंश इस समय तीनों शक्तियों में सर्वाधिक शक्तिशाली था।

अन्तिम चरण— पाँचवें चरण में पालवंश का उत्कर्ष हुआ परन्तु देवपाल इस प्रतिष्ठा को स्थाई नहीं बना पाया तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त पालवंश का अन्धकारमय युग प्रारम्भ हुआ। देवपाल का उत्तराधिकारी विग्रहपाल अत्यन्त अल्पकाल के लिये राजा बना (855-860 ई.) एवं उसके उत्तराधिकारी नारायणपाल ने पचास वर्षों तक शासन तो किया परन्तु बंगाल की आन्तरिक अवस्था में कोई सुधार नहीं ला पाया। इस काल में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय के राज्य में भी आन्तरिक द्वेष प्रारम्भ हो गये थे। कई सामन्त (नोलम्ब, गंग एवं गुजरात) स्वतन्त्र होना चाहते थे जबकि दूसरी ओर गूर्जर-प्रतिहार शासक अपने नेतृत्व में अपने वंश को उत्कर्ष की ओर ले जा रहा था। मिहिरभोज ने इन दोनों राजवंशों (पाल व राष्ट्रकूट) की दुर्बलता का लाभ उठाया तथा देवपाल को परास्त किया। कृष्ण द्वितीय भी मिहिरभोज को चुनौती देने में समर्थ नहीं था तथा इसी समय का लाभ उठाते हुए मिहिरभोज ने राष्ट्रकूटों की शक्ति का भी दमन किया और प्रतिहार शक्ति को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

त्रिकोणीय संघर्ष से उत्पन्न परिस्थितियाँ : लगभग दो शताब्दियों तक चलते संघर्ष के प्रभाव तो पड़ने स्वाभाविक ही थे, जो कि निम्न प्रकार हैं—

1. तीन शक्तिशाली शक्तियों का ह्रास— आठवीं सदी के उत्तरार्द्ध में आरम्भ हुआ संघर्ष दसवीं सदी के अन्त तक चलता रहा परन्तु अगर यह समय युद्ध में व्यय न होता तो उत्तर भारत का दृश्य कदापि कुछ और ही होता। इस युद्ध ने इनका विनाश कर दिया।

** बदल स्तम्भ

*** ग्वालियर अभिलेख

2. सामन्तवादी नीति का प्रबल होना— हर्ष की मृत्यु के उपरान्त इन तीन शक्तियों का उदय तथा इसके पश्चात् इनका विनाश व सामन्तवाद का प्रबल होना देखा जा सकता है। कई सामन्त स्वतन्त्र हो गए और भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। केन्द्रीय शक्ति के अभाव में परमार, चन्देल, चालुक्य, चोल व चाहमान वंशों का उदय हुआ।

3. प्रतिहार शक्ति की सर्वोच्चता— अत्यधिक उतार-चढ़ाव देखने के बावजूद प्रतिहार शासकों को अन्ततः विजय की प्राप्ति हुई। प्रतिहार नरेश अपनी साम्राज्यवादी नीति पूर्ण करने में सफल हुए। उत्तरी-भारत पर प्रतिहारों को आधिपत्य स्थापित हो गया। ग्वालियर एवं मेहोवा अभिलेख के अनुसार करनाल जिला भी प्रतिहार साम्राज्य का भाग बन गया था। प्रतिहार नरेश विशेषतः मिहिरभोज मुसलमानों का कट्टर शत्रु था।

4. कन्नौज की प्रतिष्ठा में कमी— हर्षवर्धन के शासन-काल में कन्नोज भारत की राजधानी का प्रतीक बन गई थी। कन्नौज का व्यापार, व्यवसाय आदि सभी इस संघर्ष में नष्ट हो गए। कन्नौज पर शासन करते आयुधवंशीय शासक इन तीनों शक्तियों की कठपुतली बन कर रह गए।

5. मुस्लिम आक्रमणकारियों का विरोध करने में असफलता— पारस्परिक मतभेदता के कारण भारत के शासक अरब के मुसलमानों का कड़ा प्रतिरोध नहीं कर पाए। राजपूत शासक भी आपसी वैमनस्य के कारण उनके आक्रमण को रोक नहीं पाए तथा इस प्रकार इस त्रिकोणीय संघर्ष ने भारत पर तुर्कों को अपनी राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

उपर्युक्त वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में उत्पन्न शून्यता कभी भर नहीं पाई तथा जो राज्य एकमात्र हर्ष के आधीन था वह इन तीन महाशक्तियों (गूर्जर-प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों व पालों) की प्रतिस्पर्धा का केन्द्र बन गई। इन तीनों शक्तियों का उदय व पतन भी एकसाथ व लगभग एक समय में हुआ। तीनों शक्तियाँ जिस प्रकार सामन्तवादी नीति का प्रभाव थी, उसी प्रकार उन्हें अपने राज्यों में सामन्तों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति का सामना करना पड़ा। अनेक शक्तियाँ (परमार, चन्देल, चालुक्य, चोल, चौहान, गंग आदि) स्वतन्त्र हो गयीं तथा केन्द्रीय शक्ति की अनुपस्थिति तथा स्थानीय शक्तियों में राष्ट्रीय एकता तथा आपसी सहयोग के अभाव ने मुसलमानों के लिए भारत में विजय का मार्ग प्रशस्त किया।

19

द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति

द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार की वस्तुस्थिति का भी अनोखा इतिहास है। संस्कृत साहित्य की विभिन्न कृतियों इतिहास पुरातत्व विषयक सामग्री और कला-वस्तुओं के आधार पर पता चलता है कि भारत की वर्तमान भौगोलिक सीमाएँ प्राचीन काल में इससे अधिक विस्तृत थीं। अनेक इतिहासकारों एवं पुरातत्ववेत्ताओं ने प्राचीन भारत के इस 'बृहत्तर' रूप पर प्रकाश डाला है। भारत के इस बृहत्तर रूप का फैलाव सुमात्रा, मलय, जावा, वर्मा, श्रीलंका, मलाया, बोर्नियो बाली तथा अनाम (चम्पा) कम्बोडिया (कम्बुज) और हिन्द-चीन, नेपाल, तिब्बत, ईरान, ईराक, मिश्र, चीन, जापान आदि देशों तक था। साहित्य, धर्म, व्यापार, शासन, भाषा, लिपि और आचार-विचार आदि विभिन्न उद्देश्यों एवं प्रयोजनों से प्राचीन भारत के उक्त देशों से घनिष्ठ व स्थायी सम्बन्ध थे। इन सम्बन्धों की व्याख्या से द्वीपान्तर में व्याप्त बृहत्तर भारत की संस्कृति पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

द्वीपान्तर ऐसे देशों का समूह है जहाँ भारतीय उपनिवेश स्थापित थे। वे उपनिवेश हॉलांकि भारतीय सम्राटों के अन्तर्गत थे परन्तु वे स्वतन्त्र शासकों द्वारा शासित एवं संचालित होते थे। परन्तु भारतीय साम्राज्य के प्रति अपनी निष्ठा दर्शाने के लिए उन्हें कर अथवा भेंट के रूप में कुछ निश्चित धनराशि निर्धारित समय में भारत को भेंट करनी होती थी। इस प्रकार वे भारत के प्रति अपने सम्बन्ध प्रगट करते थे।

दोनों तरफ पानी से घिरे हुए भू-भाग को 'द्वीप' का नाम दिया गया है। पुराणों में नौ द्वीपों (नव द्वीप) का वर्णन है, जिन्हें द्वीपान्तर भारत भी कहा गया है। ये नौ द्वीप हैं—1. इन्द्रद्वीप (वर्मा), 2. कसेरुमत, 3. ताम्रवर्ण (ताम्रपर्णी), 4. गभस्तिमत, 5. नागद्वीप (निकोबार), 6. कवह (केडह), 7. सिंहल (श्रीलंका), 8. वरूण या वर्हिण (वोर्नियो) और 9. वट कुमार। इन द्वीपों में ज्यादातर का कोई पता ही नहीं है। इसी प्रकार 'ब्रह्माण्ड पुराण' में 'जम्बूद्वीप' के अन्तर्गत अंगद्वीप (सम्भवतः कम्बुज एवं चम्पा), यवद्वीप (जावा), मलयद्वीप, कुशद्वीप, शंखद्वीप और वराहद्वीप आदि का उल्लेख हुआ है। जो कि बृहत्तर भारत के ही अंग थे।

एशिया के अलग-अलग भागों में संस्कृत के हस्तलेखों, संस्कृत, ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि के अभिलेखों के मिलने पर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि एशिया के अनेक देशों में ईसा पूर्व से ही कुछ भारतीय जा पहुँचे थे। यात्रा के लिये जलमार्ग व स्थलमार्ग दोनों का ही प्रयोग होता था। चीनी यात्रियों ने भी द्वीपान्तरों से भारत आने वाले मार्गों

का उल्लेख किया है। चीनी यात्री ई-त्सिंग, 7वीं शती में भारत आते हुए लगभग छह माह सुमात्रा में रुका था। वहाँ उसने संस्कृत-व्याकरण का अध्ययन किया था। उसने अपने यात्रा-वृत्तान्त में लिखा था कि जावा, बोर्नियो, कुनलन और बाली आदि देशों में भारतीय 'उपनिवेश' स्थापित हो चुके थे। वहाँ संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ भारतीय आचार-विचार व धार्मिक परम्पराएँ भी प्रचलित थीं। इन कारणों के फलस्वरूप मलय, कम्बोडिया व इण्डोनेशिया आदि देश बृहत्तर भारत के अन्तर्गत आने लगे थे।

बाहरी देशों में जाने की उत्सुकता भारतीयों में प्राचीन काल से ही जाग चुकी थी। धार्मिक, राजनीतिक व आर्थिक कारणों से भारतीय जलमार्गीय तथा स्थलमार्गीय साहसिक यात्राएँ करके वे बाहरी द्वीपान्तरों में प्रविष्ट होकर वहीं बस गये। उनमें प्रमुख थे–क्षत्रिय, सामन्त, ब्राह्मण-पुजारी, बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी तथा वैश्य व्यापारी। पुराण, जातक, 'बृहत्कथा' और 'मिलिकद पन्ह' में विदेशों में बसे हुए भारतीय उपनिवेशों के विषय में अत्यन्त सुन्दर वर्णन भारतीय इतिहास में है।

ऋषि परशुराम अपने ओजस्वी व्यक्तित्व एवं दृढ़ संकल्प के लिये प्रसिद्ध हैं। भारत से बाहर आर्य संस्कृति के प्रसार-प्रचार में ऋषि अगस्त्य के पश्चात् उन्हीं का दूसरा उल्लेखनीय नाम है। ऋषि परशुराम ने नर्मदा घाटी व सुदूर अरब सागर के तटीय क्षेत्र पर आर्य बस्तियों को बसाया और वहीं से भारत की संस्कृति को द्वीपान्तरों में प्रसारित करने का अभियान प्रारम्भ किया।

सातवाहन शासकों ने ऋषि परशुराम की परम्परा को उजागर किया। इन पूर्वी द्वीपान्तरों के लिये बंगाल की खाड़ी के घनकटक, मसुलिपत्तन तथा कोनाकर बन्दरगाहों से अरब सागर पार के वैजयन्ती (गोवा) और कल्याणी के बन्दरगाहों तक जलमार्ग द्वारा आने-जाने की सुव्यवस्था का प्रारम्भ दक्षिण के आन्ध्र सातवाहनों के शासनकाल (लगभग दूसरी शती ई. पूर्व) में हुआ। सातवाहन राजा हाल (प्रथम शती ई. पूर्व) की साहसिक समुद्री यात्रा का वर्णन 'बृहत्कथा' के विभिन्न सन्दर्भों में हुआ है। इन सन्दर्भों में सुवर्ण, सिंहल तथा कर्पूर आदि द्वीपान्तरों के नाम इस धारणा की पुष्टि करते हैं कि सातवाहनों के शासनकाल में भारत के दक्षिण-पूर्वी द्वीपान्तरों के साथ समुद्री मार्गों द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे।

भारत में सातवाहन साम्राज्य के अन्तिम दौर अर्थात् ईसा के लगभग दूसरी शती के आरम्भ में शक, चोल, पह्लव और पाण्ड्य आदि द्वारा किये गये आक्रमणों तथा उनके आपसी संघर्षों के कारण भारत में राजनीतिक तथा आर्थिक उथल-पुथल की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। इसके फलस्वरूप भी कई भारतीय बाहरी देशों में फैल गये। मलय, कम्बोडिया, सुमात्रा, जावा तथा बाली आदि द्वीपान्तरों में ईसा की दूसरी या तीसरी शती में इस वर्ग के लोगों ने उपनिवेशों की स्थापना की। शासन में उनका प्रमुख स्थान नहीं था, परन्तु वे भारतीय संस्कृति की स्थापना तथा उत्तरोत्तर उन्नति में बड़े सक्रिय रूप से कार्यरत रहे।

द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति कला व धर्म की महान व विशाल थाती को प्रचारित-प्रसारित करने में भारतीय ज्ञान-ग्रन्थों, सन्तों, महात्माओं का सम्पूर्ण योगदान रहा है। जिन भारतीय ग्रन्थों ने एशिया में भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डाला उनमें 'रामायण'

[illegible] 'ललितविस्तर', महावस्तु, जातक, पुराण, आगम, तन्त्र, 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'प्रज्ञापारमिता', [illegible], [illegible], 'दिव्यावदान', 'अभिधर्मकोश', 'सूत्रालंकार' और 'बुद्धचरित' का नाम [illegible] रूप से उल्लेखनीय है। कुषाण साम्राज्य (प्रथम शती ई.) में 'सद्धर्मपुण्डरीक' की रचना हुई और तीसरी शती ई. के अन्त में उसका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। धर्म एवं दर्शन के अद्भुत समन्वय के लिए इस ग्रन्थ पर 'भगवद्गीता' का व्यापक प्रभाव है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान हम इस बात से लगा सकते हैं कि आधे एशिया में उसने बौद्ध 'धर्मग्रन्थ' का जैसा दर्जा प्राप्त किया। भारत के उच्चादर्शों, शान्ति, सद्भाव व एकता की स्थापना करके जिन बौद्ध-ग्रन्थों ने कला-माध्यम से विस्तृत भू-खण्ड पर अपना एकाधिकार जमाया, उनमें अश्वघोष का 'बुद्धचरित' और आर्यशूर की 'जातकमाला' का नाम उल्लेखनीय है। इनके मानव संदेश तथा उच्चादर्श पहले तो अजंता में उभरे फिर एशिया के भू-भाग की कला पर छा गये। इन बौद्ध-ग्रन्थों के अतिरिक्त 'रामायण' तथा 'महाभारत' व अनेक पुराणों के माध्यम से भी भारत की संस्कृति तथा कला का एशिया में प्रचार-प्रसार हुआ। इसका सम्पूर्ण श्रेय गुप्त सम्राटों को जाता है। शक्तिशाली एवं सहिष्णु गुप्त शासकों ने एक ओर तो भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अपने प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील शकों, यवनों, कुषाणों, हूणों व पल्लवों के अस्तित्व को नष्ट करके बृहद् भारत में एकाधिकार-सम्पन्न साम्राज्य की स्थापना की तथा राष्ट्र-रक्षा के कार्यों को सुदृढ़ करते हुए परम्पराओं को पुनर्जीवित किया और दूसरी ओर साहित्य, संस्कृति तथा कला के प्रचार-प्रसार के लिये अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया। उनके शासन काल में भारतीय धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के संदेश विद्वानों तथा भिक्षुओं द्वारा सुवर्णद्वीप, चम्पा, ताम्रलिप्त, द्वारावती और पनान आदि प्रायद्वीपों में पहुँचा और वहाँ हिन्दू उपनिवेशों की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त इन्डोनेशिया, तिब्बत, नेपाल, मंगोलिया और चीन आदि देशों में भी गुप्तों के सांस्कृतिक व कलात्मक उच्चादर्श प्रसारित हुए।

गुप्तों ने जिस भूमिका का निर्माण किया उसको गुणवर्मन (423 ई.), शान्तरक्षित (7वीं शती), वज्रबोधि (711 ई.), कुमारघोष (782 ई.) और दीपंकर श्रीज्ञान (1011 ई.) जैसे विद्वान भिक्षुओं के द्वारा जावा से कम्बोडिया और वर्मा से बाली तक समस्त दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों में ब्राह्मण, बौद्ध तथा शैव धर्मों का प्रवेश हुआ। उनके प्रभाव को दर्शाते अनेक स्थायी स्मारक, अनेक मठ, मन्दिर तथा उनमें सुसज्जित कला की भव्यता आज भी उनकी गौरवगाथा को सुरक्षित बनाये हुए है।

एशिया माइनर

एशिया के देशों के साथ भारतीय सम्बन्धों की स्थापना ईसा के कई सौ साल पूर्व ही हो चुकी थी। उसके प्रमाण के रूप में एशिया माइनर के वोगाजकुई नामक स्थान में प्राप्त अभिलेख हैं जिसका समय विद्वानों द्वारा 1400 ई. पूर्व के लगभग निर्धारित किया गया था। इन अभिलेखों में मितानी (MITANI) और खत्ती (HITTITES) जातियों में हुई पारस्परिक संधि का उल्लेख हुआ है। जिन देवताओं का इन संधिपत्र में साक्षी-स्वरूप उल्लेख किया गया है, उनके नाम है—मि-इत-र (मित्र), उ-रुवन (वरुण), इनन्दार (इन्द्र) और ने-स-अ (न-सि-इअ-अ) न्-न (नासत्य)। दोनों नासत्य देवताओं के साथ-साथ इन्द्र, मित्र

और वरुण ऋग्वेद के मुख्य अधिष्ठता एवं बहुचर्चित देवता हैं। 'अवेस्ता' जो कि ईरानियों का धर्म ग्रंथ है, उसमें भी इन देवताओं को इसी रूप में मान्यता दी गयी है।

उक्त अभिलेखों के समय (1400 ई. पूर्व) के कुछ पत्र तल्ल-अल्लअमरनाथ नामक ग्राम से प्राप्त हुए हैं। कुछ मितानी राजाओं के नाम उनमें संस्कृत भाषा में उल्लेखित हैं। उदाहरण के लिए आर्ततम तुषरत और सतर्तन (सुत्राण) हैं। इसी प्रकार बेबीलोनिया के कस्सी (KASSITES) शासकों (1746-1180 ई. पूर्व) के नाम सुरिअस् (सूर्य) और मर्तयस् (मरुतम) थी संस्कृतनिष्ठ है। असीरिया के नरेश असुर बनीपाल (700 ई. पूर्व के लगभग) के पुस्तकालय से प्राप्त एक सूची में अस्सर-मजस आदि देवताओं के नाम उल्लेखित हैं। इन नामों की एकता एक ओर तो ईरानियों के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' में उल्लेखित अहुर-मज्द नामों से और दूसरी ओर संस्कृत के 'असुर' शब्द में बैठती है।

इन उदाहरणों से जानकारी मिलती है कि एशिया माइनर के विस्तृत भू-भाग में अति प्राचीनकाल में ही ऋग्वैदिक संस्कृति का प्रभाव आ गया था अथवा वहाँ के जन-जीवन व साहित्य के साथ भारत के सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे।

मलय देश (मलेशिया)

मलेशिया प्राचीन काल में मलय देश के नाम से प्रचलित था। दक्षिण भारत से लगभग दो हज़ार मील की दूरी पर अवस्थित प्राचीन मलय देश के अनेक हिस्सों पर भारतीयों का शासन था। उसके 'मलय' नाम से ही भारतीयता का आभास होता है। शायद उसका 'मलय' नामकरण इस देश में अधिक रूप से उगने वाले चन्दन के वृक्षों के ही कारण हुआ।

एशिया महाद्वीप के अलग-अलग स्थानों से प्राप्त अभिलेखों तथा संस्कृत पालि ग्रन्थों और चीनी-मलियाई परम्पराओं में मलय देश को सुवर्ण भूमि के अन्तर्गत माना गया है। वहाँ के प्राचीन अभिलेखों तथा प्रशस्तियों से यह पता चलता है कि संस्कृत भाषा वहाँ प्रचलित थी तथा उन अभिलेखों व प्रशस्तियों में प्रयुक्त लिपि की समानता पाँचवी शती ई. की उत्तर भारतीय गुप्तलिपि से मिलती-जुलती है। ये अभिलेख स्तम्भों तथा शिलाओं पर उत्कीर्णित हुए मिले हैं और उनका लेखन प्रकार और दान किये जाने आदि का वर्णन विषय सर्वथा भारतीय है।

बौद्ध-ग्रन्थ 'महावंश' के अन्तर्गत सोम तथा उत्तर द्वारा उपनिवेश स्थापित करने का उल्लेख हुआ है। एक लेख में कहा गया है कि बुधगुप्त नाम का एक नाविक कर्ण सुवर्ण (उत्तरी बंगाल) से मलय प्रायद्वीप गया था (महानाविक-बुधगुप्तस्य रक्तमुक्तिका-वास्तव्यस्य—ज. ए. सो. बंगाल, भाग 94, पृ. 75)। प्राप्त अभिलेख-सामग्री में मलय देश के प्राचीन हिन्दू शासकों में लंककेसु (200 ई.) तथा उसके पुत्र भगदत्तो या भागवत तथा श्रीपाल वर्मा (500 ई.) का नाम मिलता है।

पुरातात्त्विक तथा ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री, जो कि विभिन्न रूपों में अभी तक प्राप्त हुई है, उससे विदित होता है कि भारत के जैसे मलय देश में भी छोटे-छोटे राज्य स्थापित थे, जिनमें अधिकांश राज्यों में हिन्दू शासक थे। अरबों ने मध्य युग में इन पर आक्रमण किया और भारत की ही भाँति वहाँ भी धर्म तथा कला-संस्कृति के स्थानों

को [illegible] किया। अनेक हिन्दुओं को अरबों ने धर्म परिवर्तन के लिये मजबूर किया। अनेक हिन्दू देव मंदिर मस्जिदों में परिवर्तित कर दिये गये। परन्तु तब भी वहाँ पर व्याप्त हिन्दू संस्कृति की विरासत पूर्णतः समाप्त नहीं हुई। जब भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य था उस समय मलाय देश (मलेशिया) के कुछ अंशों पर भी अंग्रेजी हुकूमत विद्यमान थी। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् वे भाग भी दासता से मुक्त हो गये।

मलय से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि लम्बे समय तक संस्कृत का वहाँ व्यापक प्रचार-प्रसार रहा। पूर्वी मलय को संस्कृत में 'ताम्र लिंग' के नाम से कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि मलय प्रायद्वीप में ब्राह्मण धर्म के अलावा बौद्ध धर्म और महायान का लम्बे काल तक प्रचलन रहा। वर्तमान मलेशिया के अनेक स्थानों को संस्कृत नामों से जाना जाता है, इससे यह ज्ञात होता है कि वहाँ संस्कृत का व्यापक प्रभाव था। मलेशिया की वर्तमान राजधानी कुआलालम्पुर का 'पुर' शब्द नगर को इंगित करता है। इसी प्रकार कई संस्कृत शब्दों का प्रयोग मलेशियाई भाषा में हुआ है, जैसे–सुँगी पट्टनी (शृंग पट्टन), सेरेमबन (श्रीरामवन) आदि। सिंहापुर (सिंहपुर) जिनका अर्थ सिंहों का नगर (सिंह + पुर) है, एक संस्कृत शब्द है। मलय के एक स्थान की खुदाई में एक हिन्दु ([illegible] नामक व्यक्ति द्वारा बनाये गये एक गढ़ के) अवशेष प्राप्त हुआ है जो सिंहपुर के दक्षिण में था तथा बाहरी देशों का समुद्रपथ था। यहाँ से मिले शिलापट्टों पर भारतीय निर्माताओं एवं शासकों का नाम अंकित है। इस किले का सुरक्षा एवं प्रभुत्व की दृष्टि से बड़ा महत्त्व था एक शिव मन्दिर सुंगी पटवी में भी प्राप्त हुआ है। मलय द्वीप के पुराने तथा नवीन नामों में लिंग शब्द के अधिक से अधिक प्रयोग से यह पता चलता है कि वहाँ शिव की उपासना की जाती थी।

मलय द्वीप में मिले अनेक प्रमाणों से यह विदित होता है कि वहाँ भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत भाषा का प्रचलन था, मलय द्वीप भारतीय भाषा के प्रचलन का ज्ञात हमें निम्न शब्दों से होता है—अस्थान (स्थान); महादेवी (महारानी); सुआमी (स्वामी), सुअर्ग, सोर्ग, सर्ग (स्वर्ग); सिंग (सिंह) तथा पुत्र, पुत्री आदि।

जावा

भारत तथा जावा के प्राचीन काल में घनिष्ठ सम्बन्धों का पता जावा से प्राप्त विभिन्न सामग्रियों द्वारा होता है। सुमात्रा और मलय की भाँति जावा में भी हिन्दू तथा महायान बौद्ध धर्म और भारतीय साहित्य का प्रभाव रहा है। वहाँ ब्राह्मण, शैव और बौद्ध दोनों ही धर्म प्रचलित थे। ऋषि अगस्त्य ने आर्य-संस्कृति का प्रचार-प्रसार श्री लंका, जावा तथा सुमात्रा आदि द्वीपों में किया। उनका यह सांस्कृतिक अभियान धर्म के माध्यम से हुआ। ऋषि अगस्त्य को दक्षिण भारत में 'शिवगुरू' के रूप में पूजा जाता था। जावा में उनके नाम पर एक मन्दिर भी स्थापित किया गया। दक्षिण के अगस्त्य पर्वत पर उनका साधना-स्थल स्थित था। यहीं पर उन्होंने 'अगस्तायम्' व्याकरण और प्रतिमा विज्ञान पर 'सकलाधिकार' नामक ग्रन्थों की रचना की। उनका व्याकरण आज भी तमिल साहित्य का मूल माना जाता है।

जावा में प्राप्त संस्कृत अभिलेखों से पता चलता है कि लगभग दूसरी शती ई.

से ही वहाँ भारतीयों का आना-जाना आरम्भ हो गया था। इन अभिलेखों की लिपि की समानता उत्तर भारतीय गुप्त लिपि से है। वहाँ की कवि भाषा पर संस्कृत तथा अन्य साहित्य पर 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'कालिदास' का प्रभाव है।

जावा से प्राप्त अनेक संस्कृत अभिलेखों से पता चलता है कि पूर्वी जावा (कलिंग) में देववर्मन नामक एक राजकुमार द्वारा 200 ई. में शासन स्थापित हो चुका था। उनके वंशज पूर्णवर्मन के काल के एक अभिलेख द्वारा जावा में भारतीय संस्कृति का प्रभाव सिद्ध होता है। गुजरात के एक राजकुमार द्वारा 750 ई. में एक उपनिवेश स्थापित करने का उल्लेख जावा के इतिहास से प्राप्त होता है, जिसकी पुष्टि चीनी तथा कम्बोड़ियाई इतिहासकारों ने भी की है।

जावा के प्रसिद्ध शैलेन्द्र राजवंश बौद्ध धर्म को मानने वाले थे। इस वंश के नरेशों ने अनेक बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया तथा उनमें भव्य मूर्तियों को स्थापित किया। इसी वंश के राजा बालप्रभदेव ने नालन्दा में दो विहार बनवाये। इसी वंश के दूसरे राजा मारविजयी तुंगवर्मन् ने नागपट्टन (आँध्रप्रदेश) में एक बौद्ध विहार बनवाया था। चोल राज राजेन्द्र से उनके सम्बन्ध कुछ दिनों तक ही घनिष्ठ रहे बाद में सम्बन्ध बिगड़ने पर चोल राजा ने जावा, सुमात्रा तथा मलय पर अधिकार कर लिया। मेलूर तथा तंजोर के लेखों तथा शैलेन्द्रवंश के इतिहास में इस विजय का उल्लेख हुआ है।

आज भी जावा में संस्कृत भाषा तथा साहित्य और भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। वेदों से लेकर 'गीता', 'रामायण', 'महाभारत', पुराण और पर्वत काव्य नाटक, कोश और कथा-कृतियों की लोकप्रियता आज भी वहाँ पहले की ही भाँति है। सम्राट सिंडोक के शासनकाल (929 से 947 ई.) में 'रामायण' का जावाई रूपान्तर किया गया था। इस ग्रंथ का कथानक वाल्मीकि 'रामायण' और कुमारदास के 'जानकीहरण' पर आधारित है। इसी प्रकार सम्राट एयरलंग का शासनकाल (1037 से 1049 ई.) में 'महाभारत' के जिन तीन पर्वों—(आदि, विराट, भीष्म) का जावाई अनुवाद हुआ था, उनके अध्ययन तथा पारायण का आज भी वहाँ पहले की भाँति चलन है। जावाई भाषा के अधिकतर नाटक 'रामायण' तथा 'महाभारत' की कथाओं पर आधारित हैं। उनमें राम, रावण, हनुमान, सुग्रीव, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण तथा भीम आदि चरित्रों का मर्यादा पूर्वक एवं ओजस्वी वर्णन हुआ है। पंचतन्त्र और हितोपदेश जैसी लोकप्रिय कथाओं को वहाँ के चित्रकारों ने चित्रों में रूपायित किया है, जिसका वहाँ पर्याप्त प्रचलन है। जावा की लिपि व कला पर गुप्त युग का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। राजा राजसंगर (350 से 1389 ई.) ने जावा की प्राचीन राजधानी मजपहित में स्थित पन्तरन नामक मन्दिरों की भित्तियों पर 'रामायण', 'महाभारत' तथा 'कृष्णायन' के दृश्यों को अंकित कराया था। लीडेन के संग्रहालय में सुरक्षित जावा की 'चण्डीमेण्टोन की बुद्ध प्रतिमा' और 'प्रज्ञापारमिता की मूर्ति' पर गुप्तकला का काफी प्रभाव है। इसी प्रकार बैंकाक संग्रहालय में सुरक्षित विभिन्न काँस्य मूर्तियों के शिल्प में भी भारतीय प्रभाव है।

सुमात्रा

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप) से भारत के प्राचीन तथा दीर्घकालीन सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे

है। दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन संस्कृत साहित्य, विशेष रूप से बौद्ध ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक हुआ है। इन साहित्यिक सन्दर्भों से पता चलता है कि सुमात्रा पर ईश्वरवर्मा ने विजय प्राप्त करके वहाँ अपना राजस्व स्थापित किया था। वह इस द्वीप का प्रथम भारतीय शासक था। सुमात्रा से प्राप्त अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि सुमात्रा का श्रीविजय नगर संस्कृत-अध्ययन का मुख्य केन्द्र था। अभिलेखों में जिस लिपि का प्रयोग किया गया है, उसे विद्वानों ने पाँचवी शती ई. की उत्तर भारतीय गुप्त लिपि के समान बताया है। इन अभिलेखों में दो अभिलेख संस्कृत के मिले हैं, जिनमें बौद्ध धर्म के प्रचार पर बल दिया गया है। दक्षिण के चोल तथा शैलेन्द्र शासकों को सुमात्रा में भारतीय सांस्कृतिक थाती को प्रसारित करने का श्रेय जाता है। इन शासकों का योगदान इन द्वीपों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना करने में रहा है। उन्होंने लगभग 13वीं शती ई. तक निकोबार, वर्मा, मलय, स्याम, सुमात्रा तथा श्रीविजय को स्वतन्त्र करके वहाँ भारतीय धर्म, संस्कृति, साहित्य तथा कला को प्रसारित किया और उनको स्थिरता प्रदान की। आठवीं शती में जब दक्षिण के शैलेन्द्र साम्राज्य का उदय तथा विस्तार हुआ तो उसने चोलों द्वारा विजित अधिक से अधिक उपनिवेशों पर अपना अधिकार कर लिया। शैलेन्द्र से भारतीय चोल राजाओं को मलय तथा निकोबार द्वीप समूहों के उपनिवेशों के लिये लगभग सौ वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा। अन्त में चोलों की पराजय हुई। इन संघर्षों के बावजूद भी द्वीपान्तरों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ। भारत में शैलेन्द्र चोलों के अस्तित्व को मिटाने में असफल रहे परन्तु द्वीपान्तरों में शैलेन्द्रों ने सात सौ वर्षों तक निरंकुश शासन किया। इस समय में इनका इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। 8वीं शती के लगभग शैलेन्द्रों ने सुमात्रा में श्रीविजय साम्राज्य की स्थापना करने के बाद, मलेशिया, जावा, कम्बुज तथा चम्पा तक उसका विस्तार किया। समस्त एशिया में शैलेन्द्र साम्राज्य की शक्ति की चर्चा थी जिसकी अरबी व्यापारियों ने भी प्रशंसा की।

शैलेन्द्र साम्राज्य की नीतियां उनकी स्थिरता तथा उन्नति का एकमात्र कारण रहीं, उनकी समन्वयात्मक नीति का आधार उनके वंश गुरू कुमारघोष थे। वे गौढ़ देश के निवासी, ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म के समन्वय के प्रतीक थे। उन्होंने 782 ई. को श्रीविजय में बोधिसत्व मंजूश्री की एक मूर्ति की स्थापना की थी, जिसमें बौद्ध त्रिरत्न, ब्राह्मण त्रिदेव तथा अन्य अनेक धर्मों के देव प्रतीकों का समन्वय था। उसी के फलस्वरूप सम्भवतः शैलेन्द्रों का बंगाल के पाल राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। इसी वैवाहिक सम्बन्ध के कारण से शैलेन्द्रों के सात सौ वर्ष के दीर्घ शासनकाल में भारतीय उपनिवेशों की कला पर पाल शैली का प्रभाव पड़ा।

श्रीलंका

दक्षिण पूर्व के द्वीपान्तरों में जल-मार्गों के यातायात की सुविधाओं के फलस्वरूप श्रीलंका में भारतीयों का आना-जाना और भारतीय संस्कृति का प्रवेश लगभग 500 ई. पूर्व में ही आरम्भ हो चुका था। लगभग 500 ई. पूर्व में दक्षिण भारतीय शासक विजयसिंह ने श्रीलंका में अपना राजस्व स्थापित किया।

सिंहल (श्रीलंका) से भारतीय सम्बन्धों की स्थापना का एक पुष्ट आधार लंकापति

रावण है। रावण को दस सिरों वाला कहा गया है, यह 'दशस्कन्ध' दरअसल दक्षिण के राजाओं की ख्याति थी और परम्परानुसार वहाँ के लोकोत्सवों में कृत्रिम मुखौटों द्वारा प्राचीन लोकप्रिय शासकों को याद किया जाता था जैसा कि आज भी वहाँ प्रचलन है।

बुद्ध परिनिर्वाण के 236 वर्ष बाद (300 ई. पूर्व) सम्राट अशोक ने पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति का आयोजन किया था जिसमें यह निश्चित किया गया था कि भारत तथा द्वीपान्तरों में बौद्ध भिक्षुओं को, बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु भेजा जाय। इस कारण अन्य भिक्षुओं के साथ सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा भी श्रीलंका गये। महेन्द्र तथा संघमित्रा अपने साथ बौद्ध धर्म के प्रथम अनुश्रुति-ग्रन्थ 'त्रिपिटक' भी ले गये थे, जो कि अशोक की तीसरी बौद्ध-संगीति में अन्तिम रूप से संकलित किये हुए थे। श्रीलंका के महाविहार में 'त्रिपिटक' का अनेक वर्षों तक मौखिक अध्ययन चलता रहा उसके पश्चात् वहाँ के राजा बट्टगामणि (89-77 ई. पूर्व) के शासनकाल में उसको सिंहली भाषा में लिपिबद्ध किया गया और सिंहली भिक्षुओं की महापरिषद ने उनको अन्तिम स्वीकृति दी उसके बाद वहाँ साहित्य रचना के लिये पालि को स्वीकार किया गया।

सिंहली अनुपिटक-साहित्य के अध्ययन हेतु दक्षिण भारत के निवासी आचार्य बुद्धदत्त चौथी शती में सिंहल गये थे उन्होंने सिंहल के अनुराधापुर के महाविहार में अपनी पढ़ाई पूरी की। उनके बाद आचार्य बुद्धघोष अट्ठकथाओं के अध्ययन के लिये श्रीलंका गये इन कथाओं का अनुवाद 12वीं शती में, राजा पराक्रमबाहु के समय में हुआ। 13वीं शती में आचार्य सारिपुत्त तथा उनकी शिष्य परम्परा के समय तक बौद्ध-साहित्य का निर्माण श्रीलंका में निरन्तर होता रहा और बौद्ध भिक्षुओं का भारत के साथ अटूट सम्बन्ध बना रहा।

वर्मा

पालि भाषा के पिटक एवं अनुपिटक-साहित्य का वर्मा और श्रीलंका में अधिक प्रचार है तथा यह साहित्य प्रायः इन्हीं देशों में पूर्णतः पाया जाता है।

पालि साहित्य को उन्नत करने में वर्मा के भिक्षु संघ का कार्य अतुलनीय है, पालि ग्रन्थों की रचना कर अपने शिष्यों द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाने के ऐतिहासिक कार्य में मेघंकर, शीलवंश, राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय) कंटक खियनाजित, सद्धमविलास, राजा कयच्चा, महाविजितायी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

यद्यपि वर्मा से पहले सिंहल में व्याकरण की शिक्षा में अच्छा कार्य हो चुका था पर कुछ सिंहली भिक्षुओं ने वर्मा में आकर जब 'सद्दनीति' व्याकरण को देखा तो उन्होंने यह स्वीकार किया कि सिंहली व्याकरण परम्परा में 'सद्दनीति' जैसी उच्चकोटि की रचना के समान कोई पुस्तक नहीं है इसीलिये पालि व्याकरण की परम्परा में 'सद्दनीति' को वर्मा सम्प्रदाय की देन कहा जाता है।

'सद्दनीति' व्याकरण की रचना 1154 ई. में वर्मी भिक्षु अग्गवंश ने की थी जो कि अग्गपीडित तृतीय के नाम से प्रसिद्ध थे। यह रचना 'कच्चायन' व्याकरण पर आधारित है। 'सद्दनीति' पर 'धातुरूपावली' के ढंग की 'धात्वर्थदीपिनी' नामक पुस्तक हिंगुलवल जिनरतन नामक वर्मी भिक्षु ने की थी जिनका समय इतिहास में निश्चित नहीं है।

'[illegible]' नामक कृति वर्मी भिक्षु रामणेर धम्मदासी द्वारा 14वीं शती में की गई जिसका नाम पालि के विपुल ग्रन्थों में उल्लेखनीय है। इसी पर वर्मी भिक्षु सद्धम्मनन्दी ने [illegible] ई. में टीका लिखी। इनके अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय नाम मंगल, अग्यिस, वर्मी राजा [illegible] की पुत्री जम्बूध्वज, सद्धम्मगुरु, विचत्ताचार तथा सद्धम्मकित्ति आदि हैं। आचार्य [illegible] ने 1465 ई. में एक कोश की रचना की थी जो कि संस्कृत के एकाक्षरी पर [illegible] है जिसका उल्लेख उन्होंने पुष्पिका में किया है।

पालि-साहित्य में वंश-ग्रन्थों का वही स्थान है जो संस्कृत साहित्य में पुराणों का है। ये वंश ग्रन्थ सिंहली भिक्षुओं द्वारा रचे गये और सिंहल तक ही सीमित हैं। वर्मा में भी इनका अच्छा प्रसार-प्रचार है। 'छकेसधातुवंश' के लेखक सम्भवतः कोई वर्मी भिक्षु थे। इस वंश-ग्रन्थ में बुद्ध परिनिर्वाण से लेकर 19वीं शई. के लम्बे समय तक बौद्ध धर्म का जिस प्रकार से एशियाई देशों में व विशेषतः वर्मा में विकास हुआ, उसका सम्पूर्ण इतिहास मिलता है। इसी ग्रन्थ में तीसरी बौद्ध-संगीति के बाद विदेशों में भेजे गये धर्म उपदेशक भिक्षुओं का वर्णन भी किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना 19वीं शई. में वर्मी भिक्षु पंगसाई (प्रज्ञास्वामी) ने की थी। 'गंधवंश' या ग्रन्थ-वंश का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें पालिग्रन्थों, ग्रन्थकारों, उनके रचना काल तथा रचना स्थान का क्रमबद्ध ब्योरा दिया हुआ है। इसमें भारतीय तथा लंकावासी ग्रन्थकारों का अलग-अलग वर्णन किया गया है। पालि साहित्य का यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसकी रचना भी वर्मा में 19वीं शती में हुई थी।

इसी प्रकार ईसा की आरम्भिक शतियों से लेकर आधुनिक काल तक वर्मा में बौद्ध धर्म तथा उसके साहित्य का व्यापक प्रचार-प्रसार रहा है। बुद्ध, बौद्ध धर्म तथा बौद्ध-भिक्षुओं के सम्बन्ध में सुरक्षित वर्मी अनुश्रुतियां विशेष रूप से संग्रहणीय हैं।

इण्डोनेशिया

इण्डोनेशिया से भारत के दीर्घकालीन सम्बन्ध रहे हैं। पुराणों में उसे 'नवभेद' कहा गया है। इण्डोनेशिया में भारतीयों का प्रवेश श्रीलंका के माध्यम से हुआ। इस सम्बन्ध को पुनर्जीवित करने में सम्राट अशोक का नाम उल्लेखनीय है। अशोक ने 300 ई. पूर्व में द्वीपान्तरों में अपने धर्मप्रचारक भिक्षुओं को भेजा। इण्डोनेशिया (सुवर्ण भूमि) में स्थविर शोण तथा उत्तर दोनों सहादरों को भेजा गया था तभी से वहाँ पर भारतीयों का जाना-आना होता रहा।

इण्डोनेशिया के शासनतन्त्र पर भारतीयों का व्यापक प्रभाव रहा है, जिसका प्रमाण वहाँ के उपलब्ध अभिलेख तथा सिक्के हैं। वहाँ मन्दिरों, मठों, विहारों तथा विद्यापीठों की अधिकता थी और विष्णु, महेश, इन्द्र, दुर्गा, लक्ष्मी, बुद्ध आदि देवी-देवताओं की पूजा-प्रतिष्ठा का प्रचलन भारत जैसा ही था। भारत की ही तरह वहाँ भी संस्कृत का उतना ही प्रचार तथा सम्मान था। इण्डोनेशिया के साहित्यिक, वैचारिक, धार्मिक, ऐतिहासिक तथा साँस्कृतिक परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनको समृद्ध एवं विस्तृत करने में भारतीयों का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा।

बाली

बाली द्वीप से प्राप्त कई संस्कृत अभिलेख इस बात की पुष्टि करते हैं कि वहाँ भी हिन्दु उपनिवेश स्थापित था। वहाँ भारतीय धर्म, संस्कृति तथा साहित्य के प्रचार का बाहुल्य था एवं वहाँ के उपलब्ध अभिलेख भी भारतीय गुप्त लिपि के समान हैं।

बाली द्वीप के लोगों की सामाजिक एवं साँस्कृतिक परिस्थितियाँ; विशेषतः वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दु धर्म ग्रन्थों पर आधारित है। वहाँ भी वेदों, वेदांगों, गीता, पुराण, महाभारत, रामायण, एवं पंचतन्त्र सम्माननीय हैं। वेदों आदि के पठन-पाठन के अतिरिक्त मन्दिरों में भी वेद-पाठ की परम्परा प्रचलित है एवं कई मन्दिरों में शिव, सूर्य, विष्णु, लक्ष्मी, पार्वती आदि हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा प्रतिष्ठित है। बाली में सौ वर्षों से भारतीय धर्म व संस्कृति का आधिपत्य होने के कारण संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। वर्तमान में बाली द्वीप यद्यपि अपनी स्वतन्त्र साँस्कृतिक तथा शासनिक पहचान बनाने में तत्पर है; तथापि भारत के साथ इसके अभिन्न सम्बन्ध बने हुए हैं।

बोर्नियो

बोर्नियो में वहाँ के राजा मूलवर्मन ने भारतीयता का बीज बोया था जिसके फलस्वरूप वहाँ पर भारतीय संस्कृति का प्रवेश गुप्त युग से पहले ही हो चुका था। उसके शासनकाल की अनेक संस्कृत प्रशस्तियाँ इस बात का द्योतक हैं कि वह ब्राह्मण धर्म का व्यापक प्रचारक था।

चम्पा (हिन्द-चीन)

विश्व के कई देशों में भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य का प्रसार बौद्ध धर्म के माध्यम से हुआ परन्तु इन्हीं में से कई देश ऐसे थे जहाँ बौद्ध धर्म से पूर्व ब्राह्मण धर्म या हिन्दु संस्कृति विद्यमान थी। उदाहरणतः चम्पा और कम्बोज उल्लेखनीय हैं जिनका आधुनिक नाम हिन्द-चीन और कम्बोडिया है।

चम्पा से प्राप्त प्राचीन अभिलेख तथा प्रशस्तियाँ इस भू-क्षेत्र का नाम 'अन्नम' बताती हैं जो कि प्राचीन काल में बृहत्तर भारत का अंग रहा है। चीनी इतिहासकारों का अनुमान है कि चम्पा में प्रथम शती ई. के लगभग हिन्दु धर्म एवं विचारों का आगमन हो चुका था एवं कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था। तदुपरान्त लगभग दो सौ ई. में श्रीमान तथा दक्षिणवर्मन आदि शासक तथा तीन सौ अस्सी (380) ई. में चन्द्रवर्मन नामक राजा राज्य करता था जिसके सम्बन्ध में जनश्रुति के आधार पर कहा गया है कि वह हिन्दु धर्म का परम अनुरागी और वेदों का प्रकाण्ड पण्डित था।

यहाँ से प्राप्त अभिलेख ब्राह्मी तथा पल्लव लिपि में लिखित हैं एवं इनकी भाषा संस्कृत है। किसी समय में चम्पा की राजभाषा भी संस्कृत ही थी। चम्पा की वर्तमान सामाजिक, साँस्कृतिक और साहित्यिक वस्तुस्थिति से ज्ञात होता है कि वहाँ भारतीयता का आज भी गहरा प्रभाव है। भारत की ही तरह 'रामायण' तथा 'महाभारत' ने वहाँ के साहित्यिक कृतियों के लिए भी विषय प्रदान किया है।

चम्पा से प्राप्त अभिलेख ब्रह्मा, विष्णु और महेश को विशेष चर्चित बताते हैं तथा धार्मिक परम्पराओं पर भावगत धर्म का प्रभाव उल्लेखित करते हैं। बौद्ध धर्म के प्रवेश

के साथ पाली बौद्ध साहित्य का प्रभाव पड़ा एवं चम्पा में ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य तथा धर्म का अपूर्व समन्वय देखने को मिलता है।

स्याम

मोन जाति के लोग वर्मा के अतिरिक्त स्याम में बसे तथा स्वर्णदीप जाने हेतु व्यापारिक तथा धर्म प्रचारक दूसरी शती ई. में भाई होते हुए व्यापारी स्याम भी जाते थे। यहाँ पर कुछ बौद्ध मन्दिर और उनमें स्थापित अमरावती कला की बुद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उदाहारणतः बैंकाक में तीन सौ अस्सी फुट ऊंचा विशाल स्तूप गुप्तकालीन स्थापत्य शिल्प कला का परिचायक है। लैम्पून नामक स्थान जो कि उत्तरी स्याम में स्थित है से ईटों का बना हुआ एक वर्गाकार पाँच मंजिला बौद्ध मन्दिर है। स्तूप के दोनों ओर बुद्ध की साठ खड़ी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। लेवपुरी में बुद्ध के प्रतीक हरिण तथा धर्मचक्र प्रवर्तन, मुद्रा में की मूर्तियाँ और पाँच खंडों में निर्मित बुद्ध की एक पच्चीस फुट ऊंची विशाल मूर्ति प्राप्त हुई है।

स्याम में मूलतः यूनान एवं चीन की संस्कृति का प्रभाव है क्योंकि यहाँ के मूल निवासी यूनान तथा दक्षिण चीन से आये थे। चीन से आये लोग हीनयान के समर्थक थे, जिसकी परम्परा उन्होंने श्रीलंका से प्राप्त की थी, अतः यह कहना अधिक उचित होगा कि स्याम की कला शैली श्रीलंका, यूनान तथा चीन कला का सम्मिश्रण है।

अंगकोर का मन्दिर विश्व की सर्वश्रेष्ठ इमारतों में से है। अंगकोर जो कि आरम्भ में विष्णु मन्दिर था और बाद में बौद्धों के अधिकार में आया–यह इस प्रसंग को दर्शाता है कि आरम्भ में स्याम में हिन्दू धर्म का प्रचार था। यहाँ का राजवंश मातृप्रधान था, जिसका उल्लेख हमें चमदेवी वंश के उदाहरण स्वरूप मिलता है।

कम्बोडिया

भारतीय धर्म संस्कृति और आचार-विचार का सबसे लम्बे समय तक व्यापक एवं गहन प्रभाव जिस द्वीप पर पड़ा उनमें कम्बोडिया (कम्बुज या कम्बोज) का नाम सर्वप्रथम है, भारतीय विचारों का कम्बोडिया संस्कृति के निर्माण में इतना अधिक योगदान रहा कि एक अन्तराल तक उसे उपभारत के नाम से जाना जाता था यह बात कम्बोडिया से प्राप्त अभिलेखों तथा प्रशस्तियों से भी सिद्ध होती है।

उपलब्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि इन्द्रप्रस्थ के किसी आदित्यवंशीय राजा ने सर्वप्रथम कम्बुज में हिन्दु राज्य स्थापित किया एवं उसका विस्तार कोचीन, चीन तथा अन्नस तक किया। इसी राजा ने कम्बोडिया के नागवंशीय राजा की पुत्री सोमा से विवाह किया तथा सोम राज्य वंश की स्थापना की। एक अन्य ऐतिहासिक स्रोत से विदित होता है कि कुन्डीन्य नामक एक ब्राह्मण की वंश परम्परा उत्तरोत्तर प्रशस्त होती रही एवं उसके पौत्र राजा मूलवर्मन ने 200 ई. में बोर्नियों में यूर्का की स्थापना की।

कम्बोडिया से प्राप्त अभिलेख तथा प्रशस्तियाँ संस्कृत भाषा में हैं तथा उनमें ऐसे ब्राह्मणों को दान देने की चर्चा की गयी है जो वेद वेदान्त में पारंगत हो। कम्बुज शासक यशोवर्मन के शासनकाल में पतन्जलि के 'महाभाष्य' पर टीका लिखी गयी थी तथा एक अभिलेख में वाकाटक नरेश प्रवरसेन के 'सेतुबन्धु' महाकाव्य की भी चर्चा की गयी है।

राजा यशोवर्मन तथा राजा शिवसोम ने कम्बोडिया में अनेक उच्चस्तरीय ज्ञानपीठों की भी स्थापना की थी।

कम्बोडिया से प्राप्त अभिलेखों में प्रयुक्त भाषा अत्यन्त समृद्ध एवं काव्यमय है उनमें जगह-जगह कालीदास तथा मनु के श्लोक लिए गये हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कम्बोडिया अनेक वर्षों तक एशिया के प्रसिद्ध संस्कृत केन्द्रों में से था।

कम्बोडिया शैव और वैष्णव दोनों धर्मों से प्रभावित था तथा वहाँ के शासक वैदिक परम्पराओं के अनुयायी थे, वर्तमान कम्बोडिया में प्रायः सभी मन्दिर हिन्दू देवताओं और विशेष रूप से शिव तथा विष्णु के हैं।

सूरीनामद्वीप

दक्षिण अमेरिका डच गयाना स्थित सूरीनाम द्वीप में बसने वाले भारतीयों की संख्या लगभग डेढ़ लाख से अधिक है जिनकी भाषा हिन्दी है। यहाँ पर बसने वाले अधिकतर भारतीय सैकड़ों वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश व बिहार से गये जिन्हें जबरदस्ती गुलाम या मजदूर बनाकर इस द्वीप की आबादी में बढ़ोतरी करने के उद्देश्य से ले जाया गया था। इन भारतीयों ने इस द्वीप में कृषि उद्योग व व्यापार आदि के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जिसका वहाँ सर्वथा अभाव था तथा साथ ही उन्होंने वहाँ प्राचीनकाल में अनेक हिन्दू मन्दिरों की स्थापना की।

यद्यपि इस द्वीप में नीग्रो लोगों की संख्या भी बहुत है; किन्तु भारतीय ही वहाँ सभी क्षेत्रों में सदैव आगे रहे। वे बड़े-बड़े किसान, उद्योगपति, व्यावसायिक हैं। यद्यपि वहाँ की राजकीय भाषा डच है–किन्तु हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए व्यापक प्रबन्ध है एवं इस प्रकार के हिन्दी विद्यालयों की संख्या डेढ़ सौ तक पहुँच गई है। वहाँ मुसलमान भी हैं जिनका हिन्दुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अनुक्रमणिका

अ

आ

घ

च

छ

ज

ट

ड

त

द

ध

न